परिमल संस्कृत ग्रन्थमाला - १०८

दिव्येन विश्वकर्मणा विरचितम्

विश्वकर्मवास्तुशास्त्रम्

(शिल्पवास्तुशास्त्रम्)

'मोहनबोधिनी' हिन्दीव्याख्योपेतम्

M.Katyayana

सम्पादक एवं व्याख्याकर्ता

डॉ. श्रीकृष्ण 'जुगनू'

प्रो. बी. एल. शर्मा



परिमल पब्लिकेशन्स

दिल्ली - अहमदाबाद

प्रकाशक :

परिमल पब्लिकेशन्स

कार्यालय : 27/28, शक्तिनगर, दिल्ली–110007

बिक्री केन्द्र : 22/3, शक्तिनगर, दिल्ली–110007

दूरभाष : 47015168, 23845456, 65441516

ई–मेल : order@parimalpublication.com

वेब : www.parimalpublication.com

शाखा :

एफ–३, प्रथम तल, रम्भा काम्पलेक्स, गुजरात विद्यापीठ के सामने,

आश्रम रोड़, अहमदाबाद–३८०००९

दूरभाष : ०७९–६५४४०२७६

प्रथम संस्करण : वर्ष 2010

ISBN : 978-81-7110-357-7

मूल्य – 650.00 रुपये

मुद्रक:

विशाल कौशिक प्रिंटर्स

नजदीक जी.टी.बी. हास्पिटल,

जगतपुरी विस्तार, दिल्ली–110093

Parimal Sanskrit Series No. 108

VIŚVAKARMĀ'S

VIŚVAKARMA-VĀSTU-ŚĀSTRAM

(An Indian Treatise on the Town planning, construction of Temple, House & Allied subjects)

With Sanskrit Text, An Introduction, Explanatory Notes & Hindi Commentary

M.Katyayana

Edited with Translation by

DR. SHRI KRISHAN 'JUGNU'
PROF. B. L. SHARMA



PARIMAL PUBLICATIONS
DELHI - AHMEDABAD

Published by

Parimal Publications

Office : 27/28, Shakti Nagar, Delhi-110007 (India)
Retail Outlet : 22/3, Shakti Nagar, Delhi-110007 (India)
Ph. : +91-11-23845456, 47015168, 65441516
e-mail : order@parimalpublication.com
url : http://www.parimalpublication.com

Branch Office

F-3 (1st Floor), Rambha Complex, Opp. Gujarat Vidyapeeth
Ashram Road, Ahmedabad-380009
Ph. : +91-79-65440276

First Edition : Year 2010

ISBN : 978-81-7110-357-7

Price : Rs. 650.00

Printed by

Vishal Kaushik Printers

Near G.T.B. Hospital, Jagat Puri Vistar,
Shahdara, Delhi-110093

पुरोवाक्

वास्तुविज्ञान को जीवन के विशिष्ट उपयोगी विज्ञान के रूप में जाना गया है। इसे सर्वप्रथम पितामह ने ऋषियों के प्रति कहा था। बृहत्संहिता, वशिष्ठसंहिता, राजमार्तण्ड आदि में यह उक्ति मिलती है— वास्तुज्ञानमथातः कमलभवान्मुनि परम्परायातम्। क्रियतेधुनायेदं विदग्ध सांवत्सर प्रीत्यै॥ *(बृहत्संहिता 53, 1; राजमार्तण्ड 778)* इस पर शताधिक ग्रन्थों का प्राप्त होना इस विषय को अतिविशिष्ट-शिखर पर प्रतिष्ठापित करने का सद्प्रयत्न प्रतीत होता है। वेदों से लेकर ब्राह्मणों, स्मृतियों और पुराणों में भी इस विषय की प्राप्ति यह सिद्ध करती है कि गार्हस्थ्य की सिद्धि के लिए आवश्यक पुरुषार्थ-चतुष्टय की साधना के लिए वास्तु को एक आधारक-अंग के रूप में महत्त्व मिला है।

इसलिए पुराणवेत्ताओं ने तो यहाँ तक प्रतिपादित किया है कि इष्टापूर्त क्रियामूलक अनुष्ठानों को अपने ही आवास पर सम्पादित करने से उनका लाभ प्राप्त होता है। महापुराणों में, भविष्यपुराण का मत है कि आश्रमों में सबसे बड़ा गृहस्थाश्रम है और गृहस्थ के सभी कार्य गृहाधिकार से ही सम्पन्न होते हैं— 'गृहस्थस्य क्रियाः सर्वाः न सिद्ध्यन्ति गृहं विना।' यह भी कहा जाता है कि अन्य के गृह में निवास करते हुए वहाँ पर किए जाने वाले कर्मों का फल उक्त भवन के स्वामी को ही मिलता है— परगेहकृतास्सर्वाः श्रौतस्मार्तक्रियाः शुभाः। निष्फलाः स्युर्यतस्तासां भूमीशः फलमश्नुते॥ *(ज्योतिर्निबन्ध पृष्ठ 165, 1)*

वास्तु-शिल्प विषय पर प्रारम्भिक काल में मूलग्रन्थ कौन-कौन से थे, निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता किन्तु मत्स्यपुराण के रचनाकाल तक अठारह आचार्यों के मतों का अवश्य प्रतिपादन हो चुका था और भारतीय समुदाय में उन मतों, सिद्धान्तों को पर्याप्त आदर मिलता रहा था। इसलिए समय-समय पर इन मतों के स्वीकारकर्ताओं द्वारा उन सिद्धान्तों का संग्रह-सम्पादन होता रहा और उनको शास्त्र प्रतिपादकों के नाम से ही ग्रन्थ स्वरूप दिया जाता रहा। इनमें कई मूलग्रन्थ के रूप में स्वीकार कर लिए गए तो अन्य कई सङ्कलन के रूप में स्वीकृत हुए। उनमें गर्गसंहिता, वशिष्ठसंहिता और नारदसंहिता में वास्तुनिवेश और गृहप्रवेशाध्याय आदि मिलते हैं। मत्स्यपुराण, भविष्यपुराण, गरुडपुराण, नारदपुराण, विष्णुधर्मोत्तरपुराण आदि में भी यह विषय वर्णित है। आवास के लिए यह

सिद्धान्तपरक विषय है। इसमें प्रधानतः पुर-ग्रामादि निवेश, खातकरण, नींव अथवा शिलान्यास, द्वारनिवेश, काष्ठ संग्रह, गृहप्रवेश, देवालय, प्रतिमा स्वरूप आदि के लिए विशिष्ट विषय निहित हैं।

विश्वकर्मा वास्तु के प्रधान देवता माने गए हैं। उत्तर से लेकर दक्षिण तक विश्वकर्मा के मतों का प्रचलन रहा है। कई ग्रन्थ विश्वकर्मा प्रणीत कहे गए हैं। न केवल वास्तु-स्थापत्य अपितु शिल्प, चित्रार्चा, विमान-यान, कूप-तडाग आदि विषयों पर भी विश्वकर्मा के मतों के रूप में ग्रन्थ प्रचलित हैं और वे पर्याप्त प्राचीन प्रतीत होते हैं। इनमें जयसंहिता, ज्ञानप्रकाशदीपार्णव, वास्तुप्रकाश, विश्वकर्माप्रकाश आदि ग्रन्थ उत्तर भारतीय ग्रन्थ विश्वकर्मा के नाम से उत्तर भारतीय वास्तु-मतों का प्रतिनिधित्व करते हैं जबकि विश्वकर्मीयम्, विश्वकर्मवास्तुशास्त्रम् जैसे ग्रन्थों में रेवा-प्रवाह के दक्षिणतः क्षेत्रमूलक वैशिष्ट्य का बोध होता है। लेकिन, यह विस्तार सीमा एक दृष्टि तक ही सीमित कही जा सकती है, वस्तुतः एक संकाय प्रवर्तक के रूप में विश्वकर्मा समग्रतः स्थापत्य सिद्धान्तों के आद्यमूलाचार्य हैं और इस विस्तृत घेरे में कई सम्बद्ध विषय भी अन्तर्निहित प्रतीत होते हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ 'विश्वकर्मवास्तुशास्त्रम्' इस विज्ञान-विद्या के विशिष्ट आकर-ग्रन्थ के रूप में स्वीकृत है। इसका प्रथम प्रकाशन तञ्जौर सरस्वती महल संस्कृत ग्रन्थमाला के अन्तर्गत क्रम 85 पर 1958 ई. में हुआ था। इसमें मूलपाठ सहित श्रीमान् अनन्तकृष्ण भट्टारक कविकृत प्रमाणबोधिनी संस्कृत व्याख्या भी थी। प्राक्कथन सहित इसका सम्पादन तञ्जौर पुस्तकालय के अनुसन्धान पण्डित के. वासुदेव शास्त्री (बी. ए.) और केन्द्रीय जलवाहन, सिंचाई और नौकायन आयोग के सेवानिवृत्त निदेशक मेजर एन. बी. गडरे (ए. आई. आर. ओ., एम. आई. ई) ने किया था। यह ग्रन्थ इस दृष्टि से निराला ही है कि इसकी संस्कृत व्याख्या मिलती है और इसी कारण इसमें आई तकनीकी शब्दावली के व्यवहार और प्रतिपाद्य को हृदयंगम करने में सहायता मिलती है, अन्यथा कई स्थल निश्चित ही दुरूह हैं।

इस ग्रन्थ की पाण्डुलिपि मद्रास स्थित ऑरियण्टल लायब्रेरी में उपलब्ध है। इसको श्रीताजादेशिक चारियर, विलियम वक्कम, जिला चिंगलपुट की मूल पाण्डुलिपि के आधार पर 1930-31 ई. में तैयार किया गया था। इसी की अनुकृति के आधार पर विश्वकर्मवास्तुशास्त्रम् का पाठ तैयार किया गया था और मद्रास सरकार के प्राप्त अनुदान से प्रकाशन हुआ। यह अच्छा ही था कि इसका पाठ

देवनागरी लिपि में प्रकाशित हुआ। इसलिए यह उत्तर भारत में भी अनेक स्थलों पर पहुँचा। यदि यह ग्रन्थलिपि अथवा अन्य किसी लिपि में होता तो सम्भवत: यह एक क्षेत्र विशेष तक ही सीमित रह जाता, जैसा कि कई आगमों और कलाशास्त्रों के साथ हुआ है।

यह ग्रन्थ तभी से हिन्दी या अन्य किसी भाषा में अनुवाद की प्रतीक्षा में था। लगभग आधी शताब्दी तक इसका अनुवाद नहीं हो पाया जबकि इस अवधि में अनेक वास्तु-शिल्पशास्त्रों का अंग्रेजी, तमिल, हिन्दी, फ्रेंच, गुजराती आदि भाषाओं में प्रकाशन हो चुका है। मैंने स्वयं द्राविड़ ग्रन्थों में बहुश्रुत **मयमतम्**, **मनुष्यालयचन्द्रिका**, **वास्तुविद्या**, प्रभृति ग्रन्थों का अनुवाद गत पाँच वर्षों में किया है जो हिन्दी ही नहीं, संस्कृतप्रेमियों और अन्य भाषाभाषियों के हाथों में पहुँचकर समादृत हुए हैं। **मानसारम्**, **सकलाधिकारम्**, **विश्वकर्मीयम्**, **देवालयचन्द्रिका**, **मानववास्तुलक्षणम्** इत्यादि आकर-ग्रन्थों पर भी कार्य सम्पन्न कर लिया गया है।

इसी क्रम में विश्वकर्मवास्तुशास्त्र पर प्रस्तुत कार्य विद्वज्जनों के हाथों में है। इस ग्रन्थ पर मेरी दृष्टि 2004 में पड़ी थी और मैंने पाया कि यह ग्रन्थ नगर-निवेश की दृष्टि से अन्यान्य वास्तुग्रन्थों की अपेक्षा सर्वाधिक विस्तृत और विशिष्ट जानकारी उपलब्ध करवाता है। इसकी और भी कई विशेषताएँ हैं, जिन पर विमर्श किया गया है। इसके कई अपने मौलिक विषय और स्थल-वैशिष्ट्य है। इसमें स्थल-स्थल पर अन्य ग्रन्थों के मतों को तुलनात्मक रूप से विमर्श के लिए पाद-टिप्पणियों के रूप में दिया गया है।

कुछ समय पूर्व इस ग्रन्थ के अनुवाद का संकल्प किया तो परम श्रद्धेय प्रो. भँवरलालजी शर्मा ने बहुत उत्साह दिखाया। वे कला के आचार्य हैं और शिल्प-स्थापत्य कला उन्हें कुल-विरासत में मिली है, उन्होंने दीर्घावधि पर्यन्त इन कलाओं का अध्यापन भी करवाया और समस्त कार्य-नियोजन को अपने हाथों से सम्पादित भी किया है। भुवनदेवाचार्य कृत बृहद्वास्तुग्रन्थ **अपराजितपृच्छा**, भूलोकमल्ल सोमेश्वरकृत शिल्पशास्त्रे आयुर्वेद:, धाराधिप भोजकृत **राजमार्तण्ड** की तरह ही इस ग्रन्थ के अनुवाद में उन्होंने रात-दिन रुचि प्रदर्शित की और एक-एक विषय को स्पष्ट करने में न केवल शब्दों का मर्म-उजागर किया बल्कि, अतीत की कई परतें खोलने का साहसपूर्वक सद्प्रयास भी किया है। यह ग्रन्थ उनके कठिन प्रयास, सुधी-समझ और मेरे संकल्प का साकार रूप है।

मेरा विचार और संकल्प है कि वास्तु-कला की दृष्टि से भारत विश्व का गुरु है जिसे अकेली इस विद्या पर विरासत में शताधिक ग्रन्थों का अकूत भण्डार मिला है, ये सारे ही ग्रन्थ शीघ्रातिशीघ्र प्रकाशमान होकर विश्व-समुदाय का मार्गदर्शन करे- इस संकल्प की पूर्ति की दिशा में मेरा समूचा परिवार एक संस्था के रूप में लगा हुआ है। श्रीमान् शर्मा साहब भी स्वयं विश्वकर्मास्वरूप इसमें सहयोगी के रूप में आगे आए हैं, उनके प्रति कोटि-कोटि आभार। मैं उनके नित्य निश्छल सहकार का अहैतुकी कृपा के रूप में महत्व स्वीकारे हुए हूँ।

इस ग्रन्थ को प्रस्तुत स्वरूप देने में पुत्री अनुभूति चौहान और अनुकृति चौहान एवं पुत्र गौरव चौहान ने अपने अध्ययन काल में भी भरपूर सहयोग दिया वहीं पाद टिप्पणियों के चयन, चित्र और विषय के विशदीकरण में मेरी सहधर्मिणी पुष्पा चौहान एवं अनुज अरविन्द चौहान ने पर्याप्त श्रम किया है। परिजनों को धन्यवाद कहना बहुत लघु लगता है, मैं इन सबके स्नेहाधीन हूँ। इस ग्रन्थ की जो अच्छाइयाँ हैं, वे आनन्द-कन्द, नन्द-नन्दन प्रभु श्रीनाथजी की कृपा का सुपरिणाम हैं और जो चूकें हुई हैं, वे मुझ अल्पज्ञ की हैं।

इस अवसर पर मैं परिमल पब्लिकेशंस के स्वत्वाधिकारी श्रीमान् कन्हैयालाल जी जोशी का आभार मानता हूँ, जिन्होंने इसके प्रकाशन का दायित्व ग्रहण कर मुझे अनुगृहीत किया। उन्होंने मेरे यहाँ आकर ज्यों ही इस ग्रन्थ को देखा, तत्काल इसके प्रकाशन की सदिच्छा प्रकट कर दी थी। मैं दिन-रात इसे प्रकाशन योग्य बनाने में जुट गया। उनका पृष्ठपोषण मेरा श्रेष्ठ सम्बल रहा है।

विद्वानों की सम्मति की सदैव प्रतीक्षा रहेगी...।

विदुषामनुचर
श्रीकृष्ण 'जुगनू'

40 राजश्री कॉलोनी, विनायकनगर,
उदयपुर (राजस्थान)
दीपोत्सव, 2066 वि. सं.

विश्वकर्मीय वास्तु परम्परा एवं प्रस्तुत ग्रन्थ

वास्तु स्वस्थ, समृद्ध और सुखी जीवन की प्रधान आवश्यकता है। इसीलिए इस विषय के तकनीकी पक्षों पर लगभग दो-तीन हजार वर्षों पूर्व गम्भीर ऋषि-चिन्तन आरम्भ हुआ और अर्थ, आयु एवं आनन्द की अभिवृद्धि के हेतु के रूप में इसके वैज्ञानिक पक्षों सहित इसके मत व सिद्धान्तों का प्रवर्तन हुआ। निखिल सृष्टि की भाँति ही इस विषय को भी पितामह प्रवर्तित कहा गया, हालांकि विश्वकर्मा को इसके प्रधान देवता के रूप में प्रतिष्ठापित किया गया। शैवागमों में इस विषय को शिव प्रवर्तित तन्त्र विषय और वैष्णवागमों में विष्णु-प्रवर्तित विधान कहा गया है।

कामिकागम में कहा है— तन्त्रावतारो मन्त्राणामुद्धारः स्नानमर्चनम्। अर्चनाङ्गं च नैवेद्यविधिः कुण्डस्य लक्षणम्॥ अग्निकार्यं कालविधिर्निमित्तस्य परीक्षणम्। भूपरीक्षा प्रवेशार्थबलिर्ग्रामादिलक्षणम्॥ शङ्कोस्तु स्थापनं चैव मानोपकरणक्रमम्। पदविन्यासभेदश्च सूत्रमर्मादिलक्षणम्॥ वास्तुदेवबलिः पश्चाद् ग्रामादीनां च लक्षणम्। विस्तारायाम आयादिलक्ष्यं नक्षत्रचक्रकम्॥ दण्डकादिविधिर्वीथिद्वारादीनां प्रमाणकम्। ग्रामादिदेवतास्थानं द्विजसंख्याविधानकम्॥ विन्यासस्य विशेषस्य विशेषश्च ब्रह्मदेवपदादि च। अङ्गोपजीविनां स्थानं गर्भन्यासस्य लक्षणम्॥ बालस्थानविधानं च ग्रामादिन्यासभेदतः॥ वास्तुशान्तिश्च शालाया विधानं च ततः परम्॥ नन्द्यावर्तं द्विशाला च सर्वतोभद्रसंज्ञकम्। वर्धमानं स्वस्तिकं च रूचकारव्यमतः परम्॥ चतुश्शाला पञ्चशाला हस्तिशाला च मालिका। लाङ्गलाख्यं मौलिकं च मालिकापद्मकं परम्॥ नागरादिविभेदं च भूमिलम्बविधिस्तथा॥ आद्येष्टकोपपीठं च पादानां मानलक्षणम्॥ प्रस्तरस्य विधिश्चैव प्रासादानां च भूषणम्। कण्ठस्य शिखरस्यापि स्थूपिकायाश्च लक्षणम्॥ नालादिस्थापनं पश्चादेकभूम्यादिलक्षणम्। मूर्धेष्टकाविधानं च लिङ्गलक्ष्माङ्कुरार्पणम्॥ शिवलिङ्गप्रतिष्ठा च प्रतिमानां च लक्षणम्। शूलसंस्थापनं पश्चाद् देवस्थापनसंज्ञकम्॥ प्रतिमानां प्रतिष्ठा च विमानस्थापनं परम्। लक्षणं मण्टपानां च प्राकाराणां च लक्षणम्॥ स्थापनं परिवाराणां परिवार्चनं तथा। वृषभस्थापनं चान्ते गोपुरस्थापनं परम्॥ चतुःसप्तति संख्याताः पटलाः पूर्वकामिके॥ *(कामिकागम पूर्वभागानुक्रमणिका 1, 1-15)*

उक्त श्लोकों से स्पष्ट होता है कि आगमों में वास्तु से सम्बद्ध लगभग सारे ही, कुल 74 विषय उनके प्रतिपाद्य रहे हैं। यही स्थिति वैष्णवागमों में सात्वतसंहिता, विष्णुसंहिता, पद्मसंहिता, पुष्करसंहिता, नारदसंकर्षणसंहिता इत्यादि में भी परिलक्षित होती है, हालांकि उनमें प्रतिमा, पीठ, प्रासाद लक्षण ही अधिक मिलते हैं किन्तु वे ही मनुष्यालय के प्रसंग में भी हमें प्राप्य और स्वीकार्य रहे हैं। सात्वतसंहिता में वास्तुरचना को मन्त्रमय शरीर कहा गया है— ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रो वा भगवन्मयः। नित्याराधनकामस्तु यदि मन्त्रमयं वपुः॥ कर्तुमिच्छति लक्ष्यार्थं तत्र किंलक्षणो विधिः॥ *(सात्वतसंहिता 24, 2-3)*

विष्णुधर्मोत्तरपुराण, मत्स्यपुराण, गरुड़पुराण एवं नारदपुराण भी इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य हैं। ब्रह्मवैवर्तपुराण में तो श्रीकृष्ण द्वारा इस विषय को विश्वकर्मा के प्रति कहने का वर्णन है। निश्चित ही यह साम्प्रदायिक आग्रह हो सकता है किन्तु इस विषय की महत्ता को अवश्य ही समझना चाहिए कि लोकोपयोगी, लोकोपकारक ज्ञान-शाखाओं का समावेश कर ग्रन्थ प्रणेता अपनी रचनाओं को अधिकाधिक उपयोगी बनाने के प्रयत्न में भी लगे रहे।

ज्योतिषीय संहिताकार भी इस ध्येय को लिए रहे। इसका प्रारम्भ ईसा पूर्व द्वितीय-तृतीय सदी में सम्पादित हुई 'गर्गसंहिता' से ही आरम्भ हो जाती है। यहाँ यह ज्ञात रखना चाहिए कि वर्तमान में जिस गर्गसंहिता के नाम से जिस प्रकाशित ग्रन्थ का प्रचार है, वह 16वीं सदी के आसपास की ही रचना है। ट्रीनिटी कॉलेज, कैम्ब्रिज में दुर्लभ गर्गसंहिता की 108 पत्रों की जो मातृका विद्यमान है, उसमें द्वार निवेश, द्वारप्रमाणविधि, गार्गीय वास्तुविद्या चतुश्शाल, द्विशाल, त्रिशाल विधि, चतुर्भाग, त्रिभाग, प्रतिभाग, द्वारस्तम्भोच्छ्राय विधि सहित गृहप्रवेश पर स्वतन्त्र अध्यायों का समावेश है। *(एन एनसाक्लोपीडिया ऑफ हिन्दू आर्किटेक्चर, पृष्ठ 624)*

ये ही विषय वराहमिहिराचार्य और उसके विवृत्तिकार उत्पलभट्ट के लिए भी उपयोगी रहे। नारद, वसिष्ठसंहिताओं में भी इस पर स्वतन्त्र अध्यायों की रचना हुई। श्रीपतिभट्टाचार्य ने इनको मुहूर्त के साथ सम्बद्ध किया और अपने दो ग्रन्थों ज्योतिषरत्नमाला और दैवज्ञवल्लभ से इन्हें लोकप्रिय किया। इन्हीं विषयों के आधार पर लक्षणसमुच्चय, कृत्यकल्पतरु, राजमार्तण्ड, चतुर्वर्गचिन्तामणि जैसे बृहत्काय निबन्ध ग्रन्थों का कलेवर पुष्ट हुआ है।

स्वतन्त्र वास्तुविषयक ग्रन्थ —

स्वतन्त्र रूप से वास्तु विषयक ग्रन्थ लगभग दूसरी सदी से सम्पादित होने शुरू हो गए थे। यदि भरताचार्य के नाट्यशास्त्र को आधार माना जाए तो ईसा पूर्व ही कोई वास्तुग्रन्थ अस्तित्व में आ चुका था जिसमें नाट्यशालाओं, रंगमण्डप, प्रेक्षागृह आदि के निर्माण विधान का सांगोपांग वर्णन था— इह प्रेक्षागृहं दृष्ट्वा धीमता विश्वकर्मणा। त्रिविधः सन्निवेशश्च शास्त्रतः परिकल्पितः॥ विकृष्टश्चतुरश्रश्च त्र्यश्रश्चैव तु मण्डपः। तेषां त्रीणि प्रमाणानि ज्येष्ठं मध्यं तथाऽवरम्॥ *(नाट्यशास्त्रम् 2, 7-8)* यही नहीं, उक्त ग्रन्थ में समस्त प्रकार के गृहों, प्रेक्षागृहों के प्रमाण और लक्षणों को भी क्रमशः स्पष्ट किया गया था— प्रमाणं यच्च निर्दिष्टं लक्षणं विश्वकर्मणा। प्रेक्षागृहाणां सर्वेषां तच्चैवं हि निबोधत॥ *(तत्रैव 2, 15)* उत्पलभट्ट की विवृत्ति से ज्ञात होता है कि प्रारम्भ में एतद्विषयक ग्रन्थों को तन्त्र कहा जाता था, चूँकि ये तकनीकी ग्रन्थ थे और इनके लिए तन्त्र शब्द ही प्रयुक्त होता था अतः वर्तमान विश्वकर्माप्रकाश जैसा ग्रन्थ भी मूलतः वास्तुतन्त्र ही कहा जाता था।

इस ग्रन्थ की लोकप्रियता का प्रमाण यह है कि बंगाल व उड़ीसा से लेकर गुजरात, राजस्थान, कश्मीर से लेकर विदर्भ तक इसके मतों का अनुसरण हुआ। इसे ग्रन्थ की लोकप्रियता कहें अथवा विश्वकर्मीय सम्प्रदाय के प्रसार का प्रभाव कि विश्वकर्मा के मतों के रूप में दर्जनों ग्रन्थों का प्रणयन हुआ। यह परम्परा लगभग सोलहवीं सदी तक निरन्तर रही और न केवल राजस्थान, गुजरात, उड़ीसा, हिमाचल, सिन्ध-पंजाब (अखण्ड भारतान्तर्गत) बल्कि सुदूर दक्षिण तक विश्वकर्मीय मतों का प्रसार हुआ। शिल्पियों ने अपने काल की आवश्यकता के रूप में जिन ग्रन्थों का प्रणयन किया, वे विश्वकर्मा प्रणीत ही कहे गए। दक्षिण में जब विशालकाय मानसारम्, काश्यपशिल्प, सकलाधिकार, मयमतम् जैसे ग्रन्थ पुनर्सम्पादित हो रहे थे तब 11वीं सदी में धाराधिप भोज ने जयपृच्छा (जिसके उद्धरण लक्षणसमुच्चय एवं चतुर्वर्गचिन्तामणि में मिलते हैं) का समराङ्गण सूत्रधार के रूप में लगभग सात हजार श्लोकों में विस्तार किया तो 12वीं सदी में भुवनदेवाचार्य ने सूत्रसन्तानगुणकीर्तिप्रकाश के रूप में इतने ही श्लोकों की रचनाकर अपराजितपृच्छा का प्रणयन किया। इस समय तक जयपृच्छा, विजयपृच्छा और सिद्धार्थ पृच्छा का भी प्रचलन हो चुका था। ये सारे ही ग्रन्थ वास्तु एवं तत्सम्बद्ध विषयों पर आधारित थे। *(विशेष द्रष्टव्य : श्रीकृष्ण 'जुगनू' सम्पादित शिल्पशास्त्रम् एवं चित्रलक्षणम् की भूमिका)*

ये सारे ग्रन्थ इस विषय की लोकप्रियता और आवश्यकता के उत्कृष्ट उदाहरण माने जा सकते हैं, एक प्रकार से इस तकनीकी विषय के कीर्तिस्तम्भ भी हैं। भारत के पास अकेले इस विषय पर शताधिक ग्रन्थों की उपलब्धता स्वयं में एक यशःमान है। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि सल्तनतकाल में जबकि भारतीय शिल्प विरासत के अधःपतन के प्रयास हुए, तब खिलजी दरबार में ठक्कर फेरू ने प्राकृत में वत्थुविज्जापयरण की रचना की। इसके कुछ काल बाद ही मेवाड़ के महाराणा मोकल एवं कुम्भकर्ण के शासनकाल में विश्वकर्मा के नाम पर ज्ञानप्रकाशदीपार्णव, क्षीरार्णव, वृक्षार्णव, जयपृच्छा जैसे ग्रन्थों का पुनः सम्पादन हुआ। जयपृच्छा में तो मस्जिद निर्माण की विधियाँ भी जय-विश्वकर्मा संवाद के रूप में निबद्ध हुई। मस्जिद को 'रहिमाण सुरालयम्' कहा गया है। ज्ञानरत्नकोश में विश्वकर्मीय मतों का प्रवर्तन हुआ।

यूप एवं कीर्ति स्तम्भों की परम्परा के पतन को बचाने के लिए महाराणा कुम्भा ने स्वयं विश्वकर्मीय स्तम्भराज जैसे ग्रन्थ का प्रणयन कर उसे शिलोत्कीर्ण करवाया। यही नहीं, कुम्भकर्ण के दरबारी सूत्रधार मण्डन, उसके भाई नाथा, पुत्र गोविन्द ने दर्जनभर वास्तु विषयक ग्रन्थों का प्रणयन किया। दक्षिण के केरल, तमिल में भी चोल एवं अन्य राजवंशों की शासनावधियों में जब मयमतम्, मयदीपिका, मयशास्त्रम्, मानसार, नारदीयशिल्प, अगस्त्यवास्तुशास्त्रम् आदि की रचना हुई, वहीं कर्णाटक में चालुक्य सोमेश्वर ने मानसोल्लास जैसे ग्रन्थ का प्रणयन किया। यही नहीं, परवर्तीकाल में तन्त्रसमुच्चय, तच्चुशास्त्रम् अपरनाम मनुष्यालयचन्द्रिका, देवालयचन्द्रिका, वास्तुविद्या, शिल्परत्नम्, विश्वकर्मीयम्, तन्त्रसमुच्चय जैसे ग्रन्थ भी रचे गए। इतिहास के पन्ने यह भी बताते हैं कि नरसंहार के दौर में भी शिल्पियों का संरक्षण किया गया और आक्रान्ताओं ने उनसे अपनी इच्छा के अनुकूल वास्तु निर्मितियाँ करवाईं।

विश्वकर्मवास्तुशास्त्रम् —

प्रस्तुत ग्रन्थ वास्तुविद्या का प्रतिनिधित्व करने वाला ऐसा ग्रन्थ है जिसमें भवन, देवालय से लेकर प्रधानतः ग्राम, नगर निवेश के सिद्धान्तों का प्रवर्तन हुआ है। समुद्र, नदी, स्रोतों से लेकर पहाड़ी क्षेत्र में बस्तियों के निवेश की आवश्यकता ने इसके प्रणयन का पथ प्रशस्त किया। तब तक कई नगर ध्वस्त भी हो चुके थे। ऐसे में ग्रन्थकार ने उन नगरों को देवनगरों के रूप में पहचानने और उनके पुनर्निवेश का मत भी दिया। ग्रन्थ में लगभग बारह प्रकार के ग्रामों का उल्लेख है—

मण्डक, प्रस्तार, बाहुलिक, पराक, चतुर्मुख, पूर्वमुख, मंगलग्राम, विश्वकर्मक, देवरादग्राम, विश्वेश, कैलास व नित्यमंगला। इनमें से कई नाम अभी भी तमिल क्षेत्र में मिलते हैं। उत्तरी अर्काट जिले में एक ग्राम मण्डक कलात्तूर नाम से है। तंजौर क्षेत्र में भी कई ग्राम ऐसे हैं जिनके नामान्त मंगल हैं। चोल साम्राज्य कालीन अभिलेखों में अनेक ग्रामों के नामान्त 'चतुर्वेदिन मंगलम्' आदि मिलते हैं। इससे इसके रचनाकार के उसी क्षेत्र के होने का बोध होता है।

यह सम्भवतः किसी भट्टारक की निर्मिति है जो विश्वकर्मा के प्रति श्रद्धास्पद रहा और अपनी पहचान की अपेक्षा विश्वकर्मा की ही ख्याति ही उसका परम लक्ष्य रहा है। यूँ तमिल या केरल प्रदेश या फिर दोनों के ही सन्धि क्षेत्र को लक्ष्य कर इसकी रचना हुई है किन्तु इसके मत सार्वदेशीय, सार्वकालिक हैं।

इसमें कुल 87 अध्याय है और कुछ श्लोकों को छोड़कर अधिकांश में अनुष्टुप छन्द का ही प्रयोग किया गया है। कैलाश में शिव के सान्निध्य में इन्द्रदेव, ऋषियों के आगमन व अर्चनादि के वर्णन के साथ ही विश्वकर्मा को वास्तु सम्बन्धी वर प्राप्ति एवं लोकहितार्थ उसके प्रवर्तन-कथन से ग्रन्थ का आरम्भ हुआ है और धीरे-धीरे वास्तु के विविधोपयोगी विषयों को प्रस्तुत किया गया है। दूसरे अध्याय में ही शिल्प की विविध लोक प्रचलित विधियों का स्मरण किया गया है, इनमें ग्रामों, पुरियों, नगरों के लक्षण भी बहुत प्रकार के माने गए हैं। इनमें खेट (छोटे गाँव खेड़ा), कर्वट (खर्वट या लघु पाल-ग्राम, नाडु) आदि सहित दुर्गों के लक्षण, प्रासाद-मन्दिरों, राजप्रासादों और हर्म्यों-हवेलियों, धनाढ्यों के भवनों, देवताओं एवं राजाओं के भवन के लक्षण भी विविध प्रकारेण बताए गए। निर्माण कार्यों में जो बहुत ही सन्दूप्यक-उपयोगी भवन हैं, उनमें न्यायशाला, सभाभवन, कोशागार भवन आदि का निर्माण विधान कहा गया। इसी प्रकार अन्तःपुर-रनिवास, शस्त्रगृह-आयुधागार, विविध प्रकार की शालाएँ, क्रीड़ागृह, सुन्दर तोरण से द्वार की शोभा तथा मञ्चिका का निर्माण बताया गया। अधिष्ठान और उपपीठ, गोपुर तथा बहुत सङ्कीर्ण घनी बस्तीवाले भवनों की भरमार से जिनकी भद्र-दीवारों पर पताकाएँ फहराना कहा गया। ऐसे ही चारों वर्णों- ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्रों के गृहों के लक्षण बहुत प्रकार के बताए गए जिनकी वेदिका, चबूतरियाँ, पोतिका के सन्ध, बन्धन और आवरण जैसी रचनाएँ होती हैं। स्तम्भादि के निर्माण में विशेष भवनों में, मण्डपों में, विमानों में, मन्दिरों में, प्राकारों-परकोटों में भी विधान बताए

गए। इसी तरह अलग-अलग देशों के विभागानुसार भी बहुत से लक्षण कहे गए। इन सभी को आगे अध्यायानुसार क्रमशः संक्षेप में कहा गया है—

अतो लोकेषु सर्वेषु शिल्पं बहुविधं ततम्। ग्रामाणाञ्च पुरीणाञ्च लक्षणं बहुधा स्मृतम्॥ खेटकर्वटकादीनां दुर्गाणामपि लक्षणम्। प्रासादेषु च हर्म्येषु देवानां भूभुजामपि॥ विविधेष्वपि निर्माणेष्वपि सन्दूप्वकं बहु। भवने न्यायशालायं समायं कोशसद्मनि॥ अन्तःपुरे शस्त्रगेहे शालासु विविधासु च। क्रीडागेहेषु रम्येषु तोरणादिषु मञ्चिके॥ अधि-ष्ठानोपपीठेषु गोपुरेषु तथा बहु। सङ्कीर्णभवनाढ्येषु पताकापारिभद्रके॥ चातुर्वर्ण्येगृहाणाञ्च लक्षणं बहुधा स्मृतम्। वेदिका पोतिकासन्धिबन्धनावरणेषु च॥ स्तम्भादिके च निर्माणे विशेषभवनेषु च। मण्डपेषु विमानेषु प्राकारादिषु यन्मतम्॥ लक्षणं बहुधा प्रोक्तं नानादेश विभागशः। सकलं तच्च संक्षिप्य वक्ष्येऽध्यायक्रमादहम्॥ *(विश्वकर्मावास्तुशास्त्रम् 2, 33-40)*

कतिपय विशिष्ट वर्णन स्थल —

इस ग्रन्थ की कई विशेषताएँ भी हैं। इसमें मानादि प्रमाणों को व्यावहारिक रूप से प्रयोग करने पर जोर दिया गया है। वास्तु विन्यास के अवसर पर गृहस्वामी के काम में आने वाली एक या दो वस्तुओं को किसी धातु मंजूषा में रखकर भूमिगत करने का मत प्रतिपादित किया गया है। यह कृत्य उक्त भूखण्ड के सर्वविध समृद्ध करने की दिशा में एक प्रयास है जो आजकल नहीं दिखाई देता। मन्दिरों के लिए भूमि पूजन करते समय कीमती रत्नों का न्यास करने का विचार दिया गया है।

इसमें क्षेत्रफल की इकाइयाँ धनुष, काकणिक, मासादि क्रम से आई हैं। आठ धनुष अथवा 32 गज की लम्बाई पर जो वर्ग बनता है (16 × 16 = 256), उसको काकणिक कहा जाता है। इस प्रकार यह 256 वर्गगज का क्षेत्रफल होता है, इसका चौगुना मास कहा जाता है। इसी प्रकार 4 मास = 1 वर्तनक, 5 वर्तनक = 1 वाटिका, 2 वाटिका = 1 ग्राम कुटुम्ब होता है। यह वर्तनक सम्भवतः निवर्तन का पर्याय हो सकता है क्योंकि दक्षिण में इसका प्रचलन था। पुलकेशिन द्वितीय की शासनावधि में स्थापित येक्कोरि प्रस्तर बेलग्राम अभिलेख में द्युतिपुरा में आठ निवर्तन, वेनीरा में चार निवर्तन, अगरियापुरा में पाँच निवर्तन के साथ ही कुल पचास निवर्तन भूमि, जिसे देवलोक भूमि कहा जाता था, के दान का सन्दर्भ मिलता है। (इपिग्राफिया इण्डिका, वॉल्यूम 6, एल-4, 8) कौटिल्य के अनुसार 1

दण्ड = 4 आर्थिन, 10 दण्ड = 1 रज्जु, 10 दण्ड = 40 आर्थिन अर्थात् 1 रज्जु = 40 आर्थिन, 3 रज्जु = 1 निवर्तन = 30 दण्ड, 1 दण्ड = 8 हाथ, 1 हाथ = 8 इंच औसतन, यह प्रमाण है। इस विश्लेषण के अनुसार 200 × 200 वर्ग हाथ (लगभग 2 एकड़) अर्थात् एक निवर्तन = दो एकड़ होता है। विज्ञानेश्वर बृहस्पति के सन्दर्भ से पता चलता है— सप्त हस्तेन दण्डेन त्रिंशद्दण्डं निवर्तनम्। अर्थात् निवर्तन, 210 × 210 वर्ग हाथ के बराबर है अर्थात् एक निवर्तन में लगभग 2$^{1/4}$ एकड़। *(याज्ञवल्क्यस्मृति 1, 210)* भास्कराचार्य कृत लीलावती के अनुसार 1 निवर्तन = 200 × 200 वर्ग हाथ, 1 एकड़ = 100 × 100 वर्ग हाथ, 1 निवर्तक = 2 एकड़ होता है। यही मत चतुर्वर्गचिन्तामणिकार का है। *(भाग 1, 290)*

ग्रन्थ में बड़े ग्रामों का अधिकतम विस्तार एक सौ हजार अर्थात् एक लाख वर्ग दण्डों के बराबर माना गया है अर्थात् 4 लाख वर्गगज। इस तरह से बड़े ग्रामों की भी पाँच श्रेणियाँ हैं जो 20, 000 वर्ग दण्ड से आरम्भ होकर आगे की प्रत्येक भी इसी 20, 000 वर्ग के अनुसार बढ़ती जाती है। ग्राम के 1/20 वर्ग क्षेत्र के भाग को कुटुम्ब भूमि कहते हैं। छोटे ग्राम भी 500 वर्ग दण्डों से 20, 000 वर्ग दण्डों तक के होते हैं। ग्रामों को जनसंख्या के अनुसार भी घटित किया गया है। इनके अनेक क्रम है और प्रत्येक क्रम में भी तीन जातियों के ग्राम हैं—

क्रम	उत्तम	मध्यम	अधम
प्रथम	12,000	10,000	8000
द्वितीय	7000	6000	5000
तृतीय	4000	3000	2000
चतुर्थ	1000	700	500

इसके अतिरिक्त पाँचवें क्षुद्र ग्राम में (1.) 432 (2.) 324 (3.) 216 (4.) 108 (5.) 80 (6.) 64 (7.) 32 (8.) 24 (9.) 16 एवं (10.) 12 का प्रमाण दिया गया है जबकि छठे ग्राम कुटी कहे जाते हैं जो क्रमशः 10, 9, 8, 7, 6, 5, 4, 3, 2 एवं 1 परिवार वाले कल्पित होते हैं। इनमें एक परिवार वाले कुटी को 1 भोग ग्राम भी कहा जाता है।

इसके अतिरिक्त ग्रन्थ में नगरादि की आयोजना से पूर्व पाँच प्रकार के नापों को बताया गया है—

1. ऊर्ध्वमान – खड़ी ऊँचाई के लिए नाप
2. अधोमान – खड़ी, नीचे आते प्रमाण के लिए नाप
3. भूमिमान – भूमि की लम्बाई–चौड़ाई व क्षेत्रफल का मान
4. वर्तुलमान – क्षेत्र की प्रान्तरेखा का मान
5. तिर्यक्मान – समतल लम्बाई, ऊँचाई के अनुरूप झुकाव हेतु प्रयुक्त

इसी प्रकार नाप का अन्य वर्गीकरण भी तीन प्रकार से किया गया है जिसमें उनके भाव और आकृति को दृष्टिगत रखा गया है। इनमें प्रथम नाप दण्ड की इकाई वाला होता है। द्वितीय नाप अंगों के अंशों अर्थात् अनुपात को बताने के लिए होते हैं। तृतीय नाप निर्माण कार्य के भागों की संख्या गिनने में प्रयोजनीय है, जैसे स्तम्भों की संख्या जो कि प्रत्येक बाजू में हो, द्वारों की संख्या, कमरों की संख्या, मंजिलों की संख्या और झरोखों की संख्या।

इसके साथ ही इसमें शब्दों से अंक पर्याय (संख्या सूचक शब्द) दिए गए हैं। इस प्रकार का वर्णन शिल्प ग्रन्थ अपराजितपृच्छा और संगीतदामोदर में आता है। संख्याओं के अधिष्ठापक वास्तु पद विन्यास के देवताओं का सन्दर्भ भी कदाचित इस ग्रन्थ की अपनी विशेषता ही है जिसमें किसी मुख्य संख्या से देवपद को सूचित करने की परम्परा देखी जा सकती है, जैसे सूर्य को संख्या 1 का अधिष्ठात्र देव कहा गया है। भल्लाट को संख्या 2, मृगदेव को संख्या 3 का, पुष्पदेव को संख्या 4 का, पवन को 5 का बताया गया है। इसी क्रम में इन संख्याओं के शब्द–पर्यायों का वर्णन किया गया है।

विश्वकर्मवास्तुशास्त्र सूचित करता है कि प्रत्येक नगर की भूमि के मुख्यकार्य उस क्षेत्र के विभाजन के अनुसार वहाँ पड़ने वाले सम्बन्धित देवताओं पर आधारित होते हैं। ग्राम, नगर एवं शहर की योजना के अनुसार इन देवताओं के नाम के अनुसार स्थल अथवा पद ईशानादि कोण से आरम्भ किए गए हैं, जो निम्नलिखित सूची से स्पष्ट हो सकते हैं—

क्रम	चौकोर	आयताकार	वृत्ताकार
	बाहरी चौरसखण्ड	बाहरी चौरसखण्ड	बाहरी चौरसखण्ड
1.	आकाश	आकाश	आकाश
2.	पवन	पवन	मेष

3.	मित्र	मेष	गन्धर्व
4.	वह्नि	गन्धर्व	दन्त
5.	मेष	दन्तक	रोग
6.	पुष्पक	रोग	शोष (सोष)
7.	दौवारिक	शोष	किन्नर
8.	गन्धर्व	किन्नर	भास्कर
9.	सुग्रीव	भास्कर	भूधर
10.	दन्तक	भूधर	मीन
11.	रोग	पुष्पक	सोम
12.	शोष	भुजङ्ग	दौवारिक
13.	भुजङ्ग	सावित्र	(भीतर के पद)
14.	किन्नर	रवि	मित्र
15.	भास्कर	(भीतर के पद)	वह्नि
16.	ईशान	शशि	ईश
	(भीतर के पद)	भल्लाट	जयन्त
17.	भूधर	वह्नि	–
18.	रुद्र	मित्र	–
19.	भृङ्ग	दौवारिक	–
20.	मीन	सुग्रीव	–
21.	सोम	–	–
22.	आप	–	–
23.	विवस्वान्	–	–
24.	सावित्र (केन्द्र में)	–	–
25.	वासव	–	–

ग्रन्थ के रचनाकाल तक राजाओं की स्थिति उनके नगरों के अनुसार अथवा नगरों की स्थिति उनके राजाओं के अनुसार कल्पित की जाती थी। सामन्तवाद,

प्राचीन राजवंशों के विवरण में रुचिशीलों के लिए ये सात कोटियाँ निश्चित ही रोचक हैं—

1. नरेन्द्र – पद्मनगर के शासक की संज्ञा।
2. महाराज – सर्वतोभद्रनगर के शासक की संज्ञा।
3. अस्त्रग्राह – प्रस्तरनगर के शासक की संज्ञा।
4. पट्टभाक् – श्रीप्रतिष्ठानगर के शासक की संज्ञा।
5. युवराज – पुर नगर के शासक की संज्ञा।
6. माण्डलिक – अष्टमुखनगर के शासक की संज्ञा।
7. सार्वभौम – राजधानी नगर के शासक की संज्ञा।

यह स्मरणीय है कि मानसार में राजाओं की नौ श्रेणियाँ वर्णित हैं जो क्रमशः चक्रवर्ती, महाराज अथवा अधिराज, महेन्द्र या नरेन्द्र, पार्ष्णिक, पट्टधर, मण्डलेश, पट्टभाज, प्रहारक और अस्त्रग्राही संज्ञक है— अथ वक्ष्ये विशेषेण लक्षणं परम्। चक्रवर्ती महाराजो नरेन्द्रः पार्ष्णिकस्तथा॥ अथ पट्टधरश्चापि मण्डलेशस्तथैव च। अथैव पट्टभाक् चैव ततः प्राहारकस्तथा॥ अस्त्रग्राहस्ततश्चैते नव भूपा यथाक्रमम्। *(मानसारम् 42, 1-3)* अपराजितपृच्छा में महत्त्वक्रम से नौ प्रकार के शासकों का वर्णन हुआ है— महीपति, राजा, नराधिप, महामण्डलेश्वर, माण्डलिक, महासामन्त, सामन्त, लघुसामन्त और चतुरंशिक— एकच्छत्रप्रभोक्ता यः स भवेत्सर्वं महीपतिः। शतमष्टोत्तर हस्तोच्चं कर्त्तव्यं भुवनोत्तमम्॥ पृथिव्यार्उच्यो राजाभुङ्क्तेर्द्धं परोपृथ च। तस्य वेश्म प्रकर्त्तव्यं के शतं हीनकरद्वयम्॥ उततन्मही त्रिभागं च भुञ्जतेऽमुं नराधिपः। अष्टाशीतिकरं वेश्म महाराजा त्रिविधोत्तमं॥ लक्षैक द्वयग्रामाणां महामण्डलेश्वरं विदुः। तस्य वेश्म प्रकर्त्तव्यं अशीत्यूनं करद्वयम्॥ लक्षणार्द्धे यदा भुक्ती मण्डलीकाभिधानतः। अष्टषष्टिकरं वेश्म कर्त्तव्यं भुवनोत्तमम्॥ अयुतद्वयग्रामाणां महा सामन्त सञ्ज्ञकम्। पञ्चासाष्टकरं वेश्म सर्वकामफल प्रदम्॥ सामन्त सञ्ज्ञकं नाम ग्रामस्यायुता द्वयम्। अष्ट चत्वारिंशत्करंतद्भवनं कुर्यात् शोभनम्॥ अयुतार्द्धग्रामाणां च यश्च लघुसामन्तकः। कराष्ट त्रिंशद्धयक्तं च तद्भवनं अर्थ कामदम्॥ सहस्रैकं तु ग्रामाणां सभवेच्च तु रांशिकः। अष्टाविंश करं कुर्यात् वेश्मशान्ति प्रदं सदा॥ *(अपराजितपृच्छा 81, 2-10)*

प्रस्तुत ग्रन्थ का रचनाकाल एवं रचनास्थल —

विश्वकर्मवास्तुशास्त्रम् को दिव्यविश्वकर्मा की रचना माना गया है किन्तु यह अधिक प्राचीन ग्रन्थ इसलिए नहीं माना जा सकता है कि इसमें कई शब्दों का प्रयोग मानसारम् और मयमतम् के बाद व्यवहार में आए। यह प्राचीन ग्रन्थों की अपेक्षा अधिक व्यावहारिक विषयों का प्रतिपादन करता है, इसलिए इसमें कई पुरानी परम्पराओं का त्याग किया गया है अथवा प्राचीन मतों की अनदेखी भी हुई है। यह शब्दावली, गाँवों के नामकरण की परम्परा, पुस्तकालय एवं न्यायशाला इत्यादि के वर्णन से ज्ञात होता है कि यह उसी समय लिखा गया जबकि इन विषयों को समाज में महत्त्व मिला। विधर्मियों के आक्रमण और आगमन के काल में सर्वाधिक क्षति पुस्तकालयों की हुई, यह ऐतिहासिक सत्य है, ऐसे में ग्रन्थकार ने पुस्तकालयों की स्थापना का महत्व दिया। ऐसे में इसकी पूर्व सीमा 13वीं सदी के उत्तरार्द्ध से अधिक नहीं हो सकती वहीं उत्तर सीमा 16वीं सदी का पूर्वार्द्ध कल्पित किया जा सकता है।

यह ग्रन्थ शिल्प अध्येताओं के लिए अज्ञात ही रहा। प्रो. प्रसन्नकुमार आचार्य ने 'एन एनसाक्लोपीडिया ऑफ हिन्दू आर्किटेक्चर' में वास्तु-शिल्पग्रन्थों की बृहद् सूची तैयार की है किन्तु तब तक यह ग्रन्थ अज्ञात ही था, ऐसे में विश्वकर्मीय ग्रन्थों का उन्होंने विभिन्न सूचीपत्रों के आधार पर उल्लेख तो किया है, यथा— विश्वकर्मामत, विश्वकर्माज्ञानम्, विश्वकर्मापुराण, विश्वकर्माप्रकाश, विश्वकर्मासम्प्रदाय, विश्वकर्मीय शिल्पशास्त्र, ज्ञानरत्नकोश इत्यादि, किन्तु विश्वकर्मवास्तुशास्त्रम् अलभ्य होने के कारण नामोल्लेख से भी वंचित ही रहा। रामराज, तारापाद भट्टाचार्य ने भी इसका उल्लेख नहीं किया। प्रो. मधुसूदन ढांकी ने इसे 16वीं सदी का ग्रन्थ अनुमित किया है। *(भारतीय दुर्गविधान, पृष्ठ 2)* कदाचित् यह निजी हाथों में ही विद्यमान होने से विद्वानों को नहीं मिला था किन्तु यह अवश्य है कि इसके मतों का दक्षिण में पर्याप्त प्रयोगानुसरण हुआ होगा। इसकी व्याख्या मिलना इसके महत्व को सिद्ध करता है।

इसमें आई समय की गणना के आधार पर इसके सम्पादक के. वासुदेव शास्त्री ने रचनास्थल पर विचार किया है। श्रीशास्त्री ने माना है कि इस ग्रन्थ के अनुसार वृषभ एवं कन्या राशि के महीनों में सूर्य छाया की लम्बाई को घटाया नहीं गया है। इन महीनों के नामों से ज्ञात होता है कि ये सायन माह है। वृषभ राशि 15 मई से

15 जून तक होती है। इसलिए जिस स्थान पर यह ग्रन्थ रचा गया, वहाँ पर सूर्य जून की पहली और अक्टूबर की पहली तिथि के दिन शीर्ष या पूर्णतः सिर पर था। इसी तरह मार्च की 22 तारीख के दिन भी सूर्य भूमध्य रेखा पर शीर्ष होता है। यह सूर्य कर्क रेखा से मकर रेखा तक यात्रा करता है, अर्थात् एक अयन, छह माह में इसकी कोणीय दूरी 47° अंशों की होती है। इसलिए यह लगभग 8° अंश से प्रतिमाह चलता है, 22 मार्च से 1 जून तक लगभग $2^{1/4}$ माह होते हैं। इसलिए अक्षांश रेखा 18° उत्तरी अक्षांश का स्थान वही कल्पित होता है, जहाँ यह ग्रन्थ रचा गया।

अंगुल प्रमाणानुसार शंकु की लम्बाई महीनावार घटाने का विवरण इस प्रकार माना गया है—

मेष — 4 (2 अथवा 3), वृषभ -- 2, मिथुन — 3, कर्क — 4, सिंह — 4, कन्या — 0, तुला — 2, वृश्चिक — 4, धनु — 6, मकर — 8, कुम्भ — 6 एवं मीन — 4 प्रमाण।

मयमतम् प्रति दस दिनों का संशोधन प्रस्तावित करता है परन्तु वह 10 और 30 मेष राशि तक के लिए कोई भी संशोधन नहीं बताता। इसलिए उस स्थान पर जहां कि मयमतम् का पाठ रचित हुआ, वहाँ पर सूर्य 20वीं मेष राशि के आसपास शीर्षस्थ रहा अर्थात् 5वीं मई के आसपास। इसी तरह 22 मार्च से 4 मई तक लगभग 42 दिन होते हैं। इसलिए जहाँ पर मयमतम् का पाठ तैयार हुआ, वह स्थान लगभग 2° या 3° तक दक्षिण दिशा की ओर रहा है। भारतीय ज्योतिषाचार्यों की यह स्वाभाविक अवधारणा है कि उज्जैन ज्योतिर्गणना का केन्द्र है। अतः इन ज्योतिषीय सिद्धान्तों को ही वास्तु ग्रन्थों के प्रणेताओं ने ग्रहण किया है। मयमतम् में प्रस्तावित संशोधनों को प्रस्तुत ग्रन्थ के आधार पर तुलना करने पर यह विचार बनता है—

ग्रन्थ	**मेष**	**वृषभ**	**मिथुन**	**कर्क**
मयमतम्	1, 0, 0	1, 2, 2,	3, 4, 4	3, 2, 2
विश्वकर्मवास्तु.	2 या 3	0	3	4
	सिंह	**कन्या**	**तुला**	**वृश्चिक**
मयमतम्	1, 0, 0	1, 2, 2	3, 4, 4	5, 6, 6

विश्वकर्मवास्तु.	4	0	2	4
	धनु	**मकर**	**कुम्भ**	**मीन**
मयमतम्	7, 8, 8	7, 6, 6	5, 4, 4	3, 2,1
विश्वकर्मवास्तु.	6	8	6	4

इस प्रकार यह दोनों ही ग्रन्थों के समय व स्थान का बोधक भी हैं, इन संशोधनों को प्रातः और सन्ध्या दोनों ही छायाओं में किया जाना चाहिए। *(विश्वकर्मवास्तुशास्त्रम् की अंग्रेजी भूमिका, पृष्ठ 4-5)*

प्रस्तुत ग्रन्थ की प्रमाणबोधिनी व्याख्या—

प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रकाशन तंजौर से मूलपाठ और श्रीमान् अनन्तकृष्ण भट्टारक कवि कृत प्रमाणबोधिनी संस्कृत व्याख्या सहित हुआ है। श्री भट्टारक की टीका की अपनी विशेषताएँ हैं। उन्होंने श्लोकवार अर्थ करने की अपेक्षा इसमें आए विषयों पर अपना विश्लेषण प्रस्तुत किया है, कहीं-कहीं कठिन शब्दों का अर्थ दिया है किन्तु अनेकत्र उनकी उहा भी कम नहीं रही। विस्तार व्याख्यान से बचने के लिए उन्होंने अनेकत्र शिल्पादि विषयक अन्य ग्रन्थों का नामोल्लेख मात्र किया है, व्याख्याकार को इन ग्रन्थों की जानकारी तो थी किन्तु उन पर अधिकृत विशेषज्ञता का अभाव भी लक्षित होता है क्योंकि उन्होंने कहीं भी इतर ग्रन्थों का उदाहरण नहीं दिया है। इसके पीछे यह कारण भी लगता है कि इस ग्रन्थ का अपना प्रतिपाद्य अन्य शिल्पशास्त्रों से कम ही मेल खाता है।

श्री अनन्तकृष्ण भट्टारक ने अपने समय, स्थान के सम्बन्ध में कोई जानकारी नहीं दी है। न तो प्रथम और न ही अन्तिम 87वें अध्याय में श्री भट्टारक ने कोई जानकारी प्रदान की है। प्रथम अध्याय में मात्र छह श्लोकों में ग्रन्थ के मंगलाचरण और प्रतिपाद्य को आगे बढ़ाया है —

अजमव्यक्तमीशानमनन्तं जगतां पतिम्।
नमामि सूरिभिर्ध्येयं नमतामिष्टदायिनम्॥ 1 ॥
गुरोः प्रसादान्मन्दोऽपि अहं शक्ति प्रसन्नधीः।
विश्वकर्मकृतेर्भावं व्याकरोमि क्वचित्क्वचित्॥ 2 ॥
प्रमाणबोधिनीं व्याख्यामिमामुद्वीक्ष्य साधवः।
सृजन्तु मयि स .... ॥ 3 ॥

सर्वलोकहितार्थाय प्रणीतं विश्वकर्मणा।
वास्तुशास्त्रमिदं पूर्वं सुरलोके प्रतिष्ठितम्॥ 4॥
ततः कालेन महता मुनयः शौनकादयः।
श्रुत्वा सूतमुखादेतद्भेजिते परमां मुदम्॥ 5॥
तदा प्रभृति लोकेऽस्मिन्स्थपत्यादिभिरादरात्।
प्रवर्तितमिदं वास्तुशास्त्रं सर्वफलप्रदम्॥ 6॥

इससे स्पष्ट होता है कि व्याख्याकार ने अव्यक्त रूप में ईशान, अनन्त एवं जगत्पति को मुनियों द्वारा ध्येय मानते हुए इष्टप्रदायक रूप में नमन किया है। इसके साथ ही गुरु का स्मरण किया है जिनकी कृपा से अल्पज्ञ होने के बाद भी दक्षता ग्रहण की, व्याख्यान की शक्ति अर्जित की और प्रसन्नप्रज्ञ होकर विश्वकर्माकृत ग्रन्थ की किंचित-किंचित व्याख्या का सामर्थ्य जुटाया। यह प्रमाणबोधिनी टीका सम्यक् रूप से सम्पादित करने का यत्न किया। विश्वकर्मा ने समस्त लोक के हित में इस ग्रन्थ का प्रणयन किया, पूर्व में यह देवलोक में प्रतिष्ठित था। कालान्तर में शौनकादि मुनियों ने सूतमुख से इसका श्रवण किया और इस लोक में स्थपतियों के लिए आदरस्पद बना। परम्परा से यह वास्तुशास्त्र सर्वफलप्रदायक सिद्ध हुआ।

इस प्रकार प्रस्तुत व्याख्याकार ने इस शास्त्र की परम्परा को ही लक्षित रखा है न कि अपने सम्बन्ध में कुछ कहना। महर्षि पालकाप्य कृत 'गजशास्त्रम्' पर भावसन्दर्शिनी व्याख्या भी इन्हीं अनन्तकृष्ण भट्टारक की प्रतीत होती है। गजशास्त्रम् की व्याख्या 14वें अध्याय के बाद पूरी नहीं मिलती। उक्त व्याख्या में भी श्रीभट्टारक ने अपने विषय में कुछ नहीं लिखा है। उसकी 22 नवम्बर 1926ई. की प्रसिद्ध अभिलेखविशारद पण्डित वी. विजयराघवाचार्य द्वारा तैयार पाण्डुलिपि में श्री भट्टारक की टीका थी और केवल यही लिखा था— 'पालकाप्यमहर्षिप्रणीतं गजशास्त्रम् : श्रीमदनन्तकृष्णभट्टारक- विरचित भावसन्दर्शिन्याख्यया व्याख्याया समेतम्।' *(गजशास्त्रम् : सम्पादक डॉ. सिद्धार्थ यशवन्त वाकणकर एवं वैद्य वी. बी. म्हैस्कर, दिल्ली 2006, भूमिका पृष्ठ 18 एवं 93)* किन्तु, यह प्रतीत होता है कि व्याख्या अधिक पुरानी नहीं है, गत सदी तक की अनुमित होती है। व्याख्याकार द्रविड़ भाषायी था क्योंकि व्याख्या में अनेकत्र संस्कृत शब्दों के द्राविड़ भाषायी पर्याय भी दिए गए हैं।

फिर, टीका में अधिकांशतः द्राविड़ ग्रन्थों का ही नामोल्लेख किया है। यथा—

किञ्चैतादृशदेवबिम्बानां सपरिवारकलत्राणां आयुधवर्णनिर्माणादिप्रकारस्तु शिल्प- रत्नादिशास्त्रान्तरेषु तत्र तत्र द्रष्टव्यः। *(11, 18-19)*

इत्थं नन्दिनारदकाश्पादिप्राचीनानां मतमनुसृत्य राजभवनवास्तुप्रमाणमुक्तम्। *(12, 1-3)*

अयञ्च विषयो महालक्ष्मीरत्नकोशे उत्तरभागे, महाभारते च प्रपञ्चितो द्रष्टव्यः। *(20, 15)*

भोजनकुतूहलाख्यपाकशास्त्रग्रन्थेषु प्रसिद्ध एव। *(22, 1-2)*

किञ्चनन्दिवास्तुशास्त्रादिषु अस्यैव कल्याणशालाकल्पनस्य लक्षणान्तरमुक्तम्। *(46, 9-11)*

किञ्चात्रोक्तगोमुखप्रणालीकल्पनक्रमलक्षणादिकं तु काश्यपमतादिषु ग्रन्थान्तरेषु ज्ञेयम्। विस्तरभयान्नात्र लिख्यते। *(58, 9-10)*

किञ्च काश्यपमतमानसारादिशिल्पशास्त्रवास्तुशास्त्रलक्षणशास्त्रग्रन्थेषु प्रतिपादित मतान्तरस्तम्भजात्यादिशैली तु ग्रन्थविस्तरभिया नात्र प्रपञ्चयते। *(64, 5-7)*

मतान्तररीत्या स्तम्भलक्षणादिकं तु मानसारादिग्रन्थेषु ज्ञेयमिति। *(64, 30)*

बेरायुधयोजनक्रमश्च मूर्तिध्यानाख्यशिल्पग्रन्थे विस्तरशः प्रतिपादितो द्रष्टव्यः। *(79, 20-26)*

शिवलिंङ्गबेराणाञ्च तत्र तत्राविर्भावकारणमहिमादिकन्तु विस्तरशो ब्रह्माण्डस्कन्द-पुराणादिषु प्रतिपादितं तत्र द्रष्टव्यमिति। *(80, 9-10)*

मानसारमूर्तिध्यानादिशिल्पशास्त्रग्रन्थेषु प्रतिपादितं बोध्यम्। *(तत्रैव)*

विष्णुपुराणसात्वतसंहितामरीचिपटलपाञ्चरात्रवैखानसादि ग्रन्थोत्तमेषु बहुत प्रपञ्चितो द्रष्टव्यः। *(81, 1-2)*

इस प्रकार कुछ पुराणों के अतिरिक्त व्याख्याकार ने अधिकांशतः द्राविड़ वास्तुग्रन्थों का ही स्मरण किया है। इनमें नन्दिवास्तुशास्त्र का भी स्मरण किया है, जो अद्यावधि असूचित, अलभ्य है। काश्यपमत नाम से भी ग्रन्थ अनुपलब्ध है, हाँ काश्यपशिल्पम् या अंशुमद्भेदागम मिलता है। इन ग्रन्थों में शिल्परत्नम् का नाम आया है, जो 16वीं सदी के शिल्पी श्रीकुमार कृत ग्रन्थ माना जाता है। इस व्याख्या से ग्रन्थ के कई शब्दों को स्पष्ट करने में सहायता मिली है और कई शब्द ज्यों के त्यों ही प्रयोग में लाए गए हैं।

हिन्दी भाषान्तरण में भी ऐसा ही करना अपेक्षित भी था। वस्तुतः संस्कृत के तकनीकी विषयों में शिल्पशास्त्र अपेक्षाकृत कठिन है। वासुदेव शास्त्री ने भी माना है कि संस्कृत के विद्वानों ने शिल्प विषयक अध्ययन को बहुत लम्बे समय से अनादृत कर रखा है। इसी अनादरता का परिणाम है कि हमें शिल्पशास्त्रों के पाठ का भाष्य मिलना दुस्तर हो गया है। लेकिन, इस कला और कारीगरी को उन पारम्परिक शिल्पीगणों ने यथावत् रखा हुआ है जो संस्कृत भाषा का ज्ञान नहीं रखते। इस कला के आदर्श और इसके कलाकार शिल्पी उत्तर की अपेक्षा दक्षिणी भारत में अधिक पाए जाते हैं। पारम्परिक शिल्पियों के वंशानुगत शास्त्र जो उन्हें परम्परा से प्राप्त हैं, बुरी तरह से भ्रष्ट और अपूर्ण हैं और इन पाठों को पुनः सम्यक् रूप से व्यवस्थित करने की आज बड़ी आवश्यकता है। यह सौभाग्य है कि जिस पाठ का सम्पादन हुआ है, वह बहुत अच्छा है और यह एक भाष्यकार के द्वारा ठीक किया हुआ है परन्तु तकनीकी पारिभाषिकों का परिचय देने का पूरा प्रयास भाष्यकार द्वारा इसमें भी नहीं किया गया है क्योंकि उनका मानना है कि इनको किसी पारम्परिक शिल्पी से ही सीखा व समझा जा सकता है न कि किसी भट्टारक या शिल्पशास्त्री से। *(विश्वकर्मवास्तुशास्त्रम् की अंग्रेजी भूमिका, पृष्ठ 75)*

प्रस्तुत पाठ एवं हिन्दी अनुवाद —

विश्वकर्मवास्तुशास्त्रम् का यह संस्करण तंजावुर सरस्वती महल से प्रकाशित पाठ पर आधारित है। इसकी मूल पाण्डुलिपि चैन्नई के चेपोक स्थित ऑरियण्टल इंस्टीट्यूट की लायब्रेरी में विद्यमान है। वर्ष 1930-31 में तैयार की गई यह पाण्डुलिपि विलियम वक्कम जिला चिंगलपुर के श्रीताजादेशिक चारियर के पास प्राप्त मातृका के आधार पर तैयार किया गया था। तंजावुर संस्करण में तत्कालीन मानद सचिव एस. गोपालन ने लिखा था कि विश्वकर्मा रचित ग्रन्थों के एक दर्जन से अधिक पाठ-ग्रन्थ मिलते हैं जिनमें यह ग्रन्थ सबसे वृहत्तम हैं और यह पूर्णतया नगर नियोजन कला के विवेचन को लिए हुए है। शिल्पशास्त्रों में यह सम्भवतः एक मात्र पाठ होगा जिसकी टीका प्राप्त होती है। विश्वकर्मा और मयशिल्प के अतिरिक्त भी हमें शिल्पशास्त्र पर अन्य रचनाएँ मिलती हैं, यथा काश्यप मुनि कृत काश्यपीयशास्त्र, अगस्त्यमुनि कृत सकलाधिकार, मानसार, इन्द्र का ऐन्द्रशास्त्र, कुमार कृत शिल्परत्न, पराशर मुनि कृत विमानविद्या, भानुमत प्रतिष्ठातन्त्र और अनेक मूर्तिध्यानपरक रचनाएँ। ये विश्वकोशात्मक संहिता स्वरूप लिए हुए हैं।

इस ग्रन्थ का यह प्रथम सम्पूर्ण अनुवाद है। जहाँ तक हमारी जानकारी है संस्कृत व्याख्या के अतिरिक्त इसका किसी भी भारतीय और विदेशी भाषा में अद्यावधि अनुवाद नहीं हुआ है। अनुवाद के अभाव में इसके सिद्धान्त शिल्पियों और आधुनिक स्थापत्य अध्येताओं के लिए अबूझ पहेली ही बने रहे। इस संस्करण में पाठ का पुनः सम्पादन भी किया गया है। पूर्व प्रकाशित पाठ में कई अध्यायों को जुड़वा-कुलक रूप में प्रकाशित किया गया क्योंकि इसकी व्याख्या भी इसी रूप में की गई है, ऐसे में जो अध्याय सहज रूप से पृथक्-पृथक् हो सकते थे, उनको स्वतन्त्र किया गया। यही नहीं, अध्यायों में विषयवार श्लोकों पर उपशीर्षक लगाए गए और श्लोकों में आए तकनीकी शब्दों को जहाँ तक सम्भव हुआ, यथास्थान स्पष्ट करने का विनम्र यत्न किया गया है।

इसके अतिरिक्त, इस पाठ की यह विशेषता भी है कि जो विषय जहाँ स्पष्ट करने थे, उनको वहीं पर पाद टिप्पणियों के रूप में दिया गया है। यह तत्स्थलीय विश्लेषण आवश्यक भी था। शिल्पियों और विद्वानों को एक साथ किसी विषय की तुलना का अवसर इससे सुलभ हो जाएगा और यह भी ज्ञात हो सकेगा किसी विषय में क्या मत-मतान्तर और पृथक् दृष्टिकोण रहा है। जिन विषयों की अधिक जानकारी मूलपाठ या व्याख्या में उपलब्ध नहीं थी, उनको भी पाद टिप्पणियों के रूप में यथास्थान दिया गया है। ये पाद टिप्पणियाँ कई अर्थों में संस्कृत व्याख्या की अपेक्षा अधिक उपयोगी होंगी, ऐसा विश्वास है। न केवल शिल्पीगणों बल्कि अभियान्त्रिकी के अध्येताओं और विद्वानों को भी यह प्रयास रुचिकर लगेगा। इस तरह यह पाठ यथास्थल विवेचित और सन्दर्भित भी होता चला गया है।

यद्यपि सोचा यह गया था कि इस पर एक विस्तृत भूमिका लिखी जाए किन्तु स्थल-स्थल पर पाद-टिप्पणियों ने उक्त विचार की परिपूर्ति कर दी है। इस ग्रन्थ के विषयों को स्पष्ट करने के लिए आवश्यक चित्रों को भी दिया गया है, शिल्प विषयों के विवेचन में चित्रों, रेखांकनों का बड़ा महत्व होता है, यही मानकर ऐसा प्रयास किया गया है। ग्रन्थ में आए प्रमुख शब्दों के अंग्रेजी अर्थ-पर्याय भी अन्त में दिए गए हैं और उपस्कारक ग्रन्थों की सूची को भी इसमें सम्मिलित किया गया है।

विषयानुक्रमणिका

पद्मादिनगरलक्षणनिरूपणं नाम नवमोऽध्यायः ॥ 9 ॥

भवनलक्षणनिरूपणं नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥ 14 ॥

पूर्वभवनलक्षणनिरूपणं नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥ 15 ॥

न्यायशालालक्षणनिरूपणं नाम षोडशोऽध्यायः ॥ 16 ॥

पौरदेश्यसभादिकथनं नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥ 17 ॥

गोपुरविधानक्रमनिरूपणात्मकं अष्टचत्वारिंशाध्याय: ॥ 48 ॥

रङ्गशालालक्षणकथनात्मक: एकोनपञ्चाशोऽध्याय: ॥ 49 ॥

मन्त्र्यादिभवनलक्षणकथनं नाम पञ्चाशोऽध्याय: ॥ 50 ॥

ग्रामगृहनिर्माणक्रमकथनं नाम एकपञ्चाशोऽध्याय: ॥ 51 ॥

ग्रन्थकर्ता शिल्पदेवाचार्य भगवान् विश्वकर्मा



॥ श्रीगणाधिपतये नमः ॥

विश्वकर्मवास्तुशास्त्रम्

दिव्येन विश्वकर्मणा विरचितम्।

('मोहनबोधिनी' हिन्दी व्याख्या)

अथ शिवस्तुतिवर्णनं नाम

प्रथमोऽध्यायः ॥ 1 ॥

तत्र कैलासं प्रति इन्द्रादीनामागमनम् —

पुरा कैलासशिखरे मुनिवृन्दनिषेविते।
देवकिन्नरयक्षेशस्तुतिनादितदिङ्मुखे ॥ 1 ॥
सर्वरत्नसन्दोहप्रभाकवचिताम्बरे।
दर्शनादेव देवानामपि सर्वफलप्रदे ॥ 2 ॥

पूर्वकाल में कैलास के शिखर पर जहाँ मुनिवृन्द निवासरत थे, वहाँ देवता, किन्नर, यक्षेशों की स्तुति से आठों ही दिशाओं में नाद गुँजायमान था। जहाँ सब प्रकार के रत्नों के समूह से उत्पन्न ज्योति से आकाश कवचित सा था। जिसके दर्शन मात्र से देवताओं को भी सर्वप्रकार के फल प्राप्त होते थे।

प्रहृष्टमनसा देव्या पार्वत्या सह शङ्करः।
दिव्य मण्डपमासाद्य सुवर्णमणिभूषितम् ॥ 3 ॥
माणिक्यस्तम्भशोभाढ्यं मकराननतोरणम्।
शीतलेन कटाक्षेण महर्षीणाञ्च योगिनाम् ॥ 4 ॥

भगवान् शङ्कर प्रसन्न मन से देवी पार्वती के साथ सुवर्ण मणियों से विभूषित दिव्य मण्डप में उपस्थित हुए। वह मण्डप माणिक्य के स्तम्भों की शोभा से अच्छादित था और मकराकृति वाले तोरणों से सज्जित था। वहाँ पर महर्षियों और योगियों की शीतल कटाक्ष दृष्टि थी।

देवानामपि चाह्लादं वर्धयन्भक्तवत्सलः।
भजन्परममानन्दं रेजे दिव्यासने शुभे॥ 5॥
तदा देवसमूहेन सेवितो वासवो मुदा।
ऐरावतं समारुह्य प्राप कैलासमादरात्॥ 6॥

देवताओं के आनन्द को भी भक्तवत्सल शङ्कर बढ़ा रहे थे तथा स्वयं भी परमानन्द प्राप्त करते हुए शुभ दिव्यासन पर विराजमान हुए। उसी समय देवताओं के समूह द्वारा सेवित इन्द्र प्रसन्नतापूर्वक ऐरावत गज पर विराजित होकर सादर कैलास पर्वत पर आए।

तत्रानन्दमये दिव्ये मण्डपे मणिभूषिते।
लोकाम्बया समाविष्टं सर्वलोकनमस्कृतम्॥ 7॥
भुजङ्गभूषितं त्र्यक्षं सर्वकामफलप्रदम्।
सर्वशक्तिमयं शम्भुं वीक्ष्य भक्तिप्रचोदितः॥ 8॥
अवतीर्य गजात्तूर्णं प्रणिपत्य पुरन्दरः।
कल्पवृक्षकुसुमैर्दिव्यैश्शम्भोः पादाम्बुजार्चनम्॥ 9॥

मणियों से विभूषित उस आनन्दमय दिव्य मण्डप में लोकमाता जगदम्बा के साथ विराजमान समस्त लोकों द्वारा नमस्कृत, नागों से भूषित, त्रिनेत्रधारी, समस्त कामनाओं का फल प्रदान करने वाले, सर्वशक्तिसम्पन्न भगवान् शिव को देखकर भक्ति से प्रेरित हुए इन्द्र ने शीघ्र ही ऐरावत हाथी से उतरकर उन्हें प्रणाम किया और कल्पवृक्ष के दिव्य कुसुमों से शम्भु के चरणकमलों की अर्चना की।

विधाय मघवा भक्त्या बद्धाञ्जलिपुटस्तदा।
तुष्टाव परमेशानं सर्वलोकैकनायकम्॥ 10॥

इन्द्र ने उस समय दोनों हाथों को जोड़कर भक्तिपूर्वक समस्त लोकों के नायक परमेश्वर शिव को प्रसन्न किया।

अथ इन्द्रकृतशिवस्तुतिः —

प्रसीद परमेशान पार्वतीश जगत्पते।
पाहि नो देवदेवेश तव पादैकसेविनः॥ 11॥

इस अवसर पर इन्द्र ने शिव की स्तुति की– 'हे परम ईशान! पार्वती के ईश!

जगत्पति! हे देवदेवेश! आपके चरण चमलों की सेवा करने वाले हम सेवकों की आप रक्षा करें।

तत्र प्रसादात्सर्वाणि भूतानीमानि शङ्कर।
तरन्ति सर्वा विपदो भजन्ति च परां मुदम्॥ 12॥

हे शङ्कर! आपकी कृपा से ही जगत् के समस्त प्राणीमात्र सब प्रकार की विपदाओं से तर जाते हैं और परम आनन्द को प्राप्त करते हैं।

त्वत्प्रसादेन लोकेश जगत्स्थावरजङ्गमम्।
भजते परमानन्दं शाश्वतीं च शुभां गतिम्॥ 13॥

हे लोकेश! आपकी कृपा से ही स्थावर-जंगमरूप यह सम्पूर्ण जगत् परमानन्द को पाता है और नित्य शुभ गति को प्राप्त होता है।

त्वमादिदेवो भूतानां रक्षको भक्तवत्सलः।
सर्वशक्तिमयं सर्वलोकानामपि कारणम्॥ 14॥

आप समस्त देवों में आदि हैं। आप सभी प्राणियों के रक्षक और भक्तों से प्रेम करने वाले हैं। आप ही समस्त लोकों के सर्वशक्तिमय कारणरूप हैं।

भजन्ति त्वां महेशान योगान्ते परमर्षयः।
सर्वेषामपि भूतानां त्वमेव परमा गतिः॥ 15॥

हे महेश्वर! परम ऋषिगण भी योगसिद्धि के अन्त में आपका ही प्राप्त करते हैं। आप ही समस्त भूतमात्र की अन्तिम गति हैं।

इति स्तुवति जम्भारौ भक्त्या परमया युते।
शीतलेन कटाक्षेण वीक्ष्य गौरीपतिस्तदा॥ 16॥
अभयं सर्वभूतिञ्च वासवाय ददौ विभुः।

इस प्रकार परमभक्ति से युक्त होकर स्तुति करने वाले जम्भ के शत्रु इन्द्र पर गौरीपति विभु शिव ने शीतल कटाक्ष के साथ दृष्टि ड़ाली और उन्हें अभयदान एवं समस्त ऐश्वर्य प्रदान किया।

अथ नन्दिकृतविश्वकर्मप्रेरणम् —

तस्मिन्नवसरे नन्दी शिवभक्तिपरायणः॥ 17॥
प्रणम्य शङ्करं लोकशङ्करं सर्वदैवतम्।
बद्धाञ्जलिपुट (नमस्कृ)तम्॥ 18॥

उसी अवसर पर शिवभक्ति परायण नन्दी, लोककल्याणकारी, समस्त देवों के अधिपति शंकर को प्रणाम करके हाथ जोड़कर खड़े हो गए।

आहूय विश्वकर्माणं पार्श्ववर्तिनमादरात्।
चोदयामास हर्षेण नन्दी लोकहिते रतः ॥ 19 ॥

समस्त लोकों के हित में रत नन्दी ने उस समय समीप में स्थित विश्वकर्मा को आदरपूर्वक बुलाकर प्रसन्नता के साथ प्रेरित किया।

शङ्करस्याशयज्ञेन नन्दिदेवेन धीमता।
प्रचोदितो विश्वकर्मा तुष्टाव गिरिजापतिम् ॥ 20 ॥

इस प्रकार शङ्कर के अभिप्राय को जानने वाले बुद्धिमान् नन्दी के द्वारा प्रेरित होकर विश्वकर्मा ने पार्वतीपति शिव को स्तुति द्वारा प्रसन्न किया।

इति विश्वकर्मप्रणीते विश्वकर्मवास्तुशास्त्रे शिववस्तुतिवर्णनं नाम प्रथमोऽध्यायः ॥1 ॥

इस प्रकार विश्वकर्माप्रणीत विश्वकर्मवास्तुशास्त्र में शिवस्तुतिवर्णन नामक प्रथम अध्याय पूर्ण हुआ।



अथ शिवस्तुतिकथनपरमेश्वरकृतवरप्रसादकथनं नाम

द्वितीयोऽध्यायः ॥ 2 ॥

विश्वकर्मशिवस्तुतिः —

नमः कैलाशनाथाय पशूनां पतये नमः।
नमोऽष्टमूर्तये गौरीकमनाय नमो नमः ॥ 1 ॥

(उक्त अवसर पर विश्वकर्मा ने भगवान् शिव की स्तुति की) 'कैलासनाथ को एवं पशुपतिनाथ को नमस्कार है। गौरीकमन एवं अष्टमूर्ति स्वरूप शिव को बारम्बार नमस्कार है।

नमोऽस्तु शूलिने लोकरक्षकाय नमो नमः।
नमो रुद्र नमश्शम्भो नमो लोकैककारण ॥ 2 ॥

शूलपाणि भगवान् शङ्कर को एवं लोकरक्षक शिव को बारम्बार नमस्कार है। हे रुद्र आपको नमस्कार। हे शम्भो! आपको नमस्कार, समस्त लोकों के भी एकमात्र कारण आपको नमस्कार है।

नमो यज्ञाधिपतये देवेशाय नमो नमः।
लोकाधार जगन्मूर्ते वेदवेदान्तसन्नुत॥ 3॥
त्वत्तः किल समुद्भुतं जगत्स्थावरजङ्गमम्।
त्वामाराध्यैव शास्त्रार्थः ज्ञायते परमर्षिभिः॥ 4॥

यज्ञ के अधिपति आप शिव को नमस्कार. है। आप देवताओं के भी ईश है, आपको नमस्कार है। हे लोकाधार! हे जगन्मूर्ति! हे वेद-वेदान्त के संस्थापक! आपसे ही सकल स्थावर, जङ्गम जगत् की उत्पत्ति हुई है। आपकी आराधना करके ही परम ऋषियों ने भी शास्त्र के अर्थ को जाना है।

देवैरपि स्थितिः प्राप्ता शाश्वती त्वत्प्रसादतः।
चतुर्वर्गफलं पुंभिः प्राप्यते त्वत्प्रसादतः॥ 5॥

आपकी कृपा से ही देवताओं ने भी अपनी शाश्वत स्थिति को प्राप्त किया है। आपके ही अनुग्रह से सभी लोग चतुवर्ग-धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का फल प्राप्त करते हैं।

त्वया संरक्ष्यते सर्वं जगच्च सचराचरम्।
त्वया संवीक्षितो लोके परमं सुखमश्नुते॥ 6॥

यह सारा चराचर जगत भी आपकी ही रक्षा से संरक्षित है। आपके दर्शन मात्र से लोकों में परम सुख की प्राप्ति होती है।'

विश्वकर्मणे परमेश्वरकृतवरदानम् —

इति स्तुवन्तं त्वष्टारं बद्धाञ्जलिपुटं शिवः।
कटाक्षसुधया सिञ्चन्नुवाच गिरिजापतिः॥ 7॥

(यह सुनकर विश्वकर्मा को परमेश्वर शिव द्वारा दिया गया वरदान) इस प्रकार त्वष्टा-विश्वकर्मा को अपने सम्मुख करबद्ध रूप से नमस्कार करते हुए देखकर गौरीपति शिव ने अपने कटाक्षरूप अमृत से सिंचित करते हुए कहने लगे—

ईश्वर उवाच —

विश्वकर्मस्तव स्तुत्याऽनया तुष्टोऽस्मि दिव्यया।

उवाच लोकमातेयं सन्तुष्टा हितकाङ्क्षिणी ॥ 8 ॥
मत्तो वरं वृणीष्व त्वं यत्ते मनसि वर्तते ।
इत्युक्तो देवदेवेन शङ्करेण महात्मना ॥ 9 ॥
ययाचे वरदं दिव्यं विश्वकर्मा वरं तदा ।

ईश्वर बोले कि 'हे विश्वकर्मा! मैं तुम्हारी इस दिव्य स्तुति से प्रसन्न हूँ और यही हित चाहने वाली लोकमाता पार्वती ने भी सन्तुष्ट होकर कहा। तुम्हारे मन में जो भी हो अर्थात् जो चाहो सो वर माँग लो।' देवादिदेव महात्मा शङ्कर के द्वारा ऐसा कहने पर विश्वकर्मा ने वरदान रूप एक दिव्यवर की याचना की।

विश्वकर्मोवच्च —

शम्भो जगत्पते नाथ यदि ते मय्यनुग्रहः ॥ 10 ॥
स्तुत्या प्रसीदसि त्वं मत्कृतया चन्द्रशेखर ।
वास्तुशास्त्रप्रकाशोऽस्तु मच्चित्ते तव वीक्षणात् ॥ 11 ॥

'हे जगत्पति! हे नाथ! हे शम्भु यदि आपका मुझ पर अनुग्रह है और चन्द्रशेखर मेरे द्वारा की गई स्तुति से प्रसन्न हैं तो आपकी कृपादृष्टि से मेरे चित्त में वास्तुशास्त्र का प्रकाश हो।

देवगन्धर्वमनुजप्रासादेषु गृहेषु च ।
मण्डपेषु विमानेषु गोपुरे तोरणेऽपि च ॥ 12 ॥
सोपानेषु प्रतोलीषु वापीकूपादिकेषु च ।
विविधासु च शालासु चन्द्रशालादिकेषु च ॥ 13 ॥

इस क्रम में देवताओं, गन्धर्वों, मनुष्यों के प्रासादों और गृहों को, मण्डपों को, विमानों को, गोपुरों को, तोरणों को, सोपानों–सीढ़ियों को, प्रतोली–पोलों को, बावड़ियों– कूपों और विविध प्रकार की शालाओं, चन्द्रशालाओं का (ज्ञान मिले)।

यन्मानं या क्रिया या च भक्ति कृत्रिमभासुरा ।
यच्चित्रं यच्च सन्दूप्यं तैतलं यच्च कीर्तितम् ॥ 14 ॥
तेषामस्तु परिस्फूर्तिः परिज्ञानञ्च मद्धृदि ।
कार्येषु विविधेष्वन्यन्मानं यच्च प्रकीर्तितम् ॥ 15 ॥

उनके अनुपात, लम्बाई–चौड़ाई, ऊँचाई–गहराई आदि और भवन के विविध भागों की नाप तथा क्रिया अर्थात् उनके प्राकार व भित्तियों की वास्तविक रचना

क्रिया को और भक्ति अर्थात् कृत्रिमभासुरा या कलापूर्ण अलङ्करण उपकरण बनाने की ऐसी चित्र-मूर्तियाँ जो कि सन्दूप्य अर्थात द्वार शाखाओं के दोनों ओर अलङ्करण हेतु बनाई जाती है तथा तैतल अर्थात् द्वारपाल के लिए बैठक, तैतिल या मन्दिर के मुख्य द्वार के दोनों ओर की रचना और, इसी तरह विविध प्रकार के कार्यों के भी जो अन्यान्य मान जो कहे गए हैं, उन सब का परिस्फूरण और परिज्ञान मेरे हृदय में हो।

अधिष्ठानोपपीठादिकार्यजालेषु यन्मतम्।
तत्प्रमाणपरिज्ञानमस्तु मे त्वदनुग्रहात्॥ 16॥

वास्तु के इसी ज्ञान के अन्तर्गत अधिष्ठान अर्थात् आधार, उपपीठ अर्थात् आधार के ऊपर की पीठ और मतानुसार कार्य की जालियाँ, झरोखे, उनके प्रमाण का परिज्ञान-बोध भी आप के अनुग्रह से मुझे हो।'

इति गद्गदया वाचा स्तुवन्तं शिवसन्निधौ।
पिनाकी प्लावयन्नचे कटाक्षैः शीतलैः स्वकैः॥ 17॥

ऐसी गद्गदवाणी से भगवान् शिव के सामने स्तुति करते हुए विश्वकर्मा को पिनाकी भगवान् शिव ने अपने शीतल कृपाकटाक्ष बिखेरते हुए कहा—

पिनाक्युवाच —

विश्वकर्मन्महाबाहो प्रार्थितं यत्त्वया शुभम्।
तत्सर्व सिध्यतु क्षेत्रक्षेमाय तव सुव्रत॥ 18॥
दिव्या शक्तिः परं तेजः सिध्यन्तु त्वत्करे शुभे।

भगवान् शिव ने कहा कि 'हे महाबाहु विश्वकर्मा! आपने अपनी प्रार्थना में बड़े ही शुभ वरों की याचना की है। हे सुव्रत! ये सभी इस क्षेत्र की कुशलता के लिए होंगे। तुम्हारे शुभ हाथों में दिव्य शक्ति और परम तेज होंगे।

मदाज्ञया त्वं लोकानां निर्माणादिषु कौशलम्॥ 19॥
लभस्व च शुभां कीर्तिं सर्वलोकहिताय च।
इत आरभ्य देवेश भवनादिक्रिया भुवि॥ 20॥
दिवि पाताललोके च त्वदुपज्ञा भवेद्ध्रुवम्।
स्थपत्यादिषु वर्णेषु त्वमेवोत्तमतां व्रज॥ 21॥

मेरी आज्ञा से तुम लोकों के निर्माणादि में कौशल और शुभ यश प्राप्त करोगे

और सर्वलोक हिताय कार्य करोगे। अतः हे देवेश! अब से लेकर भवनादि निर्माण की वास्तु क्रिया इस पृथ्वी पर, स्वर्ग और पाताल लोक में सर्वत्र निश्चित ही तुम्हारे अधीन रहेगी। स्थपति-शिल्पीवर्णों में तुम परम उत्तमता को प्राप्त करोगे।'

हिताय सर्वलोकानामित्यादिष्टः पिनाकिना।
विश्वकर्मा महातेजा दिव्यां शक्तिमुपेयिवान्॥ 22॥

पिनाकी भगवान् शिव ने सभी लोकों के हित के लिए इस प्रकार वर प्रदान किया और महान् तेजस्वी विश्वकर्मा ने दिव्य शक्ति को प्राप्त किया।

आनन्दाश्रुपरीताङ्गः प्रणम्य मुहुरादरात्।
त्र्यक्षं पिनाकिनं चन्द्रशेखरं लोकनायकम्॥ 23॥
भक्त्या प्रदक्षिणीकृत्य बद्धाञ्जलिपुटस्तदा।
वासवं समुपेत्यारादीशानुग्रहमुक्तवान्॥ 24॥

उस समय आनन्द के अश्रुओं से सम्पृक्त शरीर वाले विश्वकर्मा ने त्रिनेत्रधारी पिनाकधारी, चन्द्रशेखर एवं लोकनायक भगवान् शिव को बार-बार प्रणाम किया और दोनों हाथ जोड़कर भक्तिपूर्वक उनकी प्रदक्षिणा करके देवराज इन्द्र के समीप गये और शिवजी की कृपा के विषय में बताया।

विश्वकर्मोवाच —

अहो भाग्यमहो भाग्यं मम देवेश वासव।
प्रसीदन्परमां शक्तिमदान्मे वृषभध्वजः॥ 25॥

विश्वकर्मा बोले 'हे देवेश! हे इन्द्र! यह मेरा अहोभाग्य है कि वृषभध्वज महादेव ने प्रसन्न होकर मुझे परमशक्ति प्रदान की है।

शक्त्यानया सुरास्सर्वे किन्नरा मानुषा अपि।
भजेतुः परमानन्दं प्रासादादिषु सत्सुखम्॥ 26॥

इस अनन्य शक्ति से सभी देवतागण, किन्नरगण और मनुष्यगण भी परमानन्द को प्राप्त करेंगे और प्रसादादि-भवन, हर्म्य, आवासादि भवनों से वास्तविक सुख प्राप्त करेंगे।

लोकास्समस्तास्सुखिनो भवेयुश्शुभसेविनः।
वीतरागभयक्रोधाश्शिवभक्तिपरायणाः॥ 27॥

सर्वपापविनिर्मुक्ता भूयासुस्सत्त्वभासुराः।

इन शुभ प्रासादादि में रहने वाले समस्त लोक सुखी होंगे। वे भय-क्रोधादि से वीतराग होकर शिवभक्ति में परायण रहेंगे और समस्त पापों से मुक्त होकर सात्त्विक आभा से तेजोमय होंगे।

विश्वकर्मकृतशिल्पशास्त्रप्रशंसा —

सा परा शक्तिरेवैषा शूलिनः केन वर्ण्यते॥ 28॥
या तता त्रिषु लोकेषु तैलबिन्दुरिवाम्भसि।
यत्प्रसादान्मया ज्ञातं वास्तुशास्त्रमिदं ततम्॥ 29॥

यही भगवान् शिव की पराशक्ति है। इसका वर्णन किसने किया है, जो तीनों लोकों में जल में गिरे तैलबिन्दु की तरह सर्वत्र प्रसृत है। उन्हीं की कृपा से इस प्रसृत वास्तुशास्त्र को मैंने जान लिया है।

शास्त्रेणानेन सर्वस्य लोकस्य परमं सुखम्।
चतुर्वर्गफलप्राप्तिस्सल्लोकश्च भवेद्ध्रुवम्॥ 30॥

इस शास्त्र से सभी लोकों को परम सुख प्राप्त होगा और चतुर्वर्ग- धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का फल एवं सत्यलोक की निश्चयपूर्वक प्राप्ति होगी।

शिल्पशास्त्रपरिज्ञानान्मर्त्योऽपि सुरतां व्रजेत्।
परमानन्दजनकं देवानामिदमीरितम्॥ 31॥

शिल्पशास्त्र का ज्ञान प्राप्त करके मानव भी देवत्व को प्राप्त कर सकता है। यह शिल्पशास्त्र देवताओं को भी परमानन्द देनेवाला कहा गया है।

शिल्पं विना नहि जगत्त्रिषु लोकेषु विद्यते।
जगद्विना न शिल्पञ्च वर्तते वासव प्रभो॥ 32॥

तीनों ही लोकों में शिल्पविद्या के बिना जगत् का कोई अस्तित्व नहीं है और हे देवराज इन्द्र! जगत् के बिना शिल्प भी नहीं है।

अतो लोकेषु सर्वेषु शिल्पं बहुविधं ततम्।
ग्रामाणाञ्च पुरीणाञ्च लक्षणं बहुधा स्मृतम्॥ 33॥
खेटकर्वटकादीनां दुर्गाणामपि लक्षणम्।

इसलिए सभी लोकों में यह शिल्पकला अनेक प्रकार से विस्तार को प्राप्त हुई है। ग्रामों और नगरों के लक्षण भी बहुत प्रकार के कहे गये हैं। इसके साथ ही खेट

(छोटे गाँव खेड़ा), कर्वट (खर्वट या लघु पाल-ग्राम, नाड़ु) आदि सहित दुर्गों के लक्षण भी बहुविध हैं।

प्रासादेषु च हर्म्येषु देवानां भूभुजामपि ॥ 34 ॥

विविधेष्वपि निर्माणेष्वपि सन्दूष्यकं बहु।

भवने न्यायशालायां सभायां कोशसद्मनि ॥ 35 ॥

अन्तःपुरे शस्त्रगेहे शालासु विविधासु च।

क्रीडागेहेषु रम्येषु तोरणादिषु मञ्चिके ॥ 36 ॥

देवताओं के प्रासाद (मन्दिर), राजाओं के हर्म्य (राजमहल) तथा विविध प्रकार के निर्माणों में अनेक प्रकार की भिन्नता और कला है। भवन, न्यायशाला, सभागार, कोशागार, अन्तःपुर, शस्त्रागार, विविध प्रकार की शालाएँ, सुन्दर क्रीडागृह और मञ्च पर तोरण आदि का निर्माण भी बहुविध कहा गया है।

अधिष्ठानोपपीठेषु गोपुरेषु तथा बहु।

सङ्कीर्णभवनाढ्येषु पताकापारिभद्रके ॥ 37 ॥

अधिष्ठान व उपपीठ, गोपुर तथा बहुत सङ्कीर्ण घनी बस्तीवाले भवनों की भरमार से जिनकी भद्र-दीवारों पर पताकाएँ फहराती हैं।

चातुर्वण्ये गृहाणाञ्च लक्षणं बहुधा स्मृतम्।

वेदिका पोतिकासन्धिबन्धनावरणेषु च ॥ 38 ॥

ऐसे ही चारों वर्णों- ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्रों गृहों के लक्षण बहुत प्रकार के बताए गए हैं जिनकी वेदिका, चबूतरियाँ, पोतिका के सन्ध, बन्धन और आवरण जैसी रचनाएँ होती हैं।

स्तम्भादिके च निर्माणे विशेषभवनेषु च।

मण्डपेषु विमानेषु प्राकारादिषु यन्मतम् ॥ 39 ॥

स्तम्भादि के निर्माण में विशेष भवनों में, मण्डपों में, विमानों में, मन्दिरों में, प्राकारों-परकोटों में भी विधान बताए गए हैं।

लक्षणं बहुधा प्रोक्तं नानादेशविभागशः।

सकलं तच्च संक्षिप्य वक्ष्येऽध्यायक्रमादहम् ॥ 40 ॥

इसी तरह अलग-अलग देशों के विभागानुसार[१] भी बहुत से लक्षण कहे गए हैं। इन सभी को यहाँ मैं अध्यायानुसार क्रमशः संक्षेप से कहता हूँ।

इति विश्वकर्मप्रणीते विश्वकर्मवास्तुशास्त्रे विश्वकर्मकृतशिवस्तुति कथनपरमेश्वरकृतवरप्रसादकथनं नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ 2 ॥

इस प्रकार विश्वकर्माप्रणीत विश्वकर्मवास्तुशास्त्र में विश्वकर्मकृत शिव स्तुतिकथन परमेश्वर कृत वर प्रसाद कथन नामक द्वितीय अध्याय पूर्ण हुआ।



---

१. विशेष- वास्तु में देश और काल के अनुसार प्रक्रियागत अन्तर को दृष्टि में रखा जाता रहा है। ये देश पूर्वादि चारों ही दिशाओं के अनुसार तो परिगणित होते है हीं, वास्तुविन्यास के प्रसंग में भी ज्ञातव्य है। इसलिए मयमतम्, मानसार ही नहीं, उत्तर भारतीय वास्तुग्रन्थों में भी अनेकानेक देशों की विधियों का वर्णन और उनके अन्तर आदि को स्पष्ट किया गया है। 'कामिकागम' में प्रासादों की छह कोटियां ही निर्धारित की गई है- 1. नागर 2. द्रविड़ 3. वेसर 4. वराट 5. कलिङ्ग तथा 6. सर्वदेशी- जो देशानुसार उद्धृत बताए गए हैं- नागरः पूर्वदेशे च कर्णाट द्रविडः स्म व्यन्तर पश्चिमे देशे वेसर उत्तरापथे। कलिङ्ग कलिङ्ग देशे यामुन सर्वतः स्थितः देश जातिश्च कथिता कुलस्थान बलोद्भव॥ (सूत्रधार गोविन्दकृत कलानिधि : सम्पादक- डॉ. श्रीकृष्ण 'जुगनू' भूमिका में उद्धृत)

नेपाल में प्राप्त सातवीं सदी के 'लक्षणसमुच्चय' में प्रादेशिक आधार पर छह जातियों की सूचना मिलती है-1. कलिङ्ग 2. नागर 3. लाट 4. वराट 5. द्रविड़ तथा 6. गौड़। इसी प्रकार अपराजितपृच्छाकार ने विविध स्वरूपानुसार देवालय की छह अन्य जातियों का भी नामोल्लेख किया है— 1. लतिन, 2. कुटिन, 3. शेखरी, 4. चक्रीण, 5. भूमिज तथा 6. सान्धार— देश जाति कुलस्थान वर्ण भेदैस्तथा परे॥ जातयोऽष्टौ प्रवर्तन्ते गङ्गातीरेषु सर्वदा। अहिराजेषु सान्धारो नागरश्च प्रशस्यते॥ गौडबङ्गकामरूपे सान्धारो लतिनस्तथा। तुरकोऽहालेषु ? गङ्गोदधौ विमानकः॥ चौलदेशे महानीले श्रीनीले पर्वते तथा। मल्यकलिङ्गकर्णाटे कान्यकुब्जनिवास के॥ वैराज्येषु विराटे च कोङ्कणे दक्षिणापथे। नागराद्राविडाशूच्छन्दा वराटा भूमिजास्तथा॥ लतिनाश्चैव सान्धारा मिश्रकाश्च विमानकाः। अष्टच्छन्दास्तथा चैते प्रासादाः परिकीर्तिताः॥ जयन्त्यां मालव देशे काञ्चयां कालञ्जरे तथा। अन्तर्वेधां च मगधे मथुरायां हिमाश्रये॥ दण्डकारण्यसह्याच्चोश्चत्वारश्छन्दका इमे। लतिना नागराश्चैव सान्धारा भूमिजास्तथा॥ सिन्धौ च खुरासाणे च तेजों गक्षणकादिषु। सर्वमोहनमादियुक्ते? पश्चिमे पार्श्वमण्डले॥ सौराष्ट्रे गुर्जरे देशे काश्मीरे च . स्यम्भरे। वहिरावत्योमवन्दने...यादि...सृष्टयो... प्रासादाः। स्त्री पुरुषाणां सूर्ये कुर्यान्नपुंसकान्॥ विमाननागराश्छन्दान् कुर्याद्विमानपुष्पकान्। सिंहावलोकवलभीफांसनांश्च रथारूहान्॥ प्रवर्तन्ते सर्वदेशे व्योम चैकं न वर्तते। ऐतेषु भरतक्षेत्राद्यं देशानुक्रम कथ्यताम्॥ (उपर्युक्त)

अथ दिङ्निर्णयकथनं नाम

तृतीयोऽध्यायः ॥ 3 ॥

वास्तुकार्यार्थे शुभवेला च दिशाचयन विचारमाह —

आदौ कालं परीक्षेत सर्वकार्यार्थसिद्धये।
कालो हि सर्वजीवानां शुभाशुभफलप्रदः ॥ 1 ॥

(वास्तुशास्त्र में शुभ मुहूर्त एवं दिशाचयन के विषय में कहते हैं) वास्तुकार्य में सबसे पहले मुहूर्त-काल की परीक्षा करे ताकि सारे ही कार्य सिद्ध हो सके। काल ही सभी जीवों को शुभ और अशुभ फल का दाता होता है।

कालातिक्रमणे दोषो द्रव्यहानिश्च जायते।
देवानामपि देवीनां विप्रादीनां विशेषतः ॥ 2 ॥
प्रासादभवनारम्भे स्तम्भस्थापनकर्मणि।
द्वारस्थापनवेलायां भवनानां प्रवेशने ॥ 3 ॥

इसलिए कालातिक्रमण-मुहूर्त का अतिक्रमण करने से दोष उत्पन्न होता है और धन का भी अपव्यय उठाना पड़ता है। ऐसे में देवताओं, देवियों, विशेषतः ब्राह्मणादि वर्गों के प्रासाद और भवनों के आरम्भ करने में और स्तम्भ निवेश करते समय, द्वार स्थापना की वेला और भवनों में प्रवेश करते समय मुहूर्त को देखा जाना चाहिए।

वापीतटाकनिर्माणे गोपुरारम्भकर्मणि।
विमानमण्डपारामगर्भगेहोद्धृतौ तथा ॥ 4 ॥
कालं शुभं परीक्षेत मङ्गलावाप्तिसाधकम्।

इसी प्रकार वापी-जलाशय के निर्माण, गोपुर के कार्य को आरम्भ करते समय, विमान-शिखर, मण्डप, आराम-उद्यान और प्रासादों के गर्भगृह के निर्माण और उनका पुनरोद्धार करते समय शुभ काल का विचार करना चाहिए। यह मङ्गल-प्राप्ति में सर्वथा साधक-सहायक होता है।

अथ देशभेदेन कालपरीक्षा —

देशभेदेन कालोऽपि भिन्नतां प्रतिपद्यते ॥ 5 ॥

इष्टिकान्यसनं शस्तं शुभकाले विशेषतः।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन शुभं कालं न लङ्घयेत्॥ 6॥

इस प्रसंग में यह सदैव ज्ञातव्य है कि देश के भेदों से भी काल-मुहूर्त के समय की भिन्नता भी प्रतिपादित की गई है। विशेष रूप से इष्टिकाओं के स्थापन में भी शुभ काल प्रशस्त माना गया है। इसलिए शुभकाल कहीं चूक नहीं जाए, इसके लिए सर्वसम्भव प्रयास करना चाहिए।

अथ दिङ्निर्णयक्रमः —

प्राचीं परीक्षयेत्सम्यक्सूर्यगत्वनुमानतः।
गृहीतस्थलके शङ्कुमवटे स्थापयेत्क्रमात्॥ 7॥
खदिरस्तिन्दुको वापि क्षीरवृक्षसमुद्भवः।
शङ्कुः श्रेयस्करः प्रोक्तो द्वादशाङ्गुलमानभाक्॥ 8॥

सबसे पहले पूर्व दिशा की परीक्षा सम्यक् प्रकार से सूर्यगति के अनुमान से करनी चाहिए। इसके उपरान्त जिस स्थान पर वास्तुकर्म करना हो, उसे समतल कर वहाँ पर निश्चित क्रम के शंकु का निवेश करना चाहिए। खेर की लकड़ी, तेन्दू की लकड़ी अथवा खिरनी या गूलर अथवा बरगद की लकड़ी का बना शंकु श्रेयस्कर माना गया है। इसका माप बारह अंगुल प्रमाण रखना चाहिए।

हस्तप्रमाणतो वापि द्विहस्तो देवमन्दिरे।
शङ्कोरुपरि मानस्य सूचिका सा शिखा मता॥ 9॥

यदि देवमन्दिर का प्रयोजन हो तो एक हाथ प्रमाण का अथवा दो हाथ प्रमाण का शंकु भी ग्रहण किया जा सकता है। शंकु के ऊपर का भाग सुई की भाँति हो, यह शिखा भाग होता है।

यत्र सा पतति व्यक्ता तत्स्थानं बिन्दुसञ्ज्ञकम्।
शिल्पाचार्यवरैः शङ्कुस्थापनं कल्पयेद्बुधः॥ 10॥

धूप में उस शंकु की छाया जहाँ व्यक्त रूप में पड़ती है, उसे बिन्दु की संज्ञा दी गई है। इस प्रकार से विद्वान् पुरुष शिल्पाचार्यवरों के द्वारा ही शंकु स्थापना कराये।

चक्राकारे नेमियुक्ते मण्डले शङ्कुभासुरे।
शङ्कुच्छायाप्रसारस्तु यत्र भाति सलक्षणः॥ 11॥

तं प्रदेशं निरीक्ष्यैव प्राचीनिर्णयमादिशेत्।
उत्तरायणमासेषु दक्षिणायनगेष्वपि॥ 12॥

चक्राकार, नेमियुक्त मण्डल वाले शंकु पर पड़ने वाले सूर्य की आभा के कारण शंकु की छाया का प्रसार सलक्षण जहाँ दिखाई देता हो, उस स्थान को अच्छी प्रकार देखकर पूर्व दिशा का निर्णय करना चाहिए। उत्तरायण के मासों में तथा दक्षिणायन के महीनों में भी यही नियम रहेगा।

संक्रान्त्यानुसारेण विचारमाह —

कन्यायां वृषभे मासि यदि व्यक्ते दिवाकरे।
शङ्कुच्छाया मध्यगा स्यान्नाहि पार्श्वे कदाचन॥ 13॥

यदि किसी मास में कन्या अथवा वृषभ राशि में सूर्य स्पष्ट हो, तो शंकु की छाया मध्य में होगी, पार्श्वभाग में कभी भी नहीं होगी।

मेषस्थे वा मृगस्थे वा रवौ तु चतुरङ्गुला$_4$।
शङ्कुच्छाया भवेद्व्यक्ता दिशां निर्णयकारिणी॥ 14॥

मेष राशि में अथवा मृग-सिंह राशि में जब सूर्य आते हों तो शंकुच्छाया चार अंगुल की होती है। यह शंकुच्छाया ही व्यक्त होकर दिशाओं का निर्णय करने वाली होती है।

मकरस्थे रवौ शङ्कोश्छायाष्टाङ्गुलका$_8$ भवेत्।
मिथुनस्थे रवौ शङ्कोश्छाया तु त्र्यङ्गुला$_3$ मता॥ 15॥

मकर राशि में जब सूर्य स्थित हो तब शंकुच्छाया आठ अङ्गुल की होती है। मिथुन राशि में सूर्य के स्थित होने पर शंकुच्छाया तीन अंगुल की मानी गई है।

कुलीरस्थे रवौ शङ्कोश्छाया वेदाङ्गुला$_4$ मता।
सिंहस्थे तु रवौ शङ्कोश्छाया वेदाङ्गुला$_4$ मता॥ 16॥

कर्क राशि के सूर्य में शंकु की छाया चार अंगुल की मानी गई है और सिंह राशि के सूर्य में भी चार अंगुल की ही छाया होती है।

तुलास्थिते रवौ शङ्कोश्छाया तु द्व्यङ्गुला$_2$ मता।
वृश्चिकस्थे रवौ शङ्कोश्छाया स्याच्चतुरङ्गुला$_4$॥ 17॥

तुला राशि के सूर्य में शंकु की छाया दो अंगुल प्रमाण की होती है जबकि बृश्चिक राशि के सूर्य में शंकु की छाया चार अंगुल की होती है।

चापस्थिते रवौ शङ्कोश्छाया स्याच्च षडङ्गुला$_6$।
मीनस्थिते रवौ शङ्कोश्छाया स्याच्चतुरङ्गुला$_4$॥ 18 ॥

इसी प्रकार धनु राशि के सूर्य में शंकु की छाया का प्रमाण छह अंगुल और मीन राशि के सूर्य में शंकु की छाया का प्रमाण चार अंगुल होता है।

इति द्वादशमासस्थे रवौ छाया स्फुटा भवेत्।
उत्तरायणमासेषु छाया दक्षिणगा भवेत्॥ 19 ॥
दक्षिणायनमासेषु छाया चोत्तरगा भवेत्।

इस प्रकार से बारह महीनों के सूर्य की स्थिति के अनुसार शंकुच्छाया स्पष्ट होती है। उत्तरायण के मास हो तो शंकुच्छाया दक्षिण दिशा की ओर अवलम्बित होती होती है जबकि दक्षिणायन के मासों में शंकु विधि से दिशा ज्ञान किया जाए तो उसकी छाया उत्तर की ओर होती है।[१]

छायामानवशादेवमङ्गुलानि विसर्जयेत्॥ 20 ॥
शिष्टच्छायाप्रसारेण सम्यक्प्राचीं समादिशेत्।
विन्ध्यस्य दक्षिणे देशेष्वेवं प्राचीविनिर्णयः॥ 21 ॥

छाया का मान हो जाने के कारण अङ्गुल-प्रमाण को छोड़ देना चाहिए और शिष्ट छाया के प्रसार से अच्छी प्रकार प्राची-पूर्वदिशा को समादिष्ट करना चाहिए। विन्ध्याचल पर्वत के दक्षिणी भाग के देशों में भी इसी प्रकार से प्राची दिशा का निर्णय करना चाहिए।

इत्यमनन्तर आर्यावर्ते प्राचीनिर्णयाह —

आर्यावर्तस्थदेशानां प्राचीनिर्णय उच्यते।
मकरादिचतुर्मासेष्वेव छायाङ्गुला भवेत्॥ 22 ॥

(इसके बाद आर्यावर्त में प्राची दिशा का निर्णय बताते हैं) आर्यावर्त में स्थित देशों का प्राची निर्णय या पूर्व दिशा ज्ञात करने के सम्बन्ध में कहा जा रहा है। मकरादि में स्थित चार महीनों में ही शंकु की छाया का मान अंगुल-प्रमाण में होता है।[२]

---

१. विशेष : यह विचार इस ग्रन्थ के दक्षिण में ही रचे होने के सन्दर्भ में ज्ञातव्य है। वहाँ उत्तरायण के सूर्य में छाया के दक्षिण दिशागत होने का बोध होता है।

२. अमरकोश में आर्यावर्त की स्थिति हिमालय से विन्ध्याचल तक बताई गई है— आर्यावर्त्तः पुण्यभूमिर्मध्यं विन्ध्यहिमालयोः। मनुस्मृति में भी यही मत है— आसमुद्रात्तु वै पूर्व्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात्। तयोरेवान्तरं गिर्य्योआर्यावर्त्तं विदुर्बुधाः॥ (मनुस्मृति 2, 22)

वृषभस्य रवौ शङ्कोश्छाया तु चतुरङ्गुला।
मिथुनस्थे रवौ शङ्कोश्छाया स्याच्च षडङ्गुला॥ 23॥

वृषभ राशि में सूर्य के स्थित होने पर शंकु की छाया चार अंगुल होती है। मिथुन राशि में सूर्य हो तो शंकु की छाया छह अंगुल की होती है।

इति दक्षिणगा छाया प्राचीनिर्णयकारिणी।
कुलीरस्थे वृश्चिकस्थे रवौ छाया न विद्यते॥ 24॥

इस तरह दक्षिण की ओर जाती हुई छाया से प्राची-पूर्व दिशा का निर्णय किया जाता है। कर्क में और वृश्चिक राशि में सूर्य के स्थित होने पर शंकु की छाया नहीं होती है।

सिंहस्थैकाङ्गुला प्रोक्ता कन्यास्थे द्व्यङ्गुला भवेत्।
तुलाचापस्थिते भानौ अङ्गुला सा प्रकीर्तिता।
इति चोत्तरगा च्छाया प्राचीनिर्णयकारिणी॥ 25॥

सिंह राशि में सूर्य के आने पर शंकुच्छाया एक अंगुल की होती है, कन्या राशि में सूर्य के होने पर शंकुच्छाया दो अंगुल की होती है। तुला एवं धनु राशि में सूर्य के होने पर एक-एक अंगुल की होती है। इस तरह यहाँ पर उत्तर की ओर जाने वाली शंकुच्छाया पूर्व दिशा का निर्णय करती है।

इत्यमनन्तर ब्रह्मावर्तस्थ देशानुक्रमेण प्राँचीनिर्णयाह —

ब्रह्मावर्तस्थदेशानां प्राचीनिर्णय उच्यते।
मकरादिषु मासेषु त्रिषु छायाङ्गुला भवेत्॥ 26॥

अब ब्रह्मावर्त स्थित देशों में प्राची निर्णय के सम्बन्ध में कहा जा रहा है। मकरादि से आरम्भ होने वाले तीन मासों में, शंकुच्छाया मात्र एक अंगुल प्रमाण की होती है।[१]

मेषस्थे वृषभस्थे च छाया तु त्र्यङ्गुला मता।
मिथुनस्थे झषस्थे च छाया पञ्चाङ्गुला मता॥ 27॥

---

१. वैदिक और परवर्ती काल में ब्रह्मावर्त वह स्थान था जो पंजाब के अन्तर्गत आता था। सामान्यतया सरस्वती, दृषद्वती नदियों के मध्य के भूभाग को ब्रह्मावर्त कहा जाता था- सरस्वती दृषद्वत्योर्देव नद्योर्यदन्तरम् तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते। (मनुस्मृति 2, 17) वर्तमान में बिठुर जिला कानपुर को ब्रह्मावर्त के रूप में जाना जाता है।

मेष राशि व वृषभ राशि के सूर्य में शंकुच्छाया तीन अंगुला होती है। मिथुन राशि और मीन राशि के सूर्य में शंकुच्छाया पाँच अंगुल की होती है।

मीनस्थे च क्वचिच्छाया न भवेदिति तान्त्रिकाः।
कुलीरस्थे रवौ चापस्थिते च न हि सा स्फुटा॥ 28॥

यहाँ मीन राशि में सूर्य के रहते कभी-कभी शंकुच्छाया नहीं होती है, ऐसा शिल्पतन्त्रविद् कहते हैं। इसी तरह कर्क राशिस्थ सूर्य और धनु राशि के सूर्य के होने पर भी यह शंकुच्छाया स्पष्ट नहीं होती है।

सिंहकन्यास्थिते भानौ सा चतुष्पञ्चका मता।
तुलास्थिते द्व्यङ्गुला स्यादिति छायाक्रमो भवेत्॥ 29॥

सिंह राशि व कन्या राशि में सूर्य के होने पर यह शंकुच्छाया चार व पाँच अंगुल की मानी जाती है। तुला राशि स्थित सूर्य की शंकुच्छाया दो अंगुल की होती है। यह शंकुच्छाया का क्रम कहा गया है।

शङ्कुस्थापनावसरे कृत्यनिमित्तमाह —

शङ्कुस्थापनवेलायां विप्रेभ्यो बहुदक्षिणाः।
मार्दङ्गिकैः स्वस्तिकैश्च जयशब्दश्शुभावहः॥ 30॥
सूत्रप्रसारमानेन शुद्धां प्राचीं समाश्रयेत्।

शंकु स्थापना के अवसर पर ब्राह्मणों को बहुत-सी दक्षिणा दी जानी चाहिए। उस अवसर पर मृदंग की ध्वनि और स्वस्तिवाचन से होने वाला जय शब्द शुभदायक होता है। इस प्रकार सूत्र प्रसार के मान के अनुसार शुद्ध प्राची दिशा का निश्चय करना चाहिए।

पुरारम्भे गृहारम्भे गोपुरारम्भकर्मणि॥ 31॥
गर्भगृहविमानादिसद्वास्तुषु शुभावहः।
शिल्पिनां मानवं शस्त हेमभूषादिभिश्शुभैः॥ 32॥

उक्त कार्य-विचार नगरों के निवेश के अवसर पर, गृहारम्भ अवसर पर, गोपुर द्वारों के आरम्भ में करना चाहिए। साथ ही गर्भगृह, विमान-मन्दिर के शिखर आदि पवित्र वास्तुकर्म में इसे शुभ माना गया है। इस अवसर पर शिल्पियों का मान-सम्मान किया जाना उचित होता है। उन्हें स्वर्णाभूषण व शुभ वस्त्र प्रदान किए जाने चाहिए।

स्थूपिस्थापनकाले च प्राकारस्थापने तथा।
प्रासादभवनारम्भे वापीकूपादिकेषु च ॥ 33 ॥
गृहप्रवेशकाले च स्वस्तिघोषश्शुभावहः।
दिशां कोणास्तु चत्वारो नन शस्ता आयलक्षणे ॥
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन शुद्धां प्राचीं समाश्रयेत् ॥ 34 ॥

इसी प्रकार स्थूपी के स्थापन तथा प्राकार के स्थापन के अवसर पर, प्रासाद, भवन के आरम्भावसर और वापी-कूपादि का कार्य आरम्भ करते समय तथा गृह प्रवेशावसर पर स्वस्तिघोष शुभकामनाप्रद होता है। आय लक्षण में चारों ही दिशा-कोण प्रशस्त नहीं माने जाते। इसलिए उक्त समस्त बातों पर विचार करते हुए प्रयत्नपूर्वक शुद्ध प्राची दिशा का आश्रय लेना चाहिए अर्थात् निर्णय करना चाहिए।

इति विश्वकर्मप्रणीते विश्वकर्मवास्तुशास्त्रे दिङ्निर्णयकथनं नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ 3 ॥

इस प्रकार विश्वकर्माप्रणीत विश्वकर्मवास्तुशास्त्र में दिशानिर्णय कथन नामक तृतीय अध्याय पूर्ण हुआ।



अथ द्रव्यसङ्ग्रहणकथनं नाम

चतुर्थोऽध्यायः ॥ 4 ॥

अथ वास्तुकार्यार्थे नाना प्रयोजनीयं द्रव्यसंग्रहमाह —

सर्वनिर्माणकार्याणां द्रव्यमाद्यस्सखा मतः ।
तस्मात्सम्पादयेद्विद्वान्सदद्रव्यं शुभवर्धनम् ॥ 1 ॥

सभी निर्माण कार्यों में द्रव्य या धन ही प्रथम सखा, मित्र है, ऐसा माना जाता है। इसलिए विद्वान को खरी कमाई से कमाए गए धन का ही कार्य के लिए उपयोग करना चाहिए ताकि शुभ या कल्याण की वृद्धि हो सके।

धनवस्तुप्रभेदेन तदद्रव्यं द्विविधं स्मृतम् ।
धनेन मानयेद्भृत्यान् शुभवाक्यैश्च नित्यशः ॥ 2 ॥

धन और वस्तु के भेद से वह द्रव्य भी दो प्रकार का माना गया है। अतः धन से सेवकों, कार्यकर्ताओं का सम्मान करे एवं उनसे नित्य ही अच्छी भाषा में व्यवहार करना चाहिए।

इष्टिका च सुधा श्लक्ष्णा पारिभद्रादिदारवः ।
अयःकीलादयश्चान्ये वस्तुसञ्ज्ञा उदीरिताः ॥ 3 ॥

वास्तु कार्य में ईंटें संग्रहणीय है। चूना महीनतर होना चाहिए। पारिभद्रादि दारु अर्थात् इस कार्य में प्रयुक्त होने वाली लकड़ी की बाँस-बल्लियाँ और लोह कीलों, खीलों-खूँटों आदि को वस्तु के नाम से जाना जाता है।

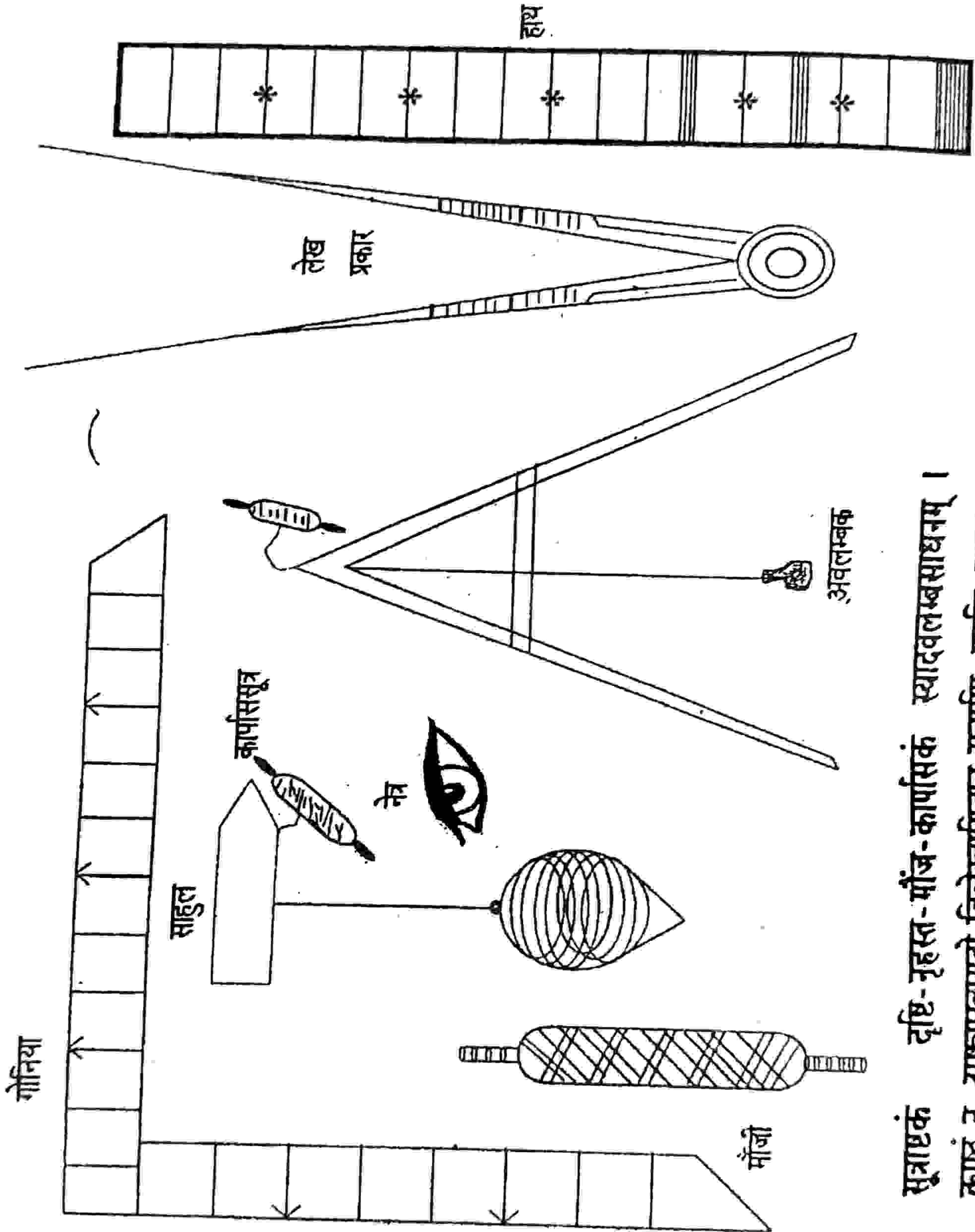
काष्ठसंग्रहणावसरे करणीयकृत्यमाह —

दारुसङ्ग्रहणं शस्तं शुभकाले विशेषतः ।
स्वगुरुं स्थपतिं धेनुं श्रोत्रियान्वेदपारगान् ॥ 4 ॥
पूजयित्वा विशेषेण दारुसङ्ग्रहणे रतः ।
दिक्पालानायुधाधीशानर्चयेद्गन्धपुष्पकैः ॥ 5 ॥

वास्तु कार्यार्थ काष्ठ का संग्रहण विशेष रूप से शुभ काल में करना प्रशस्त होता है। इस अवसर पर अपने गुरु, स्थपति या गजधर, गाय, वेदपारग श्रोत्रिय ब्राह्मणों का विशेषरूप से पूजन करके दारु-संचयन में युक्त होना चाहिए। इसी

शुभावसर पर दिक्पालों, कटाई के लिए ले जाए गए आयुधों के अधिपति देवताओं का गन्ध-पुष्पों से अर्चन करना चाहिए।

सूत्राष्टकम्



सह मङ्गलघोषेण काननं प्रविशेद्बुधः ।
शुद्धश्शान्तमना भूत्वा नववस्त्रोत्तरीयकः ॥ 6 ॥

काष्ठ के लिए बुद्धिमानों को मंगलघोष के साथ वन में प्रवेश करना चाहिए। इस अवसर पर स्वयं शुद्ध मन होकर नवीन वस्त्र और उत्तरीय धारण करना चाहिए।

देवानामपि देवीनां ध्वजस्तम्भाय दारुकान् ।
आहरेन्मन्त्रघोषेण सर्वलोकहितप्रदान् ॥ 7 ॥

देवों तथा देवियों के लिए ध्वज-स्तम्भ का निर्माण करने के लिए मन्त्रोच्चारणपूर्वक सर्वलोक हितकारी दारुओं काष्ठों का सञ्चय करना चाहिए।

देवालयार्थे शुभवृक्ष नामानि —

बकुलस्तिनिशस्सालः कोविदारश्च केसरः ।
श्रीपर्णसप्तपर्णश्च कुद्दालः पिण्डकस्तथा ॥ 8 ॥
देवालयेष्विमे शस्ताश्शुभदाः सम्प्रकीर्तिताः ।

देवालय के निर्माण कार्य में बकुल, तिनिश, साल, कोविदार, केसर, श्रीपर्णी, सप्तपर्णी, कुद्दाल, पिण्डक वृक्ष शस्त और शुभ कहे गए हैं।

भल्लाटस्य मृगस्यापि मित्रस्य वरुणस्य च ॥ 9 ॥
जयन्तस्य च पूष्णश्च गन्धर्वस्य च शूलिनः ।
वास्तुनाथस्य देवस्य देवीनाञ्च विशेषतः ।
अंशभूता इमे वृक्षाः शास्त्रविद्भिरुदीरिताः ॥ 10 ॥

शास्त्रवेत्ताओं के अनुसार उपर्युक्त ये सभी वृक्ष क्रमशः भल्लाट (भालू के आकार वाले देव विशेष), मृग, मित्र, वरुण, जयन्त, पूषा, गन्धर्व, शिव, वास्तु के अधिपति देवता और विशेषतः देवियों के अंशभूत माने गये हैं।[१]

---

१. उक्त प्रसंग में यह जानना चाहिए कि ये वृक्ष भल्लाट आदि उस स्थान के देवताओं के अंश माने गए हैं और प्रधान देव-देवियों के सत्व सान्निध्य के लिए इनका पूजन शिल्पशास्त्रविदों का मुख्य सिद्धान्त कहा गया है। देवालय निर्माण के लिए संगृहीत काष्ठों में पूर्व दिशा संग्रह का (वास्तु चक्रानुसार न्यास के आधार पर) भल्लाट नामक देव विशेष अधिपति माना गया है। आग्नेय दिशा का मृगदेव और दक्षिण दिशा का मित्रदेव अधिपति है। वायव्य दिशा का रविदेव अधिपति है, उत्तर दिशा का गन्धर्व अधिपति, ईशान का शिव स्वामी है। समस्त भव्य भूमि का वास्तुनाथ अधिपति है, ऐसा इन देवताओं का क्रम है। ये वृक्ष इनके अंशभूत है, ऐसा शास्त्रविदों का मत है।

अथ मनुष्यालयार्थे शुभवृक्षनामानि —

आम्रातको मधूकश्च नागरङ्गश्च तिन्दुकः।
खदिरः पूतिको वेणुः पाटलश्च विभीतकः॥ 11॥
कर्णिकारश्च सरलः कर्कन्धूस्तिनिशस्तथा।
काश्मरी च रसालश्च पारिभद्रश्च केसरः॥ 12॥
श्रीपर्णास्तिलकश्चापि नक्तमालश्च भद्रकः।
अन्ये च क्षीरवृक्षा ये निम्बाद्याश्च सुगन्धिनः॥ 13॥
नृणामालययोग्यास्तुश्शुभदः सम्प्रकीर्तिताः।
मनुष्यवास्तुभूमीशा धनपालादयश्शुभाः॥ 14॥

आम्रातक, महुआ, नागरङ्ग, तिन्दुक, खदिर, पूतिक, बाँस, पाटल, विभीतक, कर्णिकार, सरल, कर्कन्धु-करौन्दा, तिनिश, काश्मरी, रसाल, पारिभद्र, केसर, श्रीपर्णी (गम्भीरी), तिलक, नक्तमाल, भद्रक और अन्य क्षीरवृक्ष (वट, खिरनी, गूलर आदि), नीम आदि जो कि सुगन्ध वाले हों, ये सब मनुष्यों के भवनों के योग्य और शुभ कहे गए हैं। मनुष्यों की वास्तुभूमि के अधिपतिरूप में धनपाल आदि शुभ माने गये हैं।

गवाक्षस्थूलडोलानां तिर्यग्दारुकलापिनाम्।
सोपानानाञ्च खट्वानां प्रतिमानां निवेशिनाम्॥ 15॥

भवनों के गवाक्षों के स्थूल या लकड़ी के पाट और उन पर रखे हुए तिर्यक् या टेढ़े काष्ठ, कलापछाद्य—बहुत प्रकार के चित्र-विचित्र अलङ्करणों से युक्त और सोपानों या काष्ठ निर्मित सीढ़ियों, खट्वान—झूलों, पालकियों, छोटे-छोटे खाटों जैसे निवेशिनाम् या बैठने के उपकरणों के प्रतिमान या नमूनों के निर्माणार्थ काष्ठ

इन मनुष्यालय निर्माण हेतु संगृहीत वृक्षों के धनपाल, मित्र, यक्ष, कुबेर चारों ही देव क्रम से चारों दिशाओं के अधिपति कहे गए हैं। मतान्तर से भी देववास्तु और मनुष्यवास्तु की भूमि, नगर, पुर, ग्राम आदि के निर्माण के आरम्भ अवसर पर इनका पूजन, इनके लिए बलि विधान प्रशस्त कहा गया है। इनके नामादि अन्य ग्रन्थों में उपलब्ध हैं। किन्हीं प्रदेशों में नगर, पुर, ग्राम, गृहादि वास्तु निर्माण के समय दिग्देवों का ही अर्चन-पूजन होता है। उनके नाम इस प्रकार हैं- अग्नि, विवस्वान, दौवारिक, मित्र, यम, चन्द्र, शेष, ईशान। ये सभी पूर्व दिशा के क्रम से आठों दिग्देव हैं। कहीं-कहीं देशान्तरों में वास्तुभूमि के सीमान्त पर पुरन्दर, इन्द्रादि अष्ट लोकपालों का ही अर्चन-पूजन होता है। यह सब शिष्टाचार शिल्पीगणों के आशय से जाना गया है।

का उपयोग होता है।

पीठानां फलकानाञ्च स्तम्भानां च शिखण्डिनाम्।
वर्तुलाना पूतिकानां तन्तुवाजिककुम्भिनाम्॥ 16॥

पीठों-मञ्चों, फलकों-कपाटों, स्तम्भों और शिखण्डियों अर्थात् स्तम्भ के सिर पर शोभा हेतु निर्मित भारवाही कल्पित काष्ठमूर्तियों, वर्तुल चक्रों या गोलाई लिए निर्माणों, पूतिकान या पुतलियों (शालभंजिका की तरह), तन्तुवाजिककुम्भीनां अर्थात् तार से बजने वाले उपकरणों की कुम्भी बनाने हेतु, एक तार, सितार, सारंगी आदि के दण्ड निर्माणार्थ भी काष्ठ का प्रयोग होता है।

उपपीठादिनां सिंहवक्त्रादीनाञ्च मेशिनाम्।
अन्येषां शिल्पकार्याणाममी शस्ताः प्रकीर्तिताः॥ 17॥

इसके अतिरिक्त उपपीठ या छोटे मञ्चों के निर्माण में, सिंहवक्त्र या सिंहासन आदि के निर्माण में तथा मेशी अर्थात् कील आदि के लिए उपयुक्त फलक और अन्य सभी शिल्प कार्यों के निर्माण में भी उक्त (आम्रादि) वृक्ष काष्ठ प्रशस्त माने गए हैं।

अथ अप्रशस्तवृक्षाः —

मधूकं तिनिशं पूतिमन्यं क्षीरतरुं तथा।
तिर्यग्दारौ चित्रकार्ये योजयेन्न कदाचन॥ 18॥

इसके अतिरिक्त महुआ का काष्ठ, तिनिश-इमली के पेड़ का काष्ठ, पूतिमन्य या सुगन्धित देवदारु काष्ठ, क्षीरतरु या दुधिया वृक्षों के काष्ठ को कभी भी तिर्यग्दारु या टेढ़े पाटछाद्य हेतु तथा चित्रकार्यों या मूर्ति निर्माण व अलङ्करण के बेलबूटों की रचना के काम में नहीं लेना चाहिए। यह ज्ञातव्य है कि इन सभी पेड़ों के काष्ठ कालान्तर में सूखते हुए फट जाते हैं एवं रचना नष्ट हो जाती है।

नाडीवृक्षाः पिन्नवृक्षाः गुलिकाभिन्नदारवः।
गजदन्तप्रभिन्नाश्च वक्रा भिन्नास्तथा वने॥ 19॥
पक्षिहीना दिवाभीतैरुषिताश्च (द्विजाधमैः)।
विद्युता भिन्नवृक्षाश्च योधानामिषुमिर्हताः॥ 20॥
कण्टकावृतदेहाश्च न प्रशस्ताः प्रकीर्तिताः।

नाड़ी वृक्ष (शिरा प्रधान वृक्ष जिनमें बहुत-सी शिराएँ या नाड़ियाँ उभरती हों), पिन्न वृक्ष (अत्यन्त सूक्ष्म, कृश शाखाहीन वृक्ष), गुलिका वृक्ष (खातीचिड़ा

आदि से काटा-पीटा हुआ या गठीला पेड़), टूटा हुआ पेड़, हाथी के दांत की रगड़ से गिराया हुआ पेड़, वक्रीय स्थिति में पहुँचा हुआ पेड़, छिन्न-भिन्न वन का पेड़, जिन पर कोई पक्षी नहीं बैठता हो, अधम पक्षियों से नष्ट किए हुए पेड़, बिजली गिरने से नष्टभूत, व्याधादि लोगों के बाणों से आहत वृक्ष, समस्त अंगों पर कण्टक वाले बबूल आदि वृक्षों को प्रशस्त नहीं माना गया है।

अन्यदप्याह —

उदीच्यां शयिता वृक्षा देवालयशुभप्रदाः ॥ 21 ॥
ऐन्द्रयां दिश्यथ वारुण्यामुदीच्यां वा विशेषतः।
शयिताः पातिता वृक्षाः प्रशस्ता मानुषालये ॥ 22 ॥

(अब काटने पर गिरने वाले या सोये हुए वृक्षों की दिशा पर विचार किया जा रहा है) जो वृक्ष उत्तर की ओर झुका हुआ है अथवा काटने पर उत्तर की ओर झुकता हो, उसका काष्ठ देवालय के उपकरणादि निर्माण में शुभप्रद होता है। मनुष्यों के गृहों के लिए विशेषतः पूर्व दिशा, पश्चिम अथवा उत्तर दिशा में गिरे हुए या सोये हुए वृक्ष प्रशस्त होते हैं।

पतिता दक्षिणाशायां तथा प्रेतवनं गताः।
दुष्टभूमिस्थिता वृक्षा वर्ज्या निन्द्याश्शुभेप्सुभिः ॥ 23 ॥

दक्षिण दिशा में गिरे हुए अथवा श्मशान भूमि में स्थित वृक्षों की लकड़ी को और दुष्टभूमि पर विद्यमान वृक्षों के काष्ठ को निन्दित जानकर अपना शुभ चाहने वालों को सर्वदा त्याग देना चाहिए।

नागाधिपं वृक्षपतिं पयसा पायसेन च।
तर्पयित्वा विशेषेण वने छिन्द्याद्बुधोत्तमः ॥ 24 ॥

अपने-अपने कार्योचित वृक्षों को काट लेने के बाद उन वृक्षों के अधिपति देवता भुजगेश अनन्त को दूध, खीर अथवा विशेष प्रकार से अभ्यर्चना से तृप्त करके शिल्पियों को उन वृक्षों को खण्डशः काटना चाहिए।

काले शुभे स्वस्तिघोषैः खण्डितांस्तान्वनान्तरात्।
शुभ्रवर्णैर्हेमशृङ्गैर्वृषभैर्वाहयेद्बुधः ॥ 25 ॥

इसके बाद शुभकाल या शुभ मुहूर्त देखकर स्वस्तिघोष पूर्वक उन काटे गए वृक्ष खण्डों को वन से ले जाना चाहिए। विद्वान पुरुष को चाहिए कि इसके लिए

शुभ्रवर्ण वाले और सुवर्ण से मण्डित सींग वाले बैलों की गाड़ी का प्रयोग करे।

स्थापयेच्छुद्धदेशे तानधिवासाय निश्चितः।
संवत्सरो(रं) वा षण्मासान् मासत्रयमथापि वा॥ 26॥

इसके अनन्तर उन काष्ठखण्डों को कार्यशाला के शुद्ध स्थान पर जमा देना चाहिए। एक वर्ष, छह माह या तीन मास की अवधि तक का समय उनके रखे रहने के लिए निश्चित किया गया है (ताकि उन पर मौसम का समुचित प्रभाव पड़ सके और वे काष्ठकला में प्रयुक्त होने योग्य, 'सीज़ण्ड' हो जाए)।

अधिवासाय तान्यस्य माल्यगन्धार्चनादिभिः।
रक्षणं कारयेद्धीमान्वास्तुशास्त्रविशारदः॥ 27॥

इस अधिवासन[१] अवधि तक वास्तुशास्त्र विशारद को उक्त काष्ठखण्डों की रक्षा करते हुए नित्य माला, गन्धादि से अर्चना करते रहना चाहिए।

इति विश्वकर्मप्रणीते विश्वकर्मवास्तुशास्त्रे द्रव्यसंग्रहणकथनं नाम चतुर्थोऽध्यायः॥4॥

इस प्रकार विश्वकर्माप्रणीत विश्वकर्मवास्तुशास्त्र में द्रव्य संग्रहण कथन नामक चतुर्थ अध्याय पूर्ण हुआ।



१. विशेष : काटे गए वृक्षखण्डों को उनके क्षीरादि रसों के सूखने तक जमा रखने की परम्परा रही है। यह विधि दो प्रकार की होती है। प्रथमतः जल में डूबोकर रखना और द्वितीय भूमि पर जमे हुए पड़े रखना। किन्हीं वृक्षों को जल में डूबोकर रखने से उनकी लकड़ी में दृढ़ता आती है और कुछ वृक्षों को छाया में सूखने हेतु संचित रखने से भी दृढ़ता बढ़ती है। जल में डूबोकर रखे गए काष्ठ में सूखने पर कोई कीट नहीं लगता है। विश्वकर्माप्रकाश में आया है कि यदि किसी काष्ठ को एक पखवाड़ा तक जल में रखा जाए तो उसे कीट नहीं लगते हैं। ज्ञानी को लकड़ी कृष्णपक्ष में काटनी चाहिए, शुक्लपक्ष में नहीं काटें— काष्ठां नो भुज्यते कीटैर्यदि पक्षं धृतं जले। कृष्णपक्षे छेदनं च न शुक्ले कारयेत् बुधः॥ (विश्वकर्माप्रकाश 9, 45) इस प्रकार यहाँ द्रव्य ग्रहण में पूरा विवेक रखने का विचार है।

अथ भूपरीक्षाकथनं नाम

पञ्चमोऽध्यायः ॥ 5 ॥

अथ पुराकालात् धरित्र्यास्वरूपमाह —

पुरा भूमिरियं धात्रा विशाला च वसुन्धरा।
जलाधारान्विता सृष्टा सशैलवनकानना॥ 1 ॥

पूर्वकाल में विधाता ने इस विशाल धनधान्य-समन्विता पृथ्वी को अनेक जलधाराओं (नदियों-झरनों के रूप में) युक्त और पर्वत, वन-कानन आदि से सम्पन्न बनाया था।

हिमवृद्विन्ध्यमलयैरन्यैः कुलमहीधरैः।
कनकाद्यैर्दिव्यलोहैर्गर्भिता च समन्ततः॥ 2 ॥

हिमालय, विन्ध्याचल, मलयाचल और अन्यान्य कुलपर्वतों[१] वाली यह पृथ्वी अपने गर्भ में कनक-स्वर्णादि दिव्यलोह इत्यादि धातुओं से चारों ओर से संयुक्त है।

तथापि भूगर्भसारात् क्वचित्स्वादुरसान्विता।
क्वचिद्रसेन हीना च क्वचिदुष्णा च शीतला॥ 3 ॥
क्वचिद्भीकरसत्वाढ्या क्वचित्सत्वखगावृता।
क्वचिदत्यन्तसुखदा क्वचिदुद्वेगकारिणी॥ 4 ॥

तथापि भूगर्भ के सार से कहीं-कहीं भूमि स्वादुरसयुत जल वाली और कहीं-कहीं जलहीन है। कहीं-कहीं उष्ण और कहीं-कहीं शीतल होती है। यह भूमि कहीं-कहीं भयानक प्राणियों से परिपूर्ण तो कहीं-कहीं सत्वप्रधान पक्षियों वाली है। कहीं-कहीं यह भूमि अत्यन्त सुखप्रद तो कहीं-कहीं अत्यन्त क्षुब्ध करने वाली भी है।

इत्येवं बहुधा जाता कालभेदेन भूरियम्।
परीक्षयेद्वास्तुभूमिमतस्सल्लक्षणान्विताम्॥ 5 ॥

---

१. महेन्द्र, मलय, सह्य, शुक्तिमान्, ऋक्ष, विन्ध्य और पारियात्र- ये सात कुलपर्वत माने गए हैं— महेन्द्रो मलयः सह्य शुक्तिमानृक्षपर्वतः। विन्ध्यश्च पारियात्रश्च सप्तात्र कुलपर्वताः॥ (विष्णुपुराण 3, 3, 3)

इस प्रकार कालभेद के अनुसार यह भूमि बहुत प्रकार की रही है। अतएव वास्तुवेत्ताओं को शुभलक्षणों से युक्त वास्तुभूमि की परीक्षा करनी चाहिए।

उत्तमादि त्रयभूमिभेदाः —

उत्तमा मध्यमा भूमिरधमा चेति सा त्रिधा।
विभक्ता गुणभेदेन शास्त्रज्ञैः पूर्वसूरिभिः ॥ 6 ॥

यह भूमि तीन प्रकार की है– 1. उत्तमभूमि, 2. मध्यमभूमि और 3. अधमभूमि। ये विभाग इसके गुणों के अनुसार शास्त्रवेत्ता पूर्वसूरियों द्वारा कल्पित किए गए हैं।

रसवर्णस्पर्शगन्धैरन्यैरपि च लक्षणैः।
परीक्षयेदिमां भूमि वास्तुयोग्यां बुधोत्तमः ॥ 7 ॥

इसके अतिरिक्त, रस, वर्ण, गन्ध और अन्य लक्षणों के आधार पर भी उत्तम विद्वान् उस वास्तु के योग्य भूमि की परीक्षा करें।

अथ ब्राह्मणादिचातुर्वर्ण्यभेदेन प्रथमतो भूमिलक्षणमाह —

माधुर्यमृत्तिका भूमिर्देवविप्रहितप्रदा।
तथोदुम्बरवृक्षाढ्या श्वेतवर्णा च भूरपि ॥ 8 ॥
(उदीच्यां च जलोपेता भूरियं चोत्तमा मता।)

माधुर्यमृत्तिका– मधुर जलयुक्त मिट्टी वाली भूमि देवताओं और ब्राह्मणों के लिए शुभ होती है। इसी प्रकार जहाँ पर उदुम्बर–गूलर वृक्षों की बहुलता हो और जो श्वेतवर्ण हो, उत्तर दिशा में नदी–जलाशय वाली भूमि उत्तम मानी गयी है।

अथ क्षत्रिययोग्यभूमिलक्षणमाह —

कषायमृत्तिका भूमी रक्तवर्णा च भूरपि ॥ 9 ॥
पूर्वभाग जलोपेता तथाश्वत्थद्रुमान्विता।
विपुला लोहयुग्भूमिः क्षत्रियाणां हितप्रदा ॥ 10 ॥

कषायरस युक्त मृत्तिका और लाल रंग वाली भूमि जो कि पूर्व भाग की ओर जलस्रोत वाली हो और जिसमें पीपल के वृक्षों की बहुलता हो, ऐसी विपुला लोहमय भूमि क्षत्रियों के लिए हित प्रदायक होती है।

अथ वैश्ययोग्यभूमिलक्षणमाह —

नातिकृष्णा न रक्ता च प्लक्षद्रुमसमन्विता।
दक्षिणायां जलोपेता नातिनिम्नोन्नतस्थला॥ 11॥
भूरियं वैश्यजातानां बलसम्पत्करा मता।

न तो अधिक काली और न ही अधिक लाल रंग वाली, प्लक्ष या पाकड़ वृक्षों से समन्वित भूमि जो कि दक्षिण की ओर जलस्रोत वाली हो और न अधिक ऊँची, न ही अधिक निम्न स्थला हो, ऐसी भूमि वैश्यों-वणिकों के लिए बल और सम्पत्तिकारी होती है।[१]

अथ शूद्रवर्णयोग्यभूमिलक्षणमाह —

(कटुमृत्स्ना कृष्णवर्णा वटवृक्षसमन्विता॥ 12॥
वारुण्यामुदकोपेता शूद्राणां क्षेमकारिणी।)
इत्येवं जातिभेदेन कथितं भूमिलक्षणम्॥ 13॥

कटु मृत्तिका युक्त, काले रंग वाली, वट वृक्षों की अधिकता वाली, पश्चिम दिशा में जलस्रोत वाली भूमि शूद्र लोगों के लिए कल्याणकारिणी होती है। इस प्रकार से यहाँ जातिभेदानुसार भूमि के लक्षण कहे गए हैं।

इत्यनन्तरं सर्वजनयोग्यभूमिलक्षणमाह —

श्रीवृक्षैर्निम्बकाशोकै रसनैः क्रमुकैरपि।
सौवीरैरिङ्गुदीभिश्च रसालैर्वजुलैरपि॥ 14॥

---

१. आवासार्थ वास्तुपरीक्षा के सम्बन्ध में आश्वलायनगृहसूत्र में कहा गया है- अनूषरमविवदिष्णु भूमौषधिवनस्पतिवत्। यस्मिन् कुशवीरणं प्रभूतम्। कण्टकिक्षीरिणस्तु समूलान् परिखायोद्वासयेदपामार्गः शाकस्तिल्वकः परिव्याध इति चैतानि। यत्र सर्वत आपो मध्यं समेत्य प्रदक्षिणं शयनीयं परीत्य प्राच्यः स्यन्देनन्नप्रवदत्यस्तत्सर्वसमृद्धम्। समवस्रवे भक्तशरणं कारयेत्। वह्वन्नं हि भवति। दक्षिणाप्रवणे सभां मापयेत्साद्यूता ह भवति। युवानस्तस्यां कितवाः कलहिनः प्रमायुका भवन्ति। यत्र सर्वत आपः प्रस्यन्देरन् सा स्वस्त्यन्यद्यूता च। (आश्वलायन गृहसूत्र अ. 2 खं. 7) आवासार्थ वास्तुपरीक्षा के सम्बन्ध में आश्वलायनगृहसूत्र में कहा गया है- अनूषरमविवदिष्णु भूमौषधिवनस्पतिवत्। यस्मिन् कुशवीरणं प्रभूतम्। कण्टकिक्षीरिणस्तु समूलान् परिखायोद्वासयेदपामार्गः शाकस्तिल्वकः परिव्याध इति चैतानि। यत्र सर्वत आपो मध्यं समेत्य प्रदक्षिणं शयनीयं परीत्य प्राच्यः स्यन्देनन्नप्रवदत्यस्तत्सर्वसमृद्धम्। समवस्रवे भक्तशरणं कारयेत्। वह्वन्नं हि भवति। दक्षिणाप्रवणे सभां मापयेत्साद्यूता ह भवति। युवानस्तस्यां कितवाः कलहिनः प्रमायुका भवन्ति। यत्र सर्वत आपः प्रस्यन्देरन् सा स्वस्त्यन्यद्यूता च। (आश्वलायन गृहसूत्र अ. 2 खं. 7)

केसरैस्सप्तपर्णैर्वा कुद्दालैः कोविदारकैः।
आरग्वधैर्मधूकैर्वा प्लक्षैर्वा पाटलैस्तु वा॥ 15॥
श्रीपर्णैर्वा शिरीषैर्वा पूतिकैः खदिरैस्तथा।
नदीभूर्जैर्नक्तमालैर्वेणुभिस्तिनिशैरपि॥ 16॥
मालत्या कुन्दलतया मुस्तादाडिममञ्जुलैः।
द्राक्षालतासमायुक्ता भूमिरेखा शुभप्रदा॥ 17॥

अब प्रकारान्तर से सभी जनों के योग्य भूमि के लक्षण कहे जा रहे हैं— श्रीवृक्ष, निम्ब, अशोक-आशापालक के वृक्षों की बहुलता वाली, सुपाड़ी के पेड़ों के रस वाली, सौवीर, इंगुदी, आम्रवृक्ष, बैंत या नरकुल के वृक्षों वाली, केसर व सप्तपर्ण, कुद्दाल, कोविदार, आरग्वध, महुआ, प्लक्ष-पाकड़, पाटल, श्रीपर्णा या गम्भारी, शिरीष, पूतिक, खदिर वृक्षों वाली, नदी की भूमि की ओर प्लव वाली, नक्तमाल, बांस, तिनिश, मालती, कुन्दलता, मुस्ता, दाडिम, मञ्जुल, द्राक्षालताओं वाली भूमि सबके लिए शुभप्रद होती है।

प्रकारान्तरेणोत्तमभूमिलक्षणमाह —

धेनुभिर्हरिणैर्वापि तुरगैर्वा विशेषतः।
पारावतैः कोकिलैर्वा शुकैः कीरैरथापि वा॥ 18॥
कारण्डैश्चक्रवाकैश्च मयूरैराजहंसकैः।
गजैर्वा वृषभैर्वापि मेषसङ्घैर्विशेषतः॥
भूमिरध्युषिता शस्ता सर्ववास्तुषु कीर्तिता॥ 19॥

अब अन्य प्रकार से उत्तम भूमि के लक्षण कहे जा रहे हैं। विशेष रूप से जहाँ पर गायों, हरिणों, घोड़ों, कबूतर, कोकिल, शुक-सारिका, कारण्ड या बतख, चकवा, मयूर, राजहंस, गज, बैल, भेड़ों के समूह पाए जाते हों, वह भूमि सब प्रकार के वास्तु कर्म की दृष्टि से प्रशस्त कही गई है।

स्पर्शगन्धानुसारेणभूमिलक्षणमाह —

लघुसैकतसंयुक्ता सुखस्पर्शयुतापि वा।
निबिडा स्वादुतोयाढ्या समीपजलवर्षिणी॥ 20॥
मधुगन्धा पुष्पगन्धा सर्पिर्गन्धा च भूरपि।
स्थिरवर्णा च भूश्शस्ता सर्ववास्तुषु कीर्तिता॥ 21॥

इसी प्रकार जो भूमि महीन बालू वाली हो, स्पर्श करते ही सुहावनी लगती हो,

निबिड़ा (धनी) हो, खनन करने पर स्वादिष्ट जल प्रदान करने वाली हो, शहद तुल्य गन्ध वाली, पुष्पों की सुगन्ध वाली, घृतगन्धा और स्थिर वर्ण वाली हो, वह सभी प्रकार के वास्तुकर्म के लिए प्रशस्त कही गई है।

बीजवपनाधारेण भूमिपरीक्षणमाह —

सा भूमिरुत्तमा ज्ञेया त्रिरात्राङ्कुरवर्धिनी।
सा मध्यमा च विज्ञेया पञ्चरात्राङ्कुरप्रदा॥ 22॥
मन्दाङ्कुरप्रदा भूमिरधमा चेति गद्यते।
सा वर्ज्या सर्वकार्येषु बीजानां क्षयकारिणी॥ 23॥

(बीजवपन के आधार पर भूमि-परीक्षा) वह भूमि उत्तम समझनी चाहिए जिसमें बोया गया कोई बीज अधिकतम तीन रात्रियों में अङ्कुरित हो जाए। वह भूमि मध्यमा होती है जिसमें बोया गया बीज पाँच रात्रियों के बाद अङ्कुरित होता है। सप्ताह या और भी धीरे-धीरे बीजों को उत्पन्न करने वाली भूमि अधम कोटि की कहते हैं। अतः बीजों का क्षय करने वाली अधम भूमि को वास्तुकर्म की दृष्टि से भी वर्जित जानना चाहिए।

एतावता प्रबन्धेनोत्तमभूमेर्लक्षणम् —

वर्ज्या कण्टकवृक्षैश्च तिग्मवृक्षैर्विदारकैः।
वल्मीकेन समायुक्ता भूमिरस्थिगणैस्तु वा॥ 24॥
रन्ध्रान्विता च भूर्वर्ज्या गर्ताद्यैश्च समन्विता।

काँटेदार वृक्षों वाली भूमि, विदारक तिग्मवृक्षों-तीक्ष्ण अणीदार वृक्षों वाली भूमि, दीमक युक्त, हड्डियों वाली भूमि, रन्ध्रान्वित और खड्डों-खोचरों वाली भूमि वास्तुकर्म के लिए अयोग्य होने से वर्जनीय है।

वराहादिभिर्दुष्टसत्वैरध्युषिता भूमिश्च वर्ज्या —

वराहै रासभैर्व्याघ्रैस्सिंह्याद्यैर्दुष्टजन्तुभिः॥ 25॥
भल्लूकैर्वनमार्जालैर्मूषकैर्वृश्चिकादिभिः।
भूमिरध्युषिता वर्ज्या सर्ववास्तुषु हानिदा॥ 26॥

सूअरों, गधों, व्याघ्रों-सिंहों आदि दुष्ट जन्तुओं के विहार वाली भूमि, भालुओं, वनबिलावों वाली, चूहों, बिच्छुओं इत्यादि विषैले जन्तुओं से अध्युषित (निवसित) भूमि सब प्रकार से वर्जित है और वास्तुकर्म के लिए हानिप्रद है।

श्मशानभूसमीपस्था तुषभारैस्समन्विता।
कम्पेन भेदिता भूमिरग्निदग्धा च सर्वतः ॥ 27 ॥
भूमिरेवंविधा वर्ज्या कार्यज्ञैश्च शुभेप्सुभिः।

जो भूमि श्मशान के समीप हो और अनाज की भूसी वाली हो, भूकम्प आने से फटी हुई और अग्निदाह से दग्ध हुई हो, ऐसी भूमि भी अपना शुभ चाहने वालों को त्याज्य समझनी चाहिए।

इति विश्वकर्मप्रणीते विश्वकर्मवास्तुशास्त्रे भूपरीक्षाक्रमकथनं नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥5 ॥

इस प्रकार विश्वकर्माप्रणीत विश्वकर्मवास्तुशास्त्र में भूपरीक्षाक्रम कथन नामक पाँचवाँ अध्याय पूर्ण हुआ।



अथ भूमिग्रहणकथनं नाम

षष्ठोऽध्यायः ॥ 6 ॥

अथ परीक्षिताया भूमेस्स्वीकरणप्रकारकथनात्मकं षष्ठाध्यायं —

परीक्षकैश्शास्त्रविद्भिर्नानोपायैः परीक्षिताम्।
उत्तमां मध्यमां वापि भूमिं प्राप्य बुधोत्तमः ॥ 1 ॥

श्रेष्ठ बुद्धिमान को चाहिए कि वह शिल्पशास्त्रों के परीक्षकों द्वारा नाना प्रकार के उपायों से परीक्षित उत्तम-मध्यम भूमि को वास्तुकर्म के लिए ग्रहण करे।

श्वेतमाल्याम्बरधरैः श्वेतगन्धानुलेपनैः।
भृत्यैराप्तैश्शुद्धवाग्भिस्सल्लक्षणसमन्वितैः ॥ 2 ॥
शुभे मुहूर्ते सल्लग्ने खनित्रादीनथार्चयेत्।
नवा भूरथवा पूर्वं प्रजाध्युषितभूर्यदि ॥ 3 ॥
नरेन्द्रैर्ग्रामनिर्माणकार्यार्थं स्वीकृता भवेत्।
वास्तुनाथार्चनं शस्तं श्रोत्रियैर्वेदपारगैः ॥ 4 ॥

इस कार्य के लिए श्वेत पुष्पों की माला को धारण किए हुए, शुभ्र वस्त्रों को धारण करके, श्वेतगन्ध-चन्दनादि का लेप किए हुए विश्वसनीय, भृत्यों-सेवकों, अनुचरों, सम्माननीय जनों, शुद्ध वाक् व्यवहार करने वाले, शुभ लक्षणों से युक्त लोगों को साथ लेकर शुभ मुहूर्त, शुभ लग्न में खनित्र-खोदने के औजार आदि की अर्चना करे। इसके साथ ही राजा को चाहिए कि नई अथवा पूर्व में प्रजा द्वारा उपयोग में लाई गई भूमि को ग्राम निवेश के लिए ग्रहण करना चाहिए। इस कार्य के लिए वेद में पारङ्गत, आगमों के विद्वान विप्रों द्वारा वास्तुनाथ[१] का अर्चन-पूजन प्रशस्त कहा गया है।

तदनन्तरकरणीयमाह —

पुण्याहं वाचयेत्पूर्वं विप्रैरागमवेदिभिः।
प्रोक्षयेत्तज्जलैर्दिव्यैश्शान्तिहोमं च कारयेत्॥ 5॥

आगमवेत्ता विप्रगणों द्वारा सर्वप्रथम पुण्याह वाचन करना चाहिए। उसके बाद दिव्य जलों से प्रोक्षण करके शान्तिहोम करना चाहिए।

वास्तुस्वरूपं विज्ञाय हेमगन्धाक्षतादिभिः।
वास्तुनाथार्चनं कुर्यात्कारयेद्वा द्विजोत्तमैः॥ 6॥

वास्तु के स्वरूप-प्रारुप का अच्छी प्रकार ज्ञान करके वास्तु के अधिपति देवता का सुवर्ण, गन्ध-अक्षतादि द्वारा पूजन करे अथवा श्रेष्ठ योग्य ब्राह्मणों द्वारा कराये।

भूदेवीमर्चयेत्पश्चाद्गन्धपुष्पाक्षतादिभिः।
तदनुज्ञां समासाद्य शुभकाले प्रसन्नधीः॥ 7॥

---

१. वास्तोष्पति की ऋचाएँ वेदों में आई हैं— वास्तोष्पते प्रति जानीह्यस्मान्त्स्वावेशो अनमीवो भवा नः। यत् त्वेमेहे प्रति तन्नो जुषस्व शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे॥ अर्थात्— हे वास्तोष्पते गृहपालक देव! आप हमें जगाएँ। हमारे गृह में पुत्र-पौत्र आदि द्विपदों, गौ, अश्व आदि चतुष्पदों को नीरोग एवं सुखी करें। जो धन हम आपसे माँगें, वह हमें प्रदान कीजिए। वास्तोष्पते प्रतरणो न एधि गयस्फानो गोभिरश्वेभिरन्दो। अजरासस्ते सख्ये स्याम पितेव पुत्रान्प्रति नो जुषस्व॥ अर्थात्— हे वास्तोष्पते! आप हमारे लिए कल्याणकारी धन का विस्तार-प्रसार करें। हे सोम! हम आपकी कृपा से गौओं तथा अश्वों के साथ नीरोग रहें। आप हमारा पुत्रवत् पालन करें। वास्तोष्पते शग्मया संसदा ते सक्षीमहि रण्वया गातुमत्या। पाहि क्षेम उत योगे वरं नो यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥ अर्थात्— हे वास्तोष्पते! हम आपसे सुखकर, रमणीय और ऐश्वर्ययुक्त स्थान प्राप्त करें। हमें प्राप्त और प्राप्त होने वाले श्रेष्ठ धन-वैभव की आप रक्षा करें। हमें सदा कल्याणकारी साधनों-उपस्कारकों से सुरक्षित रखें। (ऋग्वेद 7, 54, 1-3 एवं तैत्तिरीयसंहिता 3, 4, 10, 1 इत्यादि)

भूसमीकरणं कार्यं महोक्षैश्श्वेतवर्णकैः।

इसके बाद भूदेवी का गन्ध, पुष्पाक्षत आदि से अर्चन-पूजन करना चाहिए और उस भूमिदेवी की प्रार्थना करके उसकी आज्ञा प्राप्त करके शुभ मुहूर्त में प्रसन्न-प्रज्ञ व्यक्ति को श्वेतवर्ण वाले विशालकाय बैलों से भूमि के समीकरण का कार्य करना चाहिए।

बलिकर्मविधानञ्च राष्ट्रक्षेमकरं भवेत्॥
ब्राह्मणान्भोजयेत्पश्चात्तोषयेद्दक्षिणादिभिः॥ 8॥

इसके बाद बलि कर्म का विधान भी राष्ट्र का क्षेम-कुशल करने वाला होता है। इसके बाद ब्राह्मणों को भोजन करवाए और भोजनोपरान्त उन्हें दक्षिणा प्रदान कर सन्तुष्ट करे।

परीक्षणोपरान्त स्वीकृत स्थले प्रथमेष्टिकान्यसनार्थमाह —

समीकृते स्थले पूर्वमैशान्यां खननं शुभम्।
वारुण्यामथवा कार्यं शुभकाले विशेषतः॥ 9॥
इष्टिकान्यसनात्पूर्वं पूरयेद्गर्भमादरात्।
स च विप्रादिभेदेन चतुर्धा सन्निगद्यते॥ 10॥

इस प्रकार भूमि को समतल करने के अनन्तर वास्तु निर्माण स्थल पर पूर्व दिशा में ईशान कोण की ओर से खनन आरम्भ करना शुभ है अथवा पश्चिम दिशा में भी शुभ मुहूर्त में खनन कार्य विशेष अवस्था में किया जा सकता है। ईंटों से नींव भरने के पूर्व खनित गर्भ को आदरपूर्वक भरना चाहिए। यह विप्रादि भेद से चार प्रकार का कहा गया है।

अथ गर्भद्रव्यनिक्षेपणं कार्यमाह —

ब्राह्मं गर्भं पूरयेत्तु पुस्तकैर्यज्ञसूत्रकैः।
क्षात्रं गर्भं पूरयेच्च खड्गच्छत्रादिभिर्दृढम्॥ 11॥
वैश्यं गर्भं पूरयेच्च तुलाद्रव्यादिकैरपि।
शूद्रं गर्भं पूरयेच्च सीरकैर्वस्त्रकैरपि॥ 12॥

यदि ब्राह्मण के लिए वास्तुकर्म हो तो नींव में पुस्तकों व यज्ञसूत्र का चित्र रखकर गर्भ की पूर्ति करनी चाहिए। क्षत्रिय का वास्तुकर्म हो तो नींव को तलवार, छत्रादि रखकर दृढ़तर करना चाहिए। यदि वैश्य का वास्तुकर्म हो तो नींव में तुला,

मुद्रादि को रखना चाहिए। इसी प्रकार यदि शूद्र का वास्तुकर्म हो तो नींव में सीर-हल व वस्त्र के चित्रादि रखकर भरना चाहिए।

देवनिकेतने गर्भन्यासस्त्वमाह —

देवालये दैवगर्भे रत्नन्यासो विशेषतः।
दैववास्तुषु सर्वेषु सौवर्णं भाजनं शुभम्॥ 13॥

यदि देवालय के लिए देवगर्भ न्यास करना हो तो वहाँ विशेष रूप से रत्नों का न्यास करना चाहिए। सभी देववास्तु कर्मों में रत्नादि के न्यास के लिए सोने के पात्रों का प्रयोग शुभ माना गया है।

सौवर्णं राजतं वापि ब्रह्मक्षत्रियवास्तुषु।
शूद्रजानां विशां शस्तं राजतं भाजनं मतम्॥ 14॥

ब्राह्मण और क्षत्रियों के वास्तुकर्म में सोने अथवा चाँदी के पात्रों और शूद्रों व वैश्यों के वास्तुकर्म में केवल चाँदी के पात्र श्रेष्ठ माने गये हैं।

अन्येषां वास्तुभूमौ तु ताम्रजं भाजनं शुभम्।
भाजनं पट्टिका वापि पृथुपट्टमथापि वा॥ 15॥

यदि अन्य लोगों के लिए वास्तुकर्म हो तो वहाँ भूमि की नींव में ताँबे के पात्र भी शुभ होते हैं। पात्र अथवा पट्टिका या पट्ट भी स्थापित कर सकते हैं।

स्त्रीगर्भेण यथा जीवो वर्धते भुवि नित्यशः।
तथा भूगर्भमाहात्म्यात् जीवराशिस्तु वर्धते॥ 16॥
तत्रत्यानां सुखं दिव्यं यावद्गर्भो न नश्यति।
तस्माद्गर्भं शिल्पिवरैश्शाश्वतं कारयेद्भुवि॥ 17॥

जिस प्रकार स्त्रियों के गर्भ में जीव की नित्यशः वृद्धि होती है वैसे ही ये नींव में स्थापित रत्नपात्रादि भूगर्भ के माहात्म्य से जीवराशि की बढ़ोत्तरी होती है। अतएव जब तक ये पात्र वहाँ पर स्थिर रहते हैं तब तक वहाँ पर दिव्य सुख मिलता रहता है।[१] इसलिए श्रेष्ठ शिल्पकारों द्वारा भूमि में शाश्वत गर्भ का निर्माण करना चाहिए।

---

१. उत्तर भारतीय वास्तुशास्त्रों की अपेक्षा द्राविड़ या दक्षिण भारतीय वास्तु व शिल्प ग्रन्थों में नींव भरण के अवसर पर रत्नादि न्यास की सुदृढ़ परिपाटी मिलती है। मयमत, मानसार, नारदशिल्पादि में इस प्रकार के विधि-विवेक पर विस्तृत चर्चा मिलती है।

तच्च चिह्नं लिखेत्पट्टे गन्धपुष्पार्चनं तथा।
तत्पट्टं भाजने न्यस्य तन्मञ्जूषागतं नयेत्॥ 18॥
वास्तुभूमध्यदेशे तां मञ्जूषां स्थापयेद्बुधः।
गन्धमाल्यार्चनं शस्त जयशब्दपुरस्सरम्॥ 19॥

उनके वास्तुकर्मा यजमानों के चिह्नों, पहचान को पट्टों पर अच्छी तरह नाम, पता, गोत्रादि सहित लिखकर, उनका गन्ध-पुष्पार्चनपूर्वक अच्छे धातु-स्वर्ण, रजत, ताम्रादि पात्र में रखकर फिर उसे मञ्जूषा में स्थापित करें। इसके बाद बुद्धिमान् पुरुष उस पात्र युक्त मञ्जूषा को वास्तुभूमि के मध्य में लाकर स्थापित करें। वहाँ पुनः गन्ध-मालादि से अर्चना करनी चाहिए और जयघोष करना चाहिए, मञ्जूषा निवेश की यही विधि प्रशस्त है।[१]

आच्छाद्य तां मृदा शिल्पी वास्तुनाथं हृदि स्मरेत्।
ब्राह्मणांस्तोषयेत्पश्चाद्भोजनाद्यैर्विशेषतः॥
सर्ववास्तुष्विदं शस्तमीरितं शास्त्रपारगैः॥ 20॥

इसके अतिरिक्त, वास्तुकर्ता शिल्पी उस पात्रगर्भित मञ्जूषा को मिट्टी से ढँककर वास्तुनाथ का हृदय में स्मरण करता रहे और इस अवसर पर विशेषतः विप्रों को भोजन, दान-दक्षिणादि से सन्तुष्ट करे। शास्त्रों के पण्डितों ने सब प्रकार के वास्तुकर्म में इस प्रकार से नींव भरण की विधि को प्रशस्त माना है।

अन्यदप्याह —

समीकृतस्थले पूर्वमैशान्यां खनने कृते।
वारुण्यामथवा शस्ते लग्नकाले विशेषतः॥ 21॥

---

१. ऐसी पाषाण निर्मित मञ्जूषाएँ पुरातन बौद्धस्तूपों में भी प्राप्त हुई है। मानसार में ऐसे पिटकों के निर्माण की विधि भी प्राप्त होती है। मानसार में आया है— तस्य चोपरि निक्षिप्य मञ्जूषान्तं विनिर्मितम्। तन्मानं चैकभूमादिद्वादशान्तं तलानां वै॥ हर्म्याणां तद्वशात्कुर्यात्तत्तदाकारवद्भवेत्। त्रिचतुर्मात्रमारभ्य द्विद्वयङ्गुलविवर्धनात्॥ पञ्चषड्विंशमात्रान्तं द्वादशं विपुलं भवेत्। ताद्विस्तारसमं वापि तदष्टांशोनमेव च॥ पञ्चांशेनोन मेवं वा गर्भभाजस्योच्छ्रयम्। एवं चतुरंशोनं स्याद् दण्डमानेन वक्ष्यते॥ हर्म्यपादस्य विष्कम्भसमं मञ्जूषविस्तृतिः। तदष्टांशैकहीनं वा तत्त्रिपादं प्रकल्पयेत्॥ तुङ्गं प्रागुक्तवत्कुर्याद्भित्तेरातिमिहोच्यते। एकद्वित्रयमेवापि सर्वभित्तिविशालकम्॥ तद्भित्तिभागमेकं वापि विधानं तदुच्छ्रयम्। मञ्जूषोक्क्रय चतुर्भागं तत्तदेकमासनं भवेत्॥ तद्द्वयं चाङ्घ्रितुङ्गं तु स्यादेकांशं प्रस्तरान्वितम्। त्रिवर्गमण्डपाकारमद्भिः स्पखन्तं प्रविष्टके॥ (मानसार 12, 11-18)

समतल की गई भूमि पर पूर्व दिशा में ईशान कोण पर खनन करे अथवा पश्चिम दिशा में भी लग्नकाल के मुहूर्त में खनन विशेष परिस्थिति में किया जा सकता है।

शुभकाले पुरन्ध्र्यादिभिरवटार्थं जलसेचनं कार्यमाह —

इष्टिकान्यसनं कार्यं स्वस्तिघोषपुरस्सरम्।
पुरन्ध्रीभिश्च कन्याभिरवटे जलसेचनम्॥ 22॥

इष्टिका-न्यास के समय स्वस्तिघोष अवश्य करना चाहिए। इसी अवसर पर पुरन्ध्री अथवा सौभाग्यवती स्त्रियों और कन्याओं द्वारा उस गर्भस्थान पर जलाभिषेक अवश्य कराना चाहिए।

कारयेत्कार्यकालज्ञशिल्पी सर्वेषु वस्तुषु।
दीपारोपं हेमवर्षं नानादानानि कारयेत्॥ 23॥

सभी वास्तुकर्मों में नींव भरण के समय कालज्ञ या शुभ मुहूर्त व लग्न के जानकार शिल्पियों द्वारा दीप प्रज्वलन करके स्वर्ण की वर्षा करते हुए (स्वर्णादि मुद्राओं को उछालते हुए) नाना प्रकार के दानों का सम्पादन करना चाहिए।

वास्तुप्रदक्षिणादिकन्तुशास्त्र सम्प्रतिपन्नम् —

सर्वमङ्गलघोषैश्च स्वस्तिशब्दैश्च शिल्पिराट्।
वास्तुं प्रदक्षिणीकृत्य वरवस्त्रोत्तरीयकः॥ 24॥

इसके साथ ही सर्वमङ्गल घोषों और स्वस्तिवाचनों के बीच शिल्पिराट् या प्रधान सूत्रधार, कर्मान्त्री को सुन्दर वस्त्र और उत्तरीयक धारणकर उस समस्त वास्तुस्थल की प्रदक्षिणा करनी चाहिए।

मङ्गलाचरणं कृत्वा प्राप्तस्वर्णादिदक्षिणः।
कङ्कणञ्च करे धृत्वा ज्ञापयेत्कशतक्षकौ॥ 25॥

साथ ही मङ्गलाचरण का गान करते हुए स्वर्णादि की दक्षिणा लिए स्वर्ण वलय हाथों में धारणकर सभी तक्षकों-कारीगरों को ज्ञापित करे और समस्त कार्य के बारे में समझाये।

सम्यक्तप्तं वक्रहीनं कर्कशं कुङ्कुमान्वितम्।
सूत्रप्रसारे कलिते वास्तुनिर्माणभूमिषु॥ 26॥

इसके बाद, अच्छी तरह तप्त या सूखी हुई, समतल भूमि जो वक्ररहित हो,

उसमें शुभकामना करते हुए कुमकुम से रँगे हुए सूत्र के प्रसार द्वारा प्रारूप के अनुसार आवश्यक रेखाङ्कन कार्य करना चाहिए।

ऐशान्यां विन्यसेत्प्राज्ञः ककशं तं प्रसन्नधीः।
स्मृत्वा मनसि कार्यज्ञो देवता मङ्गलप्रदाः ॥ 27 ॥

प्रसन्नमन बुद्धिमान् शिल्पी को चाहिए कि वह उस कलश को ईशान कोण में स्थापित करे और देवताओं से सफल-कार्यार्थ मङ्गलकामना हेतु उनका स्मरण करे।

अधोभित्त्यादिकं कृत्वा दृढीकुर्याच्च तद्बुधः।
रक्षयेच्च यथा तत्र दूषण न प्रसज्यते ॥ 28 ॥

विद्वान के लिए यह ज्ञातव्य है कि वास्तुकर्म में नींव में भित्ति आदि का निर्माण करके उसे मजबूत बनाने का यत्न करे। उसका संरक्षण इस प्रकार से किया जाए कि कोई विकृति उपस्थित नहीं हो सके।

दृढीकृतेऽथ भित्त्यादिकर्म कुर्याद्यथाविधि।
इत्येवं तक्षकमुखैः कार्यज्ञैर्ज्ञेयमीरितम् ॥ 29 ॥

इस प्रकार से भित्ति के चयकर्म को यथाविधि दृढ़ीकृत करके कार्य को जानने वाले प्रमुख तक्षकों को भी जान लेना चाहिए— ऐसा कहा गया है।

इति विश्वकर्मप्रणीते विश्वकर्मवास्तुशास्त्रे भूमिग्रहणकथनं नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ 6 ॥

इस प्रकार विश्वकर्माप्रणीत विश्वकर्मवास्तुशास्त्र में भूमिग्रहण कथन नामक छठवाँ अध्याय पूर्ण हुआ।



अथ ग्रामलक्षणकथनं नाम

सप्तमोऽध्यायः ॥ 7 ॥

अथ समग्रग्रामलक्षणात्मकं सप्तमाध्यायमारभते। देवनृपगवादीनां वासभूमिर्वास्तु संज्ञेति शिल्पवेत्तारः —

देवतानां नराणाञ्च गजगोवाजिनामपि।
निवासभूमिश्शिल्पज्ञैर्वास्तुसञ्ज्ञमितीर्यते ॥ 1 ॥

देवताओं, मनुष्यों, हाथी, गायों, घोड़ों के लिए निवास भूमि को शिल्पज्ञों ने वास्तुभूमि के नाम से कहा है।

वास्तुभूर्विविधा ख्याता स्थलभेदात्क्वचित्क्वचित्॥ 2॥

यह वास्तुभूमि आवास, भवनादि भी स्थलभेद के कारण कहीं-कहीं विविध रूपों में विख्यात रही है।

प्रशस्ताप्रशस्ताकारमाह—

चतुरश्रायता भूमिर्वर्तुला च त्रिकोणगा।
मर्दलाकारवत्येषा प्रशस्ता वास्तुकर्मणि॥ 3॥
निम्नोन्नता च या भूमिश्शिरोहीना च भूरपि।
वक्राकृतिश्च भूरन्या वर्ज्या सर्वेषु कर्मसु॥ 4॥

इनमें कहीं भूमि चतुराश्रययुता या चौकोर, कहीं पर वर्तुलाकार या गोलाकार, कहीं पर त्रिकोणाकार, कहीं मर्दलाकार है। ये वास्तुकर्म के लिए प्रशस्त हैं। इसके अतिरिक्त ऊँची-नीची भूमि वास्तुकर्म के लिए उचित नहीं है। शिरोहीन या ऊँचाई रहित तथा वक्राकृति या टेढ़ी-मेढ़ी आकार वाली भूमि भी समस्त वास्तुकर्म में वर्जनीय मानी गई है।

सम्प्राप्य चोत्तमां वास्तुभूमिं निर्माणकोविदः।
सम्प्राप्तद्रव्यराशिश्च यतेत पृथुकर्मणि॥ 5॥

ऐसे में निर्माणकार्य करने वाले दक्ष शिल्पी को चाहिए कि वह उत्तम वास्तुभूमि को चुनकर और समुचित धन और आवश्यक सामग्री का प्रबन्ध करके ही बृहद् कार्य करने के लिए तत्पर हों।

अथ द्वादशधा ग्रामभेदमाह —

आद्यस्तु मण्डकग्रामः प्रस्तरस्तदनन्तरम्।
बाहुलीकस्तृतीयस्तु पराकस्तु चतुर्थकः॥ 6॥
चतुर्मुखः पञ्चमः स्यात् षष्ठः पूर्वमुखस्तथा।
सप्तमो मङ्गलग्रामस्त्वष्टमो विश्वकर्मकः॥ 7॥
नवमो देवराड्ग्रामो विश्वेशो दशमो मतः।
एकादशस्तु कैलासो द्वादशो नित्यमङ्गलः॥ 8॥
इत्येवं द्वादश ग्रामाः शिल्पशास्त्रे प्रकीर्तिताः।

एतेषां ग्रामवर्गाणां लक्षणं कीर्त्यते क्रमात्॥ 9॥

अब ग्राम निवेश के उद्देश्य से बारह प्रकार के ग्रामों के नाम कहे जा रहे हैं— 1. मण्डक ग्राम, 2. प्रस्तर ग्राम, 3. बाहुलिक, 4. पराक, 5. चतुर्मुख, 6. पूर्वमुख, 7. मङ्गल ग्राम, 8. विश्वकर्म ग्राम, 9. देवराट् ग्राम, 10. विश्वेश ग्राम, 11. कैलास ग्राम और 12. नित्यमङ्गल ग्राम। ये समस्त बारह प्रकार के ग्राम शिल्पशास्त्र में वर्णित हैं। अब इन सभी ग्रामों के लक्षणों को क्रमशः कहा जा रहा है।

तत्र प्रथमस्य मण्डकग्रामस्य लक्षणम् —

प्राचीं गता मुख्यवीथी वारुणीं स्पृशते यदि।
अन्याभिस्तिसृभिर्युक्ता स्थली स्यान्मुख्यवास्तुषु॥ 10॥
वारुण्यां देवतागारं विन्यसेच्च क्रमाद्यदि।
विप्रैरधिकसङ्ख्याकैर्मण्डकग्राम ईरितः॥ 11॥

(सर्वप्रथम मण्डकग्राम का लक्षण कहते हैं) अच्छी वास्तुभूमि पर जहाँ पूर्व दिशा में मुख्य वीथी (गली या मार्ग) बना हो और जो पश्चिम तक जाती हो, *(टीका के अनुसार)* वारुणी दिशा में शिव अथवा विष्णु के मन्दिर निर्मित हों और ऐसे मन्दिरों को मुख्य वीथी चतुर्दिक घेरे हुए हो, कुबेर उत्तर में, इन्द्र पूर्व में, यम दक्षिण में हो, इन तीनों ही दिशाओं में होती हुई अन्य बहुत-सी चौड़ी वीथियाँ हों और इन स्थानों में इतर जनों की अपेक्षा विप्रों के परिवारों की अधिक बस्ती हो, उसे मण्डक ग्राम के नाम से कहा है।

अथ द्वितीयस्य प्रस्तरग्रामस्य लक्षणम् —

प्राक्प्रतीचीप्रतोल्यस्तु चतस्रः सम्मुखान्विताः।
तथैव यत्र सम्भक्ता दक्षिणाधनदाशयोः॥ 12॥

(द्वितीय प्रस्तरग्राम का लक्षण कहते हैं) जिस ग्राम में पूर्व व पश्चिम में प्रतोली हो और पूर्व से आरम्भ करके पश्चिम दिशा की ओर चार वीथियाँ जाती हों और इसी प्रकार दक्षिण दिशा से आरम्भ करके उत्तर दिशा तक चार वीथियाँ जाती हों (ऐसे ग्राम को प्रस्तर ग्राम कहा जाता है)।

मध्यगा सैव वीथी तु मध्यवीथीति गद्यते।
मध्यभागस्थितं शर्वमन्दिरं सुन्दराकृतिम्॥ 13॥

इस प्रकार के प्रस्तर ग्राम में सभी वीथियों पर बनने वाले गृहों को परस्पर

एक-दूसरे के सम्मुख नियोजित करना चाहिए। इन सर्वत्र वीथियों पर यदि कोई मध्य में तिर्यक् अथवा आड़ी-टेढ़ी वीथिका हो तो उसे मध्यवीथी कहते हैं। ऐसे ग्राम के मध्य भाग में शिव मन्दिर का निर्माण कार्य बहुत सुन्दर आकृति में होना चाहिए।

परिखाकारवीथी वा परितः परिघापि वा।
पूर्वद्वारसमोपेतं प्रत्यग्भागजलाशयम्॥ 14॥

ऐसे ग्राम के चारों ओर लघुपरिखा अथवा परिखाकार वीथिका चारों ही ओर से घेरती हुई कल्पित करनी चाहिए। फिर भी, इस ग्राम की पूर्व दिशा में ही मुख्य मार्ग की रचना होनी चाहिए और पश्चिम दिशा में जलाशय आदि होने चाहिए।

विपणिश्चाप्यथैशान्यां बहुवस्तुसमावृता।
विप्रैरधिकसङ्ख्याकैस्स युक्तः प्रस्तरो मतः॥ 15॥

इसमें वणिक्-वीथी के कार्य (व्यापार-कृषि विपणनादि) ईशान कोण में ही करने चाहिए। इसमें बहुवस्तु की दुकानें भी हों। ऐसे ग्राम में विप्रों की बहुलता होने से इसे प्रस्तर ग्राम कहा जाता है।

अथ तृतीयस्य बाहुलिकग्रामस्य लक्षणम् —

प्राक्प्रतीच्योः पञ्च वीथ्यो वर्तन्ते विपुला यदि।
तथैव याम्यां कौबेरीमाश्रिताः पूर्वदिङ्मुखाः॥ 16॥

जिस ग्राम में पूर्व दिशा की ओर से आरम्भ कर पश्चिम दिशा की ओर पाँच वीथियाँ, राजमार्ग पर्याप्त चौड़ाई में विस्तृत हो; उसी प्रकार दक्षिण और उत्तर दिशाश्रित पूर्व की ओर मुख वाली बस्ती हो।

लघुवप्रेण संयुक्तो विपण्यादिभिरावृतः।
मध्ये शिवस्थलोपेतो दक्षिणस्थजलाशयः॥ 17॥

इसी प्रकार जिसमें लघुवप्र या छोटी गलियों से युक्त विपणन के लिए दुकानें आदि हों, उसके मध्य भाग में शिवमन्दिर बना हो और दक्षिणी भाग में जलाशय हो।

नानाजातिभिराकीर्णो ग्रामपालालयान्वितः।
सस्यभूमिसमायुक्तो ग्रामो बाहुलिकः स्मृतः॥ 18॥

उसमें नाना जातियों के लोगों की बसावट हो और ग्रामपाल (जैसे मुखिया,

पटवारी आदि) वहीं पर रहता हो तथा जिसके चारों ओर खेती-बाड़ी होती हो— ऐसे ग्राम को बाहुलिक ग्राम के नाम से जाना जाता है।

अथ चतुर्थस्य पराकग्रामस्य लक्षणम् —

एकवीथ्या समायुक्तः कौबेर्यामैशगेहभाक्।
सहस्रजनता यत्र विप्रहीना च भण्यते॥ 19॥

(अब चतुर्थ पराकग्राम का लक्षण कहते हैं) केवल एक ही मुख्य वीथी युक्त जो बस्ती उत्तर दिशा की ओर से ऐशगेह या शिवालय वाली हो और जहाँ जनता में विप्रों की संख्या कम व अन्य जातियों की बहुलता हो, इस प्रकार जहाँ लगभग हजार जनसंख्या हो;

यस्यां जलाशयोपेतः कार्षिकैर्बहुभिर्युतः।
पश्चिमद्वारसंयुक्तः परिखासंवृतोऽपि वा॥ 20॥

जहाँ दक्षिण दिशा की ओर जलाशय हो और प्रायः जहाँ खेतीहर लोगों की ही बहुलता हो जिनके मकानों के द्वार पश्चिममुखी हो और जिसके चारों ही ओर परिखा की निर्मिति हो;

याम्यभाग्विपणिश्चैव शालीसस्यरसान्वितः।
सोऽयं ग्रामश्शास्त्रविद्भिः पराक इति कीर्त्यते॥ 21॥

इसके साथ ही दक्षिणी भाग में वणिक्-वीथी या दुकानें-बाजार हों और जहाँ चावल की खेती और रसान्वित गन्ने की खेती होती हो— ऐसे ग्राम को शास्त्रविदों ने पराक के नाम से कहा है।

अथ पञ्चमस्य चतुर्मुखग्रामस्य लक्षणम्—

चतुर्दिक्स्थचतुर्द्वारं मध्यभाग्देवमन्दिरम्।
पञ्च वीथ्यः प्रतिदिशमथवा द्वादश स्मृताः॥ 22॥

(पञ्चम चतुर्मुख ग्राम का लक्षण कहते हैं) चारों ही दिशाओं में जिसके बड़े द्वार बने हो, मध्य भाग में देवालय हों और जिसमें प्रत्येक दिशा की ओर पाँच अथवा बारह वीथियों की रचना हो;

लघुवप्रेण संयुक्तो नानाजातिजनान्वितः।
ऐन्द्र्यामपि च वारुण्यां वाप्यादिजलसंयुतः॥ 23॥

जहाँ पर लघुवप्रेण संयुक्त या छोटे कर्मकर व्यापारियों से युक्त बस्ती हो, जो

अनेक प्रकार की जातियों के लोगों से युक्त हो *(टीका के अनुसार)* जैसे कि कुलाल, कुम्भकार, अम्बष्ट, रजक और ग्रामकाज करने वाले धुरन्धर कारीगर रहते हों; प्रायः ऐसा ग्राम जो सस्यभूमि वाला हो एवं जिसके पूर्व और पश्चिम दिशा में बावड़ी आदि जलस्रोत हों;

दक्षिणस्यां पण्यवीथी तत्रैव ग्रामपालकाः।
भूपालाज्ञाकरी शाला कौबेर्यां कल्पिता यदि॥
सोऽयं ग्रामश्शास्त्रविद्भिश्चतुर्मुख इतीरितः॥ 24॥

जिसके दक्षिण दिशा की ओर पण्यवीथी या बाजार हों और जहाँ पर ग्रामपालक अधिकारी का कार्यालय स्थित हों एवं उत्तर दिशा में राजा के आज्ञाकारी अधिकारियों की कार्यशाला हो— ऐसे ग्राम को शास्त्रवेत्ताओं ने चतुर्मुख ग्राम कहा है।

अथ षष्ठस्य पूर्वमुखग्रामस्य लक्षणम् —

प्राच्यां मुखद्वारयुतः परिखावृतवास्तुकः।
वैश्यसङ्ख्याधिक्ययुतः पण्यवीथीभिराकुलः॥ 25॥

(षष्ठ पूर्वमुख ग्राम का लक्षण कहते हैं) पूर्व दिशा की ओर मुख किए हुए द्वारों वाली और परिखायुत बस्ती जहाँ पर संख्या में वैश्यों की अधिकता हो और जहाँ पर पण्यवीथी या बाजार भी विस्तृत हो;

नानाजातिभिराकीर्णो नृपालयसमन्वितः।
उदीच्यामथ वारुण्यां देवतायतनं शुभम्॥ 26॥

जहाँ पर नाना जातियों के आवासों की अधिकता हो और नृपालय-राजमहल बना हुआ हो तथा उत्तर एवं पश्चिम दिशा में शुभ देवमन्दिर बने हुए हों;

तत्र तत्र जलोपेतत्रिंशद्वीथीभिरावृतः।
उपवीथीयुतो वापि पुरद्वारेण संयुतः॥ 27॥

जहाँ यत्र-तत्र जलाशय हों और जो तीस वीथियों से आवृत्त हों तथा उपवीथियों के साथ ही बाहर की ओर नगर-द्वारों की रचना हो;

ग्रामकार्यकरैरन्यैः संयुतश्च समन्ततः।
नाम्ना पूर्वमुखग्रामः कथितोऽयं महर्षिभिः॥ 28॥

जहाँ ग्रामकाज के लिए तरह-तरह के कर्मकर या कारीगर चारों ही ओर बसे

हुए हों— ऐसे लक्षणों वाले ग्राम को महर्षियों ने पूर्वमुख ग्राम कहा है।

अथ सप्तमस्य मङ्गलग्रामस्य लक्षणम् —

प्राच्यामपि च वारुण्यां मुखद्वारसमन्वितः।
प्राचीदिशः प्रतीचीगाश्चतस्रो वीथिकास्तथा॥ 29॥
याम्यकौबेरगा वीथ्यः षड्भागेन समन्विताः।
चतुर्विंशत्प्रतोलीभिर्युक्तः परिखयावृतः॥ 30॥

(सप्तम मंगल ग्राम का लक्षण कहते हैं) जिसमें पूर्व या पश्चिम दिशा की ओर मुख्य द्वार वाले भवन हों; जिसमें पूर्व से पश्चिम दिशा की ओर जाती वीथियाँ हों और दक्षिण तथा उत्तर दिशा की ओर जाती हुई छह भागों वाली वीथियाँ ग्राम को छह भागों में विभाजित करती हों एवं प्रत्येक भाग स्थल पर चौराहे सड़कों से बनते हों, ऐसे ग्राम के चारों ही ओर परिखा या गहरी खाई बनी हुई हों;

प्रतीच्यां मध्यभागे वा देवतायतनं शुभम्।
गोपुरेण समायुक्तो ग्रामान्तरपथा युतः॥ 31॥
नानाजातिभिराकीर्णो विपण्यादिभिरावृतः।
मठमण्टपसंयुक्तो जलाधारसमन्वितः॥
नाम्नायं मङ्गलग्रामो भण्यते शास्त्रपारगैः॥ 32॥

जिसमें पश्चिम दिशा के भाग में अथवा मध्य भाग में देवताओं के शुभ मन्दिर हों तथा जिसके अन्तर पथ गलियाँ इत्यादि गोपुरों से युक्त हों; ऐसे ग्राम में नाना प्रकार की जातियों वाले लोगों की बसावट हो एवं बाजार आदि हों; साथ ही साधुओं के लिए आश्रय व ब्रह्मचारियों के लिए मठ एवं उत्सवों के लिए मण्टप (उत्सव-मण्डप) बने हुए हों; ऐसे ग्रामों में सभी वीथियों पर जलाधार कूप-बावड़ियाँ आदि बनी हो तो उन्हें शास्त्रविदों ने मङ्गल नामक ग्राम कहा है।

अथाष्टमस्य विश्वकर्मग्रामस्य लक्षणम्—

नदीतीरगता प्रायः उत्तमा वास्तुभूरपि।
पूर्वपश्चिमगं द्वारमथवा दक्षिणोत्तरम्॥ 33॥

(अष्टम विश्वकर्म ग्राम का लक्षण कहते हैं) प्रायः नदी के किनारे पर बसी हुई वास्तुभूमि उत्तम होती है, जिसके भवनों के द्वारों के मुख पूर्व अथवा पश्चिम दिशा की ओर हो या दक्षिण व उत्तर दिशा की ओर हो;

भूलाभे द्वाचतुष्कं स्याद्वप्रेणापि समावृतम्।
चतुरश्रा वास्तुभूमिरथवा दैर्घ्यमानिता ॥ 34 ॥

ऐसे ग्राम की भूमि प्राप्त होने पर चारों दिशाओं में चार द्वारा और वप्र-परकोटे से घिरी हुई होनी चाहिए। इसकी भूमि चतुरस्रा और दीर्घमान वाली होती है; (इसमें पूर्व-पश्चिम की ओर जाते हुए मार्ग समसूत्र या सीध में होते हैं);

वारुण्यामैशगेहेन विपुलेन समन्वितम्।
कालीभवनकेनापि प्राच्यां दिशि समन्वितम् ॥ 35 ॥

इसमें पश्चिमी दिशा में ईशगेह या शिवालय अति विस्तृत क्षेत्र वाले हो तथा इनमें से किन्हीं ग्रामों में पूर्व की ओर काली के भवन या कालिकामन्दिर हो;

वापीकूपादिकैर्युक्तं निष्कुटैश्च समावृतम्।
दक्षिणोत्तरगा वीथ्यो द्वात्रिंशत्सङ्ख्यगा मताः ॥ 36 ॥

इसी तरह सर्वत्र वापी-कूपादि जलस्रोत एवं बाग-बगीचे, निष्कुट आदि हों और दक्षिण से उत्तर की ओर जाती हुई बत्तीस वीथियाँ हों;

प्राक्प्रतीचीगता वीथ्यष्षट्संख्याश्च (नियोजिताः)।
तत्तत्स्थलवशात्क्षुद्रवीथिका च प्रकीर्तिता ॥ 37 ॥

इसी प्रकार पूर्व से पश्चिम दिशा की ओर जाने वाली छह वीथियाँ हों और जहाँ तहाँ यथावश्यकता लघु वीथियाँ या गलियों की विद्यमानता हो;

मठमण्टपसंयुक्तं वैद्यालयसमन्वितम्।
पक्षद्वयगृहोपेता वीथ्यस्तास्सम्प्रकीर्तिताः ॥ 38 ॥

जहाँ पर साधुओं, तपस्वियों, ब्रह्मचारियों के निवास, अध्ययन-अध्यापन के लिए मठ एवं देवताओं के उत्सवों के लिए मण्डपों की रचना हो; जहाँ पर स्वास्थ सुविधा की दृष्टि से औषधालय भी हों; जहाँ पर गृहों के उभयपक्ष में सड़कों या वीथियों की परिकल्पना की गई हो;

षट्सहस्रावधिजनैरावृतञ्च समन्ततः।
नरपालालयोपेतं न्यायवित्सभया युतम् ॥ 39 ॥

ये ग्राम इतने विशाल और उन्नत बसाए जाते हैं कि उनकी आबादी लगभग छह हजार के आसपास की हो और जहाँ पर राजा के महल, न्यायालय, जनसुनवाई के लिए सभागृह हों;

ग्रामकार्यकरैस्त्यवैरन्वितञ्च वणिग्गणैः।
पण्यवीथीभिराकीर्णं धनिकैश्च समन्वितम्।
वास्तुचिह्नमिदं नाम्ना विश्वकर्मेति चोदितम्॥ 40॥

ऐसे ग्राम जहाँ पर ग्रामकाज में रत रहने वाले कर्मकर, कारीगर और व्यापार के लिए वणिकों की चतुर्दिक स्थिति हो, वणिक् वीथी या बाजार सड़क के चतुर्दिक विस्तीर्ण हों, ऐसे वास्तुचिह्नों से परिकल्पित होने वाले ग्राम को विश्वकर्मा नाम से जाना जाता है। (यह ग्राम का आठवाँ प्रकार होता है)।

अथ नवमस्य देवशाग्रामस्य लक्षणम् —

कालीहरिहरादीनां दिक्पालानाञ्च सर्वशः।
देवायतनसंयुक्ता प्राक्पश्चिममुखान्विता॥ 41॥

(अब नवम देवग्राम का लक्षण कहते हैं) ऐसे ग्राम जिसमें अम्बिका कालिका, भगवान् विष्णु व भगवान् शिव सहित दिक्पालों के अपने-अपने देवालय हों और जो पूर्वमुखी या पश्चिमाभिमुख द्वार सहित बसे हुए हों;

विशेषतो जलोद्गारिभूरियं परिकीर्तिता।
पक्षद्वयगृहोपेताः त्रिंशद्वीथ्यः प्रकीर्तिताः॥ 42॥

जिस ग्राम की भूमि पर जलस्रोतों की विशेष रूप से विद्यमानता हो और मार्गों के उभयपक्षों पर गृहों की कतारें तथा तीस वीथियों की परिकल्पना की गई हो;

वीथीद्वयञ्चैकपक्षमैच्छिका क्षुद्रवीथिका।
नानाजातिभिराकीर्णा मण्टपारामसंवृता॥ 43॥

इनमें भी एक-एक पक्ष में दो वीथियाँ या क्षुद्र वीथियाँ अथवा छोटी-छोटी गलियाँ नियोजित की गई हों जो कि जनता के लिए सुगमताकारक हों, जहाँ पर नाना जातियों की बसावट हो और उत्सवों के लिए मण्टप एवं आराम-उद्यानों की रचना की गई हो;

पण्यजीविभिराकीर्णा शिल्पज्ञैरपि भूषिता।
धनाढ्यसदनोपेता गोवाजिगणसङ्कुला॥
वास्तुभूमिरियं नाम्ना देवेशग्राम ईरितः॥ 44॥

इसी प्रकार जहाँ व्यापारी क्रय-विक्रय से जीविका चलाते हुए बसे हुए हों और अनेक प्रकार की शिल्पकला को जानने वाले शिल्पीगण शोभायमान हों, जहाँ

धनाढ्यों के गृहों की बहुलता के साथ-साथ गो, अश्वादि के समूहों की बाहुलता हों— ऐसी वास्तुभूमि को देवेश ग्राम कहा जाता है।

अथ दशमस्य विश्वेशग्रामस्य लक्षणम् —

दक्षिणोत्तरगाः पञ्च वीथ्यस्सुविपुला यदि।
प्राक्प्रतीचीगताः पञ्च वीथ्यश्च क्षुद्रकोणगाः ॥ 45 ॥

जहाँ पर दक्षिण और उत्तर दिशा की ओर जाती हुई पाँच वीथियाँ पर्याप्त चौड़ाई लिए हुए हों और ऐसी ही पाँच वीथियाँ पूर्व से पश्चिम की ओर जाती हुई एवं कोणों पर से लघु वीथियाँ हों;

प्राकारेण समायुक्तमैशगेहं तु मध्यमम्।
वणिग्जनसमाकीर्णं परिखाद्यैस्समन्वितम् ॥ 46 ॥

ऐसे ग्राम जिनके चारों ही ओर प्राकार या परकोटा बना हुआ हो एवं जिसके मध्यभाग में ईशगेह या भगवान् शिव का मन्दिर बना हुआ हो; जहाँ वणिक् जनों की बहुलता हो और बाहर परकोटे के समानान्तर परिखा या खाई खुदी हुई हो;

मठमण्टपकूटाद्यैश्शिल्पशालादिभिर्युतम्।
द्विसहस्त्रजनोपेतं यद्वास्तु परिगण्यते ॥ 47 ॥
नाम्ना विश्वेश्वरग्रामः कथितो विबुधोत्तमैः ॥ 48 ॥

ऐसे ग्राम में साधु-सन्तों, ब्रह्मचारियों के लिए मठ, उत्सवों के मण्डप बने हुए हों और कूट (शिखर) सहित शिल्पशालादि की विद्यमानता हो; जहाँ की आबादी दो हजार लोगों की हो— वास्तु परम्परा में इस प्रकार से निवेशित किए गए ग्राम को ज्ञानियों द्वारा विश्वेश्वर ग्राम कहा जाता है।

अथैकादशस्य कैलाशग्रामस्य लक्षणम् —

समुद्रतीरगां भूमिमथवा गिरिसानुगाम्।
वर्तुलां वास्तुभूमिं वा चतुरश्रामथापि वा ॥ 49 ॥

समुद्र के किनारे अथवा पहाड़ियों की उपत्यकाओं वाली वर्तुलाकार वास्तुभूमि जो चौकोर हों;

उत्तमां भूमिमासाद्य भवनादि कृते शुभम्।
मुख्यमार्गयुतं प्राच्यां परिखावप्रयुक्तथा ॥ 50 ॥

उत्तम भूमि को साधकर जहाँ पर शुभ भवनों का निर्माण किया गया हो;

जिसमें मुख्यमार्ग हों और पूर्वभाग में परिखा एवं परकोटा बना हुआ हो;

देवतायतनं मध्यवास्तुगं गोपुरान्वितम्।
वापीकूपतटाकादि वारुण्यां कल्पितं यदि॥ 51॥

जिसके मध्यभाग में देवायतन हों और गोपुरों से युक्त हों, जहां पर पश्चिम में वापी, कूप, जलाशय आदि बनाए गए हों;

वणिग्जनसमाकीर्णं निषद्यादिभिरन्वितम्।
ब्राह्मणैस्समतां यातैरन्यैश्च बहुभिर्युतम्॥ 52॥

जहाँ पर वणिकों, श्रेष्ठियों की बहुलता हो और निषद्यादिभिरन्वितं अर्थात् दुकानें, हाट-बाजार (या निषादों की स्थिति हों) तथा ब्राह्मणों के समान ही अन्य जाति समुदाय की बसावट हो;

दक्षिणोत्तरगं वीथीचतुष्कं विपुलं मतम्।
स्थलानुकूलं निर्माय चोपवीथीश्च सर्वतः॥ 53॥

जहाँ दक्षिण से उत्तर की ओर जाती हुई वीथियों या सड़क-मार्गों पर चतुष्क या चौराहे पर्याप्त विशालरूप से बने हुए हों, स्थलानुकूल चारों ओर उपवीथियाँ या छोटे मार्ग-गलियाँ निकली हुई हों;

प्राक्प्रतीचीगता वीथीः कल्पयेत्स्वेच्छया बुधः।
तद्वास्तु विबुधैः प्रोक्तं नाम्ना कैलासनामभाक्॥ 54॥

इसके अतिरिक्त जहाँ पर पूर्व-पश्चिम की ओर ज्ञानियों ने स्वेच्छानुरूप वीथियों की रचना की हो— ऐसे ग्रामवास्तु को विद्वानों ने कैलास ग्राम कहा है।

अथ द्वादशस्य नित्यमङ्गलग्रामस्य लक्षणम् —

चतुर्दिक्स्थचतुर्द्वारं महागोपुरसंयुतम्।
महापथेर संयुक्तं सर्वतः परिखावृतम्॥ 55॥

ऐसा ग्राम जिसकी चारों दिशाओं में चार विशालकाय द्वार, महागोपुर शोभाजनक बने हुए हों और जिसमें महापथ या राजमार्ग हों, साथ ही चतुर्दिक परिखा या खाई खुदी हुई हो;

वीथ्यष्टक$_8$ समोपेतचतुर्भागसमन्वितम्।
मघवन्मित्रवरुणयक्षाख्याधिपसंयुतम्॥ 56॥

जिसमें आठ वीथियों की रचना हो और जो ग्राम के कुल क्षेत्रफल के चौथाई आकार वाली हों अर्थात् एक-एक भाग में आठ-आठ सड़कें हों, इसी तरह चारों भागों में बत्तीस विशाल वीथियाँ या सड़कें हों (छोटी गलियाँ नहीं हों); इस वास्तुभूमि पर चौराहों पर इन्द्र, मित्र, वरुण, कुबेर आदि मुख्य आधिदेवता के एक-एक भाग में उन-उन देवताओं के मन्दिरों की रचना हो;

सर्वभागास्तुल्यमाना नोपवीथ्यादि कीर्तितम्।
हरेर्हरस्य देवीनां काल्यादीनां रवेरपि॥ 57॥

जिसमें सभी भाग तुल्यमान वाले, बराबर लम्बाई-चौड़ाई वाले हों और उनमें कोई भी उपवीथी, गलियाँ नहीं बनाएँ किन्तु इन भागों में विष्णु, शिव और देवियों में कालिका, दुर्गा आदि के साथ-साथ सूर्यदेव के मन्दिर हों;

गोपुरेण समायुक्तं सभामण्टपसंयुतम्।
तटाकाद्यैस्समायुक्तं भवनं मध्यवास्तुभाक्॥ 58॥

इन मन्दिरों के गोपुर बड़े सुन्दर बने हुए हों तथा वहाँ पर सभागार, उत्सवी मण्डप हों; जलाशयों के लिए उक्त ग्राम में तालाब, वापी आदि भवनों की बस्ती के मध्य भाग के वास्तुविधान के साथ हों;

षट्सहस्राधिकजनैः संयुतं च समन्ततः।
वणिग्जंनसमाकीर्णं तन्तुवायादिभिर्युतम्॥ 59॥

जहाँ पर छह हजार की जनसंख्या चारों ओर बसी हों एवं व्यापारियों में तन्तुवायादि, जुलाहों-बुनकरों के रेशम आदि कारोबारी बसे हुए हों;

ग्रामकार्यकरैस्सर्वैरन्यैश्च बहुभिर्युतम्।
नरपालालयोपेतं न्यायवित्सभया युतम्॥
निर्माणं यत्र स ग्रामो नित्यमङ्गलनामभाक्॥ 60॥

इति द्वादशधा ग्रामलक्षणम्।

इसी प्रकार जहाँ ग्रामकाज करने वाले कारीगर भी बहुतायत से बसे हुए हों अर्थात् ऐसी बस्ती जो पूरी तरह आत्मनिर्भर हो; जहाँ राजा और राज्याधिकारियों के कार्यालय आदि बने हुए हों; न्यायालय का सभाभवन भी हों— इस प्रकार से निर्मित-नियोजित ग्राम को नित्यमङ्गल नाम से जाना जाता है। इस प्रकार यहाँ बारह प्रकार के ग्रामों के लक्षणों को बताया गया है।

अथ शिल्पकार्याणामत्यन्तो प्रयोगिमानलक्षणमाह —

इष्टिका च शिला दारुरयःकीलादयोऽप्यमी।
वास्तुकर्मणि चान्यत्र वस्तुसञ्ज्ञमुदीरितम्॥ 61॥

ईंट, पाषाण, काष्ठ, लोहधातु निर्मित कील-खूँटे और भवन निर्माण के काम में आने वाली तथा अन्यत्र काम में आने वाली चीजों को वस्तु के नाम से कहा जाता है।

तद्वस्तु मानयेच्छिल्पी मानदण्डेन सर्वतः।
तस्मान्मानं शिल्पिवर्गैरवश्यं ज्ञेयमीरितम्॥ 62॥

इन वस्तुओं के लिए मान-नाप-तौल को शिल्पीवर्ग द्वारा मानदण्ड (गज, हस्त) से सर्वतः काम में लिया जाता है। इसलिए शिल्पीवर्ग में मान की जानकारी सम्यक् प्रकार से होनी चाहिए।

मानज्ञानविहीनैस्तु कर्म कर्तुं न शक्यते।
कृतश्च कर्म वैफल्यं भजते नात्र संशयः॥ 63॥

उन्हें मानक ज्ञान अवश्य होना चाहिए क्योंकि मान के ज्ञान के अभाव में किए गए कार्य की विफलता होती है अर्थात् मान-प्रमाण के अभाव में किया गया कार्य विफल होता है, यह निश्चित है।

तन्मानं बहुधा प्रोक्तं तज्ज्ञेयं सूक्ष्मचक्षुषा।
स्वर्गे लोके मानमादौ गुरुणा सम्प्रकीर्तितम्॥ 64॥
विविधं तच्च मघवा प्रोक्तवान्सुरसंसदि।
दैवेन नन्दिना तच्च बहुधाविष्कृतं पुरा॥ 65॥

यह मान बहुत प्रकार का कहा गया है, उसे सूक्ष्म दृष्टि से जानना आवश्यक है। आदिकाल में स्वर्गलोक में मानादि प्रमाणों को देवगुरु बृहस्पति ने इन्द्र देवता को कहा था, उसी मान-ज्ञान को नन्दिदेव भगवान् ने पुनः बहुत प्रकार से समझाकर कहा है, उसे सूक्ष्म दृष्टि से समझना चाहिए। उसी ज्ञान को इन्द्र ने विविध प्रकार से देवताओं की संसद में कहा था। उस बहु प्रकारेण पूर्व-आविष्कृत ज्ञान देवताओं ने भी नन्दी के प्रति कहा था।

तदैव विविधं प्रोक्तं नारदेन महर्षिणा।
मानमेवं बहुविधं कथितं पूर्वसूरिभिः॥ 66॥

इसी तरह महर्षि नारद ने उस ज्ञान को विविध प्रकार से कहा था और

पूर्वसूरियों या महापुरुषों ने मानज्ञान को बहुत विधियों का कहा है।[1]

देवमानुषभूपालप्रासादेषु गृहेषु च।
मण्टपेषु विमानेषु गोपुरे तोरणेऽपि च॥ 67॥
सोपानेषु प्रतोलीषु वापीकूपादिकेषु च।
विविधासु च शालासु चन्द्रशालादिकासु च॥ 68॥
डोलादिषु गवाक्षेषु खट्वासु प्रतिमासु च।
उपपीठेषु पीठेषु सिंहवक्त्रादिकेषु च।। 69॥

शिल्पियों के लिए ज्ञातव्य है कि देवालय, मनुष्यालय, राज्ञालय-महल, गृहों, मण्डप, विमान-यान, गोपुर, तोरण, सीढ़ियों, पोलों-प्रतोलियो, वापी-कूप-जलाशय, चन्द्रशाला सहित अन्य विविध प्रकार की शालाओं, डोला-पालकियों-मञ्चकियों, गवाक्ष, खाट-पर्यङ्क, प्रतिमा, पीठ-उपपीठ-बाजोट-कुर्सी, सिंहासन आदि के लिए आवश्यक मान ग्रहण करके ही कार्य करना चाहिए।

अन्येषु शिल्पकार्येषु यन्मानं तच्च योजयेत्।
मानाभावे क्रियादीनां न शोभा न बलाकिदम्॥ 70॥

इसके अतिरिक्त और भी जो शिल्प और उनका जो-जो भी मान हो, उसे योजित करना चाहिए क्योंकि मान के अभाव में किए गए कार्य की न तो शोभा होती है न ही ऐसे शिल्प में कोई स्थिरता या दढ़ता ही होती है।

द्रव्यनाशश्चापयशो भवत्येव न संशयः।
तस्मान्मानं शिल्पिवर्गैरवश्यं ज्ञेयमीरितम्॥ 71॥

मानज्ञान से रहित किए गए शिल्पकर्म में केवल द्रव्य का विनाश ही होता है

---

१. श्लोक 64-66 में मान-प्रमाण की परम्परा दी गई है। मान के सम्बन्ध में यहां बार्हस्पत्य मान-धारणा का प्रतिपादन किया गया है जो इन्द्र के प्रति कहा गया और जिसे पुनः नन्दी ने कहा। यहीं पर नारदीय मान-प्रमाण के विषय में भी संकेत हुआ है। बार्हस्पत्य के आधार पर ही कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र की रचना की थी, उसमें मान-प्रमाण के लिए कहा गया है— अष्टौ परमाणवो रथचक्रविप्रुट। अष्टौ लिक्षा। ता अष्टौ यूकामध्यः। ते अष्टौ यवमध्यः। अष्टौ यवमध्या अङ्गुलम्॥ अर्थात्— आठ परमाणु एक रथरेणु के बराबर होते हैं, आठ रथरेणु एक लिक्षा, आठ लिक्षा एक यूकामध्य, आठ यूकामध्य एक यवमध्य तथा आठ यवमध्य एक अङ्गुलमान के बराबर होते हैं।

तथा च मत्स्यपुराणे— जालान्तरप्रविष्टामां भानूनां यद्रजः स्फुटम्। त्रसरेणुः स विज्ञेयो बालाग्रं तैरथाष्टभिः॥ तदष्टकेन लिख्या तु यूका लिख्याष्टकैर्मता। यवो यूकाष्टकं तद्वष्टभिस्तैस्तदङ्गुलम्॥ (अध्याय 258, 17-18)

एवं धन का अपव्यय होता है तथा शिल्पी को भी अपयश मिलता है, इसमें कोई संशय नहीं है। अतएव शिल्पीवर्ग को (अधोवर्णित) मान रीतियों का अवश्य ही ज्ञान होना चाहिए।

अथ अङ्गुलादिमानलक्षणम् —

परमाण्वादिमानन्तु प्रसिद्धं सुरसंसदि।
न ग्राह्यं नापि विज्ञेयं मानवैस्तु कदाचन॥ 72॥
तस्मान्मानवमानन्तु प्रोच्यते फलदायि तत्।
शालिव्रीहिस्तु सर्वत्र सिद्धमानोदयो मतः॥ 73॥

परमाणु से क्रमशः आरम्भ होने वाला आदि मान-प्रमाण देवताओं की संसद में ही ख्यात था। उसे (सामान्य) मानवों की बुद्धि के अनुसार कभी भी समझा नहीं जा सकता है। इसलिए मानवों के लिए जो मान फलदायी है, उसे कहते हैं।[१] जैसे कि भगवान् ब्रह्मा ने शाली-चावल, ब्रीहि-अनाज, गुञ्जाफल-रत्ति आदि सभी देशों में समान मान के एक जैसे नाप-तौल के पाये जाते हैं, इसलिए वह व्रीहि धान्यादि सभी मानों के सिद्ध माने गये हैं।

तैर्व्रीहिभिस्त्रिभिर्युक्तमङ्गुलं मानवं मतम्।
द्वादशाङ्गुलसंयुक्तो वितस्तिरभिधीयते॥ 74॥

उन व्रीहियों-धान चावल के दानों से तीन दानों के दीर्घता या लम्बाई के बराबर अंगुल का प्रमाण मानव-मान के अर्थ में कहा गया है। ऐसे मान के बारह अंगुलों का एक वितस्ति या बेंत होता है।

---

१. देवताओं के प्रसङ्ग में परमाणु मान क्रमशः 'यूका लीका च लीक्षा च बालाग्र रथरेणुका' प्रसिद्ध है। इसलिए समस्त वास्तुकर्म में ठीक-ठीक सभी को सुलभता से समझ में आ सके, ऐसे मान व मानों को कहा गया है। वास्तुविद्या में कहा गया है कि मान-प्रमाण में परमाणु आधारभूत इकाई है। उसी से उत्तरोत्तर वृद्धि करते हुए अङ्गुलमानादि ज्ञात होते हैं। परमाणु अति सूक्ष्म है जो योगियों को ही दृष्टिगत होता है— परमाणुः क्रमाद् वृद्धो मानाङ्गुलमिति स्मृतः। परमाणुरिति प्रोक्तो योगिनां दृष्टिगोचरः॥ (वास्तुविद्या 1, 4; तुलनीय मयमतम् 5, 2) वराहमिहिर ने कहा है— जालान्तरगे भानो यदणुतरं दर्शनं रजो याति। तद्विन्द्यात् परमाणुं प्रथमं तद्धि प्रमाणानाम्। परमाणुरजो वालाग्रलिक्षयूकं यवोऽङ्गुलं चेति। अष्टगुणानि यथोत्तरमङ्गुलमेकं भवति संख्या॥ (बृहत्संहिता अध्याय 58, 1-2)

उत्पलभट्टोद्धृतौ— जालान्तरगते भानौ यत् सूक्ष्मं दृश्यते रजः। प्रथमं तत्प्रमाणां परमाणुं प्रचक्षते॥ तस्माद्रजः कचाग्रं च लिक्षा यूका यवोऽङ्गुलम्। क्रमादष्टगुणं ज्ञेयं जिनसङ्ख्याङ्गुले करः॥ (सविवृत्तिबृहत्संहितायाम् 57, 2)

वितस्तिद्वयसंयुक्तं हस्तमानमुदीरितम्।
हस्तमानद्वयोपेतो धनुर्मुष्टिरितीरिता॥ 75॥

दो वितस्तियों का एक हाथ मान कहा जाता है और दो हाथ मानों की एक धनुष की मुष्टि कही जाती है।

धनुर्मुष्टिद्वयोपेतो दण्ड इत्यभिधीयते।
दण्डद्वयेन संयुक्तो नृपदण्ड इतीरितः॥ 76॥
नृपदण्डद्वयोपेतो ब्रह्मदण्ड इति स्मृतः।
इत्यादि बहुधा मानं शास्त्रेषूक्तं मनीषिभिः॥ 77॥

दो धनुर्मुष्टियों को एक दण्ड कहा जाता है। दो दण्डों को मिलाकर नृपदण्ड होता है। इस प्रकार नृपदण्ड या राजा के दो दण्ड के बराबर ब्रह्मदण्ड होता है। इस प्रकार बहुत प्रकार के मानों या नापों को शास्त्रों में मनीषियों द्वारा कहा गया है।

दारुणा पट्टवस्त्रेण लोहैर्वा वल्कलादिभिः।
मानसूत्रमिदं कार्यं शिल्पिभिश्शास्त्रपारगैः॥ 78॥

काष्ठ, पटिया सम्बन्धी मान, वस्त्र-कपड़ों का मान, लोहादि धातुओं का मान, वल्कल या सण आदि रस्सी का मान- इन सबका मानसूत्र शास्त्र पारंगत शिल्पियों को करना चाहिए।

एतादृशमानदण्डादिनां करणीयमाह —

बेरनिर्माणकार्येषु धनुर्मुष्टिरुदीरिता।
विमाने देवपीठेषु वह्निशालादिमासु च॥ 79॥
हस्तमानन्तु संयोज्यं कार्यज्ञैश्शिल्पिनां वरैः।

बेर या मूर्ति निर्माण के कार्य में धनुर्मुष्टि प्रमाण का प्रयोग होता है। विमान, मन्दिर शिखरों और प्रासादों में देवपीठों के मान, अग्निशाला में श्रेष्ठ कार्य के लिए ज्ञाता शिल्पी को हस्तमान या गज प्रमाण योजित करना चाहिए।

दण्डेन मानयेद्ग्रामनगरादीन्नृपेण वा॥ 80॥
घण्टापथश्च शृङ्गाटं चत्वरं मानवं गृहम्।
निषद्यां विपणिं मार्गशालां सस्यक्षितिं तथा॥ 81॥
दण्डेन क्ष्मापदण्डेन मानयेच्छिल्पकोविदः।

ग्राम, नगर आदि का निवेश-नियोजन नृपदण्ड मान के अनुसार किया जाता है अथवा घण्टापथ-राजमार्ग, शृङ्गाट-आने-जाने के मार्गों का, चत्वर-चौराहों, मानवगृहों, निषद्या-दुकानों, विपणी-मण्डी, पेढ़ियों, मार्गशाला-धर्मशाला या राह में रुकने का स्थान, सस्याक्षिति-धान्य संग्रह करने का स्थान-कोठार या खेती की भूमि का नाप शिल्पीगण दण्ड अथवा राजदण्ड के नाप से करते हैं।

पुष्कलं ग्राममानञ्च गिरिदुर्गवनानि च ॥ 82 ॥
तरङ्गिणीं तटाकञ्च नृपप्रासादकन्तथा।
उपकार्याञ्च विविधामवरोधांश्च शिल्पिराट् ॥ 83 ॥
मानयेनृपदण्डेन सर्ववास्तुप्रमाणवित्।

इसी प्रकार पुष्कल या बड़े ग्रामों के मान, पहाड़ों पर बनने वाले दुर्गों के मान, वनादि के मान, तरङ्गिणी-नाव, जलाशय, राजाओं के महलों और ऐसे ही छोटे-मोटे विविध प्रकार के कार्यों में, अवरोध-रणवासों के लिए गजधर-शिल्पी नृपदण्ड से मापन करते हैं। इस प्रकार के सब वास्तुओं के लिए प्रमाणविद् शिल्पी नृपदण्ड का ही प्रयोग करते हैं।

देवप्रासादशालादीन्ब्रह्मदण्डेन मानयेत् ॥
स्थिरधीरप्रमत्तश्च मानविच्छिल्पकोविदः ॥ 84 ॥

इसी प्रकार स्थिरबुद्धि वाले, अप्रमत्त मानविद्, शिल्पकोविद देवप्रासाद तथा शुद्धान्तादि शाला भवन आदि का मापन ब्रह्मदण्ड के प्रमाणानुसार करे।

अथ मण्डकादिग्रामवीथीनां मानकथनम् —

मण्डग्रामवीथीनां दैर्घ्यं दण्डशतं भवेत्।
दण्डद्वयेन वैशाल्यङ्कथितं शास्त्रपारगैः ॥ 85 ॥

अब मण्डकादि ग्रामों की वीथियों (सड़क, गली) के प्रमाणों के विषय में कहते हैं। मण्डक संज्ञक ग्राम की वीथियों की लम्बाई सौ दण्ड की होती है। उनकी चौड़ाई दो दण्ड के प्रमाण से शास्त्रविदों द्वारा कही गई है।

प्रस्तरग्रामवीथ्यस्तु शतद्वयसमन्विताः।
सार्धदण्डद्वयेनैव वैपुल्यमिह कीर्तितम् ॥ 86 ॥

प्रस्तर नामक ग्राम के लिए वीथी का प्रमाण दो सौ दण्ड होता है जबकि उनकी चौड़ाई ढाई दण्ड के बराबर आवश्यक कही गई है।

बाहुलीकग्रामवीथ्यो द्विशताधिकदैर्घ्यगाः।
दण्डत्रयेण वैपुल्यं तच्च प्रोक्तं बुधोत्तमैः॥ 87॥

बाहुलीक ग्राम के लिए वीथियाँ दो सौ दण्ड से भी अधिक लम्बाई वाली होती है और उनकी चौड़ाई तीन दण्ड प्रमाण की हो, ऐसा श्रेष्ठ विद्वानों ने कहा है।

पराकग्रामवीथ्यास्तु दैर्घ्यं पञ्चशतं मतम्।
दण्डत्रयेण वैशाल्यं कथितं शास्त्रकोविदैः॥ 88॥

पराक नामक ग्राम की वीथियों की लम्बाई पाँच सौ दण्ड होती है जबकि शास्त्रकोविदों ने उनकी चौड़ाई तीन दण्ड की बताई गई है।

चतुर्मुखे पूर्वमुखे याश्च वीथ्यः प्रकीर्तिताः।
तासां दैर्घ्यं पञ्चशतं मानमुक्तं मनीषिभिः॥ 89॥
दण्डत्रयेण वैशाल्यमुपवीथ्यस्त्रिदण्डकाः।
मङ्गलग्रामवीथीनामपि तत्कीर्तितं बुधैः॥ 90॥

चतुर्मुख और पूर्वमुख ग्रामों की वीथियों के प्रसंग में यह ज्ञातव्य है कि उनकी लम्बाई पाँच सौ दण्ड मान से मनीषियों ने कही है और चौड़ाई तीन दण्ड मान बताई है। इनकी उपवीथियाँ या गलियाँ भी तीन दण्ड नाप की ही चौड़ी होती है। ज्ञानियों ने उक्त प्रमाणानुसार ही मङ्गल नामक ग्राम की वीथियों की लम्बाई और चौड़ाई भी बताई है।

विश्वकर्मग्रामवीथीदैर्घ्यं षट्शतदण्डकम्।
सार्धदण्डत्रयं मानं वैपुल्यं तु निगद्यते॥ 91॥

विश्वकर्म संज्ञक ग्राम की वीथी की लम्बाई छह सौ दण्ड और चौड़ाई साढ़े तीन दण्ड होती है, ऐसा कहा गया है।

देवेशग्रामवीथीनां दैर्घ्यं पञ्चशतं मतम्।
दण्डत्रयेण वैपुल्यं तन्न्यूनाः क्षुद्रवीथिकाः॥ 92॥

देवेश संज्ञक ग्राम की वीथियों की लम्बाई पाँच सौ दण्ड रखने का मत है जबकि उनकी चौड़ाई तीन दण्ड और क्षुद्रवीथियाँ अथवा लघु गलियों को इससे कम प्रमाण से रखना चाहिए।

विश्वेशग्रामवीथीषु तदेवोक्तं मनीषिभिः।
कैलासग्रामवीथीनां दैर्घ्यं सप्तशतं मतम्॥ 93॥

वैपुल्यन्तु चतुर्दण्ड मानमुक्तं मनीषिभिः।
नित्यमङ्गलवीथीनामपि तन्मानमीरितम्॥ 94॥[१]

विश्वेश नामक ग्राम की वीथियाँ भी उक्त प्रमाण के अनुसार ही मनीषियों द्वारा बताई गई है। कैलास संज्ञक ग्राम की वीथियाँ सात सौ दण्ड लम्बी और चार दण्ड चौड़ी रखने का विद्वानों का मत है। नित्यमङ्गल नामक ग्राम के लिए भी वीथियों का मान-प्रमाण पूर्वानुसार ही रखना चाहिए।

इति विश्वकर्मप्रणीते विश्वकर्मवास्तुशास्त्रे ग्रामलक्षणकथनं नाम सप्तमोऽध्यायः॥ 7॥

इस प्रकार विश्वकर्माप्रणीत विश्वकर्मवास्तुशास्त्र में ग्राम लक्षण कथन नामक सातवाँ अध्याय पूर्ण हुआ।



अथ खेटादिलक्षणकथनं नाम

अष्टमोऽध्यायः॥ 8॥

अथ खेटादिलक्षणकथनात्मकमष्टमाध्यायमारभ्यते —

लोकरक्षाकरैः पूर्वं नारदेन प्रचोदितैः।
अतीन्द्रियज्ञैर्मुनिभिर्धर्मत्राणपरायणैः॥ 1॥
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याश्शूद्राश्चत्वार इत्यभी।
विभक्ता जातिभेदेन तथान्यैरपि लक्षणैः॥ 2॥

पूर्वकाल में (धर्मशास्त्रविद्) लोकरक्षा करने वाले नारदजी के द्वारा प्रेरित अतीन्द्रिय ज्ञान वाले धर्मत्राण परायण मुनियों ने ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों और शूद्रों- इन चार वर्णों को जाति और अन्य लक्षणों के अनुसार विभाजित किया।

चातुर्वर्ण्यस्थितिः सम्यग्रक्षिता सकलैरपि।
गुरुदेवार्चनपरैर्निर्दोषैर्विजितेन्द्रियैः॥ 3॥

---

१. तथा च टीकायाम्— तेषु ग्रामेषु तत्र तत्र वास्तुभागे कल्पनीयगृहभवनसौधशालाकूप वाप्यादीना बहुविधानां शिल्पकार्याणां लक्षणं तु अस्मिन्। शास्त्रे तत्र तत्र क्रमशः प्रतिपाद्यते। तत्सर्वमपि तत्र तत्र ज्ञेयम्।

इसलिए गुरुओं और देवताओं की पूजा में संलग्न रहने वाले निर्दोष एवं जितेन्द्रिय सभी लोगों द्वारा उस चातुवर्ण्य की स्थिति की सम्यक् प्रकार से रक्षा की गई।

मद्वंश्याः स्थपतिश्रेष्ठास्तक्षका मनुवंशजाः।
मयस्य तनयाः सूत्रधारिणस्त्वष्टृवंशजाः॥ 4॥
शास्त्रपारङ्गतास्सर्वे चेमे भूम्यां हितैषिणः।
पुत्रादीन् जनयामासुस्तत्र तत्र सहस्रशः॥ 5॥

मेरे (विश्वकर्मा) के वंशज स्थपतिश्रेष्ठों-गजधरों, मनु के वंशज तक्षक-शिल्पियों, मयशिल्पी के वंशज सूत्रधार, त्वष्टा के वंशज-वर्धकी[१]— ये सभी शास्त्रों के ज्ञाता और इस भूमि के हितैषी हैं, उन्होंने अपने-अपने वंश में हजारों पुत्रों को जन्म दिया।

तत्कृतं तु क्रियाजालं त्रिषु लोकेषु विश्रुतम्।
गतेषु बहुकालेषु तेषु मृण्येषु भूतले॥ 6॥
ब्राह्मणाद्या नरास्सर्वे कामक्रोधवशङ्गताः।
अगम्यागमनोत्साहाद्भेजिरे बहुपातकम्॥ 7॥
पातकाद्बुद्धिहीनास्ते रौरवं नरकं ययुः।
तज्जाता बहुधा लोके जनाः सङ्कीर्णजातयः॥ 8॥

उन वंशजों के द्वारा प्रसृत क्रियाजाल अर्थात् शिल्पकला की दक्षता तीनों लोकों में विख्यात हुई। बहुत काल व्यतीत होने पर उनके दिवंगत हो जाने पर ब्राह्मण इत्यादि लोग काम-क्रोध के वश में हो गये। अगम्य अर्थात् व्यभिचारयुक्त मार्ग का अनुगमन करने में उत्साहित रहने लगे जिससे वे बहुत से पातकों से लिप्त हो गये। उन पातकों के कारण बुद्धिहीनता से रौरव नरक के भागी बने। इसी कारण उनके द्वारा विभिन्न सङ्कीर्ण जातियाँ उत्पन्न हुईं।

---

१. मानसार में आया है कि विश्वकर्मा के पुत्र स्थपति, मय के पुत्र सूत्रग्राही कहलाए। त्वष्टा के पुत्र वर्धकी और मनु के पुत्र तक्षक कहलाए— ये ही स्थपति आदि चार शिल्पीगण हैं— विश्वकर्माख्यनाम्नोस्य (इत्यस्य) पुत्रः स्थपतिरुच्यते। मयस्य तनयः सूत्रग्राहीति परिकीर्तितः॥ त्वष्टुर्देव-ऋषिः पुत्रो वर्धकी (किरि)ति प्रकथ्यते। मनोः पुत्रस्तक्षकः स्यात्स्थपत्यादि चतुष्टयमये॥ (मानसार 2, 9-10)

(अमरकोश में शिल्पी, सूत्रग्राहीश्च, वर्धकी, तक्षक साथा चारों को पर्यायवाची कहा है)

पूर्वोक्तसङ्कीर्णवर्णजातानां नामानि, तेषां कार्यादिकं च विशिनष्टि —

करणोग्रो मागधश्च वैदेहो रथकारकः।
वृषलः कुम्भकारश्च मालाकारश्च चर्मकृत्॥ 9॥

उन वर्णसङ्कर जातियों में करण (शूद्रादिविशोस्तु करण, इस अमरकोश प्रमाण से, ये लोग उन-उन ग्रामों के राजकीय बलि-भूम्यादि कर हासिल करने वाली भूमि के जानकार लेखकों जिनको नामान्तर गणक भी कहते हैं जैसे कि दिवर-पटवारी आदि) हुए; उग्र अर्थात् वार्ता निवेदक, मागध-प्रभातादि समय के निवेदक या वाचक, वैदेह-अन्तःपुर रनिवास में आने-जाने वाले कञ्चुकी, रथकार-रथ गाड़ी बनाने वाले, वृषल-श्रमिक या वृषलोत्पन्न व्यक्ति, कुम्भकार-कुम्हार, मालाकार-माली और चर्मकार-मोची आदि हुए।

लोहकारस्वर्णकारश्शङ्खकारस्तथैव च।
तन्तुवायाश्च पालाका गोपाला भारवाहिनः॥ 10॥

इनके अतिरिक्त, लोहार, स्वर्णकार, शङ्खकार-चूड़ीगर, बुनकर, पालाका-पाल लोग, चित्रकार, गाय पालक, भारवाही-वेठिया भी हुए।

वागुराजीविनो व्याधा भृतकाश्च किरातकाः।
शबराश्च पुलिन्दाश्च चोरा मार्दङ्गिकास्तथा॥ 11॥
कुशीलवाश्चारणाश्च शौण्डिकाश्च नटास्तथा।
रजका मुण्डिनश्चान्य एते सङ्कीर्णजातिजाः॥ 12॥

वागुराजीवि-मत्स्याखेट करने वाले, व्याध-पक्षियों को मारने वाले, भृतका या नौकर, किरात-शिकार करने वाले, शबरा-खेती की भूमि पर आए मृगों का शिकार करने वाले, पुलिन्द-बर्बर या अशिष्ट जंगली जातियों के लोग, चोर, मार्दङ्गिक-मृदङ्ग बजाकर नाच-गान करने वाले, कुशीलवा-गायक, चारण-राजकीय वार्ता-समाचार निवेदक, शौण्डिक-मदिरा बेचकर जीवनयापन करने वाले कलाल, नट-रस्सी पर करतब दिखाने वाले, रजक-धोबी, मुण्डिन-मुण्डन करके रहने वाले— अन्य ऐसे सभी पारशव, गजपाल, अश्वपालादि लोग सङ्कीर्ण जातियों के हैं, (पूर्वकाल में) ऐसा कहा गया है।

सदाचारविहीनैस्तैस्सर्वैश्च करणादिभिः।
लोकोपकारं बहुधा कर्तुं व्यवसिता नृपाः॥ 13॥

उन संकीर्ण जातियों के सर्वथा सदाचार विहीन हो जाने पर लोकोपकार की दृष्टि

से राजाओं ने उन जातियों को अलग-अलग बसाने के प्रयत्न किया।

मुनीनामुटजं निन्युस्तानुपायैस्सहस्त्रशः।
परावरविदस्ते च मनुयो लोकरक्षकाः॥ 14॥

मुनियों के लिए उटज या घासपूस के झोपड़े हजारों उपायों के साथ भी बनाए जाने चाहिए। ये परावरविद अर्थात् पराविद्या के जानने वाले सभी मुनिगण लोक के रक्षक होते हैं।

अनुगृह्य च तान्सर्वांस्तेषां मोहं व्यपोह्य च।
शास्त्रं बहुविधङ्कृत्वा क्रियाश्चाध्यापयञ्छनैः॥ 15॥

यह ज्ञातव्य है कि उक्त समस्त सङ्कीर्ण जाति वाले लोगों पर मुनिजनों ने उपकार करके उन्हें मोहजाल से छुड़ाने के लिए बहुत प्रकार के शास्त्रों की रचना की। उन्हें शनैः-शनैः कर्मशील बनाने के लिए प्रशिक्षित भी किया।

मुनिप्रसादनात्तेषां मतिरौज्वल्यभागभूत्।
तथा धिषणया ते तु क्रियादौ पाटवं गताः॥ 16॥

मुनियों की कृपा से उन सभी की बुद्धि उज्ज्वल हो गयी और उन लोगों ने बुद्धि से अपने-अपने प्रायोगिक कार्यों में कुशलता प्राप्त की।

तदाप्रभृति लोकेस्मिन्नृपादिबहुमानतः।
क्रियाकौशलवन्तश्च बभूवुः कीर्तिशालिनः॥ 17॥

तब से लेकर इस लोक में उनका राजाओं, महाराजाओं और श्रेष्ठिगणों द्वारा बहुमान किया गया और वे सभी क्रिया-कौशलवान या कलाकार बनकर बहुत कीर्तिशाली या विंख्यात हुए।

केचिच्चक्रू राजसेवां केचिदासश्च चित्रकाः।
केंचित्सूक्ष्मधिया मान्यास्स्थपतेर्लक्ष्यभासुराः॥ 18॥

(उन लोगों में से कितने ही स्थापत्य विद्या में निष्णात होकर अपनी जाति के लिंग या पहचान हेतु सूत्रधारण और वेद पाठन का अधिकार प्राप्त करने वाले हुए) कितनों ही ने राजकीय सेवा की[1] और कोई चित्रकार-मूर्तिकार बन गया। कोई-

---

[1] अथर्ववेद से प्रतीत होता है कि रथकार और धातुकर्म करने वाले कर्मार को समाज में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। इसी में नवनिर्वाचित राजा द्वारा पर्णमणि-पादपीय ताबीज से प्रार्थना करने का वर्णन है जो कहता था कि आसपास रहने वाले कुशल रथ निर्माताओं और धातुकर्म

कोई अपनी सूक्ष्म बुद्धि के कारण स्थपति के पद पर कीर्तिमान हुआ।

केचिन्मान्यक्रियाशक्तिं प्राप्य धर्मपरायणाः।

अन्ये च...(गोरक्षाः!) केचिद्वाजिवारणरक्षकाः ॥ 19 ॥

कितने ही मान्य क्रियाशक्ति या प्रचलित कला में दक्षता प्राप्त करके धर्मपरायण हो गए, उनमें से अन्य भी कई अपने शिल्पज्ञान से गोपालक तो कई अश्वों और हाथियों के शिक्षक, उपचारी आदि हो गए। इस प्रकार के बहुत से कार्यों में उन्होंने परम नैपुण्य प्राप्त कर लिया था।

तत्र प्रथमस्य खेटस्य लक्षणम् —

खेटस्य वास्तुभूमिस्तु प्रायः काननमध्यगा।

शबरैश्च पुलिन्दैश्च संयुता मांसजीविभिः ॥ 20 ॥

पर्णगेहान्विता विष्वगथ वेष्टिकगेहभाक्।

एकादिदशवीथ्यन्ताः क्षुद्रवीथ्यस्समन्ततः ॥ 21 ॥

यहाँ पहले खेट के लक्षण बताते हैं। खेटक की आवास भूमि प्रायः वन के मध्य में होनी चाहिए जहाँ पर शबर, पुलिन्द जैसे मांसाहारियों की संयुक्त स्थिति हो। इन लोगों के गृह प्रायः घास-पूस, बांस आदि के होते हैं। विष्वगथ (सर्वत्र विचरने वाले या प्याज का सेवन करने) वालों के गृह वेष्टिगेहभाक् या बाड़ाबन्दी वाले होते हैं। इन खेटकों में सर्वत्र एक से लेकर दस तक वीथियाँ और लघुवीथियाँ होती हैं।

अथ द्वितीयस्य खर्वटस्य लक्षणम् —

वास्तुभूमिः खर्वटस्य नदीतीरगता मता।

रसालसालबकुलैस्तिन्त्रिणीवेणुपाटलैः ॥ 22 ॥

कदम्बैर्नारिकेलैश्च श्रीपर्णैस्तिलकैरपि।

छायावृक्षसमाकीर्णा निष्कुटारामसंवृता ॥ 23 ॥

करने वालों के बीच उसकी बेहतर स्थिति में सहायक हो— ये धीवानो रथकाराः कर्मारा ये मनीषिणः उपस्तीन्पर्ण मह्यं त्वम् सर्वान् कृण्वभितो। (अथर्ववेद 3, 5.6) प्रार्थना का उद्देश्य शिल्पियों को राजा का रक्षक बनाना है और इसी कारण वे राजाओं, राजविधाताओं, सूतों और ग्रामणियों के समकक्ष प्रतीत होते हैं क्योंकि जो राजा के आसपास रहते, वे राजा के सहायक माने गए। (तुलनीय पैप्पलादसंहिता- ये तक्षाणो रथकाराः कर्मारा ये मनीषिणः, सर्वांस तान्पर्ण रंधयोपस्तिं कृणु मेदिनम्। 3, 13, 7)

द्वितीय खर्वट के लिए वास्तुभूमि नदियों के किनारे वाली कही गई है। वहाँ चावल की खेती होती हो और वह बकुल, इमली, बाँस, पाटल, कदम्ब, नारियल, श्रीपर्ण, तिलक आदि छायादार वृक्षों से भरी-पूरी रहने वाली हो, वहाँ चतुर्दिक कुंजों और विहार योग्य उद्यान आदि की सुविधा होनी चाहिए।

दशादिविंशद्वीथीभिरावृता च समन्ततः।
शतगेहा मुख्यवीथी तन्मध्ये कालिकागृहम् ॥ 24 ॥

ऐसी भूमि पर दस से लेकर बीस की संख्या में वीथियाँ आने-जाने के लिए कल्पित की जानी चाहिए। इनमें सौ घरों की बस्ती हो और ग्राम के बीचो बीच मुख्य वीथी या बड़ा बाजार और उसके मध्य में कालिका का मन्दिर बना हुआ हो।

वागुराजीविभिश्चान्यैर्भृतकैश्च कृषीवलैः।
मदिरागेहसंयुक्ता विपण्यादिभिरावृता ॥ 25 ॥

इसी प्रकार वहाँ पर वागुराजीवि-बहेलिया, जानवरों को जाल में फंसा, शिकार कर उपजीविका चलाने वाले और अन्य नौकरी-चाकरी करने वाले और किसानों की आबादी की बहुलता हो। वहाँ पर मदिरा की दुकानें एवं विपणी-मण्डी में क्रय-विक्रय के प्रयोजन से भी अन्य दुकानें हों, इस प्रकार के द्वितीय खर्वट बस्ती के लक्षण होते हैं।

अथ तृतीयस्य पल्लीग्रामस्य लक्षणम् —

वनमध्यङ्गता वापि गिरिसानुसमीपभाक्।
आरामभूमध्यगता पल्लीभूमिस्तु सौख्यदा ॥ 26 ॥

अब तीसरे पल्ली ग्राम के लक्षण कहे जा रहे हैं। ये ग्राम वनों के मध्य में अथवा पहाड़ियों के समीप की तलहटी में होते हैं। बीच-बीच में बाग-बगीचों से पल्ली भूमि सुखप्रद लगती है।

मधूकैस्तिन्त्रिणीभिश्च रसालैर्नारिकेलकैः।
पनसैश्च शिरीषैश्च संवृता च समन्ततः ॥ 27 ॥

वहाँ के वृक्षों में महुआ, इमली, रसाल-चावल (आम), नारियल की बहुलता हो; पनस और शिरीष के पेड़ों की चतुर्दिक स्थिति होनी चाहिए।

सङ्कीर्णा बहुभिर्वर्णैर्मेषगोवाजिरक्षकैः।
दशादिविंशद्वीथिभिरसंयुता च समन्ततः ॥ 28 ॥

ऐसे ग्राम में अलग-अलग जातियों के लोगों की बहुलता हो और भेड़, गो, अश्व पालक, रक्षक आदि लोगों की बसावट हो। इसी प्रकार वहाँ पर दस से लेकर बीस तक वीथियों की रचना हो।

वापीकूपादिभरिता विपण्या क्षुद्रया युता।
सहस्रजनसङ्कीर्णा पल्लीभूमिरितीरिता॥ 29॥

वहाँ जलस्रोत के रूप में बावड़ी, कूप आदि हों। वहाँ पर लघु व्यापारिक मण्डी हों और छोटी-छोटी दुकानें हों। ऐसे पल्ली ग्राम में लगभग हजार लोगों की मिली-जुली बसावट होनी चाहिए।

अथ चतुर्थस्य घोषग्रामस्य लक्षणम् —

घोषभूमिश्शैवलिनीतीरभाग्वा वनान्तभाक्।
गिरिसानुगता वापि सर्वकालेषु सौख्यदा॥ 30॥

अब चतुर्थ घोष संज्ञक ग्राम के लक्षण कहे जाते हैं। घोष भूमि के गाँव शैवाल वाली नदियों के तटों पर अथवा वनों के अन्तिम भाग में बसे हुए होते हैं अथवा पहाड़ियों की तलहटियों में भी बसे होते हैं और हर समय सुखप्रद प्रतीति देते हैं।

वानीरविल्वकुन्दाद्यैर्मालत्यादिभिरन्विता।
चूतादि फलवृक्षैश्च सर्वतस्तु समावृता॥ 31॥

इसी प्रकार वहाँ पर वानीर (जल वेतस, वञ्जुल), बिल्व, कुन्द, मालती आदि पुष्पीय पेड़ों की बहुलता होती है। वहाँ पर नारियल, साल, पनस, आम इत्यादि फलदार वृक्ष चारों ही ओर फैले हुए होते हैं।

सस्यभूम्यावृता विष्वक्सुखग्राह्य जलान्विता।
द्वात्रिंशद्वीथिकोपेता क्षुद्रवीथ्युपवीथियुक्॥
गोभिर्गोपालकैश्चापि सर्वतस्संवृता शुभा॥ 32॥

इनके चारों ओर खेतों की भूमि होती है और वहाँ पर चतुर्दिक आसानी से जल की प्राप्ति होती है अर्थात् जलापूर्ति में सुगमता हो। इन ग्रामों में बत्तीस वीथियाँ, क्षुद्र वीथियाँ और उपवीथियाँ होती हैं। वहाँ सब ओर गायों के गोष्ठ[१]-

---

१. घोष को अन्यत्र गोष्ठ भी कहा गया है, मेवाड़ में गोठां-आसीन्द क्षेत्र ऐसे ही अर्थ में आया है। दीर्घावधि तक श्रीकृष्ण आभीरों के ही देवता माने जा रहे थे। हरिवंश में आया है कि वे घोष

बाड़े और ग्वालों के घरों के कारण भूमि शुभ होती है।

अथ पञ्चमस्याभीरग्रामस्य लक्षणम् —

आभीरभूश्शैवलिनीतीरभाग्वा वनान्तभाक्।
सर्वस्सूक्ष्मसिकता पुष्पगन्धाद्यगन्धिनी ॥ 33 ॥
मण्डलाख्यतृणैर्घासैरन्यैश्च बहुभिर्युता।
नारिकेलरसालादिफलवृक्षैस्समन्विता ॥ 34 ॥

आभीरों[१] की भूमि भी शैवाल वाली नदियों के तटों पर अथवा वनों के अन्तिम भागों में होती है। इस भूमि की मिट्टी सूक्ष्म रेतीली होती है। इसमें पुष्पों वाले वृक्षों की गन्ध परिव्याप्त रहती है। यहाँ मण्डल नामक की घास (मण्डल पत्रक, पुनर्नवा!), तृण और अन्य बहुत से नारियल, रसाल (आम या ईख) आदि फलदार पेड़ों की बहुलता होती है।

सर्वतो हस्ततोयाढ्या भूमिरेवं विधा मता।
त्रिंशद्वीथियुतां क्षुद्रवीथियुक्क समन्ततः ॥ 35 ॥

यहाँ की भूमि में सर्वत्र हाथभर नीचे ही भरपूर जल की उपलब्धता हो जाती है अर्थात् वह अनूप प्रदेशवत् हो। वहाँ पर चतुर्दिक तीस वीथियाँ और लघु वीथियाँ, मार्गों की परिकल्पना होती है।

वापीकूपतटाकाद्यैरन्विता सुखदायिनी।
ग्रामदेव्यालयोपेता वारुण्यां दिशि कालिका ॥ 36 ॥

वहाँ पर बावड़ियाँ, कूप और तालाब आदि सदा ही सुखदाई होते हैं। इनमें ग्राम देवियों के प्रासाद हों और पश्चिम दिशा में कालिका माता का मन्दिर होता है।

गोपनाथस्य सदनमथवा नृपमन्दिरम्।

में पाले गए थे और घोष अमरकोश में आभीरपल्ली के पर्याय के रूप में वर्णित है। (हरिवंश 2, 7, 32-33; अमरकोश 2, 2, 28)

१. आभीर सामान्यतया ग्वालों के अर्थ में प्रयुक्त होता आया है। यह यायावर ही अधिक थी। कभी ये लोग पंजाब और आसपास के क्षेत्र में बसे हुए थे और कालान्तर में मेवाड़ की ओर चले आए। पहली सदी में वे सिन्धुघाटी के निचले भाग में रहते थे जहाँ से वे सौराष्ट्र और पश्चिमी दकन में अपरान्त में जाकर बस गए थे। (जयपुर में 1951 में हुई इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस की प्रोसिडिंग, देबल मित्र का आलेख : द आभीराज एण्ड देयर कॉन्ट्रीब्यूशन टु द इण्डियन कल्चर, पृष्ठ 91 व अन्य)

कारयेन्मध्यभागेऽस्या निषधादींश्च सर्वतः।
गोपालभवनाधिक्यं गवामपि च कीर्तितम्॥ 37॥

इस आभीर ग्राम में गोपनाथ या मुख्य ग्वाले का भी भवन होता है अथवा राजमहल बना होता है। इसके मध्य भाग में निषधादि, क्रय-विक्रय के लिए चतुर्दिक मण्डियाँ, पेढ़ियाँ होती हैं। यहाँ ग्वालों के घरों की अधिकता से गायों की भी महिमा होती है।

अधुना उत्तरत्र प्रतिपादयिष्यमाणबहुविधनगरलक्षणोपबृंहणभूतात्मकं निगमादि सप्तविधनगरलक्षणं प्रस्तौति —

आद्यस्तु निगमः प्रोक्तस्कन्धावारी द्वितीयकः।
द्रोणकस्तु तृतीयस्स्याचतुर्थः कुब्जको मतः॥ 38॥
पट्टणं पञ्चमं पष्ठशिशविरस्तु प्रकीर्तितः।
... (इत्थं नगरा!)चारस्ससमो वाहिनीमुखः॥ 39॥
निगमादिनगर्यस्तु नृपभोग्या उदीरिताः।

अब निगमादि बस्तियों के ग्रामों के लक्षणों को कहते हैं। इनमें से प्रथम ग्राम को निगम कहते हैं। दूसरे को स्कन्धावार, तीसरे को द्रोणक, चौथे को कुब्जक कहा जाता है। पाँचवें को पट्टण और छठा शिविर कहा जाता है। नगरों की इसी संरचना के अन्तर्गत सातवाँ वाहिनीमुख होता है। ये निगमादि नगर राजाओं के आवास और भोग विलास के लिए होते हैं, ऐसा कहा गया है।

तत्र प्रथमस्य निगमनगरलक्षणम् —

वनमध्यगतो वापि गिरिसानुगतोऽपि वा॥ 40॥
सदातोयातीरभाग्वा रक्षकैरभिसंवृतः।
निगमो दुर्गसंयुक्तो वप्रेणापि समावृतः॥ 41॥

अब पहले निगम का लक्षण कहा जा रहा है। वनों के मध्य भाग में अथवा पहाड़ियों के साथ-साथ बसे हुए अथवा नित्य सलिला नदी के किनारे के भागों में रक्षक या पहरेदार आदि से भरा हुआ निगम दुर्गयुक्त होता है। इसके चारों ओर मिट्टी की दीवार या परकोटा होता है।

चतुर्दिक्स्थचतुर्द्वारो महामार्गयुतो भवेत्।
पीठाधिष्ठानसद्वप्रगोपुरादिसमन्वितः॥ 42॥

प्राक्प्रतीचीप्रतोल्यस्तु चत्वारिंशत्प्रकीर्तिता: ।

इसमें चारों दिशाओं में चार द्वार, पोलें होती हैं और उनसे महामार्गों की रचना होती है। यहाँ पीठाधिष्ठान या राज व्यवस्था के कार्यालयों के पीठ होते हैं, वप्र या परकोटा सहित गोपुरों की रचना की जाती है। इनमें पूर्व व पश्चिम दिशाओं में चालीस प्रतोलियाँ या पोलें बनी हुई होती हैं।

दक्षिणोत्तरगा विंशद्वीथ्यो दण्डत्रयायता: ॥ 43 ॥
उपवीथी: क्षुद्रवीथी: कारयेद्बहुसङ्ख्यका: ।
वास्तु भूमध्यदेशे तु तुङ्गं भूपालमन्दिरम् ॥ 44 ॥

इनमें दक्षिण से उत्तर की ओर बीस वीथियाँ तीन-तीन दण्ड की चौड़ाई वाली होती है। इसके साथ ही बड़ी संख्या में उपवीथियों और लघुवीथियों की रचना भी की जाती है। बस्ती की वास्तुभूमि के मध्य में ऊँचाई पर विशाल राजमहल होता है।

राजकार्यकरैरन्यै: पुरकार्यकरैर्युत: ।
विपण्यादिसमोपेतो न्यायशालादिभिर्युत: ॥ 45 ॥

राजप्रासाद के साथ ही वहाँ पर राजकार्य करने वाले अधिकारियों, पुर कार्य करने वाले श्रमिक-शिल्पी गृह, वाणिज्य-व्यापार करने वाले व्यापारियों की पेढ़ियाँ और न्यायालय आदि भी होते हैं।

नानाजातिजनाकीर्णो वारुण्यां देवगेहभाक् ।
तुङ्गैस्सौधैरुपेतोऽयं कथितो निगमो बुधै: ॥ 46 ॥

वहाँ पर नाना जातियों के लोगों की बहुलता होती है। पश्चिम दिशा में देवालय बने होते हैं। ऊँचे-ऊँचे भवनों, हवेलियों वाले इस नगर को ज्ञानियों ने निगम के नाम से कहा है।

अथ द्वितीयस्य स्कन्धावारस्य लक्षणम् —

रणाङ्गणान्निवृत्तस्य राज्ञस्सेनानिवेशनम् ।
स्कन्धावारा इति प्रोक्तश्शिल्पशास्त्रविशारदै: ॥ 47 ॥

अब दूसरे स्कन्धावार-निवेश के सम्बन्ध में कहा जा रहा है। युद्धभूमि में शत्रुओं से घमासान और विजयलब्धि के बाद राजा की सेना और सैनिकों के लिए उपयुक्त आवास स्थान का निवेश करना शिल्पशास्त्र विशारदों ने स्कन्धावार कहा है।

गिरिपार्श्वगता भूमिरथवा गिरिमध्यभाक्।
महारण्यस्य मध्यस्था दृढदुर्गसमन्विता॥ 48॥

इस स्कन्धावार के लिए उपयुक्त भूमि पहाड़ियों के पार्श्वगत होनी चाहिए अथवा पहाड़ियों के मध्यभाग में भी हो सकती है। बड़े वनप्रदेश यदि स्कन्धावार को बनाना पड़े और उसके आजू-बाजू में पहाड़ी भूमि नहीं हो तो ऐसे स्कन्धावार को दृढ़ दुर्ग बनाकर उसमें सेना को सुरक्षित करना चाहिए।

राज्ञस्सेनापतेस्सौधैरन्वितो दक्षिणे स्थले।
दृढैकद्वारसंयुक्ता निषिद्धान्यजना तथा॥ 49॥

ऐसे स्कन्धावार के दक्षिणी भाग में राजकीय सेना के सेनापति का मुख्यालय होना चाहिए और उसके लिए केवल एक ही सुदृढ़ द्वार रखना चाहिए। उसमें अन्य जनों का प्रवेश निषेध होना चाहिए।

वाजिवारणयोधानान्निवेशैर्बहुभिर्युता।
महायुधानां शालाभिस्सर्वतस्संवृता मता॥ 50॥

वहाँ पर घोड़ों-हाथियों पर आरूढ़ होकर युद्ध करने वाले योद्धाओं के बड़ी संख्या में आवास करने चाहिए। इसी प्रकार महान् आयुधों का संग्रह होना चाहिए। उस आयुधशाला की सुरक्षा के लिए चतुर्दिक सुदृढ़ दीवार होनी चाहिए।

अथ तृतीयस्य द्रोणकनगरस्य लक्षणम् —

द्रोणकस्तु महीपेतुस्सदनेन विराजितः।
पूर्ववद्वप्रसंयुक्तो गोपुरेण समन्वितः॥ 51॥

अब तीसरे द्रोणक नगर के लक्षण कहे जा रहे हैं। द्रोणक नगर में महाराजा के आवासगृह, प्रासाद बने हुए होते हैं। वे महल पूर्वकथित वप्र या परकोटा और सुन्दर गोपुर सहित बनाए जाते हैं।

चतुर्दिक्स्थचतुर्द्वारोऽथवा द्वारद्वयान्वितः।
आरामैर्निष्कुटैश्चापि कुल्याभिराभिसंवृतः॥ 52॥

द्रोणक नगर में चारों ही ओर चार द्वार होते है, विशेष परिस्थिति में दो द्वार भी हो सकते हैं। इसमें आराम या बाग-बगीचे और कुञ्जविहारों और उनके लिए जल की नहरों की रचना होती है।

कृषीवलादिसंयुक्तस्सस्यक्षेत्रसमावृतः।
धनधान्यसमृद्धानां सदनैर्बहुभिर्युतः॥ 53॥

वहाँ पर किसानों की बहुलता के साथ ही खेती के लिए चतुर्दिक पर्याप्त भूमि होनी चाहिए। वहाँ पर धन-धान्य की समृद्धि हो और अनेक प्रकार के भवनों की बहुलता होनी चाहिए।

दशतिर्यद्वीथिकास्स्युः पञ्चाशद्दीर्घवीथिकाः।
मठमण्डपसंयुक्तो वापीकूपादिभिर्युतः॥ 54॥

वहाँ पर अनेक प्रकार की छोटी सड़कें और गलियाँ होती हैं जिन्हें दसियों वीथिका से कहा गया है। इसमें कम से कम पचास बड़े राजमार्ग होते हैं। इसमें बहुत से मठ-मण्डप होते हैं और जल प्रबन्धन के लिए बावड़ी और कूपों की रचना होती है।

शिवहर्म्यसमोपेतो मध्यभागेऽथ वारुणे।
ब्राह्मण्यादिचतुर्वर्णैरन्वितो राजसेवकैः॥ 55॥

वहाँ पर मध्यभाग अथवा पश्चिम दिशा में शिवालय की रचना तथा ब्राह्मणादि चतुर्वर्ण प्रजा और राजसेवकों की बसावट होती है।

अथ चतुर्थस्य कुब्जनगरस्य लक्षणमाह —

दुर्गेण संयुतः कुब्जो विशालस्थलभाङ्भतः।
नृपगेहन्तु दशभिर्भागैनैकेन कारयेत्॥ 56॥

अब चौथे कुब्ज नगर के लक्षण कहे जा रहे हैं। कुब्ज नगर दुर्ग, किलेबन्दी युक्त होता है। इसे विशाल भूभाग पर बसाया जाता है। इस विस्तृत भूभाग के दस खण्ड किए जाकर एक भूभाग पर राजमहल बनाया जाना चाहिए।

एकाननन्तु कौबेर्या कल्पयेच्छिल्पकोविदः।
वैश्यसङ्ख्याधिक्यवच्च पण्यरवीथीभिरावृतः॥ 57॥

शिल्पकोविद को कुब्ज नगर की उत्तर दिशा में केवल एक मुख्य द्वार की स्थापना करनी चाहिए। इस नगर में महाजनों की संख्या अधिक हो और व्यापार के लिए चारों ही ओर वणिक् वीथी की रचना होनी चाहिए।

उदीच्यामथ वारुण्यान्देवतायतनं शुभम्।
पुरकार्यकरैस्सर्वैरन्वितश्च समन्ततः॥ 58॥

वहाँ पर उत्तरी भाग अथवा पश्चिम भाग में देवताओं के मन्दिरों की स्थापना करना शुभ होता है। यहाँ नगर के लिए बहूपयोगी कर्मचारियों, कारीगरों-शिल्पियों को सब ही ओर बसाया जाना चाहिए।

राजीवीथीद्वयोपेतः प्रादक्षिण्यप्रमाणतः।
प्रतोलिकाभिर्बह्वीभिर्वीथीभिरभिसंवृतः॥ 59॥

इस नगर में उत्तर-दक्षिण को जाती हुई उचित प्रमाणानुकूल राजवीथी या राजमार्ग की रचना हो। साथ ही बहुत-सी प्रतोलिकाओं के साथ अनेक वीथियाँ भी मिलती हों अर्थात् राजमार्ग पर गली-मोहल्लों के लिए द्वारादि भी हों।

अथ पञ्चमस्य पट्टणनगरस्य लक्षणमाह —

पारावारतटे वापि भूधरोपत्यकातटे।
स्वादुतोयस्थले वाऽपि पत्तनङ्कारयेद्बुधः॥ 60॥

अब पाँचवें पट्टन नगर के लक्षण कहे जा रहे हैं। समुद्र के तट वाली अथवा पहाड़ी की उपत्यका में जहाँ पर स्वादिष्ट जल के स्थल हों, वहाँ पर बुद्धिमान् शिल्पियों को पट्टन नगर का निवेश करना चाहिए।

महामार्गेण संयुक्तं सर्वतः परिखावृतम्।
वीथ्यष्टकसमोपेतभागद्वादशभूषितम्॥ 61॥

ऐसा नगर महामार्गों या राजमार्गों से युक्त हो और चारों ही ओर परकोटे और खाई की रचना हो। ऐसे नगर में आठ वीथियाँ हों जो कि कुल भूमि के बारह-बारह भाग से कल्पित की गई हो।

एकपादप्रमाणेन स्थलेन नृपमन्दिरम्।
मध्ये वा दिशि वारुण्यां दुर्गोपेतं प्रकल्पयेत्॥ 62॥

उक्त बारह भागों में से एक भाग प्रमाण भूमि पर राजमहलों की भूमि हो। नगर के मध्य में अथवा पश्चिमी दिशा में दुर्गयुक्त परकोटा किले की सुरक्षा के लिए बनवाया जाना चाहिए।

गोपुरेण समायुक्तं सभामण्टपभूषितम्।
कल्पयेद्दिक्षु सर्वत्र देवतायतनं बहु॥ 63॥

इन राजमहलों और नगर के द्वार गोपुर से सजे हुए हों और इनमें सभामण्डपों की रचना की जानी चाहिए। सभी दिशाओं में देवताओं के बहुत से मन्दिरों की

स्थापना की जानी चाहिए।

उपवीथीः क्षुद्रवीथीरनेकाश्च प्रकल्पयेत्।
अयुताधिकसंख्यात्र जनता सम्प्रकीर्तिता॥ 64॥

वहाँ पर उपवीथियाँ, लघुवीथियाँ अनेक प्रकार से कल्पित की जानी चाहिए। वहाँ पर करोड़ों की संख्या में जनता की बसावट कही जाती है।

चित्रादिसदनोपेतं यामिकैरपि रक्षितम्।
प्रतिदेशमिदं स्थाप्यं जनानां बहुसौख्यदम्॥ 65॥

पट्टन नगर के सभी भवन सुचित्रित बने होते हैं अर्थात् वहाँ की हवेलियाँ रंगी-पुती होती हैं। वहाँ चित्रशाला, चिकित्सालय हो जो कि यामिकों से भी रक्षित होने चाहिए। ऐसा प्रतिदेश नगर जनता के बहुत सुख के प्रयोजन से निवेशित करना चाहिए।

अथ षष्ठस्य शिबिरनगरस्य लक्षणम् —

भूपालस्सचिवस्सेनानायको बलिकारकः।
न्यायविच्च सभाध्यक्षो ये चान्ये राजपूरुषाः॥ 66॥
तेषान्तत्कावासाय कल्पनं शिबिराख्यकम्।

अब छठे शिबिर संज्ञक नगर के लक्षण कहते हैं। जहाँ पर राजा, सचिव-सन्धिविग्राहक, सेनापति, बलिकारक या सैनिक, न्यायाधीश, राजसभाध्यक्ष और अन्यान्य राजपुरुषों, अधिकारियों के लिए तुरन्त निवास करने के लिए आवास बनाए जाते हैं, ऐसे नगर को शिबिर नामक नगर कहा जाता है।

दारुखण्डैश्शिलाभिर्वा लोहैर्वा पट्टवस्त्रकैः॥ 67॥
इष्टिकाभिस्तथा कल्प्य नगरस्य बहिस्तु वा।
वनान्ते वा सानुभागे वटादेश्शीतले तले।
चलं वाप्यचलं वापि कारयेच्छिल्पकोविदः॥ 68॥

ये आवासादि प्रायः लकड़ी के पाटियों, बल्लियों, शिलाओं, लोहे के बने साधनों, तम्बुओं और ईंटों आदि से तैयार किए जाते हैं। ये नगर के मध्य में अथवा बाहर वनान्त या पहाड़ी प्रदेश में जहाँ कहीं वटादि की सघनता-शीतलता हो, वहाँ बसाए जाते हैं। शिल्पीगणों को चाहिए कि वे ऐसे शिबिर को चल अथवा अस्थायी और अचल या स्थायी रूप से बसाए।

अथ सप्तमस्य वाहिनीमुखस्य लक्षणम् —

पारावारेण नद्यास्तु सङ्गमो यत्र दृश्यते।
तत्रस्थन्नगरन्नाम्ना वाहिनीमुखमीरितम्॥ 69॥

अब सातवें वाहिनीमुख संज्ञक नगर के लक्षण कहे जा रहे हैं। सागर के तट, नदियों के सङ्गम जहाँ पर दिखाई देते हों, ऐसी भूमि पर जो नगर निवेशित किया जाता है, उसकी संज्ञा वाहिनीमुख होती है।

चतुरश्रा वास्तुभूमिरथवा दैर्घ्यभाङ्गता।
दुर्गेण सहितं वापि प्राकारावृतमेव वा॥ 70॥

ऐसे नगर की भूमि समचौरस अर्थात् लम्बाई-चौड़ाई की दृष्टि से समानतः होती है। इनको दुर्ग और बावड़ी आदि जलस्रोतों एवं परकोटा सहित निवेशित किया जाता है।

परितो रक्षकोपेतं दृढैकद्वारसंयुतम्।
नदीसेतुपथेनेदं द्वारं सम्मिलितन्तु वा॥ 71॥

यहाँ चारों ही ओर प्रजाजनों की सुरक्षा के लिए सन्नद्ध प्रहरियों के साथ-साथ एक ही सुदृढ़ द्वार होता है। इनके द्वार बहुधा नदियों पर बने पुलों के द्वारा मिलाकर बने हुए होते हैं अर्थात् इनमें पुलों द्वारा प्रवेश हो पाता है।

शताधिका मुख्यवीथीश्चोपवीथीस्त्वनेकशः।
कारयेदिक्षु सर्वत्र बहुपण्यगृहान्वितम्॥ 72॥

इन नगरों में सौ से भी अधिक संख्या में मुख्य वीथियाँ, उपवीथियाँ होती हैं और चतुर्दिक बहुत से व्यापारियों के गृह, दुकानें आदि बनाई जाती हैं।

नानाजातिसमाकीर्णं नानाशालासमन्वितम्।
सहस्रद्वादशाधिक्यजनता चात्र कीर्तिता॥ 73॥

ऐसे नगर में नाना जातियों के लोगों की बहुलता और उनके लिए अनेक प्रकार की शालाओं, कार्यशाला-कारखानों की रचना की जाती है। वहाँ पर बारह हजार से भी अधिक जनता की संख्या कही जाती है।

इत्थं निगममुख्यानां पुराणां मानमीरितम्।
यन्नोक्तन्तुत्तु सर्वत्र युक्त्या ज्ञेयं विशारदैः॥ 74॥

इस प्रकार यहाँ मुख्य निगम पुरों के मान-लक्षणों का वर्णन किया गया है।

शिल्प विशारद को यह मान अपनी युक्ति के अनुसार समझते हुए ग्रहण करना चाहिए।

इति विश्वकर्मप्रणीते विश्वकर्मवास्तुशास्त्रे खेटादिलक्षणनिरूपणं नाम अष्टमोऽध्यायः ॥ 8 ॥

इस प्रकार विश्वकर्माप्रणीत विश्वकर्मवास्तुशास्त्र में खेटादि लक्षण निरूपण नामक तृतीय अध्याय पूर्ण हुआ।



अथ पद्मादिनगरलक्षणनिरूपणं नाम

नवमोऽध्यायः ॥ 9 ॥

अथास्मिन्नध्याये नवमे पद्मादिनगरलक्षणं प्रतिपादयितुं आदौ तेषां नामानि —

पद्मकस्सर्वतोभद्रो भद्रो विश्वेशपूर्वकः।
कार्मुकः प्रस्तरश्चैव स्वस्तिकश्च चतुर्मुखः ॥ 1 ॥
श्रीप्रतिष्ठा च नगरी बलिदेवः पुरन्तथा।
देवमानुषभेदेन द्विविधं नगरं मतम् ॥ 2 ॥
वैजयन्तञ्च नगरमन्यच्च पुटभेदनम्।
गिरिवारिगुहाभेदान्नगरं तत्त्रिधा मतम् ॥ 3 ॥
मुखाष्टकञ्च नगरं नन्द्यावर्तमथोत्तरम्।
प्रसिद्धा राजधानी च कीर्तिता नगरोत्तमा।
लोकानन्दकरास्सर्वे यशस्सम्पद्विवृद्धिदाः ॥ 4 ॥

इस अध्याय में पद्मादि नगरों के विषय में कहा जा रहा है। इनमें 1. पद्मकनगर, 2. सर्वतोभद्रनगर, 3. विश्वेशभद्रनगर, 4. कार्मुकनगर, 5. प्रस्तरनगर, 6. स्वस्तिकनगर, 7. चतुर्मुखनगर, 8. श्रीप्रतिष्ठानगर, 9. बलिदेवनगर, 10. पुर, 11. देवनगर, 12. मानुषनगर, 13. वैजयन्तनगर, 14. पुटभेदननगर, 15. गिरिनगर, 16. जलनगर, 17. गुहानगर, 18. अष्टमुखनगर, 19. नन्द्यावर्तनगर और 20.

नगरोत्तम राजधानी— इन नामों से प्रसिद्ध नगरों की संख्या बीस कही गई है। ये समस्त प्राणियों के जीवन में आनन्द करने वाले और उनके यश व सम्पदा की अभिवृद्धि करने वाले हैं।

इत्यमनन्तरं सुखबोधायाह शास्त्रकारः —

पद्मादिनगरीस्थ यत् तत्स्थानं देवनामकम्।
कीर्त्यते सुखबोधाय शिल्पिकार्यहिताय च॥ 5॥

पद्मादि नगर में स्थित जहाँ कहीं भी देवताओं के नाम वाले स्थान, मन्दिरादि हों, ऐसे स्थान सर्वथा सुखकारक और शिल्पकार्य के लिए हितकारी कहे गये हैं।

चतुरश्रादिभेदेन तेऽपि भिन्नप्रदेशिनः।
गणनं स्थानभेदश्च सङ्ख्यां भूम्याश्च लक्षणम्॥ 6॥
स्थपतिर्यो न जानाति स निन्द्यो मूढ एव हि।
तस्मात्सर्वमिदं ज्ञेयं शिल्पिभिः कार्यसिद्धये॥ 7॥

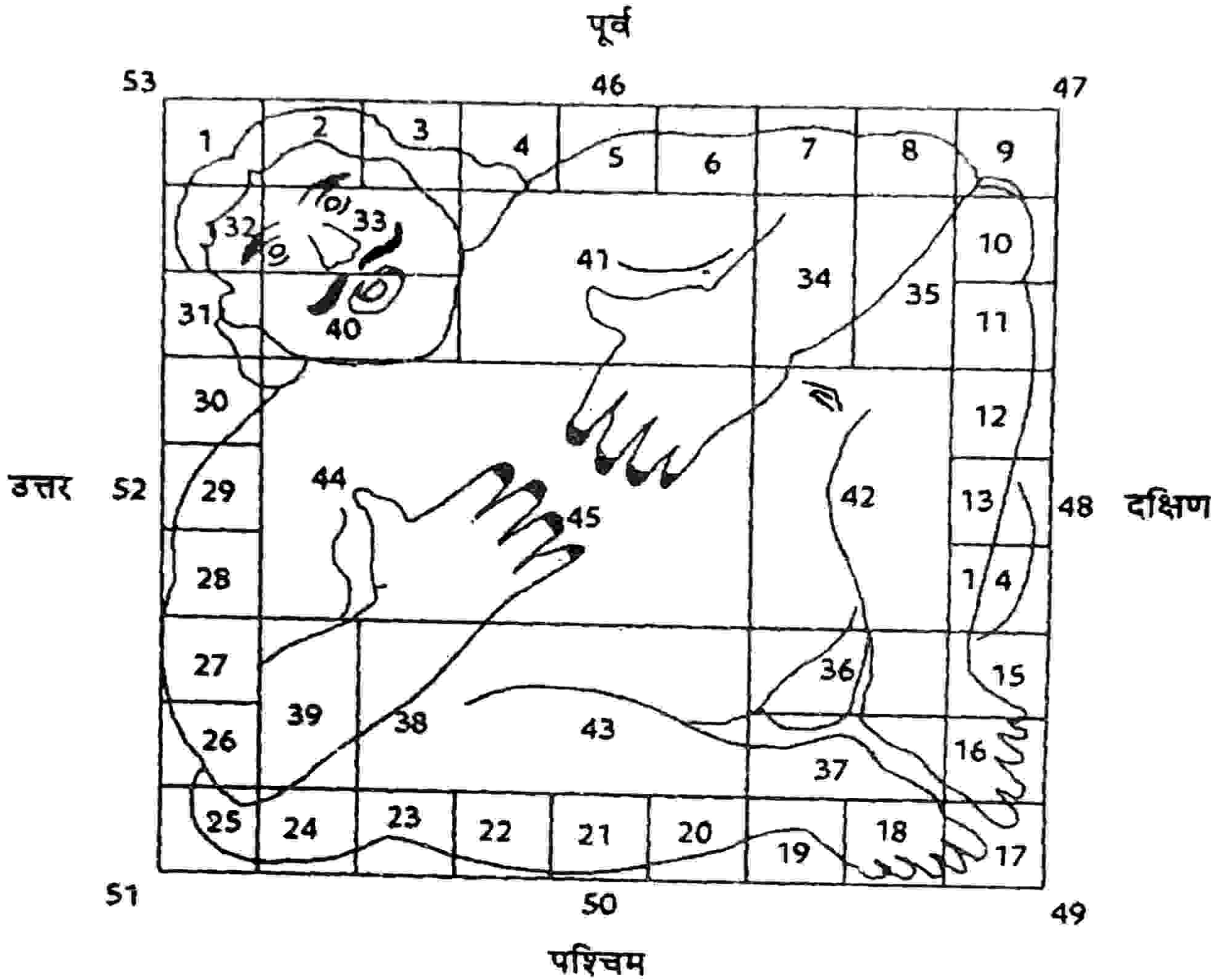
ये सभी नगर भी चौकोर-समतल आदि आकार भेद से भिन्न-भिन्न स्वरूप वाले, प्रदेशों के अनुसार भेद वाले होते हैं। उनकी गणना स्थान की भिन्नता, संख्या और भूमि का लक्षण जो स्थपति-गजधर नहीं जानता, उसे मूढ़ ही माना जाता है। उसकी सर्वत्र निन्दा होती है। इसलिए एतद्विषयक ज्ञान शिल्पियों को अपने कार्य में प्रसिद्धि प्राप्त करने के लिए अवश्य जानना चाहिए।

चतुरस्रायतादिभेदेन बहुविधैव तादृशवास्तुभूभेदेन देववर्गोऽपि स्थानभेदभागेन निर्णीयते —

आकाशः पवनो मित्रो वह्निर्मेषश्च [1]पुष्पकः।
दौवारिकश्च गन्धर्वस्सुग्रीवो दन्तकत्तथा॥ 8॥
रोगश्शोषो भुजङ्गश्च किन्नरो भास्करस्तथा।
ईशानो भूधरो रुद्रौ भृङ्गौ मीनश्च सोमकः॥ 9॥
आपो विवस्वान्सावित्रो वासवो भागदेवताः।
चतुरश्राधिपाः प्रोक्ता वास्तुशास्त्रविशारदैः॥ 10॥

इन बहुविध नगर लक्षण-ज्ञान को अवश्य ही जानना चाहिए। इसके लिए सबसे पहले चतुरस्र वास्तुभाग के देववर्ग की स्थिति वास्तुशास्त्र विशारदों द्वारा इस प्रकार

कही गई है— 1. आकाशदेव, 2. पवन, 3. मित्र, 4. वह्नि, 5. मेष, 6. पुष्पदन्त[१], 7. दौवारिक, 8. गन्धर्व, 9. सुग्रीव, 10. दन्त, 11. रोग, 12. शोष, 13. भुजङ्ग, 14. किन्नर, 15. भास्कर, 16. ईशान, 17. भूधर, 18. रुद्र, 19. भृङ्ग, 20. मीन, 21. सोम, 22. आप, 23. विवस्वान, 24. सावित्र और 25. वासव— इस प्रकार ये देवता क्रमशः उत्तर-पूर्व दिशा से आरम्भ करके प्रदक्षिणतः स्थापित होते हैं।



वास्तुपुरुष : भूमि पर ऊर्ध्वमुखशयित वास्तु (वास्तुपुरुषानुसारः यमसूत्र एवं कर्णसूत्रानुसार बाह्यपद के देवता— १. ईशान, २. पर्जन्य, ३. जयन्त, ४. इन्द्र, ५. आदित्य, ६. सत्यक, ७. भृश, ८. अन्तरिक्ष, ९. अग्नि, १०. पूषा, ११. वितथ, १२. गृहक्षत, १३. यम, १४. गन्धर्व, १५. भृङ्ग, १६. मृग (मृष), १७. नैर्ऋति, १८. द्वारपाल (दौवारिक), १९. सुग्रीव, २०. पुष्पदन्त, २१. वरुण, २२. असुर, २३. शोष, २४. रोग, २५. वायु, २६. नाग, २७. मुख्य, २८. भल्लाट, २९. सोम, ३०. उरग (मृग), ३१. अदिति एवं ३२. दिति। आन्तरिक पद के देवता— ३३. आप, ३४. आपवत्स, ३५. आर्यक, ३६. सविता, ३७. सावित्र, ३८. विवस्वान्, ३९. इन्द्र, ४०. इन्द्रजित्, ४१.

१. 'पुष्पकः' इति 'पुष्पदन्तो' व्यवह्रियते।

मित्रक, ४२. रुद्र, ४३. रुद्रजित्, ४४. भूभृत (पृथ्वीधर) एवं ४५. ब्रह्मा (द्रुहिण)। अन्य क्षेत्रीय देवी-देवता— ४६. सर्वस्कन्द, ४७. अर्यमा, ४८. जृम्भक, ४९. पिलिपिच्छा, ५०. पापयक्ष्मा, ५१. चरकी, ५२. विदारी एवं ५३. पूतनिका।

विशेष ज्ञातव्यमाह —

रुद्रो रुद्रजयश्चोभौ भृङ्गराजश्च भृङ्गकः।
आपश्चैवापवत्सश्च इन्द्र इन्द्रजयस्तथा॥ 11॥
ईशानकोणाद्यधिपौ यमलौ सम्प्रकीर्तितौ।

यह ज्ञातव्य है कि उक्त देववर्गों में चार यमल हैं अर्थात् उनके नाम दो-दो हैं जो उनके नामान्तर हैं- जैसे रुद्र एवं रुद्रजय; भृङ्ग एवं भृङ्गराज, आप एवं आपवत्स तथा इन्द्र एवं इन्द्रजय। ये यमलरूप सभी वास्तु के ईशानादि चारों ही दिक्कोणों के अधिपति कहे गए हैं।

अथ द्वितीय दीर्घवास्तुभूभागं देववर्गनामकथनेन व्यनक्ति—

आकाशः पवनो मेषो गन्धर्वो दन्तकस्तथा॥ 12॥
रोगश्शोषः किन्नरश्च भास्करो भूधरस्तथा।
पुष्पकश्च भुजङ्गश्च सावित्रो रविसोमकौ॥ 13॥
भल्लाटो वह्निदेवश्च मित्रो दौवारिकस्तथा।
सुग्रीवश्च इमे देवाः दीर्घवास्त्वधिपा मताः॥ 14॥

अब दूसरे दीर्घ वास्तुभूभाग के देववर्ग के नाम प्रदक्षिणतः इस प्रकार हैं— 1. आकाशदेव, 2. पवन, 3. मेष, 4. गन्धर्व, 5. दन्त, 6. रोग, 7. शोष, 8. किन्नर, 9. भास्कर, 10. भूधर, 11. पुष्पक, 12. भुजङ्ग, 13. सावित्र, 14. रवि, 15. सोम, 16. भल्लाट, 17. वह्नि, 18. मित्र, 19. दौवारिक एवं 20. सुग्रीव— ये देव भी पूर्ववत् हैं जो उत्तर-पूर्व ईशान कोण से आरम्भ करके प्रदक्षिणक्रम में दीर्घ वास्तुभूभाग के अधिपति कहे गए हैं।

अथ तृतीयं वर्तुलवास्तुभूभागं देववर्गनामकथनेन व्यनक्ति —

आकाशमेषगन्धर्वा दन्तको रोगशोषकौ।
किन्नरो भास्करश्चैव भूधरो मीनसोमकौ॥ 15॥
दौवारिकश्च मित्रश्च वह्निरीशो जयन्तकः।
मण्डलाकारभूमिस्था इमे देवाः प्रकीर्तिताः॥ 16॥

अब तीसरे वर्तुल वास्तुभूभाग के देववर्ग के विषय में कहा जा रहा है— 1. आकाश, 2. मेष, 3. गन्धर्व, 4. दन्त, 5. रोग, 6. शोष, 7. किन्नर, 8. भास्कर, 9. भूधर, 10. मीन, 11. सोम, 12. दौवारिक, 13. मित्र, 14. वह्नि, 15. ईशान और 16. जयन्त— ये संख्या में सोलह देव मण्डलाकार भूमि के चतुष्कोणाधिप हैं और प्रदक्षिण क्रम में पूर्ववत् ईशान कोण से आरम्भ होकर स्थित होते हैं।

पद्मादिनगरीष्वेवं तत्तद्भागाधिदेवताः।
एषां नामेह निर्दिष्टं यत्स्थलं पुरलक्षणम्॥
ज्ञात्वा तत्सकलं शिल्पी कल्पनं कल्पयेत्क्रमात्॥ 17॥

पद्मादि उत्तम स्थिर नगरों में भी इस तरह अपने-अपने भाग के अधिपति देवता होते हैं जिनके नाम निर्दिष्ट स्थलों में पुर लक्षण बताते समय लिखे गए हैं। इन सभी को सम्यक् रूप से ज्ञातकर ही शिल्पीगणों को क्रमशः परिकल्पित करना चाहिए।[१]

---

१. यहाँ इन प्रसिद्ध वास्तु के त्रयस्थ उन भागों के देववर्ग का नाम कथन में आविष्कृत किया गया है। अन्य मर्दलादि वास्तुभागों तथा मण्डलादि ग्रामभूभागों को क्रमशः जहाँ तहाँ प्रसंगानुसार दिशाओं के नियमानुसार स्थपति द्वारा कहे जाएँगे। पद्मादि नगरों के उत्तम स्थिर वास्तुओं के प्रायशः शिल्पलक्षण पूर्वोक्त आकाशादि देव नाम निर्देशों में क्रमशः कहे गए हैं। आसानी के लिए पूर्वोक्त चतुरस्रादि वास्तु भूभागों का देवमण्डल इस प्रकार समझना चाहिए— पूर्व-पश्चिम की ओर जाती छह रेखा और दक्षिण से उत्तर को जाती छह रेखा डालने से चतुरस्र वास्तुमण्डल कल्पित होता है। इसमें पच्चीस कोष्ठ बनते हैं जिनमें ईशान कोण के कोष्ठ से प्रथम कोष्ठ आरम्भ करके आकाशदेव, द्वितीय में पवनदेव आदि क्रम से उन भागों के अधिदेवताओं को लिखना चाहिए।

इसी तरह पूर्व-पश्चिम जाती पाँच रेखा, दक्षिण-उत्तर जाती छह रेखाओं से दीर्घ वास्तु भूभाग के बीस कोष्ठ बनते हैं। उन कोष्ठों में भी पहले की भाँति आकाशादि बीस देवताओं का न्यास होता है। इसके अतिरिक्त पूर्व-पश्चिम जाती तीन और उत्तर-दक्षिण जाती तीन रेखा लिखने से मण्डल वास्तु भाग स्पष्ट होते हैं। उन कोष्ठों में भी कहे गए देवताओं को उसी क्रम में लिखे। सभी वास्तुओं के मध्यभाग या भूस्थान को वास्तुपुरुष स्थान समझा जाना चाहिए। इन मण्डलों में चतुर्थ अध्याय में आई रीति से भल्लाटादि देव समेत देवालय वास्तु मण्डल सातवें अध्याय में नित्यमङ्गल ग्राम लक्षण में कहे गए हैं। वासवादि देव के साथ ही मनुष्य वास्तु मण्डल को भी क्रम से लिखा जाना चाहिए।

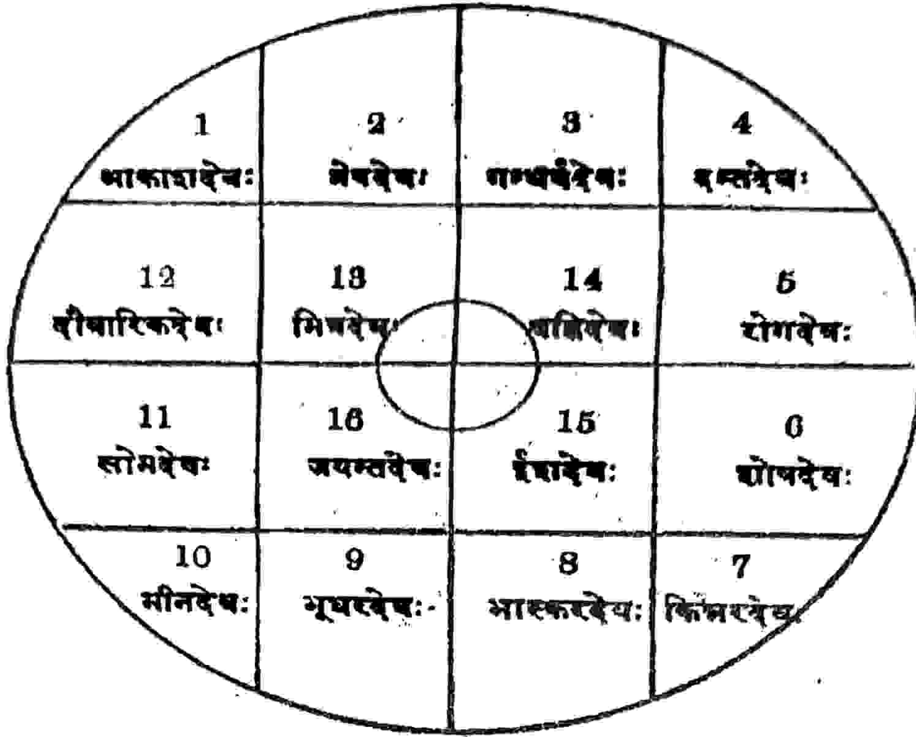
चतुरश्रवास्तुदेवभागः॥

1 आकाशदेवः	2 पवनदेवः	3 मित्रदेवः	4 वह्निदेवः	5 मेघदेवः
16 ईशानदेवः	17 भूधरदेवः	18 रुद्रदेवः	19 भृङ्गदेवः	6 पुष्पकदेवः
15 भास्करदेवः	24 सावित्रदेवः	25 वासवदेवः	20 मीनदेवः	7 दौवारिकदेवः
14 किन्नरदेवः	23 विवस्वान् देवः	22 आपदेवः	21 सोमदेवः	8 गन्धर्वदेवः
13 भुजङ्गदेवः	12 शोषदेवः	11 रोगदेवः	10 दन्तकदेवः	9 सुग्रीवदेवः

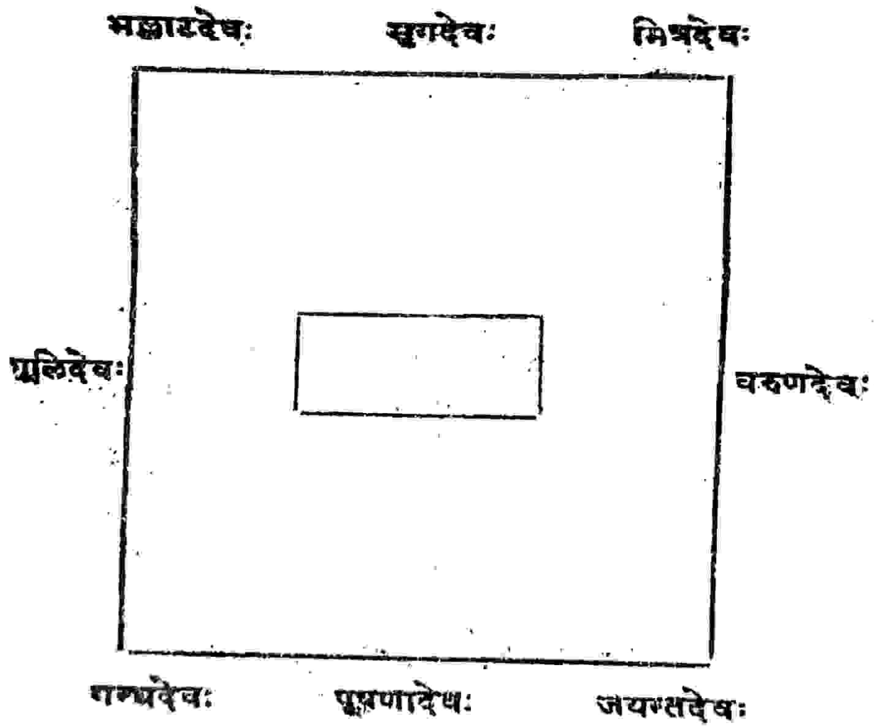
दीर्घवास्तुदेवभागः॥

1 आकाशदेवः	2 पवनदेवः	3 मेघदेवः	4 गन्धर्वदेवः
14 रविदेवः	15 शशिदेवः	16 भल्लाटदेवः	5 दन्तकदेवः
13 सावित्रदेवः	20 सुग्रीवदेवः	17 वह्निदेवः	6 रोगदेवः
12 भुजङ्गदेवः	19 दौवारिकदेवः	18 मित्रदेवः	7 शोषदेवः
11 पुष्पकदेवः	10 भूधरदेवः	9 भास्करदेवः	8 किन्नरदेवः

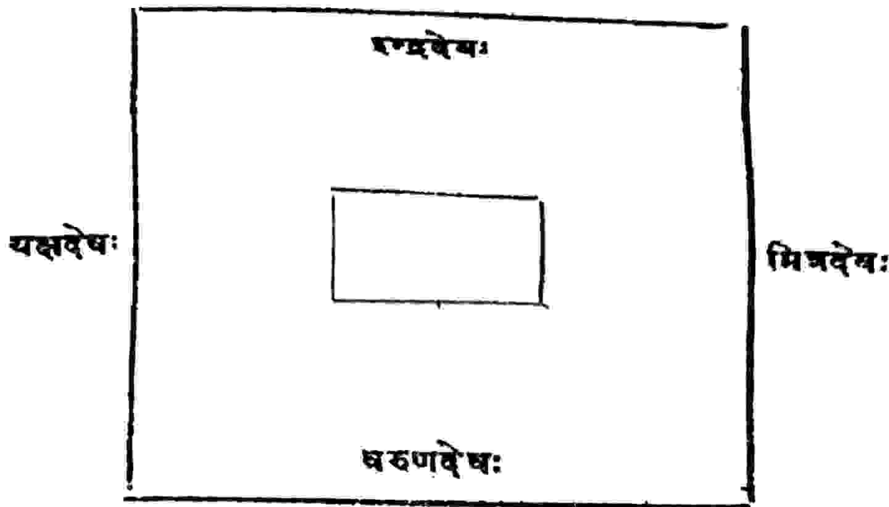
मण्डलवास्तुदेव भागः॥



देवालयवास्तुभागदेवाः॥



मनुष्यालयवास्तुभागदेवाः॥



अथ सूत्रादिमानकथनं ऊर्ध्वमानमित्यादि त्रयोविंशतिश्लोकैः —

ऊर्ध्वमानमधोमानं भूमिमानश्च वर्तुलम्।
तिर्यङ्मानश्च मुनिभिर्मानान्युक्तानि पञ्चधा॥ 18॥

अब भूमि के मानों के बारे में तेईस श्लोकों से सूत्रादि मान का कथन किया जा रहा है— 1. ऊर्ध्वमान या ऊँचाई के नाप 2. अधोमान- नीचाई या गहराई के नाप, 3. भूमि के मान, 4. वर्तुल मान एवं 5. तिर्यक् मान। इन नामों से मुनियों ने शिल्प में पाँच प्रकार के मान-नापों का कथन किया है।

विशेष— इस अध्याय में प्रतिपादित बहुत से नगरों तथा अनेकविध शिल्पकार्यों के अधिव्याप्तिरहित नाप-तौल में न्यूनाधिक रहित लक्षणों को सूत्रादि मान संकेतार्थक हैं। द्रव्यसंग्रहण के इस अध्याय में अन्य द्रव्यों और समस्त शिल्पकर्मों के मान-नाप पाँच प्रकार के कहे हैं। ऊर्ध्वमान, अधोमान, भूमिमान, वर्तुलमान और तिर्यक्मान का स्पष्टीकरण क्रमशः इस प्रकार हैं—

ऊर्ध्वमान : भित्ति, स्तम्भ, विमान, प्राकार, गोपुर और अन्य मनुष्यालयों के भित्ति, गवाक्ष को ऊपरोपरि या एक मंजिल के ऊपर दूसरी मंजिल तक बनाए जाए और उनमें जो मान-नाप के प्रयोग होते हैं, उन्हें ऊर्ध्वमान कहा जाता है।

अधोमान : भूलम्बन के सम्बन्ध में वापी, कूप, तटाक आदि जलाशयों के लिए गहराई के अर्थ में प्रयोजनीय मान-नाप अधोमान संज्ञक होते हैं।

भूमिमान : ऊँच-नीच रहित अर्थात् समतल भूमि में सभी पूर्व से पश्चिम को

अथवा दक्षिण से उत्तर की ओर सूत्र प्रसार कर जो मान-नाप किए जाते हैं, वे भूमिमान कहे जाते हैं।

वर्तुलमान : गोलाकार वास्तुभूमि के चारों ओर के मण्डालाकर मानकों या चतुरस्र में गमनयोग्य मान को वर्तुलमान कहते हैं।

तिर्यक्मान : हर्म्यपटल, आवरणादि के लिए कल्पित भित्तियों अथवा तिर्यक् काष्ठ के स्तम्भों से या इस तरह के ऊर्ध्वभाग मानों के गुण अधःस्थलों में जहाँ-जहाँ तिर्यक्सूत्र प्रसार द्वारा जो मान ऊँचाई-नीचाई रहित अर्थात् समचौरस भूमि में हों, उनको तिर्यक् मान कहा जाता है।

दण्डमानं भागमानं गण्यमानमिति त्रिधा।
सर्वेषु शिल्पकार्येषु तदुत्थं मानमीरितम्॥ 19॥

1. दण्डमान, 2. भागमान और 3. गण्यमान— ये तीन प्रकार के होते हैं और सभी शिल्पकार्यों में उनके मान इसी तरह के होते हैं।

टिप्पणि— सभी प्रकार के शिल्पकर्मों में मुख्यत्व से प्रतिपादित तो मानपञ्चक होते हैं तथापि दण्डमान, भागमान या गण्यमान भी मापन के लिए प्रयुक्त होते हैं। पूर्व प्रतिपादित परिपाटी के अनुसार भू-भित्ति-स्तम्भादि को 'दण्डमान' से मापा जाता है।

जहाँ-जहाँ चित्रादि द्विमुखस्तम्भ, त्रिमुख स्तम्भ और अन्य भी कल्पित स्थलान्तरों में चित्र, मूर्ति-भास्कर्य रचना करते हुए पट्टिकादि के मान को दशादि भागों में माप करके जो भी कार्य होते हैं, उन्हें 'भागमान' कहा जाता है।

मण्डपों के निर्माण कार्य में कल्पना करके एक, दो, तीन इत्यादि संख्या 'गणनमान' से कार्य किया जाता है। इनको विशद् रूप से समझने के लिए, किसी मण्डप के वाम भाग में बारह स्तम्भ हो तो दक्षिण में भी बारह स्तम्भ हो, इस प्रकार वे समसंख्यक रखे जाते हैं। ये गणनाएँ शिल्पियों को अवश्य ध्यान में रखनी चाहिए।

एवं तत्रतत्रोक्तसङ्केतसङ्ख्यादिमानं पर्यायवाचकार्थश्च ज्ञेयः —

जन्मभूर्भूमिदारिश्च जगती च वसुन्धरा।
मेदिनी विपुला क्ष्माद्याः कल्पनारम्भवाचकाः॥ 20॥

अब जहाँ-जहाँ संख्यादि मान कहे गए हैं, उनके सङ्केत-पर्याय कहते हैं। एक

संख्यार्थ द्योतक — 1. जन्मभू, 2. भूमि, 3. दारि, 4. जगती, 5. वसुन्धरा, 6. मेदिनी, 7. विपुला, 8. क्ष्मा, 9. आद्या— ये पहली संख्या को कल्पित करने के अर्थ में प्रयोजनीय है। (अन्यत्र भू, भूमि, अचला, विश्वम्भरादि पदों से भी एक संख्या का बोध होता है)।

पादाङ्घ्रिचरणाद्यास्तु स्तम्भार्थद्योतका मताः।

इसके अतिरिक्त पाद, अंघ्रि, चरणादि स्तम्भ के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं।

क्षेपणं पट्टिका पद्मः कर्णो वाजनकन्धरौ॥ 21॥
कुमुदः कुम्भकश्चैव कीलश्च मकरस्तथा।
प्रतिमान्तरितालिङ्गसोपानप्रतिवाजनाः॥ 22॥
कम्पश्च क्षुद्रकम्पश्च चित्रकार्योत्तमा मताः।
अधिष्ठानेषु पीठेषु सोपाने मण्टपेषु च॥ 23॥

क्षेपण, पट्टिका, पद्म, कर्ण, वाजन, कन्धर, कुमुद, कील, मकर तथा प्रतिमा, अन्तरिम, आलिङ्ग, सोपान, प्रतिवाजन, कम्प, क्षुद्रकम्प आदि जहाँ-तहाँ अधिष्ठान में, पीठ में, सोपान में, मण्डपादि में चित्रकार्य अथवा बहुविध रचना के लिए विशेषार्थ के द्योतक हैं।

स्तम्भेष्वपि च डोलासु तिर्यग्दारुषु भित्तिषु।
द्वारेषु च कवाटेषु विमाने गोपुरेषु च॥ 24॥
क्षेपणादिप्रमाणानि सम्यग्ज्ञेयानि शिल्पिभिः।

स्तम्भों में, डोला में तिर्यक् दारु पाट आदि की भित्तियों में, द्वारों में कवाट-किंवाड़ों में, विमानों-मन्दिर शिखरों में, गोपुरों-विशाल द्वारों के निर्माण में क्षेपणादि प्रमाणों को अच्छी प्रकार से शिल्पियों के जानने के लिए (संख्यानुसार पर्याय आवश्यक हैं)।

अथ सङ्केतसङ्ख्यार्थकपदानि कथनम् —

चन्द्रो भूमिर्नायकश्च सार्वभौमादयस्तथा॥ 25॥
एकसङ्ख्यार्थजनको रविर्देवः प्रकीर्तितः।

चन्द्र, भूमि, नायक-सार्वभौमादि— इनका एक के प्रसङ्ग में प्रयोग उचित है। एकार्थक संख्या के जनक रविदेव कहे गए हैं।[१]

---

१. संकेतार्थक पदों में चन्द्र, इन्दु, विधु, सुधांशु, निशापति, कलापति आदि सब चन्द्रमा के पर्याय है। भू, भूमि, अचला, विपुला, विश्वम्भरा, धरित्री, मेदिनी, क्षोणी इत्यादि धरती के पर्याय है।

अश्विनौ यमलौ दृष्टिः पक्षो बाहुः करस्तथा ॥ 26 ॥

संख्याद्वयार्थजनको भल्लाटो नायको मतः ।

अश्विनीकुमार, यमल, यम, युग्म, लोचन, नयन, नेत्र, दृष्टि, पूर्वपक्ष, परपक्ष, बाहु, कर, भुज इत्यादि दो संख्या के पर्याय हैं। इनके अधिपति भल्लाट कहे गए हैं।

गुणः कालः पावकश्च लोकश्च भुवनं तथा ॥ 27 ॥

सङ्ख्यात्रयार्थजनको मृगदेवोऽधिपो मतः ।

गुण (सत्व, रज, तम), काल (वर्तमान, भूत, भविष्य), अग्नि, लोक और भुवन ये 3 संख्या के पर्याय हैं। इनका अधिपति मृगदेव को कहा गया है।

श्रुतिस्समुद्रो वर्णश्च दिग्युगायनकन्तथा ॥ 28 ॥

सङ्ख्याचतुष्कार्थकरः पुष्पदेवोऽधिपो मतः ।

श्रुति (ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद), समुद्र, वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र), दिशा (पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर), युग (कृत, त्रैता, द्वापर, कलि), आयनक— ये 4 संख्या के पर्याय हैं और इनका अधिपति पुष्पदेव को माना गया है।

प्राणो भूतस्सायकश्च तथेन्द्रियमुखो मतः ॥ 29 ॥

पञ्चसङ्ख्यार्थजनकः पवनोऽधिपतिर्मतः ।

प्राण, भूत, सायक-बाण और इन्द्रियमुख— ये 5 के संख्यावाचक हैं। इनका अधिपति पवन को बताया गया है।

अरिवर्गश्च शत्रुश्च ऋतुरङ्गं रसस्तथा ॥ 30 ॥

षट्सङ्ख्यावाचकः प्रोक्तो वास्तुनाथोऽधिपो मतः ।

अरिवर्ग, शत्रु, ऋतु, अङ्ग और रस— ये 6 के संख्यावाचक हैं। इनका अधिपति वास्तुनाथ को कहा गया है।

शैलो ऋषिर्धातुरश्वश्छन्दो वारस्वरस्तथा ॥ 31 ॥

सप्तसङ्ख्यावाचकस्तु किन्नरो नायको मतः ।

नायक, अधिपति, यजमान, सार्वभौम, चक्रवर्ती इत्यादि एक-नेतृत्व के पर्याय होने से एक संख्या के वाचक हैं।

इस प्रकार के संख्या सूचक शब्दों का वर्णन अपराजितपृच्छा, संगीतदामोदर आदि ग्रन्थों में हुआ और गूढ़ार्थदीपिका में भी इनका वर्णन मिलता है।

शैल-पहाड़, ऋषि, धातु, अश्व, छन्द, वार और स्वर— ये सब 7 के संख्यावाचक हैं। इनका नायक किन्नर को बताया गया है।

वसुर्नागो वारणश्च सिद्धिस्सम्पत्सुखं तथा॥ 32॥
अष्टसङ्ख्यावाचकस्तु पशुनाथोऽधिपो मतः।

वसु, नाग, वारण, सिद्धि, सम्पत् सुख— ये सब 8 संख्या के बोधक हैं। इनका अधिपति पशुनाथ को कहा गया है।

ग्रहो निधिश्च रन्ध्रश्च द्वारदेवालयस्तथा॥ 33॥
नवसङ्ख्यावाचकश्च शशिदेवोऽधिपो मतः।

ग्रह (सूर्यादि), निधि, रन्ध्र, द्वार एवं देवालय— ये सब 9 संख्यावाचक हैं। इनका स्वामी शशिदेव को बताया गया है।

अवतारोऽङ्गुलिर्दिक् च पङ्क्तिमुख्यश्च वाचकः॥ 34॥
भृङ्गराजाधिपः प्रोक्तो दशसङ्ख्यानिवेदकः।

अवतार (विष्णु के मत्स्यादि दस अवतार), अङ्गुली (हाथ अथवा पाँव की), दिक् (पूर्वादि चार, ईशानादि चार एवं ऊर्ध्व-अधो संज्ञक दशों दिशाओं), पंक्तिमुख्य- ये दस की संख्या के वाचक हैं और भृंगराज को इनका अधिपति कहा गया है।

इत्यादिबहुधा सङ्ख्या प्रसिद्धा वास्तुकर्मणि॥ 35॥
एवं सङ्केतमानञ्च ज्ञेयं शिल्पक्रियापरैः।

ऐसी बहुत सी संख्याएँ हैं जो वास्तुकर्म में ज्ञातव्य है। शिल्पक्रिया का सम्पादन करने वाले शिल्पी को ये संकेतमान अवश्य जान लेना चाहिए।

अथ सर्वेष्वपि नगरादिवास्तुषु कल्प्यमानं सूत्रप्रसारक्रमाह —

वासवात्सूत्रविन्यासो ब्राह्मणानां हितप्रदः॥ 36॥
याम्यात्तु सूत्रविन्यासः क्षत्रियाणां हितप्रदः।
वारुण्यास्सूत्रविन्यासश्शुभदो वैश्यशूद्रयोः॥ 37॥

वास्तु के निमित्त सूत्रन्यास के प्रसंग में यह ज्ञातव्य है कि ब्राह्मणों के लिए वास्तुकर्म हो तो पूर्वादि क्रम से सूत्रविन्यास करना हितप्रदायक है। क्षत्रियों के लिए वास्तुकर्म के लिए दक्षिण दिशा की ओर से सूत्रविन्यास हितकारी है। वैश्य और शूद्रो के वास्तुकर्म के लिए पश्चिम दिशा की ओर से सूत्रविन्यास करना चाहिए।

देवतायतने शस्तस्सूत्रन्यासस्तु याम्यभाक्।
मानदण्डमुखान् शिल्पी कल्पनात्पूर्ववासरे॥ 38॥

देवालय निर्माण के वास्तु में याम्य अर्थात् दक्षिण से सूत्र विन्यास प्रशस्त है। इसके लिए मानदण्ड आदि को दिवसपूर्व अर्थात् कार्यारम्भ से पहले ही निर्धारित कर लेना चाहिए।

यथाविध्यर्चयेद्गन्धपुष्पाद्यैस्तत्पतीनपि।
नगरारम्भसमये शकुनं वीक्ष्य सर्वतः॥ 39॥

समस्त कार्य के लिए दण्डमानादि उपस्कारकों, उन आयुधों के अधिदेवताओं का यथाविधि गन्ध-पुष्पादि से अर्चन-पूजन करना चाहिए। नगर-निवेश आरम्भ करने से पूर्व सभी स्थानों पर शकुन का अवलोकन करना चाहिए।

जयशब्दमुखैर्विप्रैर्वाचयेत्स्वस्तिवाचनम्।
दिवसे विमले प्रातः कल्पयेन्नगरं नवम्॥ 40॥

जय शब्द का घोष और विप्रों के मुखारविन्द से स्वस्तिवाचन के साथ विमल दिवस (मेघाच्छादन, वृष्टिपात, उल्कापातादि रहित) को देखकर प्रातःकाल में किसी नवीन नगर को परिकल्पित करना या निवेशित करना चाहिए।[१]

---

१. मिलिन्दपञ्हों में नगरनिवेशकर्ता इंजीनियर को नगरवड्ढकी कहा गया है। वह सबसे पहले ऐसा स्थान ढूँढ़ता था जो असम या ऊबड़-खाबड़ नहीं हो, वहाँ की भूमि न कंकरीली हो और न ही पथरीली। वहाँ किसी उपद्रव की आशंका नहीं हो। उस काल में बाढ़, अग्नि, चोर या शत्रु के आक्रमणों को उपद्रव के अन्तर्गत माना जाता था। इसी प्रकार वह स्थान अन्य समस्त दोषों से बचा हुआ हो और अतीव रमणीय होना चाहिए। इसके बाद उस ऊँचे-नीचे स्थान को समतल करवाया जाता था और ठूँठ-झाड़ी कटवाकर साफ-सफाई करवाई जाती थी। इसके बाद नगर का माप-चोख के अनुसार सुन्दर मानचित्र (मापेय्य सोभनं) तैयार किया जाता था। उसे कई भागों में बाँटा जाता और चारों ही ओर परिखा-खाई और हाता, मजबूत द्वार, चौकस अटारियाँ, किलाबन्दी, बीच-बीच में खुले उद्यान, चौराहे, दोराहे, चौक, साफ-सुथरे और समतल राजमार्ग, बीच-बीच में दुकानों की पंक्तियाँ, आराम, बगीचे, बावड़ी, कूएँ, देवस्थानों का निवेश किया जाता था। (मिलिन्दपञ्हो अनुमानवग्गो 4)
ऐसे नगर की स्थापना में समस्त दोषों को दूर करने का पूरा ध्यान रखा जाता था। (सो तस्मिं नगरे सब्बथा वेपुल्लतं पत्ते अञ्ञं देसं उपगच्छेय्य। तत्रैव) ऐसे आयोजनाकार गण प्रमुखों के सतत सम्पर्क में रहते थे: नगर निवेश में ऐसी बातों का पूरा ध्यान रखा जाता था कि वह वास्तु सम्मत हो ताकि समय पाकर वह नगर समृद्धि को प्राप्त हो, उसकी शोभा बढ़े, धनाढ्य हो, निर्भय, समृद्ध, शिवमय और विघ्न-बाधा रहित हों। वहाँ किसी उपद्रव का भय नहीं रहे, जनता भी बहुत बढ़े और चातुर्वण्य समुदाय के अतिरिक्त शिल्पियों की बसावट भरपूर हो।

अथाद्यस्य प्रथमस्य पद्मनगरस्य लक्षणम् —

पद्मस्य वास्तुभूमिस्तु चतुरश्रा समस्थला।
सदातोयाशैवालिनीतीरस्था वा विशेषतः ॥ 41 ॥
सहस्रद्वयदण्डेन भूपालेन प्रमाणिका।
चतुर्दिक्स्थचतुर्द्वारं गोपुरेण समन्वितम् ॥ 42 ॥

अब प्रथम पद्मनगर (अथवा पद्मकनगर) के निवेश व लक्षण के विषय में कहा जा रहा है। पद्मनगर की वास्तुभूमि समचौरस, सदाजल की उपलब्धता वाली हो, विशेषतः शैवाल वाली नदियों के तीर पर हो। राज से प्रमाणित मानक दण्ड के अनुसार उसका प्रमाण दो हजार दण्ड रखना चाहिए और चारों दिशाओं में चार द्वार और गोपुर का निर्माण होना चाहिए।

देशान्तरपथेनापि तद्द्वारं संयुतं भवेत्।
मुखद्वारान्निर्गता या राजवीथीति कथ्यते ॥ 43 ॥

देश के अन्तरपथों को भी उनके द्वारों से युक्त बनाए अर्थात् मोहल्लों के भी द्वार वाली पोलें हों, जो मार्ग मुखद्वार (चतुष्क, चौराहों वाले द्वार) में होकर जाते हैं, उनको राजवीथी कहा जाता है।

शतद्वयं प्रतोलीनां सङ्ख्या चात्र प्रकीर्तिता।
वीथीनां क्षुद्रवीथीनां सङ्ख्यानेका समन्ततः ॥ 44 ॥

ऐसे नगरों के मार्गों पर दो सौ प्रतोलियों का निर्माण हो, ऐसा कहा गया है। यथावश्यकता अनेक वीथियों तथा लघुवीथियों की रचना चतुर्दिक होनी चाहिए।

ईशाने भूधरे चैव विप्राणान्तु गृहस्थितिः।
मुख्यशालाश्च याः प्रोक्ता विपण्यश्च विशेषतः ॥ 45 ॥
सर्वतः कारयेद्दिक्षु यथा भूलाभतो बुधः।
गोपुरादिसमोपेतदेवगेहन्तु रुद्रके ॥ 46 ॥

ऐसा माना जा सकता है कि जनता की वृद्धि स्थानीय स्तर की ही नहीं, बल्कि यह भी विचार रहता कि बाहर के परिवारों का भी वहाँ आव्रजन हो और वहाँ पर बसें। मिलिन्दपञ्हो से ज्ञात होता है कि उस काल में शक, चीन, यवन-विलायत, उज्जैन, भरुकच्छ, काशी, कोसल, अपरान्त, मागध, साकेत, सौराष्ट्र, पावा, औदुम्बर, मथुरा, अलसन्द, काश्मीर और गान्धार के लोग ऐसे थे जो घूमते थे और जिस किसी नगर में अपनी समृद्धि देखते बसने का मानस बना लेते थे। (तत्रैव 4)

यहाँ आवास के लिए जो बस्ती बसाई जाए, उसमें ईशान कोण, भूधर (वास्तुपद भाग अथवा पहाड़ी) पर विप्रों के गृहों (ब्रह्मपुरी) की स्थिति होनी चाहिए। वहाँ पर मुख्य शाला (न्यायालय, पाठशाला, वैद्यशाला, चित्रशालादि) जैसी-जैसी उपयुक्त भूमि मिले, वहाँ पर बनाई जाए। विशेष रूप से व्यापार-वाणिज्य के लिए मण्डी या पेढ़ियों का निवेश भी करना चाहिए। गोपुरों-मण्डपों, जलाशयों सहित रुद्र के भाग में देवगृहों का निर्माण करवाना चाहिए।

नानाजातिजनाकीर्णं रक्षकैरपि रक्षितम्।
नाम्नेदं पद्मकं प्रोक्त वास्तुशास्त्रविशारदैः ॥ 47 ॥

वहाँ पर नाना जाति-समुदाय का बसाव हो और पहरेदारों, रक्षकों का नियोजन हो। इस प्रकार परिकल्पित किए गए नगर को वास्तुशास्त्रविशारदों ने पद्मक नगर कहा है।

अथ द्वितीयस्य सर्वतोभद्रनगरस्य लक्षणम् —

सर्वतोभद्रनगरभूमिः परिस्त्रयावृता।
दैर्घ्यायामादिमानन्तु पूर्ववत्परिकीर्तितम्॥ 48 ॥

अब दूसरे सर्वतोभद्र नगर के लक्षण कहे जा रहे हैं। इसके लिए भूमि समतल, समचौरस और परिस्त्रयावृत या प्रवहमान नदियों-नालों-झरनों के किनारों वाली हो। इनकी लम्बाई-चौड़ाई पूर्वोक्त पद्मनगर के बराबर ही अर्थात् दो हजार दण्ड प्रमाण वाली हो।

चतुर्दिक्स्थचतुर्द्वारङ्गोपुरेण समन्वितम्।
देशान्तरपथेनापि तद्द्वारं संयुतं भवेत्॥ 49 ॥

चारों दिशाओं में चार द्वार और गोपुर का निर्माण होना चाहिए। देश के अन्तरपथों को भी उनके द्वारों से युक्त बनाए अर्थात् मोहल्लों के भी द्वार वाली पोलें बनाई जाए।

नात्रोपवीथीशिल्पज्ञः क्षुद्रवीथीश्च कल्पयेत्।
समसूत्रा राजवीथीः कल्पयेत्ताश्च सर्वतः ॥ 50 ॥

शिल्पकार यहाँ पर उपवीथियाँ और क्षुद्रवीथियाँ नहीं बनाए अपितु समसूत्र में राजवीथी या बृहद्मार्ग ही सर्वत्र परिकल्पित करे।

प्रतोलीनां पञ्चशतं सङ्ख्या चात्र निगद्यते।

मध्यभागे राजवेश्म यदि भूभृत्प्रधानकम्॥ 51॥
देवप्रधानिके चैशं मन्दिरङ्कारयेद्बुधः।

यहाँ प्रतोली, मुख्य मार्गों की संख्या पाँच सौ तक होनी चाहिए और इसके मध्य में राजमहल बनाए जहाँ पर भूभृत्प्रधान या राजा का निवास होना चाहिए। इसी तरह शिल्पी को देवप्रधान में ईश या शिवमन्दिर का निर्माण ईशान में करवाना चाहिए।

भूधरे रुद्रके भागे भृङ्गे मीने च सोमके॥ 52॥
आपोविवस्वद्भागेषु सावित्रेषु यथाक्रमम्।
ब्राह्मणक्षत्रसद्मानि स्थापयेच्छिल्पकार्यवित्॥ 53॥

नगर निवेश के समय भूधर, रुद्र के भाग, भृङ्ग, मीन, सोम, आप, विवस्वान् सावित्रादि के भागों पर यथाक्रम शिल्पी को ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि के भवनों से युक्त मोहल्लों की स्थापना करनी चाहिए। *(इस प्रसंग में इस ग्रन्थ के चतुरस्र वास्तुदेवभाग मण्डल को देखना चाहिए)।*

तत्रैव न्यायशालादीन्कल्पयित्वा विधानतः।
अवशिष्टे देवभागे सर्वेषां निलयादिकम्॥ 54॥

इसी के अनुसार ही विधानसम्मत न्यायशाला आदि का निर्माण करना चाहिए और वास्तुपंद विन्यास के अनुरूप अवशिष्ट सभी देवभागों में अन्यान्य निलय अर्थात् निवासस्थान का निवेश करना चाहिए।

अथ तृतीयस्य विश्वेशभद्रनगरस्य लक्षणम् —

विश्वेशभद्रनगरविन्यासः पूर्ववद्भवेत्।
चतुरश्रस्थले वापि दीर्घवास्तुस्थलेऽथवा॥ 55॥

अब तीसरे विश्वेशभद्र नगर के लक्षण कहते हैं। विश्वेशभद्र नगर का विन्यास पूर्व वर्णित नगर के अनुसार ही होता है। वहाँ पर समतल, समचौरस भूमि अथवा दीर्घ वास्तुस्थल होना चाहिए।

भागैस्तु दशभिर्भागद्वयेन शिवमन्दिरम्।
सप्राकारत्रयं तुङ्गगोपुरेण समन्वितम्॥ 56॥

कुल क्षेत्रफल को यदि दस भागों में विभाजित किया जाए तो दो भागों पर शिवालय का निर्माण करना चाहिए। वहाँ तीन प्राकार के सहित ऊँचे-ऊँचे गोपुर होने चाहिए।

ब्राह्मणाधिकसङ्ख्याकस्तदर्धे वा तदर्धके।
भागे चान्यनिवासादि कारयेच्छिल्पकोविदः॥ 57॥

शिल्पकोविद को इस नगर के आधे भाग में ब्राह्मणों की अधिक बस्तियाँ बसानी चाहिए और इसके आधे भाग में अन्य निवासियों की बस्तियाँ हो।

महावीथीचतुष्कन्तु परितो देवमन्दिरम्।
मुखवीथीसमायुक्त मठमण्टपसंयुतम्॥ 58॥
नृपहर्म्यसमोपेतो रक्षकैरपि रक्षितः॥ 59॥

यहाँ पर महावीथी या राजमार्गों के चौराहों पर देवमन्दिरों का निर्माण करना चाहिए और मुखवीथी के निवेश के साथ-साथ वहाँ मठ, मण्टप (उत्सव मण्डप) आदि का निर्माण करना चाहिए। वहाँ पर राजप्रासाद हो और उसे प्रहरियों, रक्षकों से रक्षित किया जाना चाहिए।

अथ चतुर्थस्य कार्मुकनगरस्य लक्षणम् —

कार्मुकाकारवत्त्वात्तन्नगरं कार्मुकाख्यकम्।
कीर्त्यते शिल्पशास्त्रज्ञैर्वास्तुलक्षणपण्डितैः॥ 60॥

अब चतुर्थ कार्मुकनगर के लक्षण कहे जाते हैं। जो नगर कार्मुकाकार बसा हुआ हो, वह कार्मुक (धनुषाकार, काम करने योग्य) के नाम से जाना जाता है। इस आकार के अनुसार ही शिल्पशास्त्र के ज्ञाता पण्डित इसके वास्तुलक्षणों की चर्चा करते हैं।

नद्यास्तीरे समुद्रस्य तीरे वास्य प्रकल्पनम्।
दृढदुर्गसमोपेतं प्राकारावृतवास्तुकम्॥ 61॥

यह नगर नदी के तीर या समुद्र तट पर परिकल्पित किया जाता है। वहाँ दृढ़तर दुर्ग के निवेश के साथ-साथ उसे परकोटे से परिवेष्टित किया जाना चाहिए।

सहस्रदण्डदैर्घ्यं वा तदर्धं वा तदर्धकम्।
एकाननं प्रकर्तव्यं गोपुरेण युतं तु वा॥ 62॥

इस नगर को एक हजार मानक दण्ड के प्रमाण से अथवा पाँच सौ या ढाई सौ दण्ड प्रमाण से भी नियोजित किया जा सकता है किन्तु उसमें मुख्य द्वार केवल एक ही रखा जाए जो कि गोपुर सहित बना हो।

तदद्वारं यदि कौबेर्यां शुभदं भूभृतां मतम्।

तीरे वा मध्यभागे वा राजहर्म्यं प्रकल्पयेत्॥ 63॥

यह मुख्यद्वार यदि उत्तर दिशा में हो तो राजाओं के लिए शुभदायक होता है। इस नगर के तीर पर अथवा मध्यभाग में राजमहल का निवेश किया जाना चाहिए।

बहुरक्षास्थानयुतं चक्रिकाणां गृहैर्युतम्।
प्रतोलीनान्तु वैशाल्यं भूपदण्डत्रयादिकम्॥ 64॥

उसमें रक्षा के लिए बहुत से स्थानों का निवेश होना चाहिए। इसी प्रकार चक्रिकारों के गृह (फेरी लगाकर रक्षा या व्यापार करने वाले, गाड़ियों के साथ चलने वाले सार्थवाहों के निवास अथवा कुम्भकारों के आवास) हो। वहाँ प्रतोलियाँ, मार्ग हो जो राजा के मानक दण्ड के अनुसार तीन दण्ड चौड़े होने चाहिए।

विपणीनां शतैर्युक्तं सहस्रैश्च वणिक्स्थलैः।
नानाजातिजनैर्युक्तं नाविकाद्यैश्च सर्वतः॥ 65॥

इसी प्रकार वहाँ पर सैकड़ों की संख्या में दुकानें, व्यापारिक प्रतिष्ठान हो और हजारों वणिकों के गृह हो। इस नगर में नाना जातियों के समुदायों और नाविकों की सर्वत्र बसावट भी होनी चाहिए।

अथ पञ्चमस्य प्रस्तरनगरस्य लक्षणम् —

प्रस्तरग्रामवत्सर्वमत्रापि नगरे मतम्।
विशेषलक्षणान्तत्र कथ्यन्ते कार्यसिद्धये॥ 66॥

अब पाँचवें प्रस्तर नामक नगर के लक्षण कहे जाते हैं। जैसा प्रस्तर संज्ञक ग्रामों के बारे में पूर्व में कहा गया है, वैसे ही लक्षण यहाँ पर प्रस्तर संज्ञक नगर के सन्दर्भ में भी समझे तथापि प्रयोजनीय विशेष लक्षणों को कार्य की सिद्धि हेतु यहाँ कहा जा रहा है।

दृढदुर्गसमोपेतं द्वारोपद्वारसंयुतम्।
पञ्चभिस्तु शतैर्दण्डैर्दैर्घ्यं वैशाल्यमेव च॥ 67॥

प्रस्तर नगर को दृढ़ दुर्ग सहित बनाया जाए और वहाँ पर द्वार व उपद्वारों का निवेश हो। इनकी विशालता पाँच दण्ड से लेकर सौ दण्ड तक हो सकती है।

प्राकारकुड्यसहितमथवा दीर्घवास्तुकम्।
मध्यभागे भूपहर्म्यं वारुण्यामीशमन्दिरम्॥ 68॥

इस नगर को प्राकार–परकोटा के कुड्य या भित्तियुक्त और दीर्घ वास्तुभूमि पर नियोजित किया जाए और उसके मध्य भाग में राजा का महल एवं पश्चिम दिशा में शिवालय बनवाना चाहिए।

सर्वा वीथ्यो द्विपक्षास्स्युरेकपक्षा **बहिः स्थिताः।**
शतसङ्ख्यां प्रतोलीनामन्या **बह्वीश्च** कल्पयेत् ॥ 69 ॥

इसमें सभी वीथियाँ दो पक्ष वाली हो और एक पक्ष वाली बाहर की ओर स्थित हो। यहाँ प्रतोलियाँ, मार्ग सैकड़ों की संख्या में हो और अन्य बाहर की ओर कल्पित हो।

बह्वीभिः पण्यवीथीभिर्न्यायशालादिभिर्वृतम्।
हीनसङ्ख्या द्विजातीनामत्रोक्तं बहुवर्णके ॥ 70 ॥

इसी प्रकार इनमें बहुत से व्यापारिक मार्ग–पेढ़ियों वाले बाजार हो। नगर में न्यायशाला आदि भी नियोजित करे। इस नगर के निवासियों में बहुत वर्ण के नागरिक हो, ऐसे में द्विजातियों की संख्या कम ही कही गई है।

अथ षष्ठस्य स्वस्तिकनगरस्य लक्षणम् —

स्वस्तिकाख्यनगर्यास्तु वास्तुभूर्वर्तुलाकृतिः।
तस्माद्वर्तुलमानेन मानयेच्छिल्पपण्डितः ॥ 71 ॥

अब छठे स्वस्तिक नगर के लक्षण कहते हैं। स्वस्तिक नगर की भूमि वर्तुलाकृति या गोलाकार होती है अतः शिल्प के ज्ञानियों को यहाँ सभी प्रकार के मान–नाप वर्तुल मानसम्मत ही रखे जाने चाहिए।

नदीतीरे गिरेस्सानौ समुद्रस्य तटेऽथवा।
सप्राकारं सदुर्गञ्च कल्पयेत्स्वस्तिकं पुरम् ॥ 72 ॥

इस कोटि का नगर नदियों के तट पर अथवा पहाड़ियों की तलहटी में या समुद्र के तट पर बसाया जा सकता है। स्वस्तिक पुर के लिए प्राकार, खाई युक्त परकोटा और दुर्ग या बुर्ज बनाया जाना चाहिए।

ईशानादिचतुष्कोणभागारब्धास्तु वीथिकाः।
प्राच्यादिसमसूत्रान्तादारब्धास्ताः प्रतोलिकाः ॥ 73 ॥

इस नगर में ईशान से आरम्भ करते हुए चतुष्कोण में बहुत सी वीथियाँ पूर्व से पूर्व से पश्चिम दिशा को जाती है और दक्षिण से उत्तर को जाती समसूत्र में, सीधी

सड़कें बनाई जाती है। इसके दोनों ही ओर प्रतोली या मकानों की श्रेणियाँ होती हैं।

एवं वीथ्यष्टकं मध्यभागस्थानगतं मतम्।
मानसूत्रप्रसारेऽत्र यदि तिर्यक्प्रदर्शिते॥ 74॥
चतुश्शतं वा दण्डानां त्रिशतं वा स्थलोत्तमे।
तस्मिन्वा मध्यभागे वा भूपहर्म्यं प्रकल्पयेत्॥ 75॥

इस प्रकार से इसमें आठ वीथियों वाला मध्यभाग के स्थान का मान कहा गया है। यहाँ मानसूत्र या माप की डाकवेल के प्रसार से यदि तिर्यक् प्रदर्शित किया जाए तो चार सौ दण्ड अथवा तीन सौ दण्डों की लम्बाई-चौड़ाई वाला स्थल उत्तम होता है जिसके मध्य भाग में राजमहलों को परिकल्पित किया जाना चाहिए।

अथवा न्यायशालादीन्कल्पयेच्छिल्पकोविदः।
उदीच्यामीशगेहं स्यात्तत्राद्यानां गृहान्वयः॥ 76॥

अथवा शिल्पकोविद को मध्य भाग में न्यायशाला आदि राजकीय भवनों को कल्पित करना चाहिए। उत्तर दिशा भाग के स्थल पर महादेव के मन्दिर बनाए और दौवारिक, मित्र, जयन्त, सोम नामक देवों के भागों में ब्रह्मणों की बस्ती बसाएँ।

वह्नेरीशस्य भागे वा भूपहर्म्यं प्रकल्पयेत्।
अथवा राजकार्यार्थशाला वा विविधा मताः॥ 77॥

यदि ऐसी रचना हो तो वह्नि के भाग या अग्नि कोण में राजमहलों को बनाया जा सकता है अथवा राजकार्यार्थ विविध प्रकार की शालाओं या भवनों का निर्माण किया जा सकता है।

आकाशान्मीनपर्यन्तं नानाजातिगृहान्वयः।
सद्वस्तुनिवहैः पूर्णास्तन्मध्ये पण्यवीथिका॥ 78॥

इन नगरों में आकाश से लेकर मीन के पद पर्यन्त अनेकों जाति-समुदायों के नागरिकों के गृह बने होते हैं और जहाँ पर सद्वस्तुओं के समूह से परिपूर्ण पण्यवीथिका या बाजार बना होना चाहिए।

दुर्गाश्रया च या वीथी चैकपक्षा च वर्तुला।
तस्यामेव कुलालादिनिलयान्कारयेद्बुधः॥ 79॥

दुर्ग के आश्रित अर्थात् उससे सटी हुई वीथी एकपक्षा और वर्तुलाकार होनी चाहिए, जिसमें विद्वान् शिल्पी कुम्हारादि के भवनों का निर्माण करें।

अथ सप्तमस्य चतुर्मुखनगरस्य लक्षणम् —

सर्वतोभद्रनगरे मानं यत्समुदीरितम्।
तदर्धं वा तदर्धं वा मानं कुर्याच्चतुर्मुखे॥ 80॥

अब सातवें चतुर्मुखनगर के लक्षण कहे जा रहे हैं। सर्वतोभद्र नगर के मानानुसार ही चतुर्मुख नगर का मान रखना चाहिए अथवा उनका आधा या आधे का भी आधा मान हो सकता है।

न चात्र राजभवनं न दुर्गं नापि गोपुरम्।
प्राच्यादौ तु चतुर्भागे चतुर्द्वारसमन्वितम्॥ 81॥

यहाँ कोई राजभवन नहीं बनाया जाता न ही गोपुर बनाया जाता है किन्तु इनमें पूर्व से आरम्भ करते हुए चारों ही दिशाओं के भागों में चार द्वार बनाए जाते हैं।

प्रतोलीनां शतैर्युक्तमुपवीथीशतेन च।
बह्वीभिः क्षुद्रवीथीभिस्संयुतश्च समन्ततः॥ 82॥

इनमें सैकड़ों प्रतोली या प्रधान सड़कें होती हैं और सैकड़ों उपवीथी या गलियाँ होती हैं जो राजमार्गों से जुड़ी नागरिकों के भवनों से मोहल्लों की ओर जाती हैं। इसके अतिरिक्त बहुत सी क्षुद्रवीथियाँ भी चतुर्दिक फैली हुई होती हैं।

शिवस्य मन्दिरं मध्यभाग एवात्र कल्पयेत्।
सप्राकारं सभाशालातटाकाद्यैश्च संयुतम्॥ 83॥

इस नगर के मध्य भाग में शिवालय बनाए जाते हैं जहाँ परकोटा, सभागृह और जलाशय इत्यादि रचनाएँ भी होती हैं।

देवप्राकारमभितो महावीथ्याः प्रकल्पनम्।
तद्बहिश्च महावीथ्यस्तद्बहिश्च तथा मताः॥ 84॥
एवं द्वादशवीथीषु ब्राह्मसद्मानि कारयेत्।

इसी प्रकार देवमन्दिरों के परकोटे के साथ-साथ महावीथी या बड़ी सड़कों का नियोजन करे और उनके बाहर भी महावीथी एवं उसके बाहर पुनः महावीथी की परिकल्पना करे। इस प्रकार बारह वीथियों वाले ब्राह्मसद्म या ब्रह्मपुरी बनी हो।

सावित्रे वायवा मीने भागे भूपक्रियालयः॥ 85॥
आकाशादीशपर्यन्तं वैश्यादीनां गृहान्वयः।
तन्मध्ये पण्यवीथीनाञ्चतुष्कं स्थापयेद्बुधः॥ 86॥

सदुर्गं वा ससालं वा कारयेच्छिल्पकोविदः।
चतुर्भागामिमां भूमिं विभजेन्मानसूत्रकैः॥ 92॥
प्रतिभागं प्रतोलीनां द्वात्रिंशत्सङ्ख्यया स्मृता।
वीथीनामिह मानं तद्द्विगुणं परिकीर्तितम्॥ 93॥

शिल्पज्ञानी को चाहिए कि वह ऐसे नगर को दुर्गयुक्त और विविध शालाओं (न्यायशाला, पाठशाला आदि) सहित नियोजित करे। इस तरह से यहाँ की भूमि को चार भागों में विभाजित कर मानसूत्र के अनुसार इन प्रत्येक भाग में बत्तीस प्रतोली या भवन सहित राजमार्ग बनाए एवं वीथियाँ इस संख्या से दुगुनी रखे।

मध्ये लक्ष्म्यादिदेवीनां मन्दिरं कारयेद्बुधः।
तटाकमण्टपारामप्राकारमुखगोपुरैः॥ 94॥

ज्ञानीजन ऐसे नगर के मध्यवर्ती भाग में लक्ष्मी आदि देवियों के मन्दिर बनवाए और जलाशय, उत्सव-मण्डप, उद्यान, प्राकार, द्वार तथा गोपुर की रचना करे।

संयुक्तं शुभदं प्रोक्तं प्राङ्मुखं सर्वजीविनाम्।
तन्मन्दिरं तु परितो विप्रवीथीः प्रकल्पयेत्॥ 95॥

उक्त रचनाओं को संयुक्त कर पूर्वमुखी बनाना सभी जनों के लिए शुभकारक कहा गया है। इन मन्दिर के पीछे की ओर विप्र वीथी या ब्रह्मपुरी की गलियाँ हो।

भूपहर्म्यन्तु वारुण्यामन्यत्रान्यगृहस्थितिः।
वणिजां तुङ्गहर्म्याणि कौबेर्यां वा नृपान्तिके॥ 96॥

इस नगर के पश्चिम में राजमहल का निर्माण हो और अन्यत्र अन्यान्य गृहों की स्थिति रखनी चाहिए जबकि राजमहल के अन्त या उत्तर दिशा में व्यापारियों के ऊँचे-ऊँचे भवन निर्मित-नियोजित करने चाहिए।

याम्यां दिशि निषद्यास्तु तत्रैव बहुशालकाः।
नाम्नेदं नगरं प्राहुश्श्रीप्रतिष्ठेति सूरयः॥ 97॥

नगर में क्रय-विक्रय के निमित्त दक्षिण दिशा में बहुत से व्यापारिक प्रतिष्ठान या दुकानें, भण्डार आदि बनवाए। इस प्रकार से नियोजित नगर को विद्वानों ने श्रीप्रतिष्ठा नगर नाम से कहा है।

अथ नवमस्य बलिदेवनगरस्य लक्षणम् —

त्रिकोणभूम्यां कलितं बलिदेवपुरं स्मृतम्।

करालीं चण्डिकां मारीं चल्याद्याश्चोग्रेदेवताः ॥ 98 ॥

अब नवें बलिदेव नगर के लक्षण कहे जाते हैं। त्रिकोण भूमियुक्त बना हुआ नगर बलिदेवपुर कहलाता है। इसमें कराली, चण्डिका, मारी, चल्ली इत्यादि उग्र देवी-देवताओं की स्थापना होती है।

स्थापयित्वा विशेषेण तर्पयेत्ताश्च भूपतिः।
सुखादिसिद्धये सर्वजीवानां भूभुजामपि ॥ 99 ॥

इसके मन्दिरों में देवियों की स्थापना करके विशेष रूप से राजागण इनको प्रसन्न करते हैं जो सभी जीवों और स्वयं राजा के लिए भी सुख-सिद्धि हेतु होता है।

न चात्र राजसदनं न दुर्गं नापि गोपुरम्।
नानाजातिजनाकीर्णं यथेष्टद्वारसंयुतम् ॥ 100 ॥

इस प्रकार के नगर में न तो राजसदन होता है, न दुर्ग और न ही गोपुर ही होता है। वहाँ पर विभिन्न जातियों के समुदाय समन्वित रूप से रहते हैं और यथेष्ट द्वार की रचना होती है।

वीथीभिः क्षुद्रवीथीभिरनेकाभिस्समन्वितम्।
पण्यशालासमोपेतं कुर्याच्छिल्पविशारदः।
षट्सहस्राधिकजनैस्संयुतं बलिदेवकम् ॥ 101 ॥

इस नगर में वीथियाँ, क्षुद्रवीथियाँ भी बहुत संख्या में होती है। शिल्पशास्त्री को चाहिए कि इसमें क्रय-विक्रय के लिए व्यापारिक मण्डी बनाए। छह हजार से अधिक लोगों की आबादी वाला यह नगर बलिदेव के नाम से कहा गया है।

अथ दशमस्य पुरस्य लक्षणम् —

वनमध्यगतं वापि गिरिपार्श्वगतं तु वा।
सुखलभ्यजलोपेतमारामादिसमन्वितत् ॥ 102 ॥

अब दसवें पुर के लक्षण कहे जाते हैं। यह नगर वन के मध्यगत या फिर पर्वतों के पार्श्व प्रदेश में नियोजित होता है। वहाँ पर सहज ही जल प्राप्त हो जाता हो और चारों ओर वाटिका आदि हो।

सहस्रदण्डावधिकदैर्घ्यायामसमन्वितम्।
महामार्गेण संयुक्तं दक्षिणोत्तरवक्त्रकम् ॥ 103 ॥

इसकी लम्बाई-चौड़ाई का प्रमाण हजार राजदण्ड के बराबर होता है और यह महामार्ग से युक्त होता है, ये मार्ग दक्षिण-उत्तर मुखी होते हैं।

तत्पादमानसंयुक्तचतुर्भागविभाजितम्।
मध्यस्थराजभवनं दुर्गरक्षकरक्षितम्॥ 104॥

इसकी वास्तुभूमि को पादमान (चौथाई) से क्रमशः चार भागों में विभाजित किया जाता है और उसके मध्य में राजभवन होता है, जिसकी सुरक्षा के लिए दुर्गरक्षक तैनात किए गए हों।

प्रत्यग्दिग्देवतागारं प्राकारेणाभिरक्षितम्।
नाम्नेदं नगरं प्रोक्तं पुरं शिल्पविशारदैः॥ 105॥

इस नगर की पूर्व दिशा में देवताओं के मन्दिर बनाए जाए जो कि प्राकार-चारों ओर दीवार से रक्षित किए गए हों। शिल्प विशारदों ने उपर्युक्त रचना के कारण इस नगर का अभिधान पुर किया है।

तन्तुवायास्स्वर्णकारा लोहकारादयः परे।
तेषां गृहाणि स्थाप्यानि प्राच्यां शिल्पविशारदैः॥ 106॥

शिल्पशास्त्रियों को चाहिए कि वे वहाँ पर पूर्वभाग में रेशम या सूत के वस्त्र निर्माता बुनकरों, स्वर्णकार, लोहार आदि के भवनों का निवेश करे।

दक्षिणस्यां निषद्याश्च वैश्यशूद्रालयांस्तथा।
स्थापयेद्वारुणे भागे द्विजातीनां गृहाणि च॥ 107॥

इसके दक्षिण में व्यापारिक प्रतिष्ठानों की शृंखला एवं वैश्य व शूद्रों की बस्ती का निवेश हो और पश्चिम दिशा में द्विजों के गृहों का नियोजन किया जाए।

तत्रैव क्षत्रबन्धूनां धनिकानां गृहाणि च।
कौबेर्यान्तु सभाशालाश्चानेकाः कल्पयेत्सुधीः॥ 108॥

वहीं पर क्षत्रियों के परिवार बन्धु-बान्धवों (क्षत्र वन्धू = अपक्षत्रियों, गोलो, नौकर क्षत्रियों) सहित और धनाढ्यों के गृह भी हों। इसके उत्तर में विद्वानों को अनेक प्रकार की सभाशालाओं का निवेश करना चाहिए।

राजकार्यकराणाश्च मन्त्रिसेनेशयोरपि।
सद्मानि तत्र कार्याणि पुरेऽस्मिन् शिल्पकोविदैः॥ 109॥

इसी प्रकार शिल्पकोविदों को इस नगर में राजकार्य करने वाले कर्मचारियों,

मन्त्रियों, सेनाधिपति जैसे लोगों के भवन भी निर्मित करने चाहिए।

अथैकादशस्य देवनगरस्य लक्षणम् —

कालेन हीनं प्राचीनमिति शास्त्रविदो विदुः।
तस्माद्युगान्तरे देवैस्स्थानं यत्कल्पितं पुरा॥ 110॥

अब ग्यारहवें देवनगर के लक्षणों के विषय में कहा जाता है। निर्माणचिह्न रहित जो वास्तु है, जिसके निर्माणकाल का कोई पता नहीं चलता, उसे शास्त्रविद् प्राचीन वास्तु[१] कहते हैं, इसीलिए युगान्तर में इस तरह के नगरों को देवनिर्मित नगर कहकर प्रसिद्ध किया है, ये प्राचीनकाल में ही कल्पित हुए थे।

तदैव देवनगरमिति शिल्पिविनिश्चयः।
नदीतीरे वनान्ते वा भूधरस्य तटेऽपि वा॥ 111॥

इस प्रकार ये देवनगर शिल्पियों द्वारा निश्चित किए गए जो कि नदियों के तीर पर, वनों के अन्त में, पहाड़ों की तलहटियों में बसाए जाते रहे हैं।

प्रासाद भवनाद्येषु जीर्णैरङ्गैस्तु सर्वतः।
व्यक्ताव्यक्तैरनैकश्च लक्षणैस्तच्च निर्दिशेत्॥ 112॥

वहाँ पर प्रासाद, हवेली-भवन आदि जीर्ण या खण्डहर स्थिति में सर्वत्र पाए जाते हों और जिनकी पहचान का आधार उनके अनेकानेक व्यक्त और अव्यक्त (गड़े हुए और प्रत्यक्षतः उजागर) लक्षण होते हैं।

रसालैः पनसैरन्यैः केसरैश्च वटादिभिः।
गवां सञ्चारतो वापि गरुत्मद्वासतोऽपि वा॥ 113॥
स्वयम्भूलिङ्गदृष्ट्या वा निर्दिशेद्देवपत्तनम्।
नात्र कल्प्यो दिङ्नियमो नापि कार्या बलिक्रिया॥ 114॥

---

१. यहाँ ग्रन्थकार का आशय उजाड़ या ध्वंसावशेष वाली बस्तियों से है। किसी वास्तुग्रन्थ में इस प्रकार का वर्णन कदाचित् ही है। हमारे यहाँ आज भी उजड़े हुए नगरों, पुरानी बस्तियों के ध्वंसावशेष कई स्थानों पर मिलते हैं। मोएन जोदाड़ो, हड़प्पा, कानमेर, सूरकोतरा, आहाड़, गिलूण्ड आदि कई स्थानों पर प्राचीन बस्तियों के प्रमाण मिले हैं। ग्रन्थकार को भी ज्ञात था कि प्राचीन बस्तियाँ नदियों के किनारे, वनान्त और गिरिशृंखलाओं की तलहटियों में ही आबाद होती थीं। स्कन्दपुराण और रघुवंश में इस प्रकार की जीर्णशीर्ण बस्तियों का वर्णन आया है जिनके जीर्णोद्धार का संकल्पबद्ध कार्य हुआ। विशेष द्रष्टव्य- डॉ. श्रीकृष्ण जुगनू सम्पादित सूत्रधार गोविन्दकृत 'वास्तु उद्धार धोरणी' (चौखम्बा संस्कृत सीरिज ऑफिस, बनारस, 2008 ई.) भूमिका भाग।

इसी तरह जिन स्थानों पर आम, पनस के पेड़ों, केसर, बरगद आदि वृक्षों के समूह हों, जहाँ पर गायों का समूह विचरण करता हो, जहाँ गरुड़-क्षेमंकरी-गिद्ध आदि पक्षियों का निवास हो, जहाँ पर स्वयम्भू शिवलिङ्ग दिखाई देता हो और मानव निर्मित मूर्ति नहीं हो, उसे देवपत्तन[१] कहा जाना चाहिए। ऐसे स्थान के लिए कोई दिशागत नियम नहीं होता, वहाँ पर बलिकर्मादि भी अभीष्ट नहीं होता।

स्वीकृत्य तन्मुख्यभागं निर्माणादि प्रकल्पयेत्।
भूपालस्येच्छया तत्र वर्धनं कारयेद्बुधः ॥ 115 ॥

उस नगर के पूर्ववर्ती मुख्य भाग को जैसा है, वैसा ही स्वीकृत करके बिना कोई बदलाव किए आगे के निर्माण कार्य की योजना बनानी चाहिए। यदि राजा की इच्छा हो तो शिल्पी द्वारा उसका विस्तार भी किया जा सकता है।

चातुर्वर्ण्यगृहोपेतं नृपहर्म्यादिभूषितम्।
न्यायशालादिसहितं सदुर्गं वा ससालकम् ॥ 116 ॥

ऐसे नगर में चारों ही वर्ण के लोगों के घरों को बनाया जा सकता है, राजा के महल-हवेलियों आदि से उसे लकदक किया जा सकता है। साथ ही वहाँ पर न्यायालय सहित दुर्ग और अन्यान्य शालाओं का निर्माण भी किया जा सकता है।

लिङ्गादिदेवांस्तत्स्थानाच्चालयेन्न कदाचन।
जीर्णोद्धरणकार्येण नवीकुर्यान्नृपोत्तमः ॥ 117 ॥

ऐसे देवनगरों के लिए लिङ्गादि, देवमूर्तियों[२] को किसी भी तरह उनके मूल

---

१. मेवाड़ परिक्षेत्र में पाटन नाम से ध्वस्त बस्तियों का स्मरण किया जाता है। कुमारपाल चालुक्य की यात्रा में आए पालोद गाँव के लिए कहा जाता है कि वह पूर्वकाल में पाटननगर था। वर्तमान भूपालसागर और अतीत का करेड़ा गाँव कभी करहाटपट्टण कहा जाता था। यहाँ पार्श्वनाथ का प्राचीन मन्दिर रहा है। इसी प्रकार गुजरात में अनहिलवाड़पट्टन अतीत का सुनहरा अध्याय संजोये हुए है। उदयपुर जिलान्तर्गत देलवाड़ा के लिए कहा जाता है कि वह देवकुलपाटन नाम से ख्यात और दीर्घनगर था, एक यति के श्राप से जलकर भस्मीभूत हो गया। इसके पास ही कैलाशपुरी कभी बाँसों का वन था और वहाँ स्वयम्भू शिवलिंग थे। एक गाय नित्यप्रति अपनी दुग्धधारा उस पर प्रवाहित कर जाती थी। एक बार बप्पा रावल ने छुपकर इस रहस्य को जान लिया तो शिवलिंग की प्रतिष्ठा करवाई। यहाँ प्रसिद्ध नागदा नगर है जिसे अल्तमिश ने हमले के दौरान जला दिया था। कहते हैं कि वहाँ कभी पाटन शहर था और वहाँ साढ़े तीन सौ मन्दिरों में झालरें एकसाथ बजती थी। यही मान्यता राजस्थान के झालावाड़ जिलान्तर्गत झालरापाटन नगर के साथ भी जुड़ी हुई है।

२. जीर्णोद्धार की विधि अग्निपुराण, मयमतम् आदि में आई है। सूत्रधार गोविन्दकृत वास्तु उद्धार

स्थान से विचलित नहीं करना चाहिए। इनके जीर्णोद्धार और नवीकरण कार्य के समय राजा को ऐसा ध्यान रखना चाहिए।

अथ द्वादशस्य मानुषनगरस्य लक्षणम् —

नृपादिभिर्धर्मशीलैर्जयसन्तानसिद्धये।
निर्मितं शिल्पविद्भिर्यत्तन्मानुषमुदाहृतम्॥ 118॥

अब बारहवें मानुष नगर के लक्षण कहे जा रहे हैं। धर्मशील राजाओं की विजय और सन्तान सिद्धि के प्रयोजन से शिल्पियों द्वारा जो नगर नियोजित किया जाता है, वह मानुष नगर कहा जाता है।

धोरणी ग्रन्थ इसी विधि पर आधारित है। सम्पूर्ण विधि कृत्यकल्पतरुकार लक्ष्मीधर ने इस प्रकार दी है—

वसिष्ठ उवाच— मातद्दस्तु भैरवं दुर्गा शीर्णवेश्यमसमन्विताम्। प्रासादं चालयित्वा तु कुर्याद्यस्तु द्विजोत्तमः॥ पक्केष्टदारुशैलं वा तस्य पुण्यविधिं शृणु। शिवब्रह्मेन्द्रविष्णूनां सवितुश्च द्विजोत्तम॥ वान्तः शस्यते मार्गो मातृणां भैरवस्य च। दुर्गायाः सर्वकालं तु मातृणां चैव चालनम्॥ नवभेदाः समाख्याता मातृणामेतं एव हिं। आसां तु नायिका देवी चामुण्डा रुरुघातिनी॥ तस्यास्तु चालनं कुर्यात् पुण्याहे वारभेन्नरः। ईशिखा वज्रपाणिर्वा सदमनी वामना॥ बालाननिहिता चासां हृदया मातृजा शिवा। ततः सङ्गमतोयेन स्नापयित्वा विनिक्षिपेत्॥ पशुरक्तं विमिश्रं च मद्यं सद्यः कृतान्वितम्। दत्त्वा दिक्षु समस्तासु चालयेदम्बिकां ततः॥ अधिपोष्याथवा मन्त्री यदा चालयते शिवाम्। तदा क्षेमं विजानीयाद्राजा पाति वसुन्धराम्॥ चालिता दक्षिणां नेया नोत्तरां तु दिशं नयेत्। पूज्यमाना सदा वत्स यावत्प्रासदसिद्धयः॥ निष्पन्नेषु मुहूर्तेषु प्रतिष्ठाविधिमारभेत्। प्रतिमां तु यदा जीर्णं पीठिकां वाऽपि चालयेत्॥ हृदयं मोहयित्वा तु तदास्याश्चालनं भवेत्। हेमलाङ्गूलकं कृत्वा शिवा चाल्या विपश्चिता॥ बाणरज्ज्वा निबद्धा तु वृषस्य ककुदा द्विज। क्षीरवृक्षादधस्तात्तु कृत्वा वाचां मही न्यसेत्॥ शीर्णा महाम्भसि क्षिप्त्वा तदा चाऽन्यां निवेशयेत्। प्रतिष्ठाविधिमाश्रित्य सर्वं कुर्याद्विजोत्तमः॥ स्वेन स्वने विधानेन मन्त्रैश्चाङ्गसमुद्भवैः। स्थापयेद्देवतां वत्य मातृणां मातृको विधिः॥ शीर्णो देवोत्थप्रासादो यैः पुनः संस्कृतो द्विज। अशोच्यास्ते महात्मानो धूतपापा महाधिपः॥ मूलाच्छतगुणं पुण्यं प्राप्नुयाज्जीर्णकारकात्। तस्मात्सर्वप्रयत्नेन जीर्णस्योद्धारमाचरेत्॥ शून्यो देवालयो वत्स यस्मिन्देशेऽपि तिष्ठति। भयं तत्र विजानीयाद्दुर्भिक्षात्तस्करादिभिः॥ जीर्णं गेहं यथा देही त्यक्त्वा चाऽन्यत्समाश्रयेत्। प्रासादं देवताजीर्णं त्यक्त्वान्यत्र वव्रेत्तथा॥ तस्मिन्शून्येऽपि वा देवा आश्रिता भयदा नृणाम्। उद्वासयन्ति तत्स्थानं कलिं कुर्वन्ति दारुणम्॥ शोच्यास्ते भवविन्यस्ताः स्युर्लोका नात्र संशयः। गृहोपसृष्टा विद्विष्टा यान्ति नाशं समन्ततः॥ तस्माद्वत्स स कार्यं पूजार्थं नान्यथा न्यसेत्। देवं देव्यादयश्चापि जीर्णेन च निवेशयेत्॥ यथा सदा भवेत्पूजा तथा कार्यं विपश्चिता। कर्ता शताधिकं मौलं प्राप्नुयादविचारयन्॥ राजा षष्ठं समाप्नोत प्रजा राष्ट्रं च सिध्यति। मूलादष्टगुणं पुण्यं जीर्णसंस्कार के भवेत्॥ तस्मादनाथजीर्णेषु कार्यं संस्करणं मुने। अनाथा वा सनाथा वा पूजनीयाः सदा सुराः॥ विशेषेण तु सम्पूर्णास्ते पूज्याः शतशो मुने॥ (कृत्यकल्पतरु, प्रतिष्ठाकाण्ड 26, 28-57)

नृपदण्डत्रिशतकप्रमाणस्वीकृते स्थले।

प्राच्यां मुखद्वारयुतं प्रतीच्यामीशगेहभाक् ॥ 119 ॥

इस नगर के लिए जो स्थान निर्धारित किया जाता है, वह तीन सौ मानक राजदण्ड के बराबर दीर्घ होना चाहिए। यहाँ के भवनों के द्वार पूर्वमुखी होते हैं और इनमें शिव, विष्णु आदि के देवालय पश्चिम दिशा में बनाए जाते हैं।

तत्रैव भूपहर्म्येण सहितं रहितं तु वा।

ब्राह्मणादि चतुर्वर्णवीथ्यो द्विशतसङ्ख्यकाः ॥ 120 ॥

ऐसे नगर में राजमहल हो भी सकता है और नहीं भी। इनमें ब्राह्मणादि चतुर्वर्णों की बसावट हो और उनकी वीथियों या मोहल्लों की संख्या दो सौ तक हो सकती है।

मठमण्टपसंयुक्ता निषद्यादिभिरन्विताः।

अन्नशालादिभिर्युक्ताष्षट्सहस्त्रजनाधिकाः ॥ 121 ॥

वहाँ पर मठ, उत्सव मण्डप, अनेक प्रकार के व्यापारिक प्रतिष्ठानों की शृंखला एवं अन्नशालाएँ-अतिथियों, साधुओं आदि के लिए हों। यहाँ छह हजार लोगों की आबादी हो सकती है।

वाणिग्जनैस्समाकीर्णं तन्तुवायादिभिर्युतम्।

ग्रामकार्यकरैर्युक्त पुरकार्यकरैस्तथा ॥ 122 ॥

इसी प्रकार वहाँ पर व्यापारियों की बहुलता हो एवं बुनकरों सहित अनेक जाति-समुदायों का प्रसार हो। वहाँ ग्रामकाज करने वाले कर्मकारों, पुर का कार्य करने वाले कर्मचारियों की आबादी भी हो।

·विशेषतो यायजूकयूपस्तम्भेन वा युतम्।

गणनाथादिदेवानामालयान्दिक्षु कल्पयेत् ॥ 123 ॥

इसके अतिरिक्त वहाँ पर यायजूक-नित्यप्रति यज्ञ-हवन करने वालों की पहचान स्वरूप यज्ञयूप[१] (यज्ञ-स्तम्भ, यागस्कम्भ) के साथ ही गणनाथ अर्थात् गणेश आदि देवताओं के मन्दिर पूर्व दिशा के भाग में बनाए जाने चाहिए।

---

१. हमारे यहाँ प्राचीनकाल में राजसूय, वाजपेय जैसे वैदिक यज्ञों के दौरान यूप रोपित करने की परम्परा रही है। इन यूपों से ही स्तम्भों के निर्माण की परम्परा का उद्भव हुआ है। ऋग्वेद में स्थूण नाम से स्तम्भ निर्माण का विचार मिलता है- उत् ते स्तभ्नामि पृथिवीं त्वत् परी मं लोगं निदधन्मो अहं रिषम्। एतां स्थूणां पितरो धारयन्तु तेऽत्रा यमः सादना ते मिनोतु॥ (*ऋक्. मण्डल 10, 18, 13*) इस मन्त्र में कहा गया है कि 'मैं यह मिट्टी का ढूला आपके ऊपर

अथ त्रयोदशस्य वैजयन्तनगरस्य लक्षणम् —

पारावारतटस्था वा नद्यास्तीरगताऽथवा।
वनान्तस्था वास्तुभूमिर्वैजयन्तस्त कीर्तिता॥ 124॥

अब तेरहवें वैजयन्त नगर के लक्षण कहे जाते हैं। सागर के तट पर अथवा नदी के तीर पर या वनान्त क्षेत्र की वास्तुभूमि को वैजयन्त कहा जाता है।

नृपदण्डसहस्रान्तप्रमाणा चतुरश्रका।
वासवादिदिशानाथस्थानेषूपपुराष्टकम्॥ 125॥

ऐसी भूमि पर आबाद नगर का दैर्घ्य प्रमाण एक हजार मानक राजदण्ड होता है। ये समचतुरस्र या समतल भूमि वाले होते हैं। इन नगरों को इन्द्रादि दिक्पालों के भागों के प्रमाण के लिए कुल भूमि को आठ से विभाजित किया जाना चाहिए।

स्थापयित्वाथ तन्मध्ये भूपहर्म्यं प्रकल्पयेत्।
सप्राकारं सपरिखं रक्षकैरभिरक्षितम्॥ 126॥

उक्त विभाजित मण्डल के अनुसार मध्यभाग में राजा का महल बनाया जाना चाहिए। उसको परकोटा सहित बनाए और वहाँ पर परिखा का विधान करते हुए रक्षक सेना से रक्षित करना चाहिए।

कूटकोष्ठसमायुक्तचतुर्द्वारसमन्वितम्।
ऐन्द्र्यान्तु राजबन्धूनां भवनानि प्रकल्पयेत्॥ 127॥
मन्त्रिसेनेशहर्म्याणि राजकार्यालयांस्तथा।

इसी प्रकार राजमहलों के चारों ही ओर कूटकोष्ठ (ऐसे कोठार जहाँ आना-जाना कठिन, गोपनीय हो) चारों ही ओर पूर्व दिशा से प्रदक्षितः बने हो। इनके साथ ही अन्य राजबन्धुओं, सामन्तों के भवन भी राजमहल के आसपास, चारों ओर बनाए जाए। यहीं पर मन्त्रिगणों, सेनापति की हवेली और राजकीय कार्यालय बनाए जाने चाहिए।

आग्नेय्यान्तु कुलालादिगृहाणां कल्पनं मतम्॥ 128॥
दक्षिणस्यान्तु वैश्यानां भवनानि प्रकल्पयेत्।

बनाता हूँ और इस पर यह स्थूण खड़ा करता हूँ। हे पितृ! आप इस स्थूण को सुदृढ़ करें और यम इसके ऊपर आपके हेतु हर्मिका या आवास बनाएं।' इसी प्रकार ऋग्वेद में जगत को यज्ञ की संज्ञा दी गई है तथा यूप, स्कम्भ या कीर्तिस्तम्भ को उसके प्रतीक के रूप में स्वीकारा गया है— आयोर्ह स्कम्भ उपमस्य नीले पथां विसर्गे धरुणेषु तस्थौ। (तत्रैव 10, 5, 6)

तत्रैव स्वर्णरत्नादिस्थानकं शास्त्रचोदितम् ॥ 129 ॥

इसके आग्नेय कोण (पूर्व-दक्षिण) में कुम्भकारों के घरों को बसाया जाए, दक्षिण में वैश्यों के भवनों को नियोजित करे और वहीं पर स्वर्ण, रत्नादि के प्रतिष्ठानों को रखना चाहिए, ऐसा शास्त्रों का मत है।

नैर्ऋत्यां स्वर्णकारादिसदनानि प्रकल्पयेत्।
वारुण्यां शूद्रजातानामन्येषां **च** गृहस्थितिम् ॥ 130 ॥

इसी प्रकार नैर्ऋत्य कोण (दक्षिण-पश्चिम) में स्वर्णकारादि के भवनों का निर्माण करना चाहिए जबकि पश्चिम दिशा में शूद्र जाति-समुदाय के गृहों की स्थिति होनी चाहिए।

धान्यादिद्रव्यसम्पूर्णविपणीस्तत्र कारयेत्।
वायव्यां चित्रकारादिपुरकार्यकरालयाः ॥ 131 ॥

इस नगर के लिए वहीं पर धान्यादि द्रव्यों वाली व्यापारिक मण्डी को बनाया जाना चाहिए और वायव्य कोण (पश्चिम-उत्तर) में चित्रकारों, मूर्तिकारों और पुर सम्बन्धी कामगारों की कार्यशालाओं का प्रावधान हो।

उदीच्यां विप्रगेहादिपाठशालादयस्तथा।
सगोपुरं देवगृहं स्थापयेत्तत्र **भूपतिः** ॥ 132 ॥

इसी प्रकार उत्तर दिशा में विप्रों के गृह और उनकी पाठशाला आदि हों। वहीं पर राजा को चाहिए कि वह गोपुर सहित मन्दिरों का निर्माण करे।

ऐशान्यां राजभृत्यानामावासान्कारयेन्नृपः।
एवमष्टोनगरसंयुतं वैजयन्तकम् ॥ 133 ॥

राजा को चाहिए कि वह ईशान कोण (उत्तर-पूर्व) में राजा के नौकरों, कर्मचारियों को बसाए। इस तरह से अष्टोनगर युक्त ये वैजयन्त नामक नगर के लक्षण कहे गए हैं।

अथ चतुर्दशस्य पुटभेदननगरस्य लक्षणम् —

क्वचिच्छङ्खाकृतिर्भूमिर्विधाता **निर्मिता पुरा**।
नदीतीरगता **वापि** वनमध्यगताऽ**थवा** ॥ 134 ॥
पर्वतान्तिकभाग्वापि सस्यक्षेत्रावृतापि **वा**।
लब्धा यदि नृपस्तस्यां कारयेत्पुटभेदनम् ॥ 135 ॥

अब चौदहवें पुटभेदन नगर के लक्षणों का वर्णन किया जा रहा है। विधाता ने पूर्वकाल में कुछ-कुछ शंख की आकृति वाली भूमि को बनाया था। ऐसी नदी के तीर वाली या वन के मध्य अथवा पर्वतों के अन्त में स्थित या फिर धान के खेतों से घिरी हुई भूमि को अधिगृहीत कर राजा को पुटभेदननगर का नियोजन करना चाहिए।

देवागारं नृपागारं स्थापयेदुन्नते स्थले।
अन्येषां निम्नदेशे तु सदनानि प्रकल्पयेत्॥ 136॥

वहाँ पर देवालयों और राजमहलों को ऊँचाई वाली भूमि पर बनाए एवं अन्य निम्नस्थलों में निवासियों के लिए भवनों को परिकल्पित करना चाहिए।

समा भूमिर्यदि प्राप्ता चतुरश्राकृति नयेत्।
सालत्रयेण संवीतं पञ्चसालेन वा वृतम्॥ 137॥

यदि समतल भूमि प्राप्त हो तो उसे समचौरस ग्रहण करे और उस पर तीन साल बनाए जो कि परकोटों और खाई से युक्त हों या फिर पाँच साल, परकोटे खाई सहित बनवाए।

सदुर्गं प्राङ्मुखद्वारं दुर्भेद्यमरिसैनिकैः।
कारयेच्छिल्पिभिर्भूपो नगरं पुटभेदनम्॥ 138॥

वहाँ दुर्ग को पूर्वमुखी बनाए और वह दुर्ग शत्रु सैनिकों के लिए सदा ही दुर्भेद्य होना चाहिए। इस प्रकार से शिल्पी को राजा के लिए पुटभेदन नगर का नियोजन करना चाहिए।

मध्यभागस्थितं भूपमन्दिरं सुन्दराकृतिम्।
सदुर्गं वा सयोधं वा प्राकारावृतमेव वा॥ 139॥

इसके मध्य भाग में सुन्दर आकृतियों में राजा का प्रासाद बनाया जाए। साथ ही दुर्ग या योद्धाओं सहित उसके लिए उचित परकोटा भी निर्मित करना चाहिए।

प्रतिसालं प्रतोलीनां द्वात्रिंशत्कल्पनं मतम्।
वीथ्यादीनां प्रमाणं तद्द्विगुणं त्रिगुणन्तु वा॥ 140॥

इस नगर में प्रतिसाल और प्रत्येक परकोटे के साथ बत्तीस प्रतोली मार्ग को परिकल्पित करना चाहिए और उनके प्रमाण से दुगुनी अथवा तीन गुनी वीथ्या का निर्माण करे।

गृहस्थापनकार्येषु यदुक्तं लक्षणं पुरे।
तत्सर्वमत्र कथितं शिल्पशास्त्रविशारदैः ॥ 141 ॥

इस नगर में विविध जनों के लिए गृहस्थापना के कार्यों को पूर्व में किए गए वर्णन के अनुसार ही करना चाहिए। इस प्रकार ये सब लक्षणादि शिल्पशास्त्र विशारदों द्वारा यहाँ कहे गए हैं।

अथ पञ्चदशस्य गिरिनगरस्य लक्षणम् —

क्वचिद्भूपतिनां स्थाप्यं नगरं गिरिमूर्धनि।
दुष्प्राप्यमरिसेनाभिस्तदाहुर्गिरिपत्तनम् ॥ 142 ॥

अब पन्द्रहवें गिरिनगर के लक्षण कहे जाते हैं। कहीं-कहीं राजाओं द्वारा पहाड़ों के ऊपर भी नगर की स्थापना की जाती है, ये शत्रुदलों के लिए दुर्गम, दुष्प्राप्य होते हैं इसलिए इन नगरों को गिरिपत्तन कहा जाता है।

गिरेस्तु क्षुद्रकायस्थ परितः परिखा मता।
गिरौ तु तुङ्गे महति यत्स्थानं भूपयोग्यकम्।
तत्र रक्षां प्रकुर्वीत सालाद्यैश्चायुधादिभिः ॥ 143 ॥

यदि पहाड़ी छोटी हो तो बसाते समय उसके चारों ओर अगाध परिखा, खाई बनवानी चाहिए। यदि शिखर पर विस्तृत क्षेत्र हो और राजा के लिए योग्य जान पड़े तो वहाँ नगर नियोजन करे और उसकी रक्षा के लिए साला-प्राकार, खाई आदि का निर्माण करवाए और आयुधों से युक्त करे।

राजकार्यकराणाश्च मन्त्रिसेनेशयोरपि।
योधानां योधपालानां भृत्यानामपि रक्षिणाम् ॥ 144 ॥

ऐसा होने पर वहाँ राज्य के कर्मचारियों, मन्त्री, सेनापति, योद्धाओं, योधपालों-नायकों या भृत्यों के रक्षकों को भी बसाया जाना चाहिए।

द्विसहस्राधिकानामप्यन्येषां भवनान्यपि।
निषद्यादींश्च शिल्पज्ञैः कारयेद्गिरिपत्तने ॥ 145 ॥

वहाँ पर लगभग दो हजार लोगों की आबादी होती है और उनके निवास के लिए भवनादि बनाए जाए। साथ ही गिरिपत्तन को क्रय-विक्रय के लिए व्यापारिक मण्डी से भी युक्त बनाया जाना चाहिए।

अथ षोडशस्य जलनगरस्य लक्षणम् —

जलाशस्य मध्ये वा नदीमध्येऽथवा कृतम्।
नगरं तद्विदुः प्राज्ञा नाम्ना सलिलपत्तनम्॥ 146॥

अब सोलहवें जलनगर के लक्षण कहे जा रहे हैं। किसी जलाशय के मध्य में अथवा नदी के बीच में नियोजित नगर के लिए विद्वानों ने सलिलपत्तन[१] नाम दिया है।

सदुर्गं वा ससालं वा वनावल्याकृतं तु वा।
मध्यभागे राजहर्म्यं सौधावलिसमुज्ज्वलम्॥ 147॥

ऐसे नगर को दुर्ग सहित और परकोटा सहित बनाए और वहाँ पर वनावली या वृक्षों की पङ्क्तियाँ होनी चाहिए। इसके मध्य में राजा का महल हो। इस महल को चूना-अराइश से चमकाया जाए।

मण्डकग्रामवद्वीथीः कल्पयेद्यदि भूतले।
अथवा प्रान्तभागेषु स्थापयेच्च महापुरम्॥ 148॥

यह ज्ञातव्य है कि इस नगर में मण्डक ग्राम जैसी रचना हो। यदि भूतल से जुड़ाव हो तो ग्रामवीथियों या सड़कों को परिकल्पित किया जाए अथवा इसके प्रान्तभाग या बाहरी भागों में भी महापुर-बड़े-बड़े नगर बनाए जाने चाहिए।

नानाजातिजनाकीर्णं निषद्यादिभिरन्वितम्।
न्यायशालादिभिर्युक्तं देवालयसमुज्ज्वलम्॥ 149॥

इस प्रकार के नगर में नाना जाति-समुदाय का रसाव-बसाव हो और उनके लिए दुकानें हो। इसी प्रकार न्यायशाला आदि की व्यवस्था हो और सुन्दर-उज्ज्वल देवालयों का निर्माण भी किया जाना चाहिए।

अथ सप्तदशस्य गुहानगरस्य लक्षणम् —

तत्तद्देशवशाद्भूपैर्गिरिसानुगुहादिषु।
निर्माप्यं नगरं नाम्ना गुहानगरमीरितम्॥ 150॥

अब सत्रहवें गुहानगर के लक्षण कहे जाते हैं। जब कोई राजा किसी देश

---

१. यह द्वीप (आईलैण्ड) की तरह होता है जिसके चतुर्दिक पानी होता है। डीग-भरतपुर, उदयपुर-मेवाड़, जयसमन्द आदि में इस प्रकार के नगर, गाँव सहित महल आदि देखने में आते हैं। गोवा, पणजी, दमण, दीव, अण्डमान आदि में भी यह छटा दर्शनीय है।

विशेष में पहाड़ियों की गुफाओं में आवास के प्रयोजन से नगर बसाए तो उसे गुहानगर के नाम से जाना जाता है।

ऊर्ध्वगामिन्यधोगामिन्यथवा मध्यगामिनी।
तिर्यग्गामिन्यपि गुहा तस्यां कल्प्यो नृपालयः ॥ 151 ॥

महापर्वत के अनुसार ऐसे गुहा नगरों में ऊँचाई के लिए ऊर्ध्वगामी सड़कें, ढलानों के लिए नीचे उतरने वाले ढालू मार्ग, सामान्य मध्यभागों में जाने वाली सड़कें और तिरछे ही चढ़ाई के योग्य मार्ग बनाए जाए। उसी में राजा के महल का भी प्रबन्ध करना चाहिए।

अथवा चायुधागारं कोशागारमथापि वा।
योधानां निलयं वापि कल्पयेच्छिल्पकोविदः ॥ 152 ॥

वहाँ आयुधागार, कोशागार आदि सुरक्षित रह सके ऐसे भवन और योद्धाओं, सिपाहियों के आवास भी शिल्पियों को बनाने चाहिए।

समीकृते स्थले तत्र प्राक्प्रत्यग्भागयोर्दश।
दक्षिणोत्तरयोर्विंशद्वीथीनाङ्कल्पनं मतम् ॥ 153 ॥

ऐसे गुहानगर के लिए वहाँ की असमतल भूमि को सर्वप्रथम समतल करे और पूर्व से पश्चिम को जाती हुई दस और दक्षिण से उत्तर की ओर बीस वीथियाँ बनाई जानी चाहिए।

अन्याश्चानेकसङ्ख्याकाः क्षुद्रवीथ्यन्वितास्तथा।
पुरन्दरदिशि स्थाप्यं देवस्थानं सगोपुरम् ॥ 154 ॥

वहाँ पर अनेक संख्या में क्षुद्र वीथियाँ, गलियाँ भी रखें और पूर्व की दिशा में देवालयों को गोपुर सहित बनवाया जाना चाहिए।

मध्यभागे निषद्यादीन् न्यायशालान्तु वारुणे।
महापुरं प्रकर्तव्यमथवान्तिकभूमिषु।
नानादेशागतजनैस्सङ्कीर्णश्च समन्ततः ॥ 155 ॥

इस नगर के मध्य भाग में व्यापारियों के प्रतिष्ठान और पश्चिम दिशा में न्यायशाला परिकल्पित करनी चाहिए। इसके बाहरी किनारों की भूमि पर बड़े मुहल्ले नियोजित करे। वहाँ पर विभिन्न देशों से आए हुए लोगों की (पर्यटकों की भी) मिली-जुली आबादी की बसावट चारों ओर होनी चाहिए।

अथाष्टादशस्याष्टमुखनगरस्य लक्षणम् —

वनमध्यगता वापि गिरिपार्श्वस्थितापि वा।
मुखाष्टकनगर्यास्तु वास्तुभूर्वर्तुला मता॥ 156॥
अगाधपरिखोपेता रक्षकैरपि रक्षिता।

अब अठारहवें अष्टमुखनगर के लक्षण कहे जा रहे हैं। वन के मध्य में बसाया गया अथवा पहाड़ियों की तलहटी में बसाया गया नगर मुखाष्टक या आठमुखों वाला नगर कहा जाता है। इस नगर की वास्तुभूमि वर्तुलाकार होती है। इसके चारों ओर गहरी खाइयाँ होती है और यह पहरेदारों से सुरक्षित होती है।

आकाशे दन्तके भागे किन्नरे मीनके तथा॥ 157॥
कोणद्वारचतुष्कन्तु संस्थाप्यं शिल्पकोविदैः।
प्राच्यादिषु च दिक्ष्वत्र समसूत्रप्रमाणकम्॥ 158॥

इसमें वास्तुपदानुसार शिल्पी को आकाश के पद, दन्त भाग, किन्नर और मीन के पद भाग में कोणद्वार और चतुष्कियाँ (चौकियाँ) स्थापित करनी चाहिए। इसी प्रकार पूर्व आदि दिशाओं में समसूत्र के प्रमाण से सीध में सड़कें बनाई जानी चाहिए।

विशेष : इस वर्तुलाकार नगर की वास्तुभूमि को सोलह भागों के मानसूत्र में विभाजित करके उन भागों के आकाशभाग, दन्तक, किन्नर व मीन भाग में नगर के चार चतुष्क बनाए जाने चाहिए। इसी तरह से पूर्व की दिशा की ओर से चारों दिशाओं में समसूत्र के न्यास के अनुसार चार द्वारों का द्वाचतुष्क स्थापित करे। इसी तरह से इन नगर के द्वाराष्टक आठों द्वार कल्पित होंगे। इसको चक्रानुसार समझा जा सकता है।

साधिष्ठानं सवज्रञ्च द्वाश्चतुष्कं प्रकीर्तितम्।
दुर्गान्तर्दुर्गवीथ्येका स्थापितव्या सदेवता॥ 159॥

इस अधिष्ठान को सवज्र द्वाचतुष्क या आठ द्वारों वाला कहा जाता है। वहाँ दुर्गान्त में एक दुर्ग-वीथी का निर्माण देवालय सहित नियोजित करना चाहिए।

मित्रादयश्चतुर्भागाः सर्वतोभद्रवन्मताः।
तन्मध्ये भूमिपालस्य हर्म्यं कुर्याद्विचक्षणः॥ 160॥

इसी तरह मण्डल के मित्रादि चतुर्भागों में, चार भागों में सर्वतोभद्र की भाँति

बताए गए हैं और शिल्पी को इनके मध्यभाग में राजा के आवास के लिए राजमहलों का निर्माण करना चाहिए।

दन्तकादिद्वारमार्गा मध्यगास्सम्प्रकीर्तिताः।
दन्तके रजकादीनां किन्नरे लोहकारिणाम्॥ 161॥

इसी प्रकार दन्तकादि द्वारमार्गों को मध्यगा या बीच की ओर गामी कहा जाता है। दन्तक भाग में रजक-धोबी, छीपों-रंगरेजों की बस्ती हो जबकि किन्नर के भाग में लोहारों की बस्ती होनी चाहिए।

मीनके चित्रकाराणामाकाशे राजसेविनाम्।
निलयान्कल्पयेच्छिल्पी वास्तुभूमिवशादिह॥ 162॥

वास्तुभूमि के अनुसार ही शिल्पकार को मीन के भाग में चित्रकार-मूर्तिकार और आकाश के भाग में राजसेवकों, राजकीय कर्मचारियों के आवास नियोजित करने चाहिए।

दौवारिके च सोमे व राजशालादिका मताः।
विपणिश्रेणिका स्थाप्या मेषगन्धर्वभागयोः॥ 163॥

इसी प्रकार दौवारिक और सोम के भाग में राजशाला या राजमहल बनाए जाए और मेष, गन्धर्व के भाग में व्यापारिक प्रतिष्ठानों की पङ्क्तियाँ नियोजित की जानी चाहिए।

भूधरे भास्करे भागे विप्रदेवालयादिकाः।
युक्त्यान्यत्कारयेच्छिल्पी यजमानेच्छयाऽथवा॥ 164॥

भूधर और भास्कर के भाग में ब्राह्मणों और देवालयों की रचना की जानी चाहिए। इसी प्रकार यजमान की जैसी इच्छा हो अथवा जैसी आवश्यकता हो, शिल्पी को तदनुसार ही युक्तियाँ काम में लेनी चाहिए।

अथैकोनविंशतितमस्य नन्द्यावर्तनगरस्य लक्षणम् —

नन्द्यावर्तनगर्यास्तु वास्तुभूश्चतुरश्रका।
समुद्रतीरभाक्सैव प्रशस्ता परिकीर्तिता॥ 165॥

अब उन्नीसवें नन्द्यावर्त नगर के लक्षण कहे जा रहे हैं। नन्द्यावर्त नगर की वास्तुभूमि चतुरस्रा या समतल व चौकोर होती है। इसकी भूमि समुद्र तीर वाली हो तो प्रशस्त कही जाती है।

सहस्त्रदण्डाधिकमप्यत्र मानमुदीरितम्।
भुजङ्गगमनाकारपरिखावृतवास्तुकम्॥ 166॥

इस नगर का विस्तार प्रमाण एक हजार मानक राजदण्ड से अधिक कहा गया है। इसके चारों ओर की भूमि सर्प के गमन की आकार वाली परिखाओं से घिरी हुई होती है।

आग्नेयादिचतुष्कोणमुख्यद्वारचतुष्कम्।
दक्षिणाननमाग्नेयद्वारं कुर्याद्विचक्षणः॥ 167॥

इस नगर के आग्नेय कोणादि चतुष्कोण पर चार मुख्यद्वारों की रचना होती है। आग्नेय दिशा का द्वार विचक्षण को दक्षिणाभिमुख रखना चाहिए।

प्रत्यङ्मुखन्तु नैर्ऋत्यं वायव्यं चोत्तराननम्।
ऐशान्यं प्राङ्मुखोपेतं द्वारवक्त्रमितीरितम्॥ 168॥

इसी प्रकार नैर्ऋत्य कोण की चौकी पर स्थापित होने वाला द्वार पश्चिममुखी, वायव्य कोण का द्वार उत्तरमुखी और ईशान कोण पर स्थापित होने वाला द्वार पूर्वमुखी करना चाहिए।

महाङ्गणसमोपेतमन्तस्तद्द्वारमीरितम्।
महाङ्गणात् प्रतोलीनामारम्भञ्च प्रकल्पयेत्॥ 169॥

इन दिक्कोणों पर बने द्वारों के चतुष्कों के अन्तरभाग में जहाँ तहाँ महाङ्गण या विशाल चौक परिकल्पित किए जाए और उन आँगनों से आरम्भ करके प्रतोली मार्ग का विकास किया जाना चाहिए।

आग्नेय्यारब्धवीथीनां वायव्यां निर्गमो भवेत्।
नैर्ऋत्यारब्धवीथीनामैशान्यां निर्गमो भवेत्॥ 170॥

इसमें आग्नेय कोण की वीथी के मार्ग का निर्गमन वायव्य कोण की ओर तथा नैर्ऋत्य से आरम्भ होने वाली वीथी का निर्गम ईशान की ओर होना चाहिए।

नन्द्यावर्ताकृतिस्तत्र गणनीया प्रधानका।
एवं प्रतोलिकाश्रेण्यस्तिस्त्रः पञ्चाथ सप्त वा॥ 171॥

इस प्रकार नन्द्यावर्त की आकृति को प्रमुख मानना चाहिए। इसकी प्रतोलिका, मार्गों की श्रेणी प्रति दिशा में तीन, पाँच या सात रखनी चाहिए।

उपवीथीरनेकाश्च चतुर्भागेषु कल्पयेत्।

यत्र प्रतोलिकायोग्यस्तत्र न्यायसभा मता॥ 172॥

वहाँ अनेक प्रकार की उपवीथियाँ चारों भागों में बनाई जानी चाहिए और जहाँ पर प्रतोलिका हो, वहाँ पर न्याय सभाओं की रचना की जाए।

वारुण्यां दक्षिणामूर्तेस्थानङ्कुर्याद्विचक्षणः।
उदीच्यां भूमिपालस्य मन्दिरस्थापनं मतम्॥ 173॥

शिल्पीगण इसके पश्चिम दिशा में भगवान् दक्षिणामूर्ति[१] का मन्दिर बनवाए और उत्तर भाग में राजा का मन्दिर नियोजित करे।

ब्राह्मणादिचतुर्वर्णस्थानानि स्थापयेत्क्रमात्।
नानादेशागतैः पूर्णं प्रयुताधिकसङ्ख्यकैः॥ 174॥

यहाँ पर ब्राह्मणादि चारों ही वर्ण के लोगों के आवास आदि को क्रमानुसार स्थापित करना चाहिए। वहाँ पर विभिन्न देशों से आए लोगों की आबादी दस लाख के पार (प्रयुताधिक) हो सकती है।

ग्रामकार्यकरैस्सर्वैः पुरकार्यकरैरपि।
संयुक्तं नगरं नाम्ना नन्द्यावर्तमुदीरितम्॥ 175॥

इसमें ग्रामकार्य करने वाले और पुर सम्बन्धी कार्य करने वाले कारीगर भी रहते हैं। इनसे भरे-पूरे नगर को नन्द्यावर्त नगर कहा जाता है।

अथ विंशतितमस्य राजधानीनगरस्य लक्षणम् —

सार्वभौमो दयाशीलो धर्मत्राणपरायणः।
सिंहासनस्थस्सचिवैर्भूपालाद्यैरभिष्टुतः॥ 176॥
राजते यत्र तद्वास्तु राजधानीति सोत्तमा।
समुद्रतीरभाग्वापि नदीतीरस्थिताथवा॥ 177॥

ऐसा सार्वभौम अथवा चक्रवर्ती राजा जो दयाशील, धर्मात्मा राजसिंहासन पर

---

१. दीप्तागम में दक्षिणामूर्ति शिव का यह स्वरूप है— टङ्कं तु दक्षिणे हस्ते वामहस्ते तु पुस्तकम्। दक्षिणे चाक्षमाला स्याद्वामहस्ते तु चानलम्॥ श्वेतरूपं त्रिनेत्रं स्याद् द्विपचर्मोत्तरीयकम्। आर्द्रतालङ्कृतं भङ्गि चन्द्रार्ककुसुमान्वितम्॥ शयनं दक्षिणं पादं वामपादं तु कुञ्चितम्। ऋषिभिश्च समायुक्तं दक्षिणेशं प्रकल्पयेत्॥ (दीप्ता. 16, 156-158) इसी की एक अन्य पाण्डुलिपि में यह स्वरूप भी आया है— अधोमुखं भवेच्छूलं रौद्रदृष्टिर्भयावहम्। कालादाहनदं प्रोक्तं षड्भुजं वा चतुर्भुजम्। सन्दंश दक्षिणे हस्ते वामहस्तं तु पुस्तकम्॥ मयमतम् में भी दक्षिणामूर्ति का स्वरूप वर्णित है। (मयमतम् 36, 98-101)

विराजित हो और जिसके पास अपने सचिव-मन्त्रीगण हों, उसके लिए जो वास्तु शोभित हो, उसे राजधानी वास्तु कहा जाता है। यह समुद्र के तटवर्ती भागों में अथवा नदी तीर पर हो सकता है।[1]

सहस्त्रत्रयदण्डान्ता वास्तुभूमिरुदाहृता।
दुर्गावृतामिमां भूमिमथवा भूपमन्दिरम्॥ 178॥

राजधानी नगर के लिए वास्तुभूमि का दैर्घ्य प्रमाण तीन हजार मानक राजदण्ड होना चाहिए। इसे दुर्ग से आवृत या घिरा हुआ बसाए जिसमें राजमहल भी किलों से घिरा हुआ हो।

दक्षिणोत्तरदिग्भागमुखद्वारेण मण्डितम्।
सावित्रे भूपहर्म्यन्तु पताकाद्यैश्च शोभितम्॥ 179॥

इसका मुख्यद्वार दक्षिणोत्तर दिशा भाग में बना हो। यहाँ सावित्र पदानुसार (या सूर्य की दिशा, पूर्व में) राजा के महल को राज्यचिह्न अंकित पताका से शोभित करना चाहिए।

विजयस्तम्भयुक्तं वा सेनाभिरभिरक्षितम्।
सामन्तप्रमुखादीनां तत्रैव स्थानमीरितम्॥ 180॥

राजधानी में विजयस्तम्भ[2] बनाए जाए और सेना द्वारा पूरी तरह रक्षित किया

---

१. भुवनदेव ने राजधानी की रचना के लिए कई विधानों का निर्देश किया है, यह मय का परवर्ती है किन्तु तत्कालीन स्थितियों का प्रदर्शक हैं— प्राकारोच्छ्रयाद् द्विगुणं तदन्ते परिखात्रयम्। अम्भो ? विमार्गशस्तादिग्विदिक्षु च जलाश्रयाः॥ कनिष्ठे च पुरे पादात् मध्यमे च पदार्धतः। षोडशांशात् पुरे ज्येष्ठे ह्यतिरिक्ते च बाह्यतः॥ प्रतोली राजगेहाग्रे राजमार्गस्तदग्रतः। विस्तीर्णा विंशतिकैर्द्विरष्टद्वादशाधमा॥ हट्टश्रेणिस्ततः कार्या षोडशांशेन मार्गतः। बलिकर्मसमस्तानां हट्टोपरि गृहोत्तमम्॥ विदिशासु पुरं कार्य जगत्यस्त्रिगुणं शुभम्। युग्मगृहाश्च कर्त्तव्याः पक्षयोश्चैव सन्मुखाः॥ प्रासादस्य प्रमाणेन पादोनेनाथवोच्यते। प्रासादार्धात्तु कर्तव्या ज्येष्ठमध्यकनिष्ठिकाः॥ एकभौमा द्विभौमा वा शाला निर्गमभूषिता। मत्तवारणसंयुक्ता निर्गताश्चित्रशालिकाः॥ जगत्यग्रे वामनं स्याद् भिट्टं तद्भुवि संस्थितम्। महोत्सवे च वासन्ते कुर्याद्धिन्दोलकं त्विह॥ देवस्य परतः कार्या निगूढा नृत्यशालिकाः। पूर्वस्यामथवाग्नेय्यां वायव्ये वारुणे शुभम्॥ शेषासु ह्यप्रशस्ताश्च आग्नेय्यां सत्रमण्डपम्। वास्तुवेदीसंस्थितं तन् मठः स्थाप्यस्तु दक्षिणे॥ गृहं पञ्चरिकायुक्तं मैत्रस्थानसमाश्रितम्। यतिध्यानालयं कुर्यात् प्रलीना यत्र शासने॥ पुरसीमान्तप्राकारे प्रतोलीहट्टमार्गयोः। जलाश्रयं जगत्यन्ते घटिमालासमुद्भवम्॥ (अपराजित. 72, 20-31)

२. विजयस्तम्भ नगरों की शोभा के लिए बनाए जाते रहे हैं। किसी विजय की स्मृति को बनाए रखने के लिए भी ऐसे स्तम्भों का निर्माण किया जाता था, जैसा कि महाकवि कालिदास ने कहा है— स्तम्भनिचखान जयस्तम्भान् गङ्गास्रोतोऽन्तरेषु सः। (रघुवंश 4, 36) अजन्ता,

जाए। वहाँ पर सामन्तगणों के स्थान भी पूर्वोक्त रीति के अनुसार ही बनाए जाने चाहिए।

धनाकराणां धनिनां चक्रकाणाञ्च वासवे।
मनोहराणि तुङ्गानि भवनानि प्रकल्पयेत्॥ 181॥

वासवदेव के भाग पर धनाढ्यों और चक्रकारों (सार्थवाहों-आढ्य धनवानों) के भवनों का निर्माण मनोहर और उत्तुङ्ग प्रकार से करना चाहिए।

विवस्वादापभागस्थं स्थानमुक्तं द्विजन्मनाम्।
तत्रैव मन्दिरं कल्प्य दुर्गायाश्च शिवस्य च॥ 182॥

राजधानी में विवस्वान् और आप के पद पर ब्राह्मणों के आवास होने चाहिए तथा वहीं पर दुर्गा आदि देवियों और शिवादि देवताओं के मन्दिरों का निर्माण करना चाहिए।

गणनाथस्य मन्दस्य रवेरपि च नन्दिनः।
वासुदेवस्य च हरेर्लक्ष्म्यादीनाञ्च मन्दिरम्॥ 183॥

इसी प्रकार गणेश, शनि, सूर्य, नन्दी, वासुदेव, लक्ष्मीनारायण आदि के मन्दिर भी बनवाए जाने चाहिए।

प्राकारगोपुरोपेतं तटाकाद्यैश्च शोभितम्।
सोमके राजबन्धूनां वैश्यानां मीनके तथा॥ 184॥

यह प्राकार-परकोटा, गोपुर, जलाशय आदि से शोभायमान हो। राजधानी में सोम के पद पर राजा के बन्धु-बान्धवों और मीन के पद पर वैश्यों का आवास हो।

शूद्राणां भृङ्गराजे च भवनानि प्रकल्पयेत्।
स्वर्णकारादिसदनं रुद्रके भूधरेऽपि च॥ 185॥

शूद्रों को भृङ्गराज के भवनों को परिकल्पित करना चाहिए और रुद्र या भूधर के पद पर स्वर्णकार आदि के सदन हों।

एलोरा, चित्तौड़गढ़ आदि में इस प्रकार के स्तम्भों का निर्माण मिलता है। चित्तौड़गढ़ में महाराणा कुम्भा (1433-1468 ई.) में बनवाए गए स्तम्भ का नाम कीर्तिस्तम्भ है अथवा विजयस्तम्भ? इसे लेकर विद्वानों ने अपने-अपने तर्क दिए हैं। इस श्लोक से ज्ञात होता है कि नगरों में विजयस्तम्भों की रचना भी होती रही है।

भागेष्वेतेषु विपणीर्विशालाः पण्ययोग्यकाः।
कारयेच्छिल्पकार्यज्ञैरनेकास्तुङ्गभूस्थिताः ॥ 186 ॥

इन्हीं भागों में विशाल विपणी या व्यापारिक मण्डी, जो कि व्यापार के सर्वथा योग्य हो, शिल्पी को नियोजित करनी चाहिए और यह ज्ञात रहे कि वे उच्च भूमिस्थ अथवा ऊँची पेढ़ी वाली हों।

विद्याशाला वैद्यशाला न्यायशालाश्च भूपतिः।
क्रियाशाला रङ्गशालाश्चित्रशालादिकास्तथा ॥ 187 ॥
कारयेच्च विधानेन शिल्पकार्यविचक्षणैः।

इस नगर में विद्याशाला, वैद्यशाला, न्यायशाला, राजा की क्रियाशाला, रंगशाला, चित्रशाला आदि भी शिल्पकर्म में निपुण सूत्रधार को विधानपूर्वक बनानी चाहिए।

भटानामालयश्रेणिराकाशे परिकीर्तिता ॥ 188 ॥
कुलालादिगृहश्रेणिं स्थापयेत्पवने तथा।
वाद्यकारादिनिलयान्मित्रभागे प्रकल्पयेत् ॥ 189 ॥

इस नगर में योद्धाओं के आवासों की श्रेणियों को आकाश के भाग पर नियोजित करनी चाहिए। कुम्हारों की बस्तियों को पवन के स्थान पर और वाद्यकारों-सङ्गीतज्ञों के भवनों को मित्र के स्थान पर परिकल्पित करना चाहिए।

वह्निभागे नटादीनामालयान्परिकल्पयेत्।
गणिकाभवनश्रेणिर्मेषभागे प्रकीर्तिता ॥ 190 ॥

नट-शैलूष आदि के भवन वह्नि के भाग पर परिकल्पित करे और गणिकाओं, वेश्याओं के भवनों की श्रेणियाँ मेष के भाग पर निवेशित करे।

मत्स्यग्राहिगृहश्रेणिं पुष्पके तु प्रकल्पयेत्।
चर्मकारगृहश्रेणिर्भागे दौवारिके मता ॥ 191 ॥

मछली पकड़ने वालों की गृहों की श्रेणियाँ पुष्पक के भाग में और चर्मकारों के गृहों की श्रेणियाँ दौवारिक के पद पर नियोजित करनी चाहिए।

अन्नशालास्तु विविधा भागाष्टकसमीपकाः।
अथ गन्धर्वभागे वा तां शालान्तु प्रकल्पयेत् ॥ 192 ॥

विविध प्रकार की अन्नशालाओं को भागाष्टक के समीप बनाएँ या फिर गन्धर्व के भाग या शालाओं के अन्त में नियोजित करनी चाहिए।

आरामभूमिस्सुग्रीवे दन्तके मदिरागृहम्।
रोगे पुरोहितस्थानं शोषके दर्शनालयम्॥ 193॥

बाग-बगीचों की भूमि को सुग्रीव के भाग में और मधुपेयशाला को दन्तक के भाग में बनाए। रोग के पद पर पुरोहित और शोष के पद पर दर्शनालय (गैलेरी या प्रेक्षालय) को बनाना चाहिए।

गजशालां भुजङ्गे तु किन्नरे वाजिशालकाम्।
भास्करे यात्रिकस्थानमीशाने द्यूतशालकाः॥
कारयेत्तु विधानेन तत्र-तत्र महीपतिः॥ 194॥

गजशाला को भुजङ्ग के भाग में और किन्नर के भाग में अश्वशाला को नियोजित करना चाहिए। भास्कर के भाग में यात्रियों या पर्यटकों का स्थान रखें और ईशान के पद भाग पर द्यूतशाला का नियोजन करना चाहिए। इस प्रकार राजा इन शालादि के कार्यों को जहाँ-जहाँ उचित कहा है, वहाँ-वहाँ पर विधानपूर्वक बनवाए।

एतावता प्रबन्धेन विस्तरशः प्रतिपादितानां पद्मादिनगराणामीशितारः के इत्या-कांक्षायां तदधिपान्विशिनष्टि —

नरेन्द्रः पृथिवीपालः पद्माख्याधिपतिर्मतः।
सर्वतोभद्रकल्पेतो महाराजः प्रकीर्तितः॥ 195॥

यह ज्ञातव्य है कि पद्म नामक नगर के अधिपति पृथ्वीपाल या राजा की पदवी नरेन्द्र की होती है जिनके आवास यहाँ बनाए जाने चाहिए (यहाँ कर्मकर प्रजा का रक्षण करना चाहिए)। इसी तरह सर्वतोभद्र नगर के भूपतियों को महाराजा कहा जाता है (जो क्षत्रियों का रक्षक होता है)।

अस्त्रग्राहः प्रस्तरस्य नायकश्शास्त्रचोदितः।
पट्टभाक् श्रीप्रतिष्ठायाः पुरस्य युवभूमियः॥ 196॥

प्रस्तर नगर के अधिनायक को अस्त्रग्राह कहा जाना शास्त्रसम्मत है। श्रीप्रतिष्ठित नगर के राजा को पट्टभाक् अधिपति (दान, अधिकार से प्राप्त भाग का वाहक) कहते हैं जबकि पुर के नायक को युवराज कहा जाता है।

नेता माण्डलिकः प्रोक्तो मुखाष्टकपुरस्य तु।
सार्वभौमोऽधिपो राजधान्या एवं क्रमो मतः ॥ 197 ॥

इसी प्रकार मुखाष्टक नगर के राजा को माण्डलिक तथा मण्डलाधिपति नेता को राजधानी में सार्वभौम अधिपति कहते हैं, ऐसा मत है।

शास्त्रज्ञैर्मुनिभिः प्रोक्तमन्यत्सामन्तनायकम्।
इत्येवं नगर-ग्रामलक्षणं वेद्यमीरितम् ॥ 198 ॥

इस प्रकार नगरों के सामन्तादि भूमिनायकों, अधिपतियों का क्रम शास्त्र में मुनियों ने जो बताया है, उसे ही नगर, ग्राम लक्षणों के रूप में जानना चाहिए।

अथ मण्डकादिषु ग्रामेषु, पद्मादिषु नगरेष्वपि स्थानविशेषेषु कल्पनीयकल्पना-प्रकारादिकं शिल्पिने कार्यज्ञाय सूचयति —

नगरादिषु दुर्गेषु पालिका वज्रपीठिकाः।
कूटकोष्टादयश्चान्ये स्थलयोग्याः प्रकीर्तिताः ॥ 199 ॥

नगरों और दुर्गों में पालिका एवं वज्रपीठिका सहित अन्य कूट, कोष्ठादि को स्थल के योग्य कहा गया है अर्थात् ये सब कूट कोष्ठादि रचना नगर की शोभार्थ जहाँ-तहाँ उचित लगे, शिल्पियों को निर्मित करनी चाहिए।

नलीकस्थानयोग्यं यच्छिखाकोष्ठमुदीरितम्।
योधावरणसाला ये ये चान्ये कल्पनादयः ॥ 200 ॥

नलीक स्थान योग्य जो है, उन्हें शिखाकोष्ठ कहा जाता है, इन्हें योद्धाओं के आवरण या छिपने की साला-परकोटा में कल्पित करे (अर्थात् राजभवन के समीप दुर्गादि की भित्तियाँ ऐसे आच्छादन या छिपने के स्थान होते हैं, जिनमें योद्धाओं की नियुक्ति होती है ताकि वे उन खन्दकों में छिपकर शत्रुदलों का उन्मूलन कर सके, ऐसे गूढ़ स्थान नलिक कहे जाते हैं)।

तान्सर्वाञ्छिल्पकार्यज्ञो योजयेत् सन्धिकर्मणा।
मुख्यद्वारादिभागेषु स्थाप्या वैनायकालयाः ॥ 201 ॥

इस तरह शिखा-कोष्ठादि भी दुर्ग-भित्ति या परकोटे के अन्य भागों में छिपकर ताक लगाने के स्थान है जिससे शत्रु को पराङ्मुख किया जा सके। ऐसे सभी शिल्पकार्यों को सन्धिकर्म-दुर्गभित्ति की चिनाई के काम में योजित करना चाहिए।

मुख्य द्वारादि भागों में विनायकालय या गणेश की द्योढ़ी[1] बनाए।

दण्डद्वयं क्षुद्रवीथ्या मानमुक्तं मुनीश्वरैः।
वीथ्या तद्द्विगुणं प्रोक्तं त्रिगुणं वा चतुर्गुणम्॥ 202॥

मुनीश्वरों के मतानुसार क्षुद्रवीथियों या लघु सड़कों, गलियों का मान दो राजदण्ड रखना चाहिए और मुख्य वीथियाँ उससे दो गुनी (चार दण्ड) या तीन गुनी (छह दण्ड) अथवा चार गुनी (आठ दण्ड) कल्पित की जाए।

नगरादिषु सर्वेषु युक्त्या तन्मानयोजनम्।
राजवीथीषु मार्गेषु विपण्यादिषु शिल्पवित्॥ 203॥

इन नगरों में जहाँ जो युक्ति आवश्यक हो, उसके लिए वैसे ही अपरिहार्य मानकर प्रयोजित करे। शिल्पज्ञ लोग राजवीथियों, मार्गों और व्यापारिक प्रतिष्ठान, मण्डी आदि का भी मान सम्मत निवेश करे।

दण्डषट्कप्रमाणेन वैशाल्यं कल्पयेत्क्रमात्।
देवमानुषपैशाचराक्षसाख्याः प्रकीर्तिताः॥ 204॥

इनकी विशालता, मार्गों की चौड़ाई को छह दण्डों, षट्क प्रमाण की कल्पना से करे जिन्हें देव, मानुष, पैशाच और राक्षस वीथियों के नाम से कहा जाता है।

नाराचा वास्तुभागेषु वीथ्यन्ताश्च त्रिकोणकाः।
न तत्र कल्पनं कुर्यात्प्राणिनां हानिदं हि तत्॥ 205॥

वीथियों-मार्गों के अन्तरालभाग या संगम स्थान त्रिकोण वाले वास्तुभाग नाराच कहलाते हैं। (यह नाराच भूमि भी देव, मानुष, पैशाच और राक्षस इन उपभेदों से चार प्रकार की होती है) इन स्थानों में कोई शिल्प रचना, क्षुद्रकुटिया भी नहीं बनानी चाहिए क्योंकि वहाँ पर प्राणियों को पीड़ा हो सकती है।

वीथ्यादिसम्मुखं गेहं तथा गोपुरसम्मुखम्।
विषमस्थलसंयुक्तं निम्ननिम्नेतरान्वितम्॥ 206॥

इसी तरह वीथियों के सम्मुख तथा गोपुरों के सामने के विषम स्थल संयुक्त जो निम्ननिम्नेतरान्वित अर्थात् नीचे से नीचे जाती भूमि हो (ऐसे विषम स्थल पर

---

१. हमारे यहाँ द्वार पर गणेश द्योढ़ी बनाने की परम्परा रही है। भवनों ही नहीं, दुर्गों के शिखर पर विनायक को विराजित किया जाता है। यह प्रयोग वास्तुदोष निवारक तो है ही, शत्रुओं की मलीनता के निवारण के उपाय के रूप में भी प्रचलित रहा है। रणथम्भौर आदि कई जगह प्रथम द्वार को ही गणेशपोल कहा जाता रहा है।

कोई रचना नहीं होनी चाहिए)।

आर्जवेन विहीनश्च कर्तरीकृतमेव च।
शास्त्रविच्छिल्पकार्यज्ञः कारयेन्न कदाचन॥ 207॥

कुटिलता से विहीन या सादगी, सरलतारहित शिल्प को कर्तरीकृत कहा गया है, अतः शास्त्रों के जानकार शिल्पियों को इन्हें कभी नहीं करना चाहिए।

तटाकादिसमायुक्तं निष्कुटादिसमन्वितम्।
विश्रान्तिस्थानकं कुर्यात्तत्र तत्र समन्ततः॥ 208॥

पद्मादि नगरों में सब ओर, जहाँ-तहाँ यथालब्ध स्थल के अनुसार तालाब, बाग-बगीचे आदि प्राणियों के विश्राम स्थान के रूप में सजल बनाए। उनमें निष्कुटादि सहित क्रीड़ा स्थल आदि भी जनानुरंजन के लिए बनवाए जाए।

श्मशानभूमि कल्पनम् —

ऐशान्यभागे वोदीच्यां दक्षिणस्यामथापि वा।
सन्निकृष्टनदीतीरे श्मशानं निर्दिशेद्बहिः॥ 209॥

नगर के ईशान भाग में अथवा उत्तर भाग या दक्षिण भाग में नदी के पेटे के पास, नगर के बाहर की ओर श्मशान भूमि को रखना चाहिए।

न वल्मीकसमीपे वा निम्नोन्नततलेऽथवा।
यथा न धूमप्रसरस्तथा कार्यं पुरादिषु॥ 210॥

यह श्मशान भूमि वहाँ पर हो जहाँ कि वल्मीक या साँप की बाँबियाँ नहीं हों, उसके पास न तो उबड़-खाबड़ भूमि हो और न ही ऐसा होता हो कि वहाँ से प्रसारित होता हुआ धूआँ नगर में व्याप्त होता हो अर्थात् इतनी दूरी रखी जानी चाहिए।

आग्नेय्यामथ वायव्यां वारुणे वा क्वचित्पुरे।
चेरीश्चण्डालजातीनां कल्पयेच्छिल्पकर्मवित्॥ 211॥

शिल्पीगण को नगर की आग्नेय दिशा में अथवा वायव्य या फिर पश्चिम दिशा में किसी स्थान में चेरी, चण्डाल समुदाय की बस्ती को नियोजित करना चाहिए।

गोविश्रान्तिस्थलादिकम् —

ग्रामादिमेषु सर्वेषु गोविश्रान्तिस्थलादिकम्।
खलश्च निर्दिशेच्छिल्पी मानदण्डेन सर्वतः॥ 212॥

सभी ग्रामादिकों में गायों के लिए विश्राम स्थल (गोष्ठ, चरागाह, खिड़क, बाड़ा आदि) बनाए जाएँ और उनके चरने के लिए आवश्यक मानदण्ड के अनुसार ही खलिहान भूसी, तिलैरा, चना, आढ़क, गेहूँ की खली आदि का प्रबन्ध करना चाहिए।

अन्यदप्याह —

कालिकद्रव्यराशीनां विक्रयस्थानकं तथा।
विदुषां परिषत्स्थानमपि कल्प्यं पुरादिषु॥ 213॥

नगर में समय-समय पर रुपयों की प्राप्ति या जमा करने की दृष्टि से संस्थाएँ और (कालिक द्रव्य राशि समितियाँ, बैंक), बाजार-मण्डियाँ आदि हों एवं विद्वज्जन परिषदों के स्थानक भी परिकल्पित किया जाए।

ऐन्द्रजालिकभूमिश्च तथान्यांश्च विनिर्दिशेत्।
इत्यादि बहुधा स्थानं नगरादिषु कीर्तितम्॥
विज्ञाय शिल्पी तत्सर्वं स्थापयेन्नगरादिषु॥ 214॥

इन नगरों में कुछ भाग ऐन्द्रजालिकभूमि के रूप में भी रखे जाए जहाँ कि जादूगर या बाजीगर, कौतुक प्रदर्शक अपनी कला का प्रदर्शन कर सके। ऐसे ही अन्य उपयोगी स्थल भी शिल्पियों को निर्मित करने चाहिए ताकि नगर की शोभा में अभिवृद्धि हो। शिल्पीगणों को चाहिए कि वे नगर की आवश्यकता को दृष्टिगत रखते हुए वहाँ सभी प्रकार के संसाधनों का विकास करे, उसकी कीर्ति का प्रसार करे।

इति विश्वकर्मप्रणीते विश्वकर्मवास्तुशास्त्रे (पद्मादि) नगरलक्षणकथनं नाम नवमोऽध्यायः॥ 9॥

इस प्रकार विश्वकर्माप्रणीत विश्वकर्मवास्तुशास्त्र में पद्मादि नगर लक्षण कथन नामक नवम अध्याय पूर्ण हुआ।



अथ दुर्गलक्षणकथनं नाम

दशमोऽध्यायः ॥ 10 ॥

अथेदानीं दुर्गलक्षणकथनात्मकं दशमाध्यायमारभते —

दुर्गाणां स्थापनं प्रायो भूपानामात्मरक्षकम्।
तस्माच्छिल्पिगणैः कार्यं न तत्र नगरादिकम्॥ 1 ॥
क्वचिद्यदि कृते तस्य निर्माणं रचयेत्क्रमात्।
गिरिकाननभेदेन तद्द्वादशकमीरितम्॥ 2 ॥

(इस अध्याय में दुर्गों के लक्षणों पर विचार किया जा रहा है) दुर्गों की स्थापना प्रायः राजाओं के स्वयं की रक्षार्थ होती है। अतः ऐसे स्थानों पर शिल्पियों को कोई भी सामान्य नगरादि बस्ती नहीं बसानी चाहिए। किन्हीं-किन्हीं दुर्गों के निर्माण की रचना के क्रम से गिरि-कानन भेद अथवा पहाड़ी के ऊपर एवं वन मध्य के दुर्गों के अनुसार बारह प्रकार के दुर्ग बनते हैं।[१]

---

१. इस ग्रन्थ के पूर्ववर्ती मयमतम् के भी दसवें अध्याय में दुर्गों का वर्णन आया है। उसमें सात प्रकार के ही दुर्ग परिगणित हुए हैं— 1. गिरिदुर्ग, 2. वनदुर्ग, 3. जलदुर्ग, 4. पङ्कदुर्ग, 5. ईरिणदुर्ग, 6. दैवतदुर्ग और 7. मिश्रदुर्ग— गिरिवन जलपङ्केरिणदैवतमिश्राणि सप्त दुर्गाणि॥ (मयमतम् 10, 36)

मानसार में दुर्गों का वर्णन इस प्रकार आया है—वक्ष्ये यथाक्रमं सर्वानि दुर्गाणि दुर्गकं च। गिरिदुर्ग वनदुर्ग सलिलं पङ्कदुर्गकम्॥ रथादुर्ग देवदुर्ग मिश्रदुर्ग तथैव च। पर्वतावृतन्मध्ये च पर्वतस्य समीपके॥ पर्वताग्रपदेशे तु गिरिदुर्गमिति त्रिधा। तलपर्जन्यान्तरयुक्तं गगनं च प्रवेशनम्॥ एतत्तु वनदुर्ग स्याज्जलदुर्गमिहोच्यते। समुद्रैश्च नदीभिश्च संवृतं जलदुर्गकम्॥ पर्वतकन्दरैर्युक्तं दुष्प्रवेशं च शत्रुभिः। दुर्ग तु कृत्वा नृपतिस्तिष्ठेत्तत्पङ्कदुर्गकम्॥ वनाभावे जलाभावे सर्वशून्यादिदूषकम्। चोरैश्च सङ्कुलस्थानं निर्ग्रामं रथदुर्गकम्॥ ब्रह्मराक्षसवेतालं भूतप्रेतादिभैरवाः। शिलावर्षं प्रवर्षन्त्यालोक्य वेशनिर्गमे॥ मन्त्रतन्त्रादिसामर्थ्यैः कृतान्तं देवदुर्गकम्। अनेकपर्वतोपेतं नानावनसमिश्रकम्॥ तत्रास्थितं तु तद्दुर्ग मिश्रदुर्गमिति स्मृतम्। सर्वेषामपि दुर्गाणां वप्रैश्च परिघैर्वृतम्॥ प्रवेशनिग्रमस्थाने द्वारैरपि समन्वितम्। इष्टकादिकृतं वप्रे हस्तद्वादशकोच्छ्रितम्॥ तदर्धेभित्तिमूले तु सञ्चारैः सह विस्तृतम्। नगराणां तु सर्वेषां वक्ष्ये विन्यासलक्षणम्॥ प्राक् प्रत्यग्गतमायामं दक्षिणोत्तरसमन्वितम्। एकरथ्यां समारभ्य चैकैकं वीथिवर्धनात्॥ वीथिद्वादशपर्यन्तं युग्मायुग्मं प्रकल्पयेत्। अन्योऽन्यानुक्तविन्यासं ग्रामे पूर्वोक्तवत्कुरु॥ वास्तुविन्यासमिति ज्ञात्वोहापोहेन योजयेत्। एवं तु नगरं प्रोक्तं शिल्पिनां कारयेत्क्रमात्॥ (मानसार 10, 45-58)

तत्र प्रथमस्य गिरिदुर्गस्य लक्षणम् —

गिरिसानौ गिरेर्मध्ये मूर्ध्नि वा यत्प्रकल्पयते।
गिरिदुर्गमिति प्रोक्तं मुनिभिश्शास्त्रपारगैः ॥ 3 ॥

अब प्रथम गिरिदुर्ग के लक्षण कहते हैं। पहाड़ी की निकटता वाले क्षेत्र, पहाड़ियों के मध्य के भाग में अथवा पहाड़ियों के शिखर पर जहाँ भी उचित भूमि हो, वहाँ पर परिकल्पित किए जाने वाले दुर्गों को मुनियों व शास्त्रविदों द्वारा गिरिदुर्ग कहा गया है।

मध्यस्थदेवप्रासाददेवमन्दिरभूषितम्।
मन्त्र्यादिपरिवाराणां भवनाद्यैस्समन्वितम् ॥ 4 ॥

इन गिरिदुर्गों के मध्य भाग को देवप्रासादों, देवमन्दिरों से विभूषित किया जाना चाहिए। इसी प्रकार वहाँ पर राजा के मन्त्रीगण आदि पदाधिकारियों, उनके परिजनों के लिए भवनादि भी बनाए जाए।

प्राचीमुखं प्रकर्तव्यमथवोत्तरदिङ्मुखम्।
भटैः खड्गधैररन्यैस्समन्तात्संवृताङ्गणम् ॥ 5 ॥

दुर्गों की रचना सदा पूर्वमुखी अथवा उत्तरमुखी करनी चाहिए और इन दुर्गों में सुभट-योद्धाओं और खड्ग-खेटक धारण करने वाले रक्षकों, प्रहरियों को चारों ओर तैनात रखना चाहिए।

अथ द्वितीयस्य वनदुर्गस्य लक्षणम् —

वनमध्यगतं दुर्गं वनदुर्गमुदीरितम्।
ऊर्ध्वस्थं भूमिभागस्थमन्तस्थं चेति तत्त्रिधा ॥ 6 ॥

अब द्वितीय वनदुर्ग के लक्षण कहते हैं। जंगल के मध्य भाग में बने हुए दुर्ग को वनदुर्ग कहा गया है। ये दुर्ग 1. ऊर्ध्वस्थ, 2. भूमिभागस्थ और 3. अन्तस्थ— इस तरह तीन प्रकार के हो सकते हैं।

ऊर्ध्वस्थं तुङ्गभूमिस्थं भूमिस्थं भूतलाश्रितम्।
सुरङ्गाश्रितमन्तस्थं बोध्यं शिल्पपरायणैः ॥ 7 ॥

शिल्पीगणों को उक्त दुर्गों में ऊर्ध्वस्थ दुर्ग ऊँचे टीलों को देखकर, भूमिस्थ भूतलाश्रित और सुरङ्गाश्रित या अन्तस्थ, खन्दकों-खाइयों की भूमि का अवबोध कर बनाए जाने चाहिए।

तेषां लक्षणान्याह —

शिलापरम्परातुङ्गभागस्थे दृढभित्तिकैः।
रक्षकैर्यामिकैरन्यैः परीते च समन्ततः॥ 8॥

गिरि या पहाड़ियों की शिलाश्रेणी परम्पराओं की तुङ्ग ऊँचाई के भागों पर दृढ़ भित्तियुक्त अथवा परकोटे वाले किलों को ऊर्ध्वस्थ दुर्ग कहते हैं। इन दुर्गों को चतुर्दिक प्रहरियों और अन्य रक्षापंक्तियों से रक्षित करने का उपक्रम करना चाहिए।

दुर्गे प्रागानने स्थाप्यं भूमिपालस्य मन्दिरम्।
मन्त्र्यादिपरिवाराणां भवनानि प्रकल्पयेत्॥ 9॥

प्रायः इन दुर्गों को पूर्वाभिमुख निर्मित करना चाहिए। वहाँ पर राजा का महल हो और उसके मन्त्री, सन्धिविग्राहक आदि के परिवारों के भवन भी परिकल्पित करने चाहिए।

सुरङ्गादुर्गके स्थाप्यं योधायुधधनादिकम्।
तलाश्रितं तु तद्दुर्गं तुङ्गप्राकारसंयुतम्॥ 10॥

सुरङ्ग दुर्गों की रचना खन्दक युक्त नीची भूमि पर होती है और वहाँ पर योद्धाओं को आयुधों से सन्नद्ध नियुक्त करना चाहिए। वहाँ पर धनसंग्रह के लिए कोशालय हों जो भूतल के तलागारों, खन्दकों में आश्रित हो और उनके चारों ओर ऊँचा परकोटा होना चाहिए।

नलीकस्थानभाक्कोणेष्वन्तर्द्वाराश्रितं तथा।
प्रस्तरोक्तप्रमाणेन कारयेदन्यकल्पनम्॥ 11॥

इन परकोटों के बीच-बीच में नलीक स्थान या बन्दूक-तोप दागने के लिए छिद्र-स्थान हों और कोणों पर बुर्जियाँ बनाई जाएँ जिनमें अन्तर्द्वार रखे जाने चाहिए। इन परकोटों के आन्तरिक भाग में प्रस्तरनगरोक्त लक्षण के प्रमाणानुसार अन्य की कल्पना करनी चाहिए।

अथ तृतीयस्य सलिलदुर्गनगरस्य लक्षणम् —

पारावारेण नद्या वा संवृतं स्थलमुत्तमम्।
कथितं शिल्पशास्त्रज्ञैर्नाम्ना सलिलदुर्गकम्॥ 12॥

अब तीसरे जलदुर्ग के लक्षण कहे जा रहे हैं। समुद्र के अन्तर्गत तथा नदियों से घिरे हुए भूभाग इस दुर्ग के निवेश के लिए उत्तम कहे गए हैं। जल के बीच होने से

ही इस प्रकार की दुर्ग रचना को शिल्पशास्त्रवेत्ताओं ने सलिलदुर्ग नाम दिया है।

भूपालस्येच्छया कार्यमन्तर्दुर्गप्रकल्पनम्।
दुर्गात्तेरुभयतस्तूपकुड्यसमन्वितम्॥ 13॥

सलिलदुर्ग को राजा की इच्छा के अनुसार अन्तर्दुर्ग के रूप में बनाया जाना चाहिए। ऐसे दुर्ग की भित्तियों के उभयपार्श्व में स्तूप (मिट्टी के थुहों वाली) दीवारें आदि बनाई जानी चाहिए।

मध्यस्थराजभवनममात्यादिस्थलोज्ज्वलम्।
स्थलानुकूलतः स्थाप्यमन्यवासादिकं पुनः॥ 14॥

सलिलदुर्ग के मध्य में राजा का महल और उसके आमात्यादि के लिए उज्ज्वल या सफेदा से पुते हुए भवन बनाए जाए। स्थान की अनुकूलता को देखकर वहाँ अन्य आवास भी बनाए जाने चाहिए।

सेनावासं ससम्भारं स्थापयेच्च समन्ततः।
ससालं सहितं वीरैर्यामिकैस्तटरक्षकैः॥ 15॥

वहाँ पर राजमहल के समीप समुचित स्थान देखकर सेनापति और सेन्यावास बनाए, बैरक आदि की स्थापना करे और उनके लिए आवश्यक संसाधनों (खाद्यान्न, चावल, आढ़क, मूँग, गेहूँ, चना, मिर्च, तेलभाण्ड) का भण्डारण किया जाना चाहिए। ये दुर्ग परकोटों के साथ ही वीर योद्धाओं से रक्षित किए जाए।

अथ चतुर्थस्य इरिणदुर्गस्य लक्षणम् —

सलिलैस्तरुषण्डैश्च लताद्यैश्च विवर्जिते।
दुष्प्रवेश्ये स्थले तुङ्गे सोपानालिसमन्विते॥ 16॥
निम्ने वाऽथ स्थले क्लृप्तमिरिणं दुर्गमिष्यते।
दुर्लङ्घ्यामरिसेनाभिरभेद्याश्च समन्ततः॥ 17॥

अब चतुर्थ इरिण दुर्ग (मरुभूमि के किले) के लक्षण कहे जा रहे हैं। जहाँ पर पानी नहीं हो, काष्ठादि नहीं हो, लता, झाड़-झंखाड़ नहीं हो, ऊँचे-ऊँचे स्थलों पर जहाँ प्रवेश पानी भी दुष्कर हों एवं ऐसे स्थल पर जहाँ कि सीढ़ियों की पंक्तियाँ अथवा चढ़ाई योग्य सुविधा हो, वहाँ पर निम्न या उच्च भूतल पर बने हुए दुर्ग को इरिण दुर्ग कहा जाता है। ये शत्रु सेना के लिए चारों ही ओर से सर्वथा अभेद्य, दुर्जेय होता है।

परिखां पृथुसालाञ्च कल्पयेच्छिल्पकर्मवित्।
तन्मध्ये भूमिपालस्य द्वारोपद्वारसंयुतम्॥ 18॥

शिल्पकर्मविदों को इसके लिए परिखा और विशाल, चौड़ा प्राकार बनाना चाहिए। इसके बीच में राजा के लिए कई द्वारों और उपद्वारों वाला राजमहल बनाए।

नानाशालासमोपेतं नलिकादिस्थलान्वितम्।
प्रच्छन्नमार्गसंयुक्तं भवनं रचयेद्बुधः॥ 19॥

उक्त राजमहल नाना प्रकार की शालाओं, कक्षाओं वाले बनाए और उनको नलिकादि स्थलों (यन्त्रों से युक्त गृहों या गुह्यमार्गों) से युक्त करे। इनके लिए मार्ग ढके हुए हो, ऐसे विद्वानों को ज्ञात रखना चाहिए।

मन्त्र्यादिपरिवाराणां भवनानि समन्ततः।
सेनास्थानं ससम्भारं सायुधं यन्त्रगर्भितम्॥
योगो दूरतरस्थेन मार्गेणास्य सुरक्षकः॥ 20॥

इसमें राजा के सलाहाकारों, मन्त्रियों के परिवारों के लिए चतुर्दिक भवन हों। सेना और सेना-प्रजा के लिए आवश्यक सम्भार, सामग्री को भी एकत्रित रखना चाहिए। कई प्रकार के यन्त्रायुध भी हों ताकि सुरक्षाकर्मी उनसे दूरस्थ मार्गों तक सुरक्षोपाय कर सके।

अथ पञ्चमस्य दैवतदुर्गस्य लक्षणम् —

क्वचिद्भूधरमार्गेषु नद्यास्तीरादिषु स्थलम्।
सहजागाधपरिखासंवृतं तत्तु दैवतम्॥ 21॥

अब पाँचवें दैवत दुर्ग के लक्षण कहे जाते हैं। कहीं-कहीं पहाड़ी मार्गों में अथवा नदियों के तटों के स्थलों पर सहजता से बनने वाली खाइयों से घिरी हुई भूमि को दैवत कहा जाता हैं।

तत्रैव दुर्गनगरं स्थापयेत्स्थलयोग्यकम्।
युग्मायुग्मपदोपेतं द्वारोपद्वारसंयुतम्॥ 22॥

वहीं पर स्थल के योग्य दुर्ग की स्थापना करनी चाहिए जिसके युग्मायुग्म (जोरला, भीतर-बाहर दोनों ही ओर) दो-दो पदों वाले द्वार एवं उपद्वार हों।

सप्राकारं ससैन्यञ्च मध्यस्थक्षत्रमन्दिरम्।
योधावाससमोपेतमायुधागारसंयुतम्॥ 23॥

ये परकोटा से युक्त हों और उसमें सैनिकों सहित मध्य में राजमहल को बनाया जाए। इसी प्रकार वहाँ पर योद्धाओं का निवास हो और उनके लिए उपयोगी आयुधागार भी होना चाहिए।

एकानेकतलोपेतशालाभिश्च समुज्ज्वलम्।
मन्त्र्यादिपरिवाराणां भवनाद्यैश्च संयुतम्॥ 24॥

यह दुर्ग एक से लेकर अनेक तलों वाले भवनों वाला हो। ये भवन उज्ज्वल यानी साफ-सुथरे, चूना पुते हों। वहीं पर मन्त्रियों के परिवारों के निवास के लिए भवन भी होने चाहिए।

अथ एकमुख-द्विमुख-चतुर्मुख दुर्गलक्षणम् —

नदीनदीशतीरे वा गिरिसानौ समस्थले।
चतुरश्रं कृतं दुर्गमेकाननामुदीरितम्॥ 25॥

अब छठवें एकमुख, सातवें द्विमुख और आठवें चतुर्मुख दुर्ग के लक्षण कहे जाते हैं। नदी के किनारे पर या समुद्र के तट पर अथवा पर्वतों की तलहटी में, जहाँ समतल भूमि हो, वहाँ पर समचौरस दुर्ग को एक ही मुख वाला बनवाए।

अगाधां परिखाङ्कुर्यादलङ्घ्यामरिसैनिकैः।
द्वारोपद्वारसंयुक्तं नलीकस्थानशोभितम्॥ 26॥

इन दुर्गों में बहुत गहरी परिखा या खाइयाँ हों ताकि शत्रु सैनिक उनका उलङ्घन नहीं कर सके। इसी से इसकी रक्षा होती है। इसको कई द्वारों, उपद्वारों तथा नलीक स्थलों या गुह्यमार्गों से शोभित किया जाना चाहिए।

प्राकारपञ्चकोपेतं दिग्भद्रेण विराजितम्।
मध्यस्थभूपसदनमावृतं मन्त्रिहर्म्यकैः॥ 27॥
कूटकोष्ठादिसहितमनेकाट्टाल संयुतम्।

इन नगरों को पाँच प्राकार या पाँच परकोटों, दिग्भद्रों-दिशा-कोण बुर्जियों से युक्त बनाए।[1] इनके मध्य में राजमहल बनाए जाए जो कि मन्त्रियों आदि की

---

१. टीका के अनुसार पहले परकोटे में सचिवों के भवन, दूसरे में सेनापतियों के भवन, तीसरे में न्यायाधीश, प्रमुखों, मित्रों, राजबन्धुओं आदि के भवन, चौथे में वैद्यराज, पुरोहितादि के भवन और पाँचवें परकोटे में अन्तःरक्षक-यामरक्षक, पहरेदार, योधदूत, लेखवाहक प्रमुखों अर्थात् सैनिक दस्तावेजों के कार्यालय व उनके अधिकारियों के भवन और विविध कर्मचारियों के भवन हों।

हवेलियों से घिरे हुए हों। ये हवेलियाँ आदि कूट, कोष्ठादि सहित अनेक अट्टालिकाओं से युक्त हों।

एकाननन्तु प्राङ्निष्ठं द्विमुखं दक्षिणोत्तरम्॥ 28॥
चतुर्वक्त्रञ्चतुर्दिक्स्थं दुर्गस्यास्य विधीयते।
दृढार्गलसमोपेतकवाटद्वयशोभितम्॥ 29॥

शिल्पी को चाहिए कि वह एकमुखी दुर्ग पूर्वाभिमुख बनाए, द्विमुखी दुर्ग दक्षिणोत्तर दिशाभिमुख और चतुर्मुख दुर्ग चारों ही दिशाओं में द्वार वाला बनाना चाहिए। इन द्वारों में सुदृढ़ अर्गला वाले दो किंवाड़ों की शोभा हो।

सोपकुड्यां दुर्गभित्तिं रचयेदश्मनिर्भराम्।
स्थलानुकूलतः स्थाप्यमन्यावासस्थलादिकम्॥ 30॥

यदि दुर्ग में अनुकूल स्थल हो तो उपकुड्या या दुर्गभित्ति छोटे परकोटों से युक्त करे जो कि पाषाण वाली दीवारों पर निर्भर हो। वहाँ अन्य लोगों के निवास स्थल भी कल्पित किए जाने चाहिए।

अथ नवमस्य कूर्मदुर्गस्य लक्षणम् —

प्रलोभनाय शत्रूणां स्तम्भनाय च युक्तितः।
वनमध्ये गिरेस्सानौ कल्पितङ्कूर्मदुर्गकम्॥ 31॥

अब नवें कूर्मदुर्ग के लक्षण कहे जाते हैं। शत्रुओं को लुभाने, आकर्षित करने और उनको युक्तिपूर्वक स्तम्भित कर कैद करने के लिए वन के मध्यम में या पहाड़ियों की तलहटियों में बनाए जाने वाले दुर्ग को कूर्मदुर्ग कहा जाता है।

इष्टिकाभिर्दारुखण्डैश्शणवस्त्रपटादिभिः।
प्रच्छन्नमार्गसंयुक्तं कल्पनं यन्त्रगर्भितम्॥ 32॥

इन दुर्गों को ईंटों, काष्ठखण्डों या लकड़ियों का प्रयोग करते हुए अथवा शणवस्त्र-टाट पट्टियों, कनात आदि से बनाया जाना चाहिए। इनके लिए प्रच्छन्न मार्ग (साबात), गुप्तद्वार बनाए जाए और वहाँ पर योद्धाओं के आयुधादि को भी रखा जाना चाहिए।

पञ्चषैस्सालकैर्युक्तं पङ्काढ्यैश्च समन्वितम्।
तात्कालिकं कल्पनञ्च परमोहकरं परम्॥ 33॥

इस दुर्ग के लिए पाँच विशाल परकोटे हों, जिनके साथ-साथ कीचड़भरी खाइयाँ

हों और जो देखने मात्र से, तत्काल ही दूसरों को भ्रमित कर डालने वाली हों।

अथ दशमस्य पारावतदुर्गस्य लक्षणम् —

सञ्जाते तुमुले युद्धे स्वयमागत्य भूमिपः।
स्वात्मरक्षादिकं कर्तुं कृतं तात्कालिकं स्थलम्॥ 34॥
पारावताख्यं निर्दिष्टं दुर्गलक्षणपण्डितैः।

अब दसवें पारावत दुर्ग के लक्षण कहे जाते हैं। तुमुल युद्ध के आरम्भ हो जाने पर राजागण जहाँ स्वयं आकर अपनी रक्षादि का प्रबन्ध करते हैं, उस तात्कालिक रचे गये स्थल को अर्थात् युद्ध-दुर्ग को पण्डितों ने पारावत दुर्ग के नाम से निर्दिष्ट किया है।

स्यन्दनैर्वारणैरश्वैर्योधैररायुधधारिभिः॥
परितो रक्षितं दुर्गं मूलसैन्यैरनेकधा॥ 35॥

इस दुर्ग में रथ, हाथी, अश्व और योद्धा आयुध सहित हों अर्थात् वहाँ पर रथाति, गजाति, अश्वाति, पदाति— इस चतुष्टयमय सेना का प्रबन्ध हो। इसी प्रकार वह अनेक मूल सैनिकों से रक्षित होता है।

अथैकादशस्य प्रभुदुर्गस्य लक्षणम् —

वनमध्ये गिरेस्सानौ दुष्प्रवेश्यस्थलेऽथवा।
अगाधपरिखोपेतं क्षुद्रपुर्या समन्वितम्॥ 36॥

अब ग्यारहवें में प्रभुदुर्ग के लक्षण कहते हैं। वन के मध्य में, पहाड़ियों की तलहटी में या अन्य किसी दुष्प्रवेश्य स्थल में अगाध खाइयों से घिरा हुआ यह दुर्ग होता है और उसके चतुर्दिक छोटी पुरियाँ होती हैं।

एकाननेन संयुक्तं द्वारोपद्वाररक्षितम्।
मध्ये छन्नपथोपेतं प्राकारद्वादशावृतम्॥ 37॥

यह दुर्ग एकमुखी होता है किन्तु वह द्वारों और उपद्वारों से सर्वथा रक्षित किया जाता है। इसके मध्य में छिपे हुए मार्ग (साबात) हों और इसके चारों ही ओर बारह परकोटे होने चाहिए।

क्षुद्रोपक्षुद्रकर्णाढ्यं विमानैरपि मण्डितम्।
मध्यस्थभूपभवनं दुर्गान्तरसमावृतम्॥ 38॥

ये परकोटे छोटे-छोटे कँगूरों, कर्णों से युक्त हों और ऊँचे-ऊँचे भवनों से मण्डित हों। इसके मध्य में राजा का भवन हो और अन्य दुर्गों से चारों ओर से घिरा हो।

युग्मसङ्ख्यकवाटादियुक्तभागत्रयोज्ज्वलम्।
ससैन्यं सायुधागारं चिरसम्भार सम्भृतम्॥
योधयन्त्रस्थलोपेतं प्रभुदुर्गमुदीरितम्॥ 39॥

इन राजमहलों के किवाड़ दो-दो पाट वाले हों और जो तीन भाग तक बड़े ही उज्ज्वल रूप से बने हों। यह सैन्य सहित, आयुधागार सहित और अन्य आवश्यक जीवनोपयोगी सामग्री से भरपूर होना चाहिए। इसमें योद्धाओं के स्थलों को यन्त्रोपस्कारकों से युक्त किया जाए। इस प्रकार का दुर्ग प्रभुदुर्ग कहा गया है।

अथ द्वादशस्य युद्धदुर्गस्य लक्षणम् —

भूपालैर्देशसीमान्ते दुष्प्रेवशस्थलेऽथवा।
युद्धार्थं कल्पितं दुर्गं युद्धर्गामितीर्यते॥ 40॥

अब बारहवें युद्धदुर्ग के लक्षणों का वर्णन किया जा रहा है। राजा के अपने प्रदेश की सीमा पर अथवा ऐसे स्थल पर जहाँ कि पहुँच पाना दुस्साध्य हो, वहाँ पर युद्ध के लिए जो दुर्ग बनाया जाए, वह युद्धदुर्ग कहा जाता है।

महादुर्गसमोपेतं नलीकस्थानभीकरम्।
युद्धभित्त्यङ्गणोपेतमन्तर्वा बहिरेव वा॥ 41॥

इस प्रकार के दुर्ग की रचना महादुर्ग के रूप में जानी जाती है। वहाँ पर नलीक स्थान (तोपादि के लिए साबात, गुह्यमार्ग) हो। युद्ध की आशंकाओं की दृष्टि से वहाँ पर सुदृढ़ भित्तियाँ और बाहर-भीतर चौक-आँगन होते हैं।

कोणाष्टकं कोणषट्कमथवा स्थलयोग्यकम्।
छन्नमार्गैरनेकैश्च सोपानावलिभिर्युतम्॥ 42॥

वहाँ पर स्थल के औचित्य के अनुरूप आठ या छह कोणों वाली बुर्जियाँ बनी होती हैं। इसी प्रकार वहाँ छन्नमार्ग (सुरंग या साबात) के साथ ही सोपान पङ्क्तियों की रचना होती हैं।

मध्यस्थराजभवनं सालद्वादशकावृतम्।
मन्त्र्यादिभवनोपेतं चिरसम्भारपूरितम्॥ 43॥

ऐसे दुर्ग के मध्यभाग में राजभवन हो जो कि बारह परकोटों से घिरा हुआ

हो। इसी प्रकार वहाँ मन्त्रियों आदि के भवन बने हों और जीवनोपयोगी आवश्यक सामग्री की भरपूर मात्रा में उपलब्धता हो।

बहुभिर्दुर्गकूटाख्यैः कल्पनैश्च समन्वितम्।
वराकनसमोपेतं बहिश्शालासमन्वितम्॥ 44॥

इसके साथ ही बहुत से कूटदुर्ग भी उसके चारों ही ओर कल्पित किए जाने चाहिए। यहाँ युद्ध के काम में आने वाले हथियार आदि संसाधन हो और बाहर की ओर अनेक प्रकार के कक्षों का निर्माण हो।

वीथीषु क्षुद्रवीथीषु मुखभद्रकमण्डितम्।
युग्मसङ्ख्यकवाटादियुक्तभागत्रयोज्ज्वलम्॥ 45॥

यह दुर्ग अनेक प्रकार की वीथियों-मार्गों, क्षुद्रवीथियों-लघु मार्गों सहित हों और मुखभद्रक या पोलों-फाटकों की रचना हो। इसके तीन भागों में द्वारों पर दो-दो की संख्या में किवाड़ सुशोभित होने चाहिए।

नानाजातिगृहोपेतं भूपालस्येच्छयाऽथवा।
शालाभित्त्यङ्गणोपेतं तत्र तत्र च वास्थले।
दुर्भेद्यमरिसेनाभिर्यन्त्रगर्भितकुड्यकम्॥ 46॥

ऐसे दुर्गीय नगरों में नाना जाति-समुदायों को राजा की इच्छा के अनुसार बसाया जाना चाहिए। भूपालेच्छा के अनुसार ही वहाँ पर शालाओं, भित्तियों, आँगन आदि का नियोजन हो और शत्रु सेना के आक्रमणों से सुरक्षा की दृष्टि से यह दुर्ग दुर्भेद्य हों और उसकी दीवारों पर सेना के लिए उपयोगी यन्त्रों (तोप, क्षेपणी, शतघ्नी) आदि को लगाया जाना चाहिए।

इति विश्वकर्मप्रणीते विश्वकर्मवास्तुशास्त्रे दुर्गलक्षणकथनं नाम दशमस्सर्गः (अध्यायः)॥ 10॥

इस प्रकार विश्वकर्माप्रणीत विश्वकर्मवास्तुशास्त्र में दुर्ग लक्षण कथन नामक दसवाँ सर्ग (अध्याय) पूर्ण हुआ।



अथ देवप्रासादभूमानकथनं नामं

एकादशोऽध्यायः ॥ 11 ॥

अथ देवप्रासादभूमानलक्षणकथनात्मकमेकादशाध्यायमारभते—

देवानां वास्तुभूमिस्तु प्रायो दैर्घ्यान्विता मता।
पुरस्य मध्यभागे तु चतुरश्रापि सा मता॥ 1॥

(इस अध्याय में देवप्रासाद के भूमान लक्षणों पर विचार किया जा रहा है) देवताओं के लिए वास्तु, मन्दिर निर्माण की भूमि प्रायः लम्बी-चौड़ी होनी चाहिए। यह भूमि पुर के मध्यभाग में हो और चौकोर, समतलीकृत हो।

चतुरष्टकभागाख्यो निर्णयः परिकीर्तितः।
चतुस्सप्त चतुष्षड्वा चतुःपञ्चापि वा क्वचित्॥ 2॥

इन देवालयों की भूमि चार प्रकार की होती है—

1. चार भाग की चौड़ाई और आठ भाग की लम्बाई वाली,
2. चार भाग की चौड़ाई और सात भाग की लम्बाई वाली,
3. चार भाग की चौड़ाई और छह भाग की लम्बाई वाली एवं
4. चार भाग की चौड़ाई और पाँच भाग की लम्बाई वाली।

दीर्घवास्त्विति शिल्पज्ञैः कीर्त्यते देवतालये।
समां समां वास्तुभूमिञ्चतुरश्रां विदुर्बुधाः॥ 3॥

इस प्रकार शिल्पज्ञों ने देवालयों के निर्माण में यह दीर्घवास्तु की गणना की है। बराबर लम्बाई-चौड़ाई वाली भूमि को विद्वान् शिल्पी चतुरस्र या चौकोर भूमि कहते हैं।

पञ्चाशद्दण्ड वापि शतदण्डमथापि वा।
द्विशतं त्रिशतं वापि चतुःपञ्चशतानि वा॥ 4॥
षट्शतं वा सप्तशतं शताष्टावधि भाषितम्।
स्थलानुकूलं कथितं भूपालस्येच्छवाऽथवा॥ 5॥
अथवा मूर्तिभेदेन देवगेहप्रमाणकम्।

ये भूमि 50 मानक राजदण्ड के नाप की लम्बाई युक्त होती है अथवा 100, 200, 300, 400, 500, 600, 700 या फिर 800 मानक राजदण्ड के माप तक भी

हो सकती है। ये भूमि के माप प्रमाण किसी भी क्षेत्र में स्थल की अनुकूलता के आधार पर हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त राजाओं की इच्छा के अनुसार कोई अन्य माप प्रमाण हो सकता है और देवता की मूर्तियों के भेद के अनुसार भी देवालय का प्रमाण कल्पित हो सकता है।

अथ गर्भगेहद्वारादिबहुविधद्वारप्रमाणमाह —

दण्डत्रिपादमानं ना दण्डार्धं नाथ दण्डकम्॥ 6॥
द्वारमानमिति प्रोक्तं शिल्पशास्त्रविशारदैः।
तदेकभागवृद्ध्यात्र सर्वद्वारप्रमाणकम्॥ 7॥

शिल्पशास्त्र के पण्डितों द्वारा एक राजदण्ड के त्रिपाद (3/4) के बराबर या दण्डार्ध (1/2) दण्ड अथवा एक दण्ड के बराबर द्वारमान कहा गया है। इसमें एक भाग की वृद्धि से सभी द्वारों के प्रमाण समझे जा सकते हैं।

सर्व द्वार मानोद्धार चक्र

1. प्रथम द्वार की विशालता यदि 3 पाद हो तो 6 पाद प्रमाण रखनी चाहिए,
2. द्वितीय द्वार की विशालता यदि 4 पाद हो तो 8 पाद प्रमाण रखनी चाहिए,
3. तृतीय द्वार की विशालता यदि 5 पाद हो तो 10 पाद प्रमाण रखनी चाहिए,
4. चतुर्थ द्वार की विशालता यदि 6 पाद हो तो 12 पाद प्रमाण रखनी चाहिए,
5. पञ्चम द्वार की विशालता यदि 7 पाद हो तो 14 पाद प्रमाण रखनी चाहिए,
6. षष्ठ द्वार की विशालता यदि 8 पाद हो तो 16 पाद प्रमाण रखनी चाहिए,
7. सप्तम द्वार की विशालता यदि 9 पाद हो तो 18 पाद प्रमाण रखनी चाहिए,
8. अष्टम द्वार की विशालता यदि 10 पाद हो तो 20 पाद प्रमाण रखनी चाहिए,
9. नवम द्वार की विशालता यदि 11 पाद हो तो 22 पाद प्रमाण रखनी चाहिए,
10 दशम द्वार की विशालता यदि 12 पाद हो तो 24 पाद प्रमाण रखनी चाहिए,
11. एकादश द्वार की विशालता 13 पाद हो तो 26 पाद प्रमाण रखनी चाहिए,
12. द्वादश द्वार की विशालता 14 पाद हो तो 28 पाद प्रमाण रखनी चाहिए।

द्वारपञ्चकहीनं तत्कारयेन्न कदाचन।
द्वारमेकं द्वारयुग्मञ्चतुर्द्वारमथापि वा॥ 8॥

द्वार पञ्चकहीन- पाँच द्वारों से कम द्वार वाला भवन कभी नहीं बनाए। इसी तरह एक द्वार वाला द्वारयुग्म (दो द्वार वाला) अथवा चतुर्द्वार (चार द्वार वाला) भी

नहीं बनाना चाहिए।

महाधिष्ठानसंयुक्तङ्गोपुरैश्च समुज्ज्वलम्।
प्राचीमुखं प्रकर्तव्यं प्रायशो देवमन्दिरम्॥ 9॥

गोपुरों को बनाते समय उनके महाधिष्ठान उज्ज्वल (स्पष्ट) बनाए और उन्हें पूर्व दिशा की ओर अभिमुख करे, देवालयों में प्राय: यही विधि मान्य है।

अन्यदप्याह —

गन्धर्वभागे वाग्नेय्यां कीर्तितः पचनालयः।
भल्लाटे दन्तके वापि यागशाला विधीयते॥ 10॥

देवालयों के परिसर के गन्धर्वभाग या आग्नेय दिशा में पाकशाला बनाए और भल्लाट के भाग अथवा दन्तक के भाग में यागशाला बनानी चाहिए।

रोगे वा वह्निभागे वा शाला वैवाहिकी मता।
मित्रे वा शोषभागे वा देवीस्थानं प्रकीर्तितम्॥ 11॥

रोग के भाग में अथवा वह्निभाग में वैवाहिक शाला का मण्डप बनाए और मित्र या शोष के भाग में देवीस्थान परिकल्पित करना चाहिए।

भास्करे भूधरे भागे परिवारांश्च कल्पयेत्।
द्रव्यशाला भुजङ्गे स्यादुद्यानमपि तत्स्थले॥ 12॥

भास्कर भाग में और भूधर के भाग में परिवारों के लिए आवास हों तथा भुजङ्ग के भाग में द्रव्यशाला, सामग्री कक्ष या कोशागार और उद्यान को विकसित करना चाहिए।

मित्रदौवारयोर्मध्ये वास्तुमध्येऽथवा पुनः।
गर्भगेहं प्रकर्तव्यं देवादीनां शुभप्रदम्॥ 13॥

मित्र के भाग और दौवारिक भाग के मध्य अथवा वास्तुभूमि के मध्यवर्ती स्थल पर गर्भगृह का निर्माण करना चाहिए। यह देवादि के लिए शुभप्रदायक होता है।

के ते देवा इत्याकांक्षायामाह —

वाराहं नारसिंहं वा श्रीधरं वा जनार्दनम्।
अच्युतं पुण्डरीकाक्षमनन्तशयनं पुनः॥ 14॥

नारायणं केशवं वा माधवं पुरुषोत्तमम्।
वैकुण्ठनाथमथवा गोविन्दं वा त्रिविक्रमम्॥ 15 ॥
श्रीरामं वासुदेव वा क्षेत्रनाथमथापि वा।
पद्मनाभमुखानन्यान्स्थापयेद्विष्णुमन्दिरे॥ 16 ॥
आसीनं वा शयानं वा तिष्ठन्तं वेदिकाश्रितम्।

वहाँ स्थापनीय देव प्रतिमाओं में वराह, नरसिंह, श्रीधर, जनार्दन, अच्युत, पुण्डरीकाक्ष, अनन्त, नारायण, केशव, माधव, पुरुषोत्तम, वैकुण्ठनाथ, गोविन्द, त्रिविक्रम, श्रीराम, वासुदेव, क्षेत्रनाथ, पद्मनाभ इत्यादि मूर्तियों सहित विष्णु मन्दिर की स्थापना करनी चाहिए। ये प्रतिमाएँ तीन प्रकार की अर्थात्- 1. आसनस्थ, 2. शयनस्थ अथवा 3. खड़ी हुई वेदिकाश्रित बनाए।[१]

इत्यनन्तरं शिवालये तु प्रतिमाह —

गौरीपतिं वृषारूढं सन्ध्यानटमथापि वा॥ 17 ॥
किरातं दक्षिणामूर्तिं गङ्गाधरमथापि वा।
चन्द्रशेखरदेव वा पशुनायकमेव वा॥ 18 ॥
लिङ्गमूर्तीः क्षेत्रमूर्तीस्तीर्थमूर्तीश्च सर्वतः।
अन्याश्च देवतामूर्तीः स्थापयेच्छिवमन्दिरे॥ 19 ॥

यदि शिव मन्दिर बनाना हो तो उक्त गर्भगृह में गौरीपति को वृषारूढ़, सन्ध्यानट, किरात, दक्षिणामूर्ति, गङ्गाधर, चन्द्रशेखर, पशुनायक, लिङ्गमूर्ति, क्षेत्रमूर्ति, तीर्थमूर्तियों के सर्वतः चारों ओर अन्यान्य देवता की मूर्तियों को स्थापित करे अर्थात् शिवालय में अन्य शैव परिवार की प्रतिमाओं (पार्वती, गणेश, कार्तिकेय, नन्दीकेश्वर इत्यादि) को भी स्थापित करे।[२]

---

१. विष्णु की इन प्रतिमाओं के लिए मयमतम् का 36वाँ अध्याय, देवतामूर्तिप्रकरण, वास्तुमञ्जरी, सकलाधिकार, मत्स्यपुराण, अग्निपुराण, अपराजितपृच्छा आदि ग्रन्थों को देखना चाहिए।

२. विविध प्रकार की शिवमूर्तियों के लक्षणों के लिए दीप्तागम, सकलाधिकार, देवतामूर्तिप्रकरण, मयमतम् आदि ग्रन्थों का अवलोकन करना चाहिए। शिल्परत्नम् में प्रतिमाओं के वर्णादि का वर्णन भी हुआ है। यथा— ईशानाद्याः श्वेतकृष्णौ च शुक्लः श्यामो रक्तः श्यामकृष्णाच्छवर्णाः। रक्तश्यामौ शुक्लकृष्णौ च रक्तो दूर्वाश्यामः पीतकृष्णो जपाभः॥ धूम्रो रक्तः शङ्खवर्णोऽमृताभः कृष्णः सन्ध्यामेघरुग् धूम्रकृष्णौ। हेमाभस्ते धूम्रमुक्ताजपाभाः श्यामश्वेतौ कृष्णरक्तौ क्रमात् स्युः॥ सिन्दूराभस्त्वार्यकाद्याश्चतस्रः श्वेतश्यामौ धूम्रकृष्णौ क्रमेण। सावित्राद्याः पीतरक्तौ घनाभौ मध्ये ब्रह्मा तप्तहेमप्रभः स्यात्॥ शर्वस्कन्दः श्वेतवर्णोऽर्यमाह्वो रक्तः कृष्णो जम्भकोऽन्यः

अथ गर्भगेहप्रमाणकथनम् —

देवतानां गर्भगेहं वास्तुभूमिवशान्मतम्।
दीर्घं वा चतुरश्रं वा धनुर्वद्गजपृष्ठकम्॥ 20॥

अब देवालयों के लिए गर्भगृह का प्रमाण कहते हैं। देवताओं के गर्भगृहों का निर्माण वास्तुभूमिवशात् होता है। इनमें से कोई गर्भगृह लम्बा हो सकता है, कोई चतुरस्र हो सकता है, कोई धनुषाकार तो कोई गर्भगृह गजपृष्ठ जैसा हो सकता है।

दण्डद्वयं तद्द्विगुणं गर्भगेहप्रमाणकम्।
एकैकभागवृद्ध्याः तच्चतुर्दशकसीमकम्॥ 21॥

गर्भगृहों का प्रमाण दो राजदण्ड अथवा उससे दोगुना या चार राजदण्ड प्रमाण का हो सकता है। इस प्रमाण में एक-एक दण्ड की वृद्धि करते हुए चौदह राजदण्डों के प्रमाण से गर्भगृह कल्पित हो सकता है।

सालिन्द वा मुखद्वारं पङ्क्तिसोपानभासुरम्।
दृढार्गलसमोपेतकवाटद्वयभासुरम्॥ 22॥

गर्भगृह का निर्माण अलिन्द सहित हों और उसका मुख्य द्वार सीढ़ियों वाला हो सकता है। गर्भगृह के द्वार पर दो किवाड़ वाला दरवाजा बनाया जाए जो दृढ़ अर्गला से युक्त होना चाहिए।

दशहस्तादि तत्तुङ्गमानमुक्तं मुनीश्वरैः।
कूटकोष्ठसमायुक्तं विमानैरपि मण्डितम्॥ 23॥

इन द्वारों की ऊँचाई दस हाथ प्रमाण तक रखी जा सकती है, इस प्रकार का मुनियों का मत है। विमान या मन्दिर को कूट, कोष्ठादि से मण्डित किया जाना चाहिए।

द्वारमानक्रमेणैवं भित्तिमानश्च कल्पयेत्।
एक प्राकारमथवा प्राकारत्रयभासुरम्॥ 24॥

इन गर्भगृहों के द्वार मानों के प्रमाण से ही भित्तियों के भी मान निर्धारित करने चाहिए। देवालयों के लिए एक प्राकार अथवा तीन प्राकार, परकोटा बनाए।

शताङ्घ्रिमण्टपं वापि सहस्राङ्घ्रिकमण्टपम्।
वार्षिकं मण्टपञ्चैव मासमण्टपिकं तथा॥ 25॥

सिताभः। श्यामा धूम्रा रक्तवर्णा चरक्याद्याः स्युर्मन्दारार्तवाभा क्रमेण॥ (शिल्परत्नम् 7, 42-45)

इन देव मन्दिरों में शशिदेव के भाग में अथवा भल्लाट के भाग में देवता के अभिषेक के लिए मण्टप या मण्डप का निर्माण करना चाहिए अथवा वहाँ पूर्वभाग में मण्डप की रचना करे और अन्यत्र सोलह पाद वाला षोडशपाद (सोलह खम्भों का) मण्डप या शतपाद (सौ खम्भों का) अथवा अधिक सम्पदा-सामर्थ्य हो तो सहस्रपाद मण्डप (हजार खम्भों का) बनवाए जिनमें वार्षिक उत्सव के मण्डप और मासोत्सव के मण्डपों की रचना भी करे।

अन्यांश्च मण्टपाञ्छिल्पी कल्पयित्वा विधानतः।
सचत्वरां महाशालां वास्थलेन समन्विताम्॥
तत्तद्भागप्रमाणेन स्थापयेद्वास्तुमानवित्॥ 26॥

शिल्पीगण अन्य मण्डपों को भी विधानसम्मत रचना करें। ये चबूतरों सहित और महाशाला के स्थल से समन्वित हो। इन सब ही रचनाओं के लिए शिल्पियों को यथावश्यक भाग, प्रमाण का प्रयोग करना चाहिए।

इति विश्वकर्मप्रणीते विश्वकर्मवास्तुशास्त्रे देवप्रासादभूमानकथनं नाम एकादशोऽध्यायः॥ 11॥

इस प्रकार विश्वकर्माप्रणीत विश्वकर्मवास्तुशास्त्र में देवप्रासाद भूमान कथन नामक ग्यारहवाँ अध्याय पूर्ण हुआ।



अथ नृपप्रासादभूमानलक्षणकथनं नाम

द्वादशोऽध्यायः॥ 12॥

अथ नृपप्रासादप्रमाणकथनात्मकं द्वादशाध्यायमारभते —

शुभदा चतुरश्रा भूर्भूमिपानां विशेषतः।
पुरस्य मध्यभागे वा निर्दिष्टे वा स्थलोत्तमे॥ 1॥
भूपहर्म्यं प्रकर्तव्यं तल्लक्षणमनोहरम्।

(अब राजप्रासाद के प्रमाण के विषय में कहा जा रहा है) किसी समचौरस

भूमि पर चतुरस्र या चतुष्कोणाकार भूमि पर विशेषतः राजाओं के लिए भवन बनवाए। पुर के मध्य भाग में या उत्तम स्थल पर निर्दिष्ट किए जाने चाहिए। राजा के प्रासाद को मनोहर लक्षणों सहित बनाने चाहिए।

गभीरपरिखोपेतं द्वारोपद्वारशोभितम्॥ 2 ॥
चूलीहर्म्यसमायुक्तं पक्षिशालाभिरन्वितम्।

राजमहलों के चतुर्दिक गहरी परिखा या खाइयों की रचना हो और एक नहीं अनेक द्वारों, उपद्वारों से उनकी शोभा हो। उन पर चूलीहर्म्य या अटारियाँ-ऊपर के कोठे तथा पक्षीशाला भी होनी चाहिए।

पञ्चाशद्दण्डमानादि दण्डपञ्चशतावधि॥ 3 ॥
प्रमाणमिह निर्दिष्टं भूमिपालस्य मन्दिरे।
अथवा भागमानेन कारयेन्नृपमन्दिरम्॥ 4 ॥

ये राजप्रासाद पचास राजदण्ड के प्रमाण के हों। इनको पाँच सौ राजदण्ड के प्रमाणानुसार भी बनाया जा सकता है, राजप्रासाद का यही प्रमाण कहा गया है या फिर जैसा स्थान उपलब्ध हो, उसे देखकर भी राजप्रासाद बनाया जा सकता है।

सूर्यैकं वारणैकं वा तस्य मानमुदीरितम्।
एकाननं वा द्विमुखं चतुराननमेव वा॥ 5 ॥

भागमान या वास्तुनिर्माणार्थ जो स्थल अधिगृहीत किया गया हो, उसको बारह भागों में अथवा आठ भागों में विभाजित करे उसमें से किसी एक स्थल पर राजमहल बनवाए। इसका प्रमाण 12 : 8 (सूर्यैकं वारणैकं) कहा गया है। ये एक मुख्य द्वार वाले अथवा दो मुख्य द्वार वाले या फिर चार मुख्य द्वार वाले हो सकते हैं।

मेषे वा वह्निभागे वा मन्त्रिहर्म्यं प्रकल्पयेत्।
आकाशे वाऽथ पवने सेनानाथस्य मन्दिरम्॥ 6 ॥

राजमहल के लिए निर्धारित भूमि में मेष या वह्नि के भाग पर महामन्त्री की हवेली बनाई जाए। इसी प्रकार आकाश या पवन के पद भाग पर सेनापति का आवास होना चाहिए।

प्रासादभित्तिमभितो बहिर्वा तच्च कल्पयेत्।
पुरोहितादिनिलयैस्सहितं वा विशेषतः॥ 7 ॥

ये विशेष रूप से पुरोहितादि के साथ राजप्रासाद के परकोटे के बाहर अर्थात्

परकोटा रहित अथवा परकोटा सहित हो सकते हैं।

द्वितीयावरणे वाऽपि तृतीयावरणेऽपि वा।
भूधरे रुद्रके भागे न्यायशाला विधीयते॥ 8॥

इसके दूसरे आवरण या तीसरे आवरण के अन्तर्गत भूधर और रुद्र के भाग पर न्यायशाला की स्थापना करनी चाहिए।

ईशाने देवतागारं सावित्रे कोशमन्दिरम्।
मित्रभागे प्रहरणस्थानमुक्तं मुनीश्वरैः॥ 9॥

ईशान के भाग पर देवालय और सावित्र के भाग पर कोशागार बनाया जाना चाहिए। मित्र के भाग पर प्रहरणस्थान या आयुधागार हो, ऐसा मुनियों का मत है।

मध्यभागे राजवेश्म नवसौधतलावधि।
नानाशालासमोपेतं कूटकोष्ठाद्यलङ्कृतम्॥ 10॥

इन सबके बीचो बीच राज के महल का निर्माण हो। राजप्रासाद नौ तल या नौ मंजिलों तक का बन सकता है। इसको नाना प्रकार के कक्षों सहित बनाए और कूट, कोष्ठादि से अलंकृत किया जाना चाहिए।

शिखरावलिसंदृश्यं कल्पनाशतशोभितम्।
वातायनशतोपेतं मध्यचत्वरमण्डितम्॥ 11॥

इन राजप्रासादों की शिखरावली या छतरियों-गुम्बजों वाली सैकड़ों शिखर रचनाएँ शोभाजनक होनी चाहिए। इनमें सैकड़ों वातायन हो और उसके मध्यवर्ती भाग चबूतरा से मण्डित होना चाहिए।

तस्य सप्तविध क्रियाशैली —

पाञ्चाली मागधी चान्या शौरसेनी च वाङ्गिकी।
कोसली चापि कालिङ्गी द्राविडीति क्रियाकला॥ 12॥
प्रसिद्धा शिल्पकार्येषु कल्पनाशतशोभिनी।
देशभेदेन भूपालः स्वेच्छया तां समाश्रयेत्॥ 13॥

राजमहलों के निर्माण की सात शैलियाँ प्रसिद्ध हैं। इनमें 1. पांचाली शैली, 2. मागधी, 3. शौरसेनी, 4. बाङ्गिकी, 5. कोसली, 6. कालिंगी और 7. द्राविड़ी नामक क्रियाकलाएँ शिल्पकर्म में प्रसिद्ध हैं जिनमें भी सैकड़ों विशेषताएँ लब्ध होती हैं। देशों के अपने-अपने भेद के अनुसार ही राजा की इच्छा पर इन प्रासादों

का निर्माण कार्य निर्भर करता है।

सोमे वा दन्तके भागे भोजनागारमीरितम्।
विशालमापभागे वा कल्पयेच्छिल्पकर्मवित्॥ 14॥

वास्तुस्थल के सोम के भाग में या दन्त के भाग में भोजनागार बनाए। आप भाग के विशाल क्षेत्र में भी पाकशाला का निर्माण शिल्पकर्मविद् कर सकते हैं।

किन्नरे भास्करे वाथ विहारस्थलमिष्यते।
तत्रैवोद्यानभूमिञ्च निर्दिशेत्तुष्टिहेतवे॥ 15॥

वहाँ किन्नर के भाग में या भास्कर के भाग में राजा के लिए योग्य विहारस्थल बनाया जा सकता है। वहीं पर राजा की तुष्टि के लिए बाग-बगीचे-कुञ्ज-मण्डप की भूमि भी निर्दिष्ट हो सकती है।

गान्धर्वे वारणस्थानं पुष्पके वाजिमन्दिरम्।
भृङ्गराजकभागे च भिषक्शालादयो मताः॥ 16॥

इसी प्रकार गन्धर्व के भाग में हाथियों के लिए शाला हो और पुष्पक के भाग में अश्वशाला का निर्माण हो और भृङ्गराज के भाग में वैद्यशाला, चिकित्सालय आदि को तैयार किया जा सकता है, ऐसा मत है।

इति विश्वकर्मप्रणीते विश्वकर्मवास्तुशास्त्रे नृपप्रासादभूमानकथनं नाम द्वादशोऽध्यायः॥ 12॥

इस प्रकार विश्वकर्माप्रणीत विश्वकर्मवास्तुशास्त्र में राजप्रासाद भूमान कथन नामक बारहवाँ अध्याय पूर्ण हुआ।



अथ नृपप्रासादद्दुर्गपरिखालक्षणकथनं नाम

त्रयोदशोऽध्यायः॥ 13॥

पूर्वोक्तभूपालभवनवास्तुसीमनि निर्मितायाः प्राकारभित्तेः परिखायाश्चान्तरालिक-भूस्थलं स्वल्पप्रमाणं करणीयमित्युपदेशः —

प्राकारदुर्गयोर्मध्यं चतुः पञ्चषदण्डकम्।
शालया सहितं वापि रहितं मानमीरितम्॥ 1॥

(अब राजमहल, दुर्ग के लिए परिखा के लक्षण कहे जाते हैं) परकोटा और दुर्ग निवेश के बीच में चार सौ अथवा पाँच सौ राजदण्ड के प्रमाण से इसका मानदण्ड कहा गया है। यह शालाओं, कक्षों सहित अथवा रहित है।

परितः परिखाऽगाधा कर्तव्या नृपमन्दिरम्।
चतुर्दण्डाद्यायतिस्तु दशदण्डाधिका मता॥ 2॥

उक्त राजमहल के चारों ओर अगाध या गहरी परिखा, खाइयाँ कल्पित की जानी चाहिए। इसका आयाम प्रमाण चार दण्ड से लेकर दस दण्ड तक हो सकता है।

निम्नं तद्द्विगुणं प्रोक्तं पक्षयोर्भित्तिका दृढा।
वार्स्थलेन समोपेतं प्रतोल्या वा विशेषतः॥ 3॥

इसके अतिरिक्त नीचे गहराई में वे उक्त मान से दुगुनी हो अर्थात् 4 × 2 = 8 अथवा 8 × 2 = 16 प्रमाण से हो। खाइयों के दोनों ही ओर दृढ़ भित्तियाँ बनाए जिससे उसके दृढ़ किनारे हो अथवा खाइयों के स्थान के किनारे-किनारे जाती हुई प्रतोल्या, सड़कें हों।

तत्प्रान्ते वा तदन्ते वा दिक्कोणादिषु मध्यमे।
नलीकस्थानकं कल्प्यं यन्त्रिकावेदिकायुतम्॥ 4॥

उन दुर्गों के किनारों पर अथवा अन्त या पीछे की ओर या फिर दिशाओं के कोनों पर बुर्जों पर और दुर्ग प्राकार के मध्य भाग में भी नलीक स्थान या गोलन्दाजी के लिए मोर्चे बनाए जाए। उनकी यन्त्राधार वेदियाँ बनी हों ताकि सन्धान में उपयोगी हों।

मुखमेकं प्रकर्तव्यमथवा द्विगुणं मतम्।
परिखातरणप्राका दुर्गसेतुरितीरिता॥ 5॥

इन दुर्गों के लिए एक ही मुख रखना चाहिए अथवा दो मुख भी रखे जा सकते हैं। इन मुख्यद्वारों तक खाई से पार पहुँचने के लिए दुर्ग सेतु या पुलिया का निर्माण करना चाहिए।

रथादिगमनार्थञ्च द्वारं कुर्याद्विचक्षणः।
दृढालम्बनसंयुक्तं गोपुराद्यन्वितं तु वा॥ 6॥

विचक्षण शिल्पियों को रथ आदि वाहनों के गमन के लिए भी उचित रूप से

द्वार बनाने चाहिए। उन द्वारों को सुदृढ़ आलम्बनों से युक्त बनाए। वहाँ पर गोपुर आदि की रचना भी हो सकती है।

कवाटद्वयसंयुक्तगोपुरद्वयभासुरम्।
तोरणालङ्कृतं पूर्ववलिकावलिभासुरम्॥ 7॥

इन द्वारों के दो-दो किंवाड़ वाले दो गोपुर भी सुन्दर बनाने चाहिए। ये तोरण आदि से अलंकृत हो और तोरणों पर पूर्ववलिकावली भी सुन्दता पूर्वक बनाए अर्थात् तोरणों पर झुर्रिकायुक्त मोड़ों का सौन्दर्य हो।

तदन्तर्दुर्गवीथ्येका कल्पनीया सशालका।
तत्रैव निलयः स्थाप्यो योधादीनां नृपालये॥ 8॥

दुर्ग के भीतर वीथियाँ शालाओं सहित बनाए अर्थात् शाला के साथ मार्गों का निवेश किया जाए। राजमहलों के प्रसंग में इन मार्गों पर रक्षा के लिए योद्धाओं की चौकियाँ भी कल्पित की जानी चाहिए।

वराकनेन सहिता कूपकल्पनभाक्तथा।
उत्तुङ्गभित्तिसंवीतवास्तुसीमकवारयुक्॥ 9॥

संग्राम का कार्य हो तो वहाँ पर कूपादि की रचना हो, अन्य वास्तु रचनाओं के लिए ऊँची-ऊँची दीवारें हो। इस परकोटे में सीमकवार अर्थात् तीरंदाजी के लिए छिद्रों की रचना की जानी चाहिए जिसके पीछे से योद्धा प्रहार कर सके।

पञ्जरावलिसंयुक्तमुपभित्त्यादिभाक्तथा।
कारयेन्मतिमाञ्छिल्पी दुर्गभूपालवास्तुषु॥ 10॥

इसी प्रकार बुद्धिमान शिल्पियों को दुर्ग और राजवास्तु के लिए पंजरावली या जालियों की कतार के साथ ही उपभित्तियाँ भी तैयार की जानी चाहिए।

इति विश्वकर्मप्रणीते, विश्वकर्मवास्तुशास्त्रे नृपप्रासाददुर्गपरिखाकथनं नाम त्रयोदशोऽध्यायः॥ 13॥

इस प्रकार विश्वकर्माप्रणीत विश्वकर्मवास्तुशास्त्र में नृप प्रासाद दुर्ग परिखा कथन नामक तेरहवाँ अध्याय पूर्ण हुआ।



अथ भवनलक्षणनिरूपणं नाम

चतुर्दशोऽध्यायः ॥ 14 ॥

अथ भवनलक्षणकथनात्मकं चतुर्दशाध्यायं विशिनष्टि। प्रथमतो भवनलक्षणं –

भवनं तत्समाख्यातं भूपावासस्थलान्वितम्।
चतुरश्रप्रमाणेन कल्पनेन समुज्ज्वलम्॥ 1 ॥

(अब भवन लक्षणों का निरूपण किया जा रहा है) राजमहलों के स्थलभूमि में जो आवास बनाए जाते हैं, उन्हें भवन कहा जाता है। ये चतुरस्र, चौकोर प्रमाण वाले और उज्ज्वल या सफेद चूना अराईश पुते होते हैं।[१]

तदैव मालिकोपेतं सनिशान्तं विशेषतः।
दीर्घकल्पनसंयुक्तं नानालिन्दमनोहरम्॥ 2 ॥

इसी प्रकार ये भवन मालिकोपेत अर्थात् एकाधिक मंजिलों वाले होते हैं। इनमें निशान्त विशेषतः बने हुए होते हैं अर्थात् शान्त, विश्राम के लिए भवनों की योजना होती है। जहाँ गम्भीर विचार के साथ तैयार नाना प्रकार के मनोहर अलिन्दों, बारहदरियों की रचना भी होती है।

नानाभौमसमोपेतं नानाशालासमुज्ज्वलम्।
विमानरचनायुक्तं बहिरान्धारिकान्वितम्॥ 3 ॥

ये नाना प्रकार के भौम या मंजिलों से युक्त होते हैं और उनमें भी नाना प्रकार के कक्षों की रचना होती है। ये कक्ष भी उज्ज्वल होते हैं। इन पर विमानों (शिखर, गुम्बजों) की रचना होती है। इनमें बाहर की ओर अन्धारिका (कूपादि) होते हैं।

समन्ताद्भित्तिसंयुक्तं महाशालासमायुतम्।
चतुरश्रैरायतैर्वा कल्पनैरपि शोभितम्॥ 4 ॥

इन भवनों के चारों ही ओर अच्छी भित्तियाँ होती हैं। इनमें बड़े-बड़े कक्ष आवास के प्रयोजन से होते हैं। ये चौकोर, आयताकार होते हैं अथवा अन्य किसी आकार से भी कल्पित किए जा सकते हैं।

---

१. अस्मिन्नध्याये मातृकायां श्लोकाः पौर्वापर्यव्यत्याभाजः दृश्यन्ते। तत्र हेतुर्मातृकालेखकप्रमादः, आहोस्विद्ग्रन्थकर्तुर्विश्वकर्मणः पठितशैली वा। तथापि सर्वस्फूर्त्यै पङ्क्त्यर्थो लिख्यते।

अत्र भवनादि कल्पनप्रमाणं वैशाल्यवत्तथा दैर्घ्यमाह —

चूलीहर्म्यसमोपेतं मध्यालिन्दसमुज्ज्वलम्।
कूटकोष्ठसमायुक्तं पक्षिभित्त्यादिभासुरम्॥ 5॥

इसी प्रकार वे चूलीहर्म्य से युक्त हो और उनके मध्य भाग अलिन्द की रचना से शोभायमान हो। ये भवन कूट, कोष्ठादि से युक्त होते हैं और उभयपार्श्व भित्तियों की रचना से सुशोभित होता है।

पञ्चभिर्दशभिर्दण्डैः कल्पनैश्च समन्वितम्।
हर्म्यमेतदपि प्रोक्तं शिल्पज्ञैर्मुनिपुङ्गवैः॥ 6॥

उक्त रचनाओं को पाँच अथवा दस राजदण्ड प्रमाण से कल्पित किया जाता है। शिल्प के विशारद मुनिराजों का मत है कि ये हर्म्य या हवेली कहे जाते हैं।

भूपदण्डद्वादशकमानहीनं तु नोत्तमम्।
शताधिकं तु देवानां नेष्यते मानवे गृहे॥ 7॥

ये भवन बारह राजदण्ड के मान से हीन हो तो उत्तम नहीं होते। यद्यपि देवालयों के सन्दर्भ में शताधिक राजदण्डों का मान प्रमाण रखा जा सकता है किन्तु मानवावास में इतना वृहद् मान उचित नहीं है।

तस्मात्सर्वत्र शिल्पज्ञः खण्डहर्म्ययुतं तु वा।
शुद्धं वा मिश्रितं वापि कल्पयेत्कल्पनाक्रमात्॥ 8॥

इसलिए सर्वत्र शिल्पज्ञ लोग खण्डहर्म्ययुक्त यानी अलग-अलग हवेलियों वाले भवन शुद्ध एक शैली में अथवा मिश्रित शैली में भी बनाने की कल्पना करते हैं।

तथा चान्ये वेद्यादीनां मानमाह —

मध्ये वास्थलसंयुक्तं क्वचित्तेन विहीनकम्।
द्वारोपद्वारसंयुक्तमेकादितलभासुरम्॥ 9॥

उस हर्म्य के मध्य में वासस्थल हो अथवा कहीं-कहीं नहीं भी हो। वह द्वार, उपद्वार से संयुक्त हो और एकादितलों के निर्माण से शोभित हो।

वास्तुवेदी रङ्गवेदी देववेदीति सा त्रिधा।
तदादिमानं कथितं दिङ्मानमपि सिद्धये॥ 10॥

इस रचना के सन्दर्भ में 1. वास्तुवेदी, 2. रङ्गवेदी और 3. देववेदी— ये तीन

प्रकार की वेदियाँ होती हैं। इनकी सिद्धि अर्थात् निर्माण के लिए यहाँ प्रथम मान और दिङ्गान भी कहा गया है।

वास्तुवेदी स्थले शाला महती सा प्रकीर्तिता।
षडादिदशदण्डान्तं मानमस्याः प्रकीर्तितम्॥ 11॥

इनमें वास्तुवेदी के स्थान पर महती शाला का निर्माण बताया गया है। उसका मान छह से लेकर दस दण्ड पर्यन्त कहा गया है।

पश्चाद्भागे पुरोभागे तदर्धा वा तदर्धका।
क्षुद्रशालाथवा गेहं द्वाश्चतुष्कसमन्वितम्॥ 12॥

ऐसे वास्तु के पीछे के भाग में अथवा आगे के भाग में उसके आधे या फिर आधे के भी आधे मान की क्षुद्रशाला (लघु कोटड़ियाँ) अथवा घर दो-दो चौकड़ी से युक्त बनाई जाए।

सव्यापसव्ययोरेवं कल्पनं स्थापयेत्क्रमात्।
भित्तिशालासमायुक्तं ससोपानाधिपीठकम्॥ 13॥

उनको क्रमशः सव्य और अपसव्य, दायें से अथवा बायें से बनाए। यहाँ भित्ति युक्त शाला की योजना हो और उसमें अधिपीठ की रचना सीढ़ियों के साथ करनी चाहिए।

शालाया वैशाल्यं भूपदण्डपञ्चकादिद्वादशान्त कथितम्—

भवने यत्समाख्यातं मानं तदधिकैर्युतम्।
तन्मानोपेतमथवा मध्यशालाप्रकल्पनम्॥ 14॥

भवन के विषय में जो मान कहा गया है, उससे अधिक मान दण्ड वाले अथवा उतने ही मान के अनुसार मध्यशाला परिकल्पित की जाती है।

चतुर्दिक्स्थचतुष्कूटं तन्मध्ये वास्थलान्वितम्।
मध्यशालाप्रमाणेन मानं दैर्घ्यादिकं भवेत्॥ 15॥

इसके चारों ही दिशाओं में चार कूट होते हैं। इनके मध्य स्थल में वासस्थल हो जिसका मान और लम्बाई-चौड़ाई आदि मध्यशाला के प्रमाण के मान के बराबर होनी चाहिए।

चतुर्दण्डायतिश्शस्ता तद्दैर्घ्यं भानुदण्डकम्।
एकादिपञ्चदण्डान्तं वास्थलं तत्र कल्पयेत्॥ 16॥

चार दण्डों के प्रमाण वाले आयताकार वास्तु प्रशस्त होते हैं जिनकी दीर्घता, लम्बाई बारह राजदण्डों के बराबर होती है। एक से लेकर पाँच राजदण्ड की लम्बाई तक के स्थल भी वहाँ कल्पित हो सकते हैं।

चतुष्कोणचतुश्शालां तालवारादिमेलनम्।
मध्यशाला प्रस्तरान्ता द्वितलादिरिहोच्यते ॥ 17 ॥

इसी प्रकार वहाँ चार कोणों वाली चतुश्शाल भी बनाए जहाँ तालादि जलाशय भी बने हो और उनके मध्य में प्रस्तरान्त, पत्थर की बनी शाला बनाए जो कि दो तलों या दो मंजिलों वाली हो सकती है।

वास्थलेन विहीनाश्चेत्तत्सीमान्तं हि कल्पनम्।
द्वारमेलनमेवोक्तमिह सर्वत्र दैर्घ्यके ॥ 18 ॥

इन दुर्गनगर के सीमान्त पर वास्थल को नहीं बनाए परन्तु इनमें द्वारों के मेलन में यहाँ कही गई दैर्घ्यता ही सर्वत्र ग्रहण की जाए।

भित्तिशालासमायुक्तमेक-द्वि-त्रि-चतुस्तलम्।
वातायनशतोपेतं चन्द्रशालासमन्वितम् ॥ 19 ॥

यहाँ भित्तिशाला को बनाना चाहिए जो कि एक, दो, तीन और चार तल तक हो सकते हैं। इनको शत-शत वातायनों सहित बनाए और साथ ही साथ चन्द्रशालाओं से भी समन्वित करे।

प्रासादनिर्माणयुतं सर्वर्तुसुखदं मतम्।
हर्म्यमानाधिकोपेतं चतुर्दिग्भद्रसंयुतम् ॥ 20 ॥

इस प्रकार की रचना सहित बना हुआ प्रासाद सर्वऋतु विलास जैसा होता है अर्थात् सभी ऋतुओं में सुखप्रदायक होता है। प्रासादों का मान हर्म्यादि के मान से अधिक रखना चाहिए और उनकी चारों दिशाओं में भद्रक रखने जाने चाहिए।

अस्या मुखीकरणवैखर्या विशदार्थस्तु—

पूर्वशालाकलायुक्तं भित्तिशालाश्रितं तु वा।
द्विपक्षं वा चतुःपक्षं द्विशालं वा त्रिशालकम् ॥ 21 ॥
चतुष्कोणे चतुर्दिक्षु शाला वा कूट एव वा।
मुखीकरणवैखर्या दृढभित्तिसमन्वितम् ॥ 22 ॥

पूर्व दिशा में आगे की शाला को बहुत ही कलापूर्ण बनाया जाना चाहिए। उसे

भित्तिशालाश्रित भी बनाया जा सकता है। इसके उभय पक्षों अथवा चारों ही पक्षों पर द्विशाल और त्रिशाल की रचना हो। चारों ही कोनों पर चारों दिशाओं में शाला अथवा कूट की रचना हो। दृढ़ भित्तियों से युक्त इनका मुखीकरण वैखरी अर्थात् सूक्ष्म दृष्टि से उसे जानना चाहिए।

जन्माधिष्ठानसंयुक्तमुत्तुङ्गाङ्घ्रिकशालकम्।
चतुर्मुखं पञ्चमुखं षण्मुखं सप्तवक्त्रकम्॥ 23॥

इसमें जन्माधिष्ठान संयुक्त अर्थात् निर्माण के अधिष्ठान से युक्त ऊँचे-ऊँचे स्तम्भ हों। ये चतुर्मुख, पञ्चमुख, छहमुख और सातमुख तक के हो सकते हैं।

मुखीकरणमेवोक्तं भेदशालासमन्वितम्।
भद्राकारं भद्ररूपं भद्रहीनमथापि वा॥
कल्पनं कल्पयेच्छिल्पी युक्त्या मानादिना दृढम्॥ 24॥

इस प्रकार कहे गए मुखीकरण के अनुसार अलग-अलग भेद वाली शाला से युक्त रचना भद्राकार या सुन्दर आकारों में, भद्ररूप या सुन्दर रूप में और भद्रहीन या सुन्दरता रहित भी परिकल्पित की जा सकती है। इसके लिए शिल्पी को सदा ही मानादि का ध्यान रखते हुए दृढ़ निर्माण करना चाहिए।

इति विश्वकर्मप्रणीते विश्वकर्मवास्तुशास्त्रे भवनलक्षणनिरूपणं नाम चतुर्दशोऽध्यायः॥ 14॥

इस प्रकार विश्वकर्माप्रणीत विश्वकर्मवास्तुशास्त्र में भवन लक्षण निरूपण नामक चौदहवाँ अध्याय पूर्ण हुआ।



अथ पूर्वभवनलक्षणनिरूपणं नाम

पञ्चदशोऽध्यायः॥ 15॥

अथ पूर्वभवनलक्षणकथनात्मक पञ्चदशाध्यायमारभते —

प्रासादानाञ्च हर्म्याणां शालानाञ्च क्वचित्स्थले।
पुरःप्रकल्पनं पूर्वभवनं परिकीर्तितम्॥ 1॥

(अब पूर्वप्रतिपादित भवनों, हर्म्यों, प्रासादों, शालाओं के पूर्वभाग में बनने

वाले पूर्वभवन के सम्बन्ध में कहा जा रहा है। सामान्यतः पूर्वभवन शोभा के लिए, पालकी आदि आरोहणादि के लिए उपयुक्त होते हैं और स्वागतकक्ष के रूप में भी काम में आ सकते हैं) प्रासादों, हवेलियों, शालाओं में आगे की ओर कहीं-कहीं जो भवन बनाए जाते हैं, वे पूर्वभवन कहे जाते हैं।

मण्टपाकृति वा स्थाप्यं शालाकारमथापि वा।
नानासनसमोपेतं दर्पणादिसमुज्ज्वलम्॥ 2॥
संयुक्तं या वियुक्तं वा बहुचित्रसमन्वितम्।

ऐसे भवन को मण्डपाकृति वाला बनाया जाता है अथवा शालाकार भी निर्मित किया जा सकता है। उसमें अनेक आसन होते हैं और दर्पण आदि की रचना से सुशोभित होते हैं। ये भवन आपस में दो-दो जुड़वा या त्रियुक्त, तीन-तीन मिले हुए हो सकते हैं। इनको बहुत प्रकार के चित्रों से युक्त या वियुक्त भी बनाया जाता है।

द्वारकल्पनफलनियमः —

पुष्टिदं याम्यभागद्वारं प्रागुदग्भाजयप्रदम्॥ 3॥
पश्चिमं धनधान्यादिवर्धकं पूर्ववक्त्रकम्।
मेधाप्रदश्च कथितं शास्त्रज्ञैर्मुनिपुङ्गवैः॥ 4॥

ऐसे भवन दक्षिण दिशाभिमुख द्वार के बनने पर पुष्टिकारक होते हैं और पूर्व तथा उत्तर दिशाभिमुख द्वार वाले होने पर विजय दिलाने वाले होते हैं। पश्चिम दिशाभिमुख हो तो धन-धान्य की वृद्धि करते हैं और केवल पूर्वाभिमुख द्वार वाले होने पर मेधाप्रद या बुद्धि प्रदायक होते हैं, ऐसे शास्त्र के जानकार मुनिराजों का मत है।

क्षुद्राधिष्ठानसंयुक्तं सोपानालिसमन्वितम्।
इष्टिकास्तम्भयुक्तं वा दारुस्तम्भयुतं तु वा॥ 5॥
कल्पनं पूर्वभवने स्थाप्यं शिल्पविशारदैः॥ 6॥

इन भवनों के लिए क्षुद्र अधिष्ठान अथवा लघु कुरसी ही रखें और सीढ़ियों से समन्वित करे। इनके वरण्डों में स्तम्भों के लिए ईंटों का प्रयोग करे या काष्ठ के स्तम्भ भी बनाए जा सकते हैं। इस प्रकार शिल्पशास्त्री को पूर्वभवन परिकल्पित करना चाहिए।

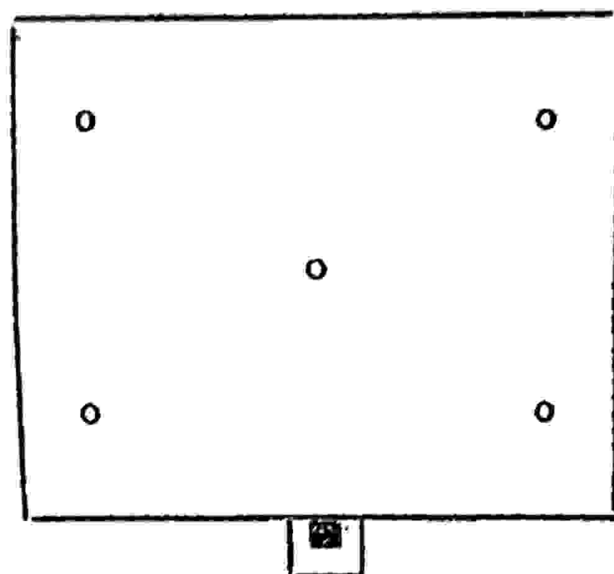
अथ पूर्वभवनास्तम्भस्थापनक्रमं तत्तद्वास्तुयोग्यं विशिनष्टि: —

सममानं चतुःपादमथवा दीर्घपादकम्।

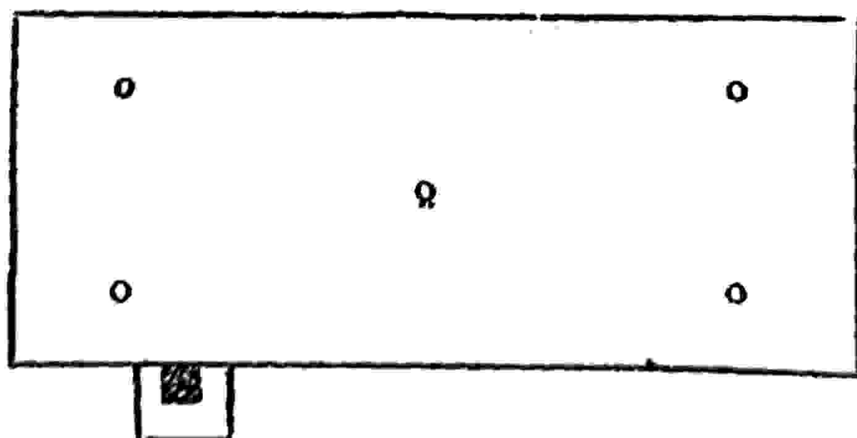
वैशाल्यपादकं वापि भद्रकं वाथ कुड्मकम् ॥ 7 ॥
वेदपादक्रमादेवं भवनं कल्पयेद्बुधः ।

(अब पूर्वभवन में स्तम्भ स्थापन विधि कहते हैं) समानतः या एक ही नाप के चतुष्पाद, चौकोर स्तम्भ या दीर्घ स्तम्भ, विशाल स्तम्भ या फिर भद्रक अथवा कुड्म स्तम्भ चार पाद के क्रम से उपयोग करते हुए विद्वान को पूर्वभवन परिकल्पित करना चाहिए।

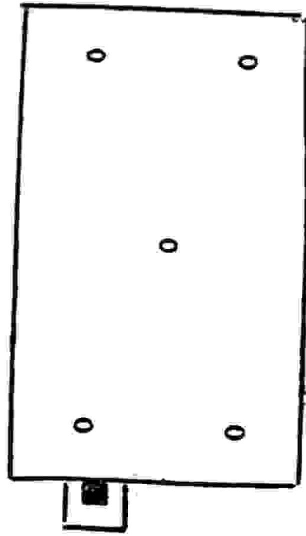
पूर्वभवने चतुस्तम्भस्थापनक्रमः



पूर्वभवने प्रकारान्तरेण चतुःस्तम्भस्थापनक्रमः॥



पूर्वभवने प्रकारान्तरेण चतु:स्तम्भस्थापनक्रम:॥

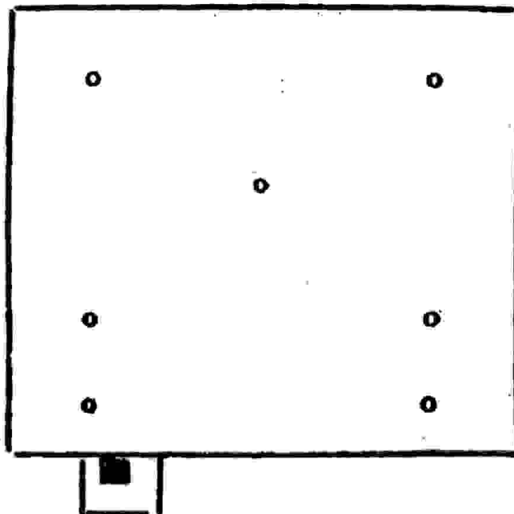


इत्थं पूर्वभवनादिषु चतु:स्तम्भस्थापनक्रममभिधायाधुना षट्स्तम्भ स्थापनक्रम-माह —

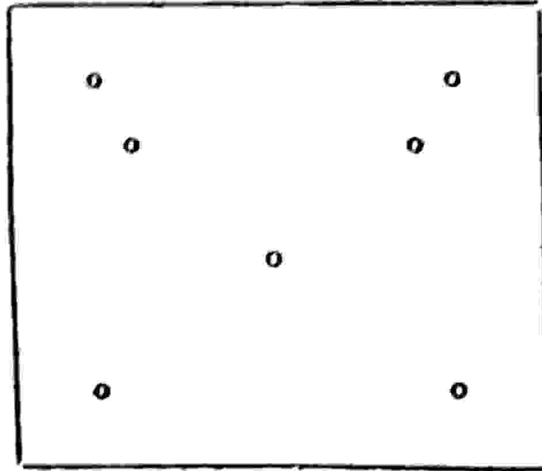
पूर्व-पश्चिमयोर्द्वारमथ मध्ये द्वियुग्मकम्॥ 8॥
तत्रैव सव्यापसव्योपघ्नपादयुगं तु वा।
इति षट्पादसंयुक्तभवनं परिकीर्तितम्॥ 9॥

इन भवनों में पूर्व और पश्चिम दिशा के द्वारों को बनाना चाहिए अथवा इनके बीच में द्वियुग्मक या दो-दो द्वारों वाले दो युग्म द्वार बनाए। वहीं पर सव्यापसव्य, बायें और दायें दो स्तम्भों को अत्यन्त पास रखते हुए बनाए तो इसे षट्पाद संयुत भवन या छह पायों वाले स्तम्भों का भवन कहा जाता है।

पूर्वभवने षट्स्तम्भस्थापनक्रम:॥



पूर्वभवने प्रकारान्तरेण षट्स्तम्भस्थापनक्रम:॥



एवं पूर्वभवनादिषु स्थापनीयषट्स्तम्भस्थापनक्रममभिधायाधुना तादृशस्थले-स्थापनीयस्तम्भाष्टकररचनाक्रममाह —

सममानं पादमानं दैर्घ्यवैशाल्ययोस्तथा।
पूर्व-पश्चिमसव्यापसव्यभागाश्रितं तु वा॥ 10॥

पूर्वोक्त छह स्तम्भों वाले भवन की तरह ही स्थानीय स्तम्भाष्टक रचना के सन्दर्भ में यह ज्ञातव्य है कि उसमें सभी पाये समान मान हो, स्तम्भ भी सममान के हों और उनकी लम्बाई और मोटाई भी सम हो। वे पूर्व से पश्चिम भागों में तथा बायें-दायें भागाश्रित भी हों।

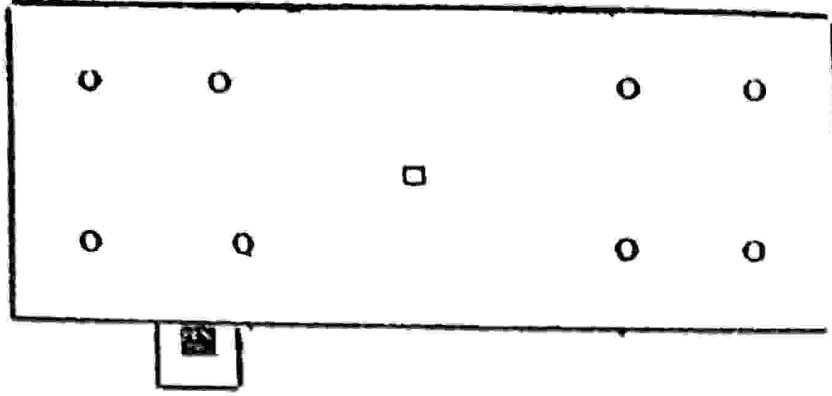
विशालमध्याङ्गणयुग्द्वौ द्वौ दिक्ष्वथवा मतौ।
महाङ्गणावृतं मध्यभागाङ्गणयुतं तु वा॥ 11॥

इन भवनों के मध्य विशाल आँगन बने हों, दो दो दिशाओं में अथवा उनका मध्य भाग बहुत बड़े खुले आंगन से घिरा हुआ हो या मध्यभाग ही आंगनयुक्त बनाया जाना चाहिए।

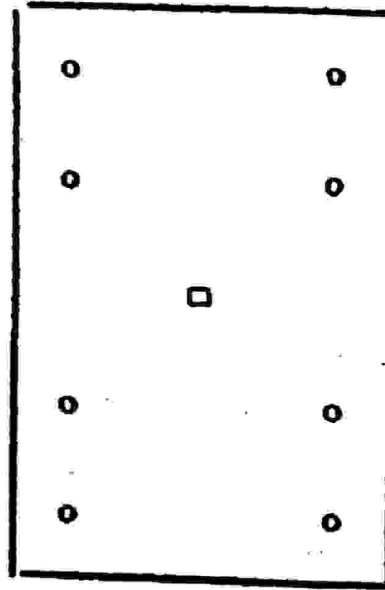
तिर्यक्स्थानगतद्वि-द्विस्तम्भभागान्वितन्तु वा।
इति नागस्तम्भयुतं भवनं परिकीर्तितम्॥ 12॥

इसमें तिर्यक्स्थानगत या तिरछे, आड़े स्थानों में दो-दो स्तम्भ भाग बनाए जाए तो इस नागस्तम्भयुत भवन कहा गया है।

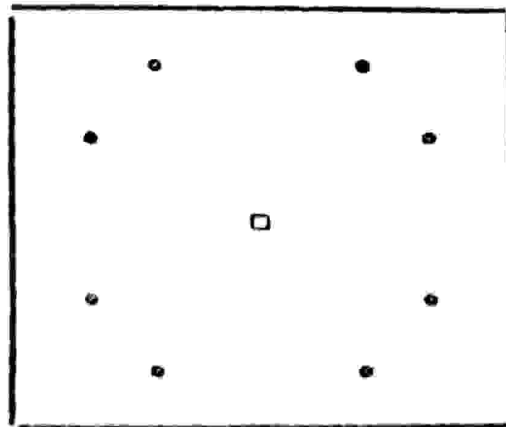
पूर्वभवने स्तम्भाष्टकस्थापनक्रमः॥



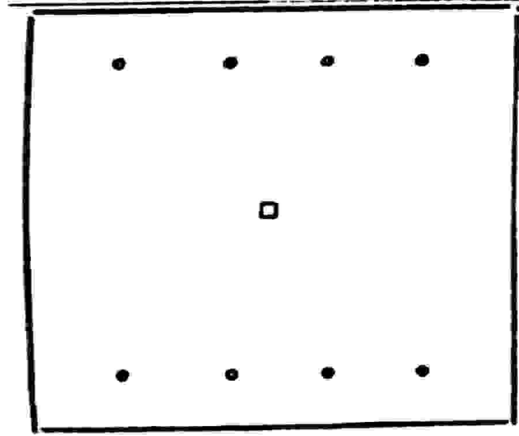
पूर्वभवने प्रकारान्तरेण स्तम्भाष्टकस्थापनक्रमः॥



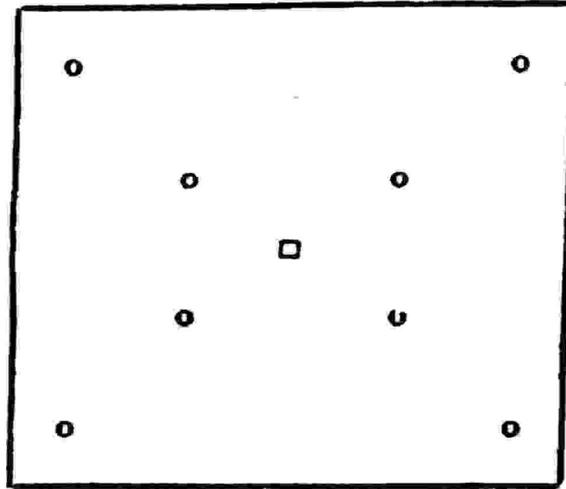
पूर्वभवने प्रकारान्तरेण स्तम्भाष्टकस्थापनक्रमः॥



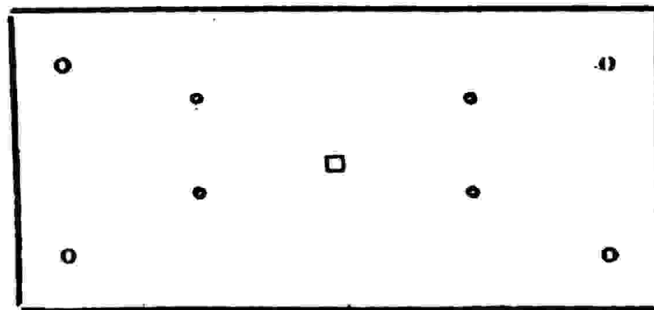
पूर्वभवने प्रकारान्तरेण स्तम्भाष्टकस्थापनक्रमः॥



पूर्वभवने प्रकारान्तरेण स्तम्भाष्टकस्थापनक्रमः॥



पूर्वभवने प्रकारान्तरेण स्तम्भाष्टकस्थापनक्रमः॥



इत्थं स्तम्भाष्टस्थापनक्रममभिधायाधुना पूर्वभवने स्तम्भदशकस्थापनं व्यनक्ति–

दिशात्रये द्वयं प्रोक्तं मध्ये स्तम्भचतुष्ककम्।
पार्श्वयोर्वेदपादश्च पुरतो युग्मपादकम्॥ 13॥

उक्त भवन की तरह ही दश स्तम्भ स्थापन के सन्दर्भ में ज्ञातव्य है कि तीनों दिशाओं में दो-दो और मध्य में स्तम्भ चतुष्क या चार स्तम्भ तथा उनके पार्श्व में चार स्तम्भ एवं आगे की ओर युग्मपाद या दो स्तम्भ बनाए।

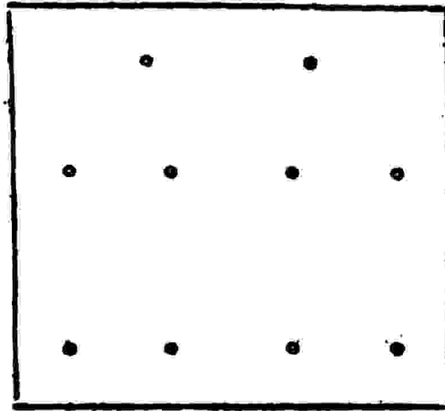
पुरतो नागपादश्च पश्चात्पादद्वयं तथा।
सव्यापसव्ययोर्वेदपादं मण्डलनामकम्॥ 14॥

आगे की ओर नागपाद बनाए और पीछे की ओर दो स्तम्भ बनाए तथा सव्यापसव्य—बायें, दायें चार स्तम्भ बनाए तो इसे मण्डल नामक भवन कहा जाएगा।

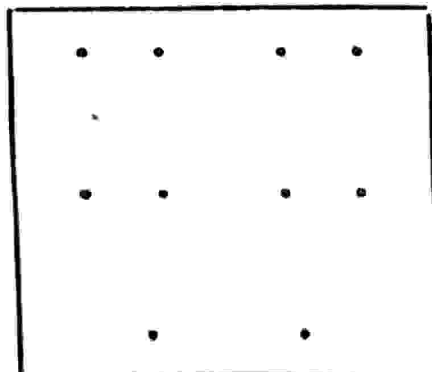
पुरतो नागपादश्च शिल्पिभिः स्थाप्यमीरितम्।
अनुलोमादितः स्थाप्यं दिक्स्तम्भभवनं विदुः॥ 15॥

शिल्पी आगे की ओर उक्त रीति से नागपाद स्तम्भों की रचना करे। अनुलोम से प्रारम्भ करके दिक्स्तम्भों को भवन में स्थापित करे।

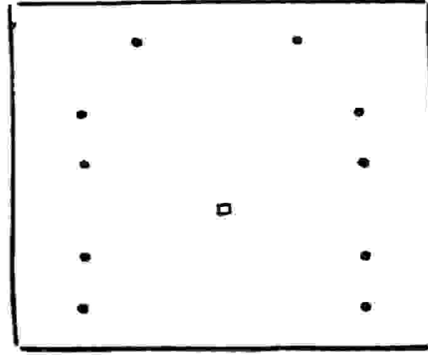
पूर्वभवने अनुलोमेन स्तम्भदशकस्थापनक्रमः॥



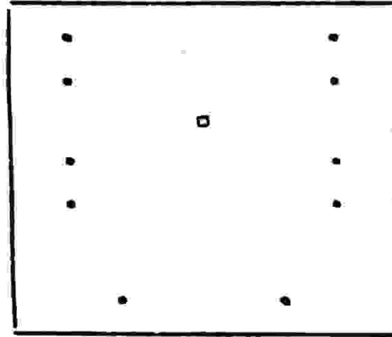
पूर्वभवने प्रतिलोमेन स्तम्भदशकस्थापनक्रमः॥



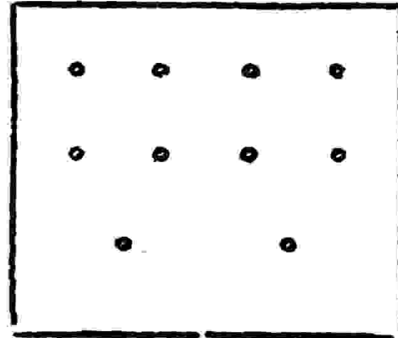
पूर्वभवने प्रकारान्तरेण स्तम्भदशकस्थापनक्रमः॥



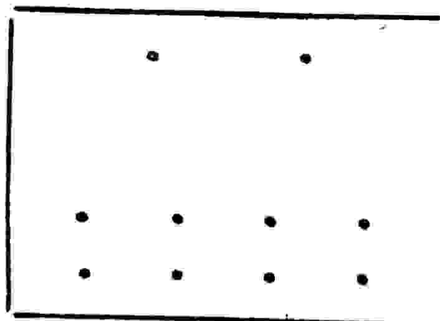
पूर्वभवने प्रकारान्तरेण स्तम्भदशकस्थापनक्रमः॥



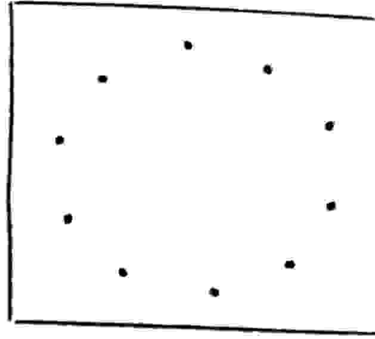
पूर्वभवने प्रकारान्तरेण स्तम्भदशकस्थापनक्रमः॥



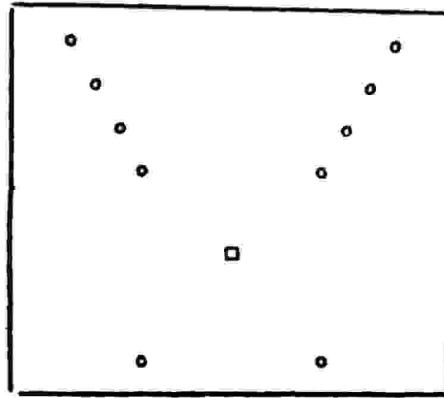
पूर्वभवने प्रकारान्तरेण स्तम्भदशकस्थापनक्रमः॥



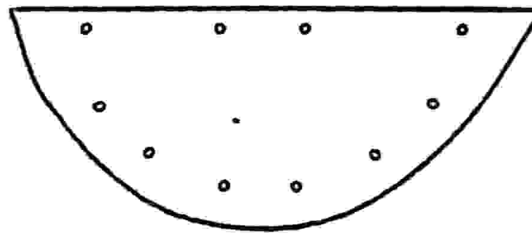
पूर्वभवने प्रकारान्तरेण स्तम्भदशकस्थापनक्रमः॥



पूर्वभवने प्रकारान्तरेण स्तम्भदशकस्थापनक्रमः॥



पूर्वभवने चापाकारेण स्तम्भदशकस्थापनक्रमः॥



अथ पूर्वभवनादिमेषु निर्माणेषु स्थापनीयस्तम्भद्वादशककल्पनरचनाक्रममाह—

पूर्व-पश्चिमयोर्भागपादं पार्श्वे द्वयन्तथा।
अथवा पक्षयोरष्ट प्राच्यां वेदपदन्तु वा॥ 16॥

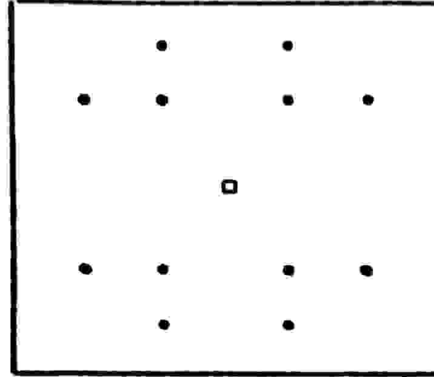
इसी प्रकार बारह स्तम्भों के पूर्वभवन के विषय में कहा जा रहा है कि पूर्व तथा पश्चिम के स्तम्भों के पार्श्व, आजू-बाजू में दो स्तम्भ अथवा पक्षयो— आजू-बाजू में आठ और पूर्व दिशा भाग में चार स्तम्भ बनाए।

मध्ये वेदपदं पूर्वप्रत्यग्भागे दिगङ्घ्रिकम्।
अनुलोमेन युक्त्या च विविधस्थानभाक्पदम्॥ 17॥

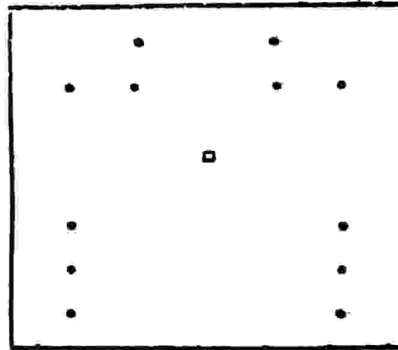
द्वादशस्तम्भसंयुक्तं भवनं ज्ञेयमीरितम्।

मध्यभाग में चार-चार स्तम्भ, इसी तरह पूर्व-पश्चिम भाग में आठ स्तम्भों को बनाए। ये स्तम्भ अनुलोक की युक्ति के अनुसार विविध भागों में हो। इस रीति से बारह स्तम्भों से संयुक्त भवन को जानना चाहिए।

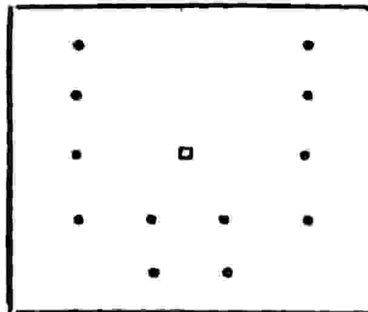
पूर्वभवने स्तम्भद्वादशकस्थापनक्रमः॥



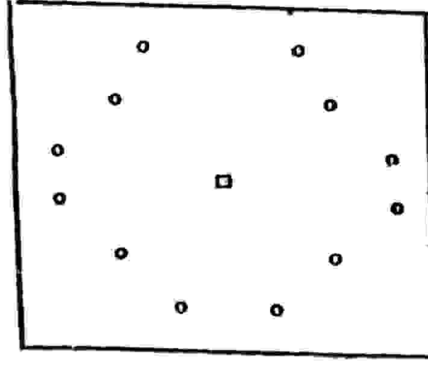
पूर्वभवने प्रकारान्तरेण द्वादशकस्तभस्थापनक्रमः॥



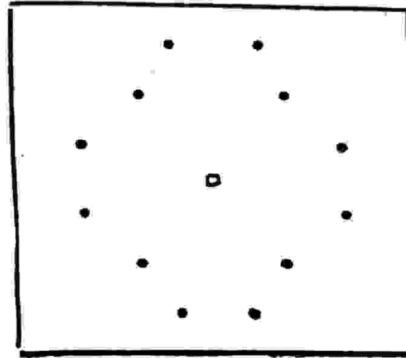
पूर्वभवने प्रकारान्तरेण द्वादशकस्तभस्थापनक्रमः॥



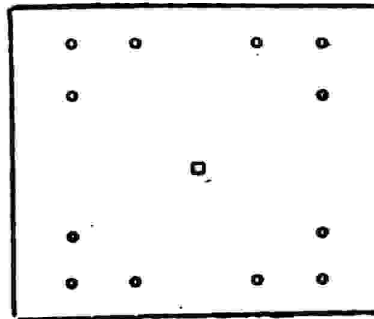
पूर्वभवने प्रकारान्तरेण द्वादशकस्तभस्थापनक्रम:॥



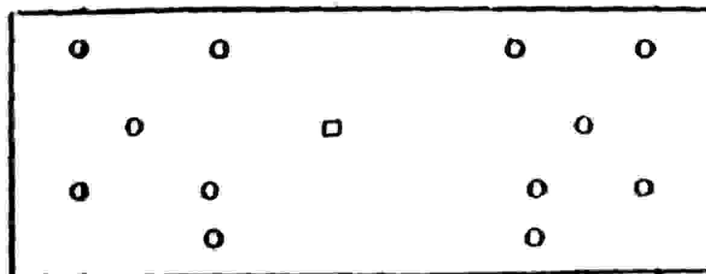
पूर्वभवने प्रकारान्तरेण द्वादशकस्तभस्थापनक्रम:॥



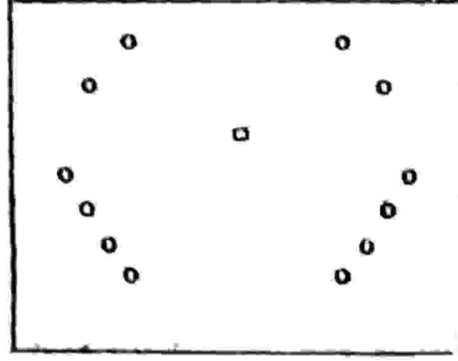
पूर्वभवने प्रकारान्तरेण द्वादशकस्तभस्थापनक्रम:॥



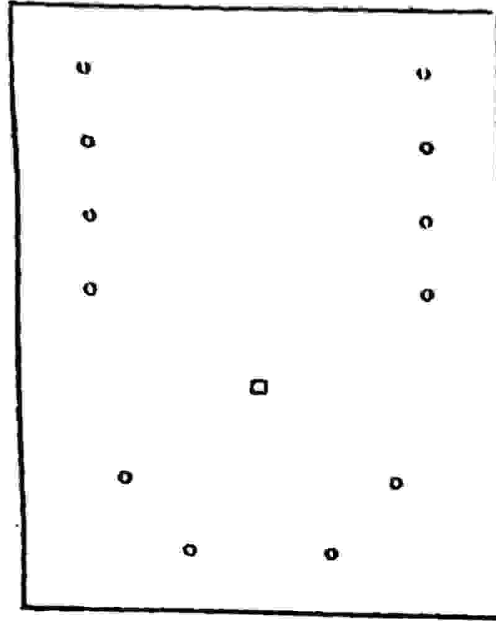
पूर्वभवने प्रकारान्तरेण द्वादशकस्तभस्थापनक्रम:॥



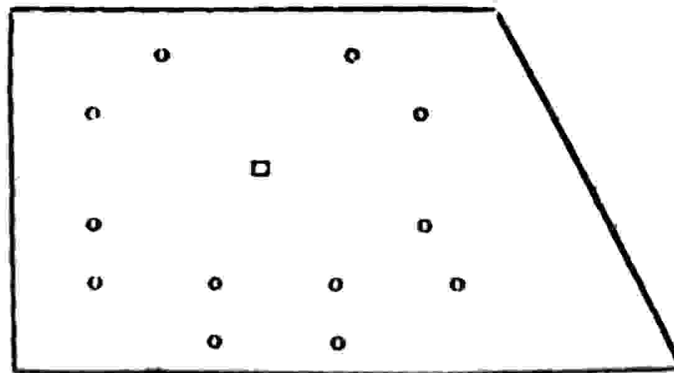
पूर्वभवने प्रकारान्तरेण स्तम्भद्वादशकस्थापनक्रमः॥



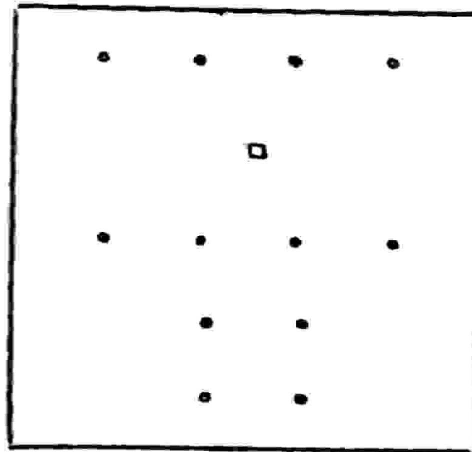
पूर्वभवने प्रकारान्तरेण स्तम्भद्वादशकस्थापनक्रमः॥



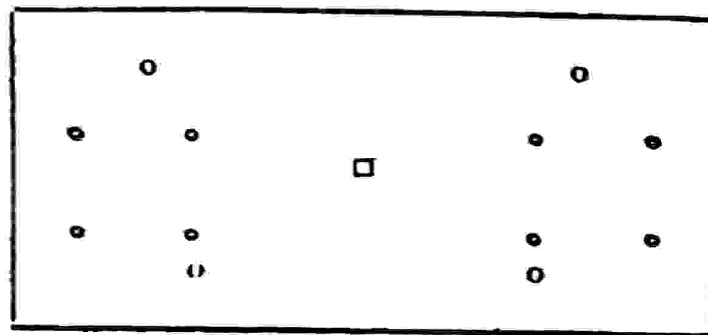
पूर्वभवने प्रकारान्तरेण स्तम्भद्वादशकस्थापनक्रमः॥



पूर्वभवने प्रकारान्तरेण स्तम्भद्वादशकस्थापनक्रमः॥



पूर्वभवने प्रकारान्तरेण द्वादशस्तंभस्थापनक्रमः॥



अथ पूर्वभवनादिकल्पनेषु षोडशस्तम्भस्थापनक्रमं व्यनक्ति —

सममानक्रिया सैव मध्ये वैशाल्यभाक्तथा।
पक्षयोर्वेदपादैश्च युक्तं मध्येऽष्टपादकम्॥ 18॥

उक्त पूर्वभवन के अन्तर्गत सोलह स्तम्भों के स्थापन के सम्बन्ध में कहा जा रहा है कि सममान या बराबर नाप और समान कारीगरी का प्रयोग करते हुए मध्य भाग में विशालता रखे। ऐसे स्तम्भ आजू-बाजू में चार और मध्य में आठ की संख्या में रखे।

चतुर्दिक्षु स्तम्भयुग्ममावारे च चतुःपदम्।
कोणाकारवशात्सर्वपादाष्षोडश कीर्तिताः॥ 19॥

इनकी चारों ही दिशाओं में दो-दो स्तम्भ वाले युग्म हों और अन्य चार स्तम्भ बनाए जो कोणाकार हो। इस प्रकार यहाँ सोलह स्तम्भों का निवेशन कहा गया है।

युग्मद्वयश्चतुर्दिक्षु पङ्क्तिद्वयषडङ्घ्रिकम्।
पुरतो वेदपादश्च तत्र व्यत्यस्तमानकम्॥ 20॥

यह ज्ञातव्य है कि चारों दिशाओं में युग्म रूप में दो-दो स्तम्भ हो और दो पङ्क्तियाँ भी छह स्तम्भों वाली हो सकती है। आगे की ओर चार स्तम्भ व्यत्य मान के अनुसार हो सकते हैं।

इत्येवं षोडशस्तम्भभवनं परिकीर्तितम्।
सर्वत्र मध्यवेद्युक्तं तद्यक्षेशाधिपं विदुः ॥ 21 ॥

इस प्रकार यह भवन सोलह स्तम्भों वाला भवन कहा गया है। इसमें सर्वत्र मध्य में वेदी की रचना होनी चाहिए। इसे विद्वानों ने यक्षेशाधिप या कुबेर का भवन कहा है।

पूर्वभवनकल्पने एकत्रिपञ्चसप्तनवादि विषमसंख्या स्तम्भेषु सर्वथा न कार्या —

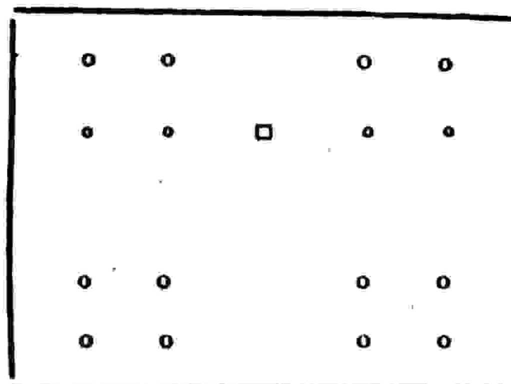
न कार्या विषमा सङ्ख्या शिल्पकार्यविचक्षणैः।
दशहस्तादिमानेन तुङ्गोच्छ्रायेण संयुतम्॥ 22 ॥

शिल्पकार्य के ज्ञानियों को कभी स्तम्भों की संख्या विषम (1, 3, 5, 7, 9 आदि) नहीं रखनी चाहिए अर्थात् भवन में सम संख्या (2, 4, 6, 8 आदि के क्रम) में ही स्तम्भों को बनाए। ये स्तम्भ दस हस्तादि मान की ऊँचाई के होने चाहिए।

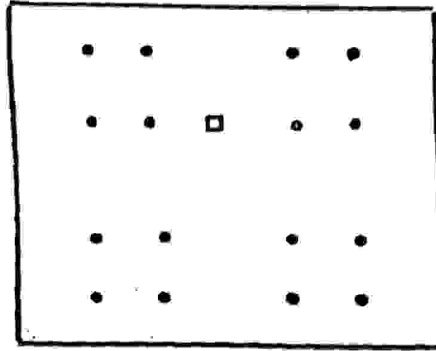
शुद्धं वा मिश्रितं वापि मानसूत्रप्रमाणवित्।
नानाहर्म्यकलोपेतं नानातोरणमण्डितम्॥
कल्पयेन्मतिमान्पूर्वभवनं मानवे स्थले॥ 23 ॥

पूर्वभवन चाहे शुद्ध हो या मिश्रित, उनमें स्तम्भादि की रचनाएँ मानसूत्र के प्रमाण के अनुसार ही होनी चाहिए। बुद्धिमान शिल्पी इस प्रकार से नाना प्रकार की हवेलियों को बनाए और उनको अनेकविध तोरणों से मण्डित करे। इसी तरह मानवीय स्थल में पूर्वभवनों का निर्माण कल्पित करे।

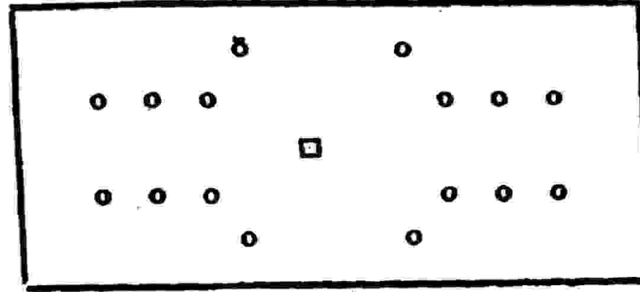
पूर्वभवने षोडशस्तम्भस्थापनक्रमः॥



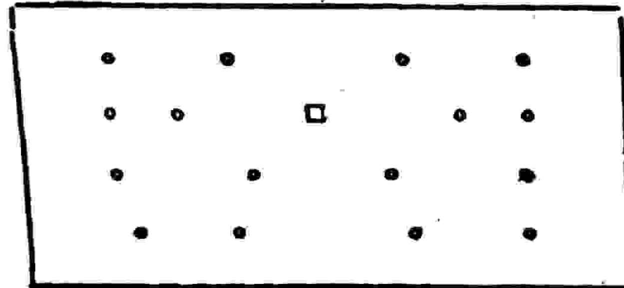
पूर्वभवने प्रकारान्तरेण षोडशस्तम्भस्थापनक्रमः॥



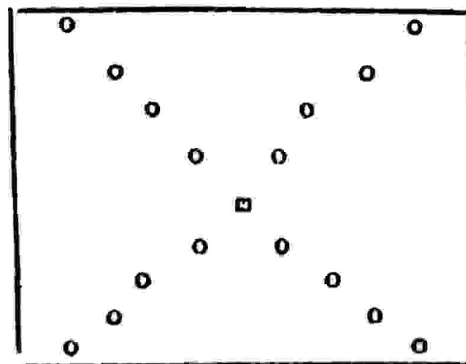
पूर्वभवने प्रकारान्तरेण षोडशस्तम्भस्थापनक्रमः॥



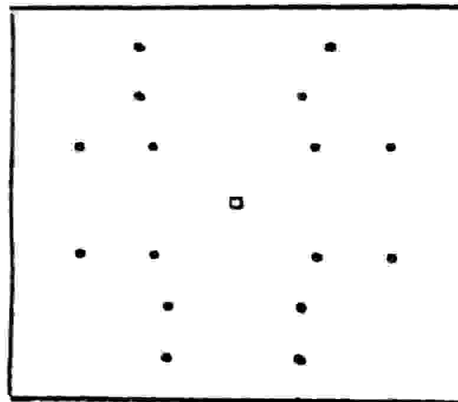
पूर्वभवने प्रकारान्तरेण षोडशस्तम्भस्थापनक्रमः॥



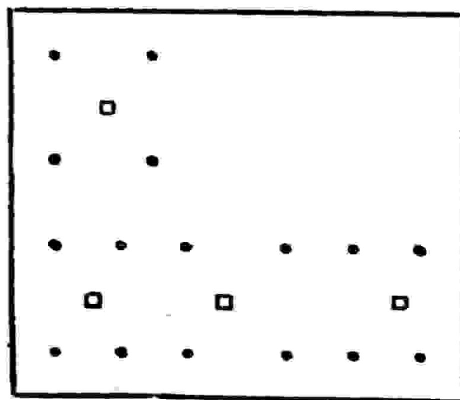
पूर्वभवने प्रकारान्तरेण षोडशस्तम्भस्थापनक्रमः॥



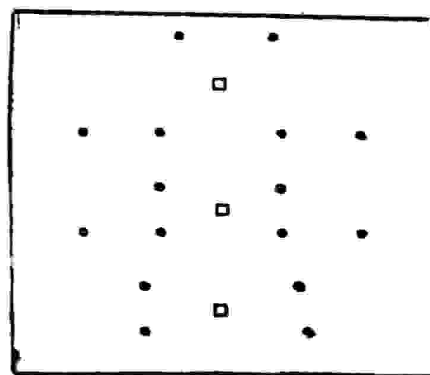
पूर्वभवने प्रकारान्तरेण षोडशस्तम्भस्थापनक्रमः॥



पूर्वभवने प्रकारान्तरेण षोडशस्तम्भस्थापनक्रमः॥



पूर्वभवने प्रकारान्तरेण षोडशस्तम्भस्थापनक्रमः॥



इति विश्वकर्मप्रणीते विश्वकर्मवास्तुशास्त्रे पूर्वभवनलक्षणनिरूपणं नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥ 15 ॥

इस प्रकार विश्वकर्माप्रणीत विश्वकर्मवास्तुशास्त्र में पूर्वभवन लक्षण निरूपण नामक पन्द्रहवाँ अध्याय पूर्ण हुआ।



अथ न्यायशालालक्षणनिरूपणं नाम

षोडशोऽध्याय: ॥ 16 ॥

अथ न्यायशालालक्षणकथनात्मकं षोडशाध्यायमुपक्रमते —

सार्वभौमादिभूपानां गुणिनां नयचक्षुषाम्।
आस्थानिकं द्विधा प्रोक्तं न्यायशालासभाक्रमात्॥ 1 ॥

(अब राजधानी आदि में न्यायशाला के निर्माण के लक्षणों का निरूपण किया जा रहा है) सर्वगुणसम्पन्न न्यायरूप नेत्र वाले सार्वभौम, चक्रवर्ती राजाओं के आस्थानिक क्रमश: दो प्रकार के कहे गए हैं— 1. न्यायशाला और 2. न्यायसभा।[१]

ग्रन्थकार ने अनेक स्थलों पर न्यायशाला को महत्वपूर्ण मानते हुए नगर में उनकी आवश्यकता प्रतिपादित की है। वैदिककाल में सभा और समिति का उल्लेख आता है। ऋग्वेद वर्णित विदथ को भी प्राचीनतम जनसभा माना गया है। वहाँ सभा शब्द 8 बार एवं समिति का 9 बार उल्लेख आया है जबकि विदथ का प्रयोग 122 बार हुआ है। सभा धर्मसम्बन्धी कार्यकलाप का केन्द्र होती थी, इसके सदस्य इन्द्र से सभा और सभासदों की रक्षा की याचना करते थे। सभा न्यायकार्य करती थी। ऋग्वेद की एक परवर्ती ऋचा के आधार पर सभा को एक ऐसी संस्था के रूप में प्रतिपादित किया गया है जो अभियोग लगाकर लोगों का कलंक मिटाती थी। (ऋग्वेद 10, 71, 10) किन्तु, वास्तुग्रन्थों में न्यायशाला के लक्षणों का यह वर्णन विरला ही कहा जाएगा।

---

१. ग्रन्थकार ने अनेक स्थलों पर न्यायशाला को महत्वपूर्ण मानते हुए नगर में उनकी आवश्यकता प्रतिपादित की है। वैदिककाल में सभा और समिति का उल्लेख आता है। ऋग्वेद वर्णित विदथ को भी प्राचीनतम जनसभा माना गया है। वहाँ सभा शब्द 8 बार एवं समिति का 9 बार उल्लेख आया है जबकि विदथ का प्रयोग 122 बार हुआ है। सभा धर्मसम्बन्धी कार्यकलाप का केन्द्र होती थी, इसके सदस्य इन्द्र से सभा और सभासदों की रक्षा की याचना करते थे। सभा न्यायकार्य करती थी। ऋग्वेद की एक परवर्ती ऋचा के आधार पर सभा को एक ऐसी संस्था के रूप में प्रतिपादित किया गया है जो अभियोग लगाकर लोगों का कलंक मिटाती थी। (ऋग्वेद 10, 71, 10) किन्तु, वास्तुग्रन्थों में न्यायशाला के लक्षणों का यह वर्णन विरला ही कहा जाएगा।

न्यायशालास्थानिकन्तु प्रत्यहं राजपूजितम्।
धर्मस्थापनकार्येषु साक्षीभूतमहेश्वरा॥ 2॥
सभा व्रतादिनास्थानं महिष्यादिभिरर्चिता।

इनमें न्यायशाला आस्थानिक प्रतिदिन राजा द्वारा गौरवान्वित होता है। यहाँ धर्म की स्थापना के कार्य अर्थात् न्याय व्यवस्था के निमित्त बड़े-बड़े राजा साक्षीभूत रूप में स्वयं उपस्थित रहते हैं। दूसरी न्यायसभा व्रतादि का आस्थान होती है, जो रानियों द्वारा अर्चित होती है।

प्रासादे भवने हर्म्ये परिवारावृताङ्गणे॥ 3॥
शुद्धां वेदीं पीठिकां वा समासाद्य महीपतिः।
नियम्य च मनः श्रेयोवर्धनं व्रतचारणम्॥ 4॥

राजमहलों, भवनों, हवेलियों और परिवारों से घिरे हुए आँगन में शुद्ध वेदी पीठिका या स्वच्छ चबूतरी की पीठ हो और उस पर राजा आकर विराजमान हो। वह अपने मन को नियन्त्रित करके यश की अभिवृद्धि के लिए न्याय के व्रत[१] का पालन करे अर्थात् न्याय करे।

अथ न्यायशाला माहात्म्यमाह —

न्यायशाला तु कथिता सर्वदेवमयी शुभा।
सर्वशक्तिमयी सर्वप्राणिनां क्षेमवर्धिनी॥ 5॥

न्यायशाला की महिमा यह है कि वह सर्वदेवमयी और शुभ कही गई है। उसमें समस्त शक्तियाँ निहित होती है। वह समस्त प्राणियों के कल्याण की अभिवृद्धि करने वाली होती है।

गुणाढ्येन स्थिरधिया भूभर्त्रा नयचक्षुषा।
सा सेव्या लोकरक्षार्थं सहामात्यपुरोहितैः॥ 6॥

---

१. इस प्रसङ्ग में नारद का मत विचारणीय है कि पाषण्डि, नैगम, श्रेणी, पूग, व्रातगण आदि के व्रतों को राजा द्वारा पालना और संरक्षण करवाना चाहिए— पाषण्डिनैगमश्रेणीपूगव्रातगणादिषु। संरक्षेत्समयं राजा दुर्गे जनपदे तथा॥ (नारद. 10, 2) व्यवहार मयूख का स्पष्टीकरण है कि पाषण्डि का अर्थ वणिकादि और वेद-मार्ग विरोधी होना है। इसी तरह नैगम का वेदविलम्बी, श्रेणी का नाना जातियों द्वारा एक जातीय कर्म करने वालों का समूह, पूग का आशय विभिन्न जातियों द्वारा भिन्न जातियों के कर्मों को करने वाला समूह और कुल का आशय जाति सम्बन्धी बान्धवों का समूह है। पाषण्डि और व्रात्यों के समूह को गण नाम दिया गया है।

अत्यन्त गुणों के धारक, स्थिर बुद्धि सम्पन्न एवं न्यायरूप चक्षु वाले राजा के द्वारा लोक की रक्षा के निमित्त उस न्यायशाला का अपने आमात्यों, पुरोहितों सहित[१] सेवन-पालन करना चाहिए।

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन तां कुर्याल्लक्षणान्विताम्।
समस्थलां सावयवां सदेवां शिल्पकल्पनैः ॥ 7 ॥

इसलिए उक्त न्यायशाला को सर्वविध प्रयत्नपूर्वक समस्त लक्षणों सहित बनाना चाहिए। राजशिल्पी न्यायशाला को समस्थलीकृत (समतल भूमि पर), समस्त अवयवों (कार्य-कक्षों, आवश्यक संसाधनों) से युक्त और समस्त देवताओं[२] सहित परिकल्पित करे।

तत्राद्याया न्यायशालाया लक्षणमाह —

देश्या पौरेति सा न्यायसभा तु द्विविधा मता।
जन्माधिष्ठानसंयुक्तां चतुर्दिग्द्वारभूषिताम् ॥ 8 ॥

न्यायसभा दो प्रकार की कही गई है— 1. देश्या (देशी) और 2. पौर (नगरीय)। यह जन्माधिष्ठान सहित हो और चारों ही दिशाओं में द्वार निवेश से विभूषित होनी चाहिए।

नयवाद्यासनोपेतां सामन्तासनसंयुताम्।
शालाकारां सभाकारां वर्तुला चतुरश्रकाम् ॥ 9 ॥

उस न्यायशाला में न्यायाधीशों के लिए सम्मानप्रद आसन बने हुए हों। उनके साथ ही सामन्तगणों के लिए आसनों का प्रबन्ध होना चाहिए। न्यायशाला को

---

१. बृहस्पति के वचन को स्मृतिचन्द्रिकाकार ने उद्धत करते हुए कहा है कि राजाधिकृत ब्राह्मण उपस्थित होकर जहाँ व्यवहार करने लगते हैं, वह सभा यज्ञ के समान हो जाती है। इस सभा में सभ्यों की संख्या सात, पाँच अथवा तीन होती है— लोकवेदाङ्गधर्मज्ञाः सप्त पञ्च त्रयोऽपि वा। यत्रोपविष्टा विप्राः स्युः सा यज्ञसदृशी सभा॥ (स्मृतिचन्द्रिका 2, पृष्ठ 15; तुलनीय- शुक्र. 4, 5, 26; मनु. 8, 2)

२. अथर्ववेद में इस प्रकार का विचार सभा में देखने को मिलता है। उसमें एक राजा कहता है कि प्रजापति की दो पुत्रियाँ, सभा और समिति एक होकर मुझे संरक्षण प्रदान करें— 'सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने।' जिस किसी से भी मैं मिलता हूँ, वह मेरा आदर करे और मुझे सहायता प्रदान करे। हे पितरो, सभा में मेरे शब्द न्याययुक्त हों। हे सभा हम तेरा नाम जानते हैं, तेरा नाम परिसंवाद है। यहाँ सभा में उपस्थित सभी जन मुझसे सहमत हों। यहाँ बैठे लोगों की श्री और विद्या मेरी हो। इन्द्र यहाँ एकत्र सभी लोगों में मुझे प्रमुखता प्रदान करे। (अथर्ववेद : ग्रिफिथ अनुवाद 7, 12, 1-3)

आकार की दृष्टि से शाला, सभा, वर्तुल और चौकोर आकार वाली बनाए।

भूपालस्येच्छया वापि राजकार्यानुकूलतः।
कोशागारयुतां देश्यां कल्पयेच्च सदेवताम्॥ 10॥

उक्त आकार के अतिरिक्त राजा की इच्छा के अनुसार और राजकार्य की अनुकूलता को दृष्टिगत रखते हुए भी न्यायशाला को बनाया जा सकता है। वहाँ पर कोशागार हो, देश्या को देवताओं की स्थापना सहित बनाए।

अथान्त्याया: पौराया: न्यायशालाया लक्षणमाह —

चक्रवर्तेः पट्टभाजो युवराजस्य भूभुजः।
नरेन्द्रस्य क्षत्रियस्य महाराजस्य भूपतेः॥ 11॥
सामन्तस्य महीनेतुरासनेन समुज्ज्वलाम्।
पौरां तु न्यायशालाख्यां मानसूत्रेण कल्पवित्॥ 12॥

जो चक्रवर्ती राजा के पट्टाभोगी या उत्तराधिकारी युवराज के तथा ऐसे ही नरेन्द्र क्षत्रिय महाराज के भूपति और सामन्त राजाओं के आसनों से समुज्ज्वल हो, ऐसी नगर की न्यायशाला को मानसूत्र के अनुसार ही शिल्पी को कल्पित करना चाहिए।

विभज्य स्थानभेदादीन्स्थापयेल्लक्षणान्विताम्।
मध्यशालाप्रमाणन्तु भानुदण्डकमीरितम्॥ 13॥

इसके लिए वहाँ के स्थान को विविध कार्यों हेतु विभाजित करके उपर्युक्त शालाएँ स्थापित करे और उनको लक्षणों सहित बनाना चाहिए। मध्य की सभाशाला का प्रमाण बारह दण्ड के माप का कहा गया है।

तदर्धं वा तदर्धं वा पूर्वशालाप्रमाणकम्।
उपशालाभद्रकाख्यैरन्वितं च समन्ततः॥ 14॥

अथवा, उक्त प्रमाण से आधी अथवा आधी की भी आधी या फिर पूर्वशाला के प्रमाण से हो सकती है। इसमें उपशाला बनाए जिसे भद्रका कहा जाता है। ऐसी सब स्थलों पर हो सकती है।

शालाकारां सभाकारां मण्टपाकृतिमेव वा।
चतुरश्रा वर्तुला वा त्रितलादिविराजिताम्॥ 15॥

इनको शालाओं के आकार, सभाओं के आकार, मण्टपाकृति अर्थात् मण्डपों की आकृति में बनाए। ये चौकोर, वर्तुलाकार और तीन तलों तक भी बनाया जा

सकता है।

महाधिष्ठानसंयुक्तां त्रिंशत्सोपानवेदिकाम्।
देवासनसमोपेतस्तम्भकूटविराजिताम्॥ 16॥
विमानरचनोपेतां कुर्याच्छिल्पविशारदः॥ 17॥

इनमें बैठकीय पीठ महाधिष्ठान से युक्त हो जिनमें तीस सोपान युक्त वेदियाँ, पीठादि हों। वहाँ पर देवासन या मुख्य न्यायाधीश के आसन की स्तम्भ और कूटादि से सज्जा की जाए। शिल्पीगण उस न्यायसभा की रचना विमान अथवा शिखर सहित शिल्प-सौन्दर्य से युक्त करे।

इत्थंप्रकारेण भूपालन्यायशाला निर्माणक्रमं सामान्यलक्षणान्वितमभिधायाधुना-मुख्येन प्रकारत्रयेण स्थाप्यमित्यादि व्यनक्ति —

ईशानादिचतुष्कोणेष्वष्टपादसमन्वितम्।
पक्षद्वये षोडशकं चत्वारिंशत्सहाष्टकम्॥ 18॥

उक्त सभा की पीठ ईशानादि चारों कोनों पर अष्टपाद या अठखम्भा हो और दोनों ही बाजुओं में सोलह तथा अड़तालीस स्तम्भ हो।

चतुःपङ्क्तौ षोडशकं षट्पादं मध्यमाङ्गणम्।
अङ्गणद्वययुक्तं वा पुरोव्यत्यासभागपि॥ 19॥

इसी प्रकार चार पंक्तियों में सोलह और छह स्तम्भों के मध्य के आँगन हों। आँगन भी दो बनाए अथवा वह आगे की ओर सभाग सहित हो।

द्वात्रिंशत्पादयुक्तं वा मण्डलाकारभाक्तथा।
चतुर्विंशत्पदोपेतमेवं त्रिविधकल्पनम्॥ 20॥

इसके अतिरिक्त वह बत्तीस स्तम्भों की हो सकती है तथा मण्डलाकार या गोलाई के आकार को लिए हो। उसमें चौबीस स्तम्भ भी हो सकते है। इस प्रकार इसकी रचना त्रिविध कल्पित की गई है।

आद्यन्तु चतुरश्राख्यं द्वितीयं दीर्घवास्तुकम्।
तृतीयं मण्डलं प्रोक्तं त्रितलेन समन्वितम्॥ 21॥

उक्त विवरण में प्रथम स्वरूप को चौकोर, द्वितीय को दीर्घवास्तु और तृतीय स्वरूप को मण्डल कहा गया है। ये तीनों तीन तल से समन्वित हो।

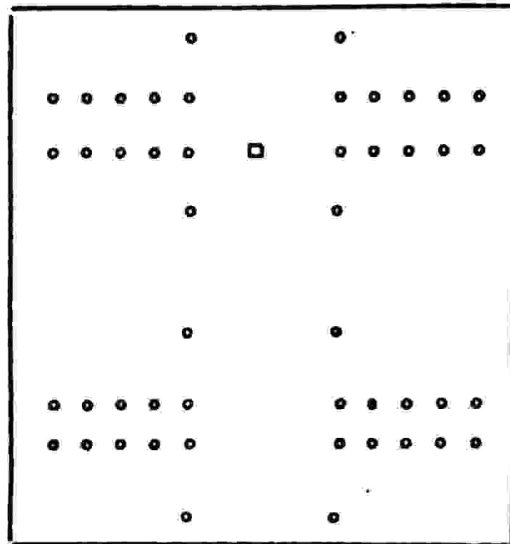
पूर्वभद्रसमायुक्तं मुखतोरणमण्डितम्।
पूर्वास्यमुत्तरास्यञ्च वारुणास्यं क्रमादिदम्।
कारयेच्छिल्पकर्मज्ञ (यथा प्रवर्तिते) बुधः ॥ 22 ॥

इनके पूर्वभद्र साथ में बने होते हैं और मुख तोरण से मण्डित होते हैं। ये सभागार पूर्वमुखी, उत्तरमुखी तथा पश्चिमाभिमुखी क्रम से बनाए जाते हैं। शिल्पियों को चाहिए कि वे ज्ञानियों द्वारा प्रवर्तित इसी विधि का प्रयोग करे।

॥न्यायशालाकल्पनोद्धारमण्डलक्रमः॥

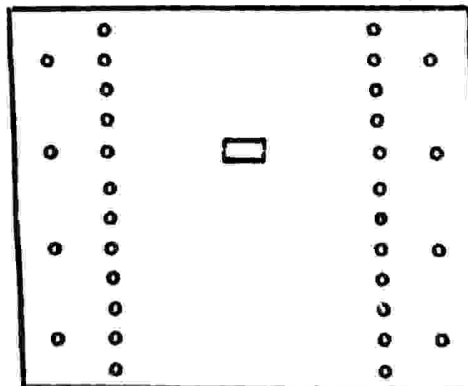
अष्टाचत्वारिंशत् (४८) स्तम्भयुता प्राचीमुखा न्यायशाला॥

॥चतुरस्रवास्तुभूमिः॥

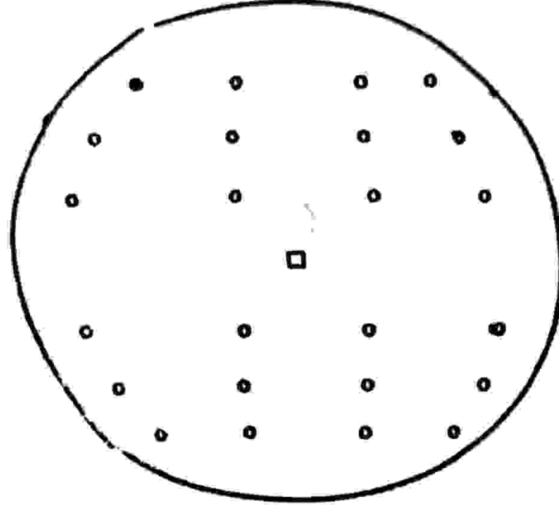


द्वात्रिंशत् (३२) स्तम्भयुता उदङ्मुखन्यायशाला

दीर्घाकारवास्तुभूमिः॥



चतुर्विंशति (२४) स्तम्भयुता वरुणदिङ्मुखा
॥मण्डलाकारवास्तुभूमिः॥



इत्युद्धारमण्डलक्रमः॥

अथ सिंहासनलक्षणम् —

सिंहासनं चक्रवर्तेः क्षत्रियाणां च कीर्तितम्।
भद्रासनन्तु सामन्तभूपालानां निगद्यते॥ 23॥

अब न्यायशालादि के लिए उपयोगी सिंहासनों के लक्षण कहते हैं। चक्रवर्ती राजाओं के लिए 'सिंहासन' का निर्माण कहा गया है। सामन्त राजाओं के लिए 'भद्रासन' बनाया जाता है।

कूर्मासनं नैष्ठिकानां यतीनामपि योगिनाम्।
वीरासनं सैन्यपतेर्भूष्योपरि महीभुजः॥ 24॥

नैष्ठिक ब्रह्मचारियों, यतियों और योगियों के लिए 'कूर्मासन' और सेनापतियों व संग्राम में विजय पाने वाले वीर सैनिकों के लिए 'वीरासन' होता है।

मानासनममात्यानां गुरूणां सुधियामपि।
विजयासनमीशस्य युवराजस्य कीर्तितम्॥ 25॥

आमात्य जनों और गुरु व विद्वानों के लिए 'मानासन' बनाया जाता है। राजा के पुत्र युवराज के लिए बनाया जाने वाला आसन 'विजयासन' कहा जाता है।

पर्यङ्कादीन्यासनानि कथितानि सभासदाम्।
एवं सप्तविधान्याहुरासनानि मनीषिणः॥ 26॥

अन्यान्य सभासदों के बैठने के लिए जिन आसनों का निर्माण होता है, वे

'पर्यंकासन' कहे जाते हैं। इस तरह सात प्रकार के आसनों का वर्णन विद्वानों द्वारा किया गया है।

एवं सिंहासनस्य लक्षणमात्रमत्र विशदयति —

एकहस्तं द्विहस्तं वा त्रिहस्तमथवा क्वचित्।
चतुष्कूटं चतुर्नेत्रं करपीठसमन्वितम्॥ 27॥

(इस प्रकार यहाँ मात्र सिंहासन का ही विस्तार से वर्णन करते हैं)— यह सिंहासन एक हाथ, दो हाथ अथवा कहीं-कहीं तीन हाथ प्रमाण से चतुष्कूट (चार कँगूरों वाली रचना) और चतुर्नेत्र (चार छिद्रों वाली) रचना से युक्त हो और जिसमें करपीठें या हत्थे लगे हुए हों।

तस्योच्छ्रायप्रमाणन्तु ज्ञेयं शिल्पविचक्षणैः।
तदर्धाधिकमानादि पञ्चहस्तावधिक्रियम्॥ 28॥

उन आसनों की ऊँचाई का प्रमाण शिल्पविदों को जानना चाहिए। जो कुल मान हो, उससे आधे से कुछ अधिक मान से पाँच हाथ तक का निर्माण हो।

प्रभायाः कल्पनं प्रोक्तं सशिखं मुकुटान्वितम्।
चन्द्रप्रभं वा शिबिरं मण्डलं वा प्रभाकलम्॥ 29॥

उसमें प्रभा की कल्पना शिखा से युक्त और मुकुटान्वित कही गई है। वह चन्द्रप्रभा के आकार जैसा, मण्डलाकार या प्रभाकार जैसा हो सकता है।

क्षुद्रान्धारिकसंयुक्तं बम्बरादिविराजितम्।
कौशेयास्तीर्णफलकं रत्नप्रत्युप्तपट्टिकम्॥ 30॥

उनके सौन्दर्य के प्रसङ्ग में यह ज्ञातव्य है कि उन पर छोटे-छोटे परदे हों जिनमें मधुमक्खियों के छत्तों की तरह के लघु छिद्र बने हो यानी जालीदार परदे टाँगने चाहिए। रचना उजालदान जैसी हो। उनके फलक भी रेशमी वस्त्रों से युक्त हों जिनके रत्नों की अलंकरण युक्त पट्टिका या किनारी हो।

छत्रासनयुतं वापि छत्राकारमथापि वा।
हेम-किङ्किणिका-जालपरिमण्डितवाजनम्॥ 31॥

इसी प्रकार विराजित होने का आसन छत्रयुक्त हो अथवा उसे छत्राकार भी बनाया जा सकता है। इसमें सोने की किंकिणिकाएँ या क्षुद्र घण्टिकाओं के जाल से मण्डित पंखा भी लगा हुआ हो।

मानविच्छिल्पकार्यज्ञः कल्पयेत्सैह्यमासनम्।
वेदी विधानतः कार्या वैशाल्यायामदण्डका॥ 32॥

इस प्रकार मान-प्रमाण के ज्ञाता शिल्पकार्य विशेषज्ञ को सिंहासन परिकल्पित करना चाहिए। इसके लिए वेदी को विधान के अनुसार ही बनाए जो दण्ड प्रमाण आयाम वाली हो।

सुवर्णसोपानषट्का हेमपट्टविराजिता।
नवरत्नपरीताङ्गा राजता वा हिरण्मयी॥ 33॥

इस वेदी पर पहुँचने के लिए सोने के बने हुए छह सोपान हो जिस पर स्वर्णपट्ट सुशोभित हों और जिसमें नवरत्नों की जड़ाई की गई हो। ऐसा प्रतीत हो मानो वे सोने की कान्ति विस्फारित करते हों।

चतुष्कर्णसमायुक्ता चतुर्यमलदेवता।
किरीटवेदिकां वामे दक्षिणे खड्गवेदिकाम्॥
स्थापयेच्छिल्पकार्यज्ञो युक्त्या मानेन कल्पनम्॥ 34॥

उक्त चौकी चारों ही कोनों वाली हो एवं उसे चार यमल देवता हो अर्थात् इनमें चतुष्कर्णाख्य चित्र विशेष बने हुए हों (वासव, जयन्त, वैश्रवण, नाग, भुजंगेश, मुख्यादि यमल देवों की प्रतिकृतियाँ हो, यही भाव है)। इस प्रकार सिंहासन के लिए वेदी की स्थापना करके उसके वामभाग में एक छोटी वेदिका किरीट स्थापन हेतु बनाए। उसके दायें भाग में वैसी ही एक छोटी वेदिका और बनाए जिसमें खड्ग रखी जाए। शिल्पी को चाहिए कि वह युक्ति और उचित मान के अनुसार इनकी रचना करे।

इति विश्वकर्मप्रणीते विश्वकर्मवास्तुशास्त्रे न्यायशालालक्षण सिंहासनलक्षणकथनं नाम षोडशोऽध्यायः॥ 16॥

इस प्रकार विश्वकर्माप्रणीत विश्वकर्मवास्तुशास्त्र में न्यायशाला लक्षण सिंहासन लक्षण कथन नामक सोलहवाँ अध्याय पूर्ण हुआ।



अथ पौरदेश्यसभादिकथनं नाम

सप्तदशोऽध्याय: ॥ 17 ॥

इत्थं प्रकारेण षोडशाध्याये भूपालानां प्रासादेषु कल्प्यमानन्यायशालाया: लक्षणं प्रतिपाद्याधुना राजधान्यां पुरेषु देशेषु च स्थापनीयविविधन्यायशालानां लक्षणं विशदीकरोति —

न्यायवित्परिषत्स्थानं सभा मुख्या प्रधानिका।
दैवी राज्ञी मानुषीति तत्क्रमः कथितो बुधैः ॥ 1 ॥

(इस प्रकार षोडश अध्याय के अन्तर्गत राजप्रासादों के मध्य रचित न्यायशाला के लक्षणों का प्रतिपादन किया गया। अब राजधानी, नगर तथा देशों में स्थापतीय अनेक न्यायशालाओं के लक्षणों को विस्तारपूर्वक कहते हैं)— न्यायविदों के लिए परिषद स्थान सभा अर्थात् 1. साधारण सभा, 2. मुख्या अर्थात् मुख्य सभा और 3. प्रधानिका अर्थात् प्रमुख सभा— तीन प्रकार की होती है। इनमें पहली दैवीप्रधाना, दूसरी राज्ञी (भूपाल की प्रतिभायुक्त) और अन्तिम मानुषी या साक्षात् भूपाल प्रधान (स्वयं राजा की प्रधानतायुक्त) होती है, जहाँ राजा की बैठक होती है, इस प्रकार का क्रम ज्ञानियों ने कहा है।[१]

किञ्चैतासां सभानां तिसृणां तदीयकार्यादिलक्षणान्तरमप्याह —

अष्टोत्तरशतग्रामकार्यशाला सभा मता।
मुख्या सभा तु सा प्रोक्ता पुराष्टोत्तरकार्यभाक् ॥ 2 ॥

(इन तीनों के कार्यादिलक्षण भी कहते हैं)— एक सौ आठ ग्रामों के निवासियों के लिए कर संग्रह, उनके विवाद निस्तारण के लिए बनाई गई कार्यशाला सभा कही जाती है (यह ग्रामसभा या साधारणसभा भी है)। इसी तरह एक सौ आठ

---

१. विशेष : विशद अर्थ में यह समझा जा सकता है कि जहाँ कहीं भी ग्रामों में स्थापनीय आद्या, साधारण सभा हो, उसमें ग्राम के इष्टदेवता की प्रतिकृति रखनी चाहिए। इससे नीतिज्ञों द्वारा पक्षपात रहित, स्वच्छ मन से दयादि गुणों से युक्त महापुरुषों से प्रजा के हित न्याय का विचार किया जाए। इसी तरह अन्तिम सभा राजधानी आदि उत्तम स्थानों पर स्थापित करने योग्य उत्तम प्रधान सभा में सार्वभौमादि क्षत्र भूपालवर्ग अर्थात् चक्रवर्ती राजा का साक्षात् सिंहासन न्यायालय में हो, जहाँ से स्वयं राजा अपनी प्रजा का रक्षाणादि कार्य न्यायालय के नियमानुसार कर सके। अतएव ये दैवी सभा, राज्ञी सभा, मानुषी सभा के लक्षण व्यवहार भाग है।

नगरों के निवासियों के लिए कर संग्रह, उनकी इच्छा पूरण एवं उनके समस्त विवादों के निस्तारण के लिए बनाई गई कार्यशाला मुख्य सभा कही जाती है (इसे पौरसभा के नामान्तरण से जाना जा सकता है)।

सार्वभौमेन वा यूना भूपालैः क्षत्रवंशजैः।
मान्या प्रधानिका प्रोक्ता सिंहासनसमन्विता॥ 3 ॥

इसके अतिरिक्त चक्रवर्ती राजा के लिए और उसके क्षत्र वंशजों के लिए मान्य राजधानी व प्रधान महानगरों में निवास करने के लिए यदि प्रासादादि के साथ ही राजा का सिंहासन लगा हो तो उसको मान्या प्रधानिका सभा (सर्वोच्यसभा) कहते हैं।

सामन्तैर्वा माण्डलिकैः प्रश्नोत्तरविधायिनी।
सचिवासनसंयुक्ता तटस्थासनभाक्तथा॥ 4 ॥

इसी प्रकार सामन्तों, माण्डलिकों, जागीरदारों के नगरों, ग्रामों में भी न्याय के लिए वाद-विवाद, प्रश्नोत्तर विधायिनी सभाएँ सचिवों के आसनों से युक्त तथा तटस्थ, (निष्पक्ष) लोगों के लिए बनाई जाए।

महाशालासमायुक्ता सर्वतोऽङ्गणशालिनी।
दशदण्डादिकं मानं द्वि-द्विदण्डेन योजिताम्॥ 5 ॥

प्रधान न्यायशाला (महाशाला) सभी प्रकार के अंगन वाली अर्थात् लेखन, संरक्षण, प्राड्विवाक् स्थल विभाग आदि युक्त हो, उसकी विशालता का मान दस राजदण्ड अनुमित होगा। इसमें दो-दो अतिरिक्त भाग युक्त हो सकते हैं।

विंशद्दण्डकमानेन संयुता कुम्भभासुराम्।
शुद्धां वा मिश्रितां वापि कारयेच्छिल्पकोविदः॥ 6 ॥

इस प्रकार बीस दण्डक मान वाली सभा कुम्भभासुरा कही जाती है जो शुद्धा और मिश्रिता रूप से भी शिल्पकोविदों द्वारा बनाई जाती है।

मध्यशालाप्रमाणन्तु तदर्धं वा तदर्धकम्।
लेखकाद्यासनोपेतामुपशालां समन्ततः॥ 7 ॥

मध्यशाला का प्रमाण उक्त से आधा या आधे से भी आधा हो सकता है। उसमें सर्वत्र लेखकों के आसनों से युक्त उपशाला भी कल्पित होनी चाहिए।

देश्यां पौरां तथा शालां माण्डलीकाञ्च तत्स्थले।
तन्नायकासनोपेतां परिषद्गणवेदिकाम्॥ 8 ॥

उस स्थल पर देश्या या देशी, पौरा या पुरों में तथा माण्डलिकों को उनके क्षेत्रों में ऐसी शालाएँ बनानी चाहिए। उनको न्यायाकासन (दण्डनायकों के आसनों) के समीप ही परिषद्गणों की वेदिका बनानी चाहिए।

तस्यालङ्करणमाह —

महाधिष्ठानसंयुक्तां पूर्वास्यां द्वितलाधिकाम्।
चत्वारिंशत्पदोपेतां न्यायवेद्या समन्विताम्॥ 9॥

महाधिष्ठान से युक्त (ऊँची कुरसी वाली बैठक) पूर्वमुखी, दो तलों से अधिक की निर्मिति चालीस स्तम्भों वाली न्यायवेदी से समन्वित हो।

अथ चतुर्विंशतिस्तम्भस्थापनक्रमाह —

पश्चाद्भागे च पुरतश्चरणाष्टकभूषिताम्।
चतुर्विंशत्पदोपेतामुत्तरास्यां सतोरणाम्॥ 10॥

जिसके पीछे की ओर तथा आगे की ओर के भाग में आठ स्तम्भ सजे हुए हों। इस प्रकार चौबीस स्तम्भों युक्त उत्तरमुखी न्यायशाला तोरणों सहित बनानी चाहिए।

विमानरचनोपेतामेकादितलभासुराम्।
स्थापयेन्मानविच्छिल्पी युक्त्या मानेन सर्वतः॥ 11॥

इस सभा पर विमान या गुम्बज, कँगूरेदार शिखर की रचना हो। इसमें एकादि तल हो सकते हैं। इस प्रकार से इन न्यायशालाओं को मानविद् शिल्पकार को उचित मान, युक्ति से ही सर्वत्र बनाना चाहिए।

अथ विंशतिस्तम्भस्थापनक्रमाह —

अथवा विंशतिपदैस्संयुतां मध्यशालकाम्।
चतुःपदयुतां दिक्षु युग्मपाद युगान्विताम्॥ 12॥

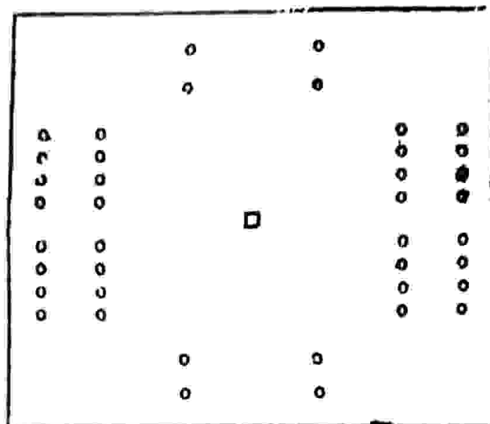
इसके अतिरिक्त बीस स्तम्भों वाली मध्यशाला का निर्माण हो सकता है। इनमें चारों ही दिशाओं में चार-चार स्तम्भों की दो-दो के क्रम में जोड़ी बनाई जानी चाहिए।

वर्तुला चतुरश्रां वा तां प्राच्यादिगतां नयेत्।
सयालिकाननां पार्श्वद्वारोपद्वारशोभिनीम्॥ 13॥
इत्यादि बहुधा चिह्नैश्शोभितां कल्पयेद् बुधः॥ 14॥

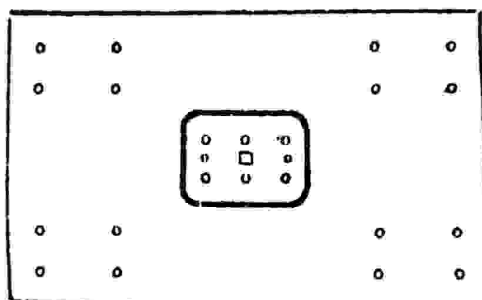
ये सभाएँ वर्तुला (गोलाई वाली) या चतुरस्रा (चौकोर) तथा प्राच्यादिगत

बनाई जानी चाहिए। यह सयालिकमुखी पार्श्वद्वारों और उपद्वारों से सुसज्जित हो। ऐसे ही बहुत प्रकार के चिह्नों, लक्षणों से युक्त न्यायशाला ज्ञानी शिल्पकारों को कल्पित करनी चाहिए।

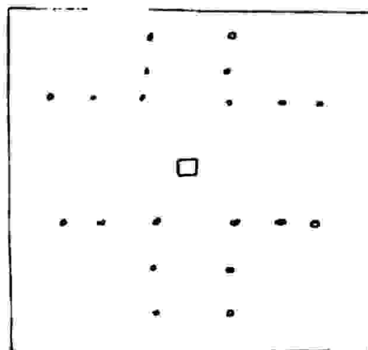
चत्वारिंशत्स्तंभयुता राजधान्यां स्थाप्या राजकीयप्रधानशाला॥



चतुर्विंशति (२४) स्तम्भयुता पौरा मुख्याख्या न्यायशाला॥



विंशति (२०) स्तम्भयुता देश्या साधारणसभाख्या न्यायशाला



इति विश्वकर्मप्रणीते विश्वकर्मवास्तुशास्त्रे पौरदेश्यसभादिकथनं नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥ 17 ॥

इस प्रकार विश्वकर्माप्रणीत विश्वकर्मवास्तुशास्त्र में पौरदेश्य सभादि कथन नामक सत्रहवाँ अध्याय पूर्ण हुआ।

अथ भाण्डागारलक्षणनिरूपणं नाम

अष्टादशोऽध्यायः ॥ 18 ॥

अथेदानी पूर्वपक्षप्रश्नानुदयाय प्रसङ्गादत्र किञ्चिद्विचार्यते, यथा वा विश्वकर्मणा-कृतं वास्तुशास्त्रं विश्वकर्मवास्तुशास्त्रमित्यस्य ग्रन्थस्य नाम व्यवह्रियते किल। प्राचीनशास्त्रकाराणामगस्त्यादीनां नामानि कथयति —

अगस्त्यो भगवान्नन्दी नारदश्च महामुनिः।
बृहस्पतिस्तिम्यलोकः काश्यपो लोकदर्शकः ॥ 1 ॥
कात्यायनो महातेजा मरीचिश्चित्रतोयकः।
पालकाप्यः पुण्डरीको दीर्घदर्शी पुनर्वसुः ॥ 2 ॥
योगसारो महातेजा ये चान्ये मुनिपुङ्गवाः।
तैरतीन्द्रियविज्ञाननिधिभिर्धर्मरक्षकैः ॥ 3 ॥
वास्तुशास्त्रं महत्प्रोक्तं लोकरक्षणहेतवे।
तदुक्तमेव संक्षिप्य तत्तल्लक्षणमुच्यते ॥ 4 ॥

अगस्त्यमुनि, भगवान नन्दी, नारद, बृहस्पति, तिम्यलोक, काश्यप, लोकदर्शक, महातेजस्वी कात्यायन, मरीचि, चित्रतोयक, योगसार जैसे महातेजस्वी और अन्य जो-जो भी मुनियों में श्रेष्ठ हैं, वे सभी अतीन्द्रिय विज्ञान के भण्डार और धर्म के रक्षक हैं। उन्होंने महान् वास्तुशास्त्र को कहा जिससे लोक की रक्षा हो सके। ऐसे मुनिराजाओं के द्वारा (भाण्डागारादि के लिए) कहे गए ज्ञान को संक्षेप के साथ उसके लक्षण को यहाँ कहा जा रहा है।

प्रमाणेषु स्थापनेषु चित्रादिस्थापनासु च।
मतभेदं समाश्रित्य मयापि समलक्षणम् ॥ 5 ॥
नयनानन्दजनककल्पनानाञ्च सूरिणाम्।
प्रोच्यते वास्तुयोग्यानां लक्षणं शिल्पभासुरम् ॥ 6 ॥

इन लक्षणों में प्रमाण के लक्षण, स्थापना के लक्षण, चित्रादि स्थापना के लक्षण तथा उनके सम्बन्ध में मतभेदों को लेकर मेरे द्वारा समलक्षण कहा जा रहा है, जो कल्पना करने वाले विद्वानों के नयनों को आनन्द देने वाला है और वास्तुयोग्यों का शिल्पानुसार लक्षण है।

अथ धनानां महिमाऽऽविष्कृता भवति —

सूक्ष्मधीभिश्शिल्पिवर्गैर्ज्ञेयं तच्छ्रेयसे परम्।
सर्वेषां भूमिपालानां धनं दैवं निगद्यते॥ 7॥

यह ज्ञान सूक्ष्म बुद्धि वाले शिल्पीवर्ग के द्वारा परम श्रेय के जानने योग्य है। यह सभी भूमिपालक राजाओं के लिए दैव धन कहा गया है।[१]

धनेन धर्मकार्याणि स्थापयेत्पृथिवीपतिः।
विबुधैर्मानितस्स्वर्गे परमं सुखमश्नुते॥ 8॥

धन से ही पृथ्वीपति राजा धर्म के कार्यों का स्थापन-सम्पादन करता है और विद्वानों, देवताओं द्वारा सम्मानित होकर स्वर्ग में परम सुख को प्राप्त करता है।

धनेन कीर्तिर्विजयः सुखं सुकृतमेव च।
प्राणिनां पोषणं शक्तिः वर्धते नात्र संशयः॥ 9॥

धन से कीर्ति, विजय, सुख, सुकृत-पुण्य होता है; प्राणियों को निरन्तर पोषण की शक्ति मिलती है, इस मत में कोई सन्देह नहीं है।

तस्मात्सर्वप्रयत्ने तद्रक्षेत्पृथिवीपतिः।
तद्बुद्धौ शास्त्रविन्मानं सुमतौ सचिवे धुरम्॥ 10॥

अतएव सभी प्रकार के प्रयत्न करते हुए पृथ्वीपति राजा को चाहिए कि वह धन की रक्षा करे। उसको बुद्धिमान, शास्त्र के ज्ञाता, सुमति वाले सचिवगणों[२] (वित्तमन्त्री) को इस कार्य की धुरी बनाना चाहिए, वे इसके केन्द्र होते हैं।

---

१. तथा च महाभारते— अधनं दुर्बलं प्राहुर्धनेन बलवान् भवेत्। सर्वं बलवतः पथ्यं सर्वं तरति कोशवान्॥ अर्थाद्धर्मश्च कामश्च स्वर्गश्चैव नराधिप। प्राणयात्राऽपि लोकस्य विनाऽर्थेन न सिध्यति॥ नाऽधनो धर्मकार्याणि यथावदनुतिष्ठति। धनाद्धि धर्मः स्रवति शैलादिव महत्सरः॥ अधनेनाऽर्थकामेन चेतुं धर्मो न शक्यते। अर्थैरर्थाः निबध्यन्ते गजैरिव महागजाः॥ अर्थेभ्यो हि प्रवृद्धेभ्यः सम्भृतेभ्य इतस्ततः। क्रियाः सर्वाः प्रवर्त्तन्ते पर्वतेभ्यः इवाऽऽपगाः॥ कोशाक्षपटलं यस्य कोशवृद्धिकरैर्नरैः। पात्रभूतैश्च सततं धार्यत स नृपोत्तमः॥ यो राजकोशं नश्यन्तमाचक्षीत नराधिपे। श्रोतव्यं तस्य च रहो रक्ष्यश्चाऽमात्यतो भवेत्॥ (कृत्यकल्पतरु, राजधर्मकाण्ड, पृष्ठ 87; वीरमित्रोदय पृष्ठ 257; विष्णुधर्मोत्तरपुराण)

२. राजाओं के लिए सहायक अक्षयब्राह्मनिधि है क्योंकि चोर अथवा शत्रुगण उसका हरण नहीं कर सकते और न ही उसका विनाश होता है। इसलिए राजा को अक्षयनिधि का सञ्चय करना चाहिए— नृपाणामक्षयो ह्येष निधिर्ब्राह्मोऽभिधीयते॥ तं च स्तेना नवामित्रा हरन्ति न विनश्यति। तस्माद् राज्ञा विधातव्यो ब्राह्मो वै ह्यक्षयो निधिः॥ (मत्स्यपुराण 215, 58-59)

तादृशधनस्थापनशालायाः भाण्डागारमिति प्रसिद्धं नाम विदुराचार्याः —

भाण्डागारे धनं स्थाप्यं सुखाय पृथिवीपतिः।
न्यायमार्गेण युक्त्या च सचिवादिसहायतः॥ 11॥
धनं सम्पादयेद्धीमान् लोकरक्षणकारणम्।
धनसंरक्षिणी शाला भाण्डागारमितीरिता॥ 12॥
तां शालां स्थपतिश्रेष्ठः स्थापयेल्लक्षणान्विताम्।

पृथ्वीपति राजा को सुख के लिए भाण्डागार (भण्डार, कोशागार) में धन की स्थापना करनी चाहिए। इसी लिए न्यायमार्ग के अनुसार युक्तिपूर्वक बुद्धिमान् राजा सचिवादि की सहायता से लोकरक्षण के कारणभूत धन का सम्पादन करे। इसके लिए बनाई गई धनसंरक्षिणीशाला को भाण्डागार कहा जाता है। इसको स्थपतिश्रेष्ठ उचित लक्षणों के साथ स्थापित करे।

सा च धनस्थापनशाला देश्या पौरा चेति द्विविधा भवति, तल्लक्षणं यथा —

देश्या पौरेति सा शाला द्विविधा कथिता बुधैः॥ 13॥
देश्या सदुर्गा सालिन्दा द्वारोपद्वारमेदुरा।
प्राकारत्रयसंवीता भित्तिसप्तकसंवृता॥ 14॥

(वह धनस्थापनशाला देश्या और पौरा नाम से दो प्रकार की होती है। उनका लक्षण जैसे)— ज्ञानियों ने भाण्डागार शाला को दो प्रकार की बताया है— 1. देश्या और 2. पौर। इनमें से देश्या शाला दुर्ग से युक्त रासहित होती है। उसमें और अलिन्द, कक्ष, द्वार और उपद्वार से गहरी मेदुरा होते हैं। इसके तीन परकोटे होते हैं और ये भाण्डागार सात भित्तियों से घिरे हुए होते हैं।

भूम्यां भूगर्भसंयुक्ता सप्तसोपानसंयुता।
चतुरश्रा पार्श्वभागे देवीनां स्थानकैर्युता॥ 15॥
प्रकल्प्या स्थपतिश्रेष्ठैश्शुभकाले विशेषतः।

इनके रक्षण की भूमि भी भूगर्भ संयुक्त अर्थात् तलघर वाली होती है और उस तक पहुँचने के लिए सात सीढ़ियाँ रखी जाती है। इसके पार्श्वभाग में देवियों (नवनिधि देवी) के पूजा स्थल होते हैं। ये भाण्डागार सामान्यतः चौकोर बनाए जाते हैं। स्थपति को चाहिए कि वह इनकी रचना विशेषकर शुभ काल में करे।

अथ पुरेषु स्थापनीयराजकीयधनशालाया लक्षणं विशदयति —

पौरन्तु कोशसदनं प्रासादान्तर्गतन्तु वा॥ 16॥

सप्राकारं सदुर्गं वा सप्तभित्तिसमावृतम्।
मण्टपाकृतिकं वापि शालाकारमथापि॥ 17॥

द्वितीय प्रकार का कोशसदन या भाण्डागार पुर-नगरों में बनाए। इनको प्रासाद के अन्तर्गत बनाया जाना चाहिए। इसको यदि अलग से बनाना पड़े तो अवश्य ही परकोटा, दुर्ग सहित और सात भित्तियों से आवृत बनाए। इनको मण्डप की आकृति अथवा शालाकार बनाए।

तदन्तर्भूगर्भदेशे चतुरश्रप्रमाणकम्।
अलिन्दद्वयसंयुक्तं तदद्वारं कीर्तितं क्रमात्॥ 18॥

इसके बाद कोशकक्ष को भूगर्भस्थ या तलघर सहित बनाए। इसके लिए चौकोर भूमि ग्रहण करनी चाहिए। उसे दो अलिन्द से युक्त करे। उसके अभीष्ट द्वारों के लिए प्रमाणादि को क्रमशः कहा गया है।

दण्डत्रयं चतुर्दण्डमथवा पञ्चदण्डकम्।
मध्यभागप्रमाणश्च स्थापयेत्सूत्रमानवित्॥ 19॥

अलिन्द, द्वार के मध्यभाग को सूत्रमानविद् तीन राजदण्ड, चार राजदण्ड अथवा पाँच राजदण्ड प्रमाण से कल्पित करे।

गणकाद्यधिनेतॄणामासनैश्च समन्वितम्।
सर्वाभरणकैर्दिव्यैर्निधिदेवैस्सुरक्षितम्॥ 20॥

इनमें गणक (हिसाब रखने वाले) और मुख्य अधिकारी के लिए उपयुक्त आसन नियोजित करने चाहिए। यहाँ पर सुरक्षा के लिए निधिदेव (कुबेर) की प्रतिमा की स्थापना दिव्य सर्वाभरणभूषित करनी चाहिए।

भूगर्भस्थानसंयुक्तं भूमिदेवीसमन्वितम्।
धेनुचित्रलसद्भागधनवेद्या समन्वितम्॥ 21॥

भूगर्भ स्थान या तलघर में भूमिदेवी की प्रतिमा से युक्त हो। उसमें धनवेदिका बनी हुई हो, जिस पर शोभा के लिए गायों के चित्रों का निरूपण हो।

स्थापयेदुत्तरास्यञ्च सौवर्णद्वारपट्टिकम्।
सुवर्णं स्थापयेत्पूर्वे राजतं दक्षिणे तथा॥ 22॥

उत्तरमुखी सौवर्णपट्टिका की स्थापना करे। वहाँ पूर्व में सुवर्ण को ही स्थापित करना चाहिए, जबकि रजत की स्थापना दक्षिण में करनी चाहिए।

उदीच्यां नवरत्नानि वारुणे लिपिकारिणः।
स्थापयेत्क्रमशो भक्त्या प्रत्यहं चार्चयेन्नृपः ॥ 23 ॥

उत्तर दिशा में नवरत्नों[१] की स्थापना करे और पश्चिम दिशा में लिपिकार या लेखक का स्थान निश्चित करे। इस प्रकार क्रमशः स्थापना करनी चाहिए। राजा को चाहिए कि वह नित्यप्रति वहाँ भक्तिपूर्वक अर्चना का प्रबन्ध करे।

किञ्च तस्या एव शालायाः पुरतः पुनरपि क्षुद्रशालाकारमावरण त्रयसहितमन्त-द्वारत्रयोपेतं कल्पनं स्थापयेत् —

प्रथमावरणे दीपदेवी स्थाप्या सहासना।
द्वितीयावरणे देवी चामरग्राहिणी तथा ॥ 24 ॥

उक्त भाण्डागार के प्रथम आवरण में दीपदेवी की प्रतिकृति आसन सहित स्थापित करे। द्वितीय आवरण में चामरग्राहिणी देवी की प्रतिकृति की स्थापना करनी चाहिए।

तृतीयावरणे देवी चाशीर्वचनकारिणी।
एवं देवीत्रयं स्थाप्यं यशोधनजयप्रदम् ॥ 25 ॥

तृतीय आवरण में आशीर्वाद प्रदान करने वाली देवी की मूर्ति की स्थापना करे। इस प्रकार से तीनों ही आवरणों में देवियों की स्थापना करना यश, धन और विजयप्रद माना जाता है।[२]

कम्बलास्तरणोपेतमध्यभागविराजितम्।
सुवर्णपट्टसंयुक्तं राजतैस्तोरणादिभिः ॥ 26 ॥

इस तरह नियमानुसार शाला का निर्माण करके उसमें पूर्व दिशा के भाग में गाय के रूप में भूमिदेवी का चित्रयुक्त धनस्थल बनाए और मध्य के भाग में सुवर्ण राशि स्थापित करे। वहाँ सुवर्ण के पाटों के आसन पर तोरणों आदि से शोभाजनक

---

१. शुक्राचार्य ने नौ महारत्नों का नामोल्लेख किया है— हीरा, मोती, मूँगा, गोमेद, नीलम, वैडूर्य, पुखराज, पन्ना व लाल (माणिक)।(शुक्रनीति 4, 41-46)

२. यह उल्लेखनीय है कि इन सभी देवियों की मूर्तियों की स्थापना का प्रयोजन यह है कि कोश की अभिवृद्धि हो। वहाँ धनवेदी स्थापित करके नवनिधि देवता, भूदेवी, उनकी परिचारिका और अन्य सखी आदि के सर्वथा सपरिवार भूमिदेवी के अंश रूप से इस धनशाला की वृद्धि हो, ऐसा श्रुति-स्मृति का भी प्रमाणयुक्त यह सिद्धिक्रम है।

चित्रों का सृजन करे।[१]

शिखरत्रयसंयुक्तविमानेन च भासुरम्।
नानाचित्रसमोपेतं वितानैरपि मण्डितम्॥ 27॥

इसके बाद धनवेदी जहाँ पर बनी हो, उसके ऊपर भाग में तीन शिखरों वाला सुन्दर मन्दिर तुल्य शिखर बनाए और उसके अन्तराल की भित्ति कोनों में नाना प्रकार के चित्रों की रचना के साथ विमान-चन्दोवा भी बनाए ताकि वह शिखर अन्तराल सज्जित दिखाई दे।

पूर्वशालासमायुक्तं खड्गचिह्नसमन्वितम्।
स्थापयेन्मतिमान् शिल्पी रक्षकैस्संवृताङ्गणम्॥ 28॥

पूर्व की ओर शाला बनी हो जिसमें राजा के खड्ग चिह्न चित्रित हों। विद्वान शिल्पी को चाहिए कि उक्त स्थल को रक्षकों, छड़ीदार से आवृत करना चाहिए।

इति विश्वकर्मप्रणीते विश्वकर्मवास्तुशास्त्रे भाण्डागारलक्षणकथनं नाम अष्टादशोऽध्याय: ॥ 18 ॥

इस प्रकार विश्वकर्माप्रणीत विश्वकर्मवास्तुशास्त्र में भाण्डागार लक्षण कथन नामक अठारहवाँ अध्याय पूर्ण हुआ।



अथान्त:पुरलक्षणविविधगवाक्षलक्षणकथनं नाम

एकोनविंशोऽध्याय: ॥ 19 ॥

अथ शुद्धान्तलक्षणकथनात्मकमेकोनविंशाध्यायमारभते —

यशो धनं कलत्रश्च रक्षणीयं महीभुजा।
तत्कोशरत्नजनकमनर्घं कथितं बुधै: ॥ 1 ॥
तस्मात्तद्बहुधा रक्ष्यं सयत्नेन महीभुजा।

१. ज्ञात रहे कि अलिन्दों में देवियों के इन चित्रों की स्थापना करे तथा मध्य भाग में उस कोशशाला के कार्यकारी जनों के आसन हों तथा द्वार पर सुवर्णपट्ट अथवा रजतपट्ट पर उनके विभागों के नाम के साथ सीढ़ियों की पट्टावलियाँ लगानी चाहिए।

राजाओं को अपने यश, धन और अपनी स्त्रियों की रक्षा सर्व प्रकार से यत्नपूर्वक करनी चाहिए। यह कोश अमूल्य रत्नों का जनक है अर्थात् उनकी कोख अमूल्य सन्तानों की जननी होती है, ऐसा बुद्धिमानों का मत है। अतएव शासक इनकी बहुत सावचेत होकर बहुविध रक्षा का उपाय करे।

क्षत्रियमहिष्यावबासभूतान्त:पुरलक्षणमाह —

प्राकारावृतहर्म्यान्तस्तत्स्थलं कार्यमीरितम्॥ 2॥
आपदेवस्य भागे वा वारुणे वा विशेषत:।
चतुरश्रं दैर्घ्ययुतमथवा तत्प्रकल्पयेत्॥ 3॥

क्षत्रियों की रानियों आदि के लिए जो आवास, रनिवास आदि बनाए जाए, उनको नाना प्रकार के परकोटों से घिरे हुए बनाए और उनके लिए आवश्यक निर्देशों को सदा ही दृष्टिगत रखें। इसके लिए जो भूभाग हो, उसके आपदेव के स्थान या वरुण के भाग, पश्चिम दिशा को विशेष रूप से अधिगृहीत करें। प्राय: रनिवास को चतुरस्र या लम्बाकार बनाना चाहिए।

दण्डद्वादशवैशाल्यमण्डलाकारमध्यभाक्।
त्रिभौम: पञ्चभौमो वा मध्य वास्थलसंयुत:॥ 4॥

उनका विस्तार बारह राजदण्ड प्रमाण होना चाहिए। इनका मध्यभाग मण्डलाकार हो अर्थात् मध्य के भाग के चौक के चारों ही ओर आवासगृहों की रचना हो। ये भवन तीन मंजिले या पांच मजिले हो सकते हैं। ये मध्य भाग में भी खुले स्थल वाले हों।

मध्याधिष्ठानसंक्लृप्तश्चोपशालावृताङ्गण:।
तद्भागे क्रीडनस्थानं कल्पयेद्बहिरेव वा॥ 5॥

ये भवन मध्य में अधिष्ठान, अपने चारों ही ओर उपशालाओं या लघु कक्ष और आँगनों से संक्लृप्त हो या अच्छे भरे-पूरे हो ताकि उस भाग में उनकी क्रीड़ाओं, आमोद-प्रमोद के लिए भूभाग सुरक्षित हो। इनको बाहर की ओर भी कल्पित किया जा सकता है।

द्वारोपद्वारसंयुक्त: केसरक्रियया युत:।
मध्यागार विनिष्क्रान्तकल्पने समन्वित:॥ 6॥

ये द्वारों, उपद्वारों से युक्त हो और वहाँ पर महारानियाँ और अन्य राजमहिषियाँ

केसरक्रिया कर सकती हों अर्थात् जूड़ाबन्धन जैसा कार्य कर सके, ऐसी पर्दगी भी हो। ये भवन मध्य भाग में खुलते हों या उनके मध्य में रास्तों की रचना हो, इस प्रकार से परिकल्पित किए जाने चाहिए।

लक्ष्म्यादिलसितद्वारो बहुचित्रमनोहरः।
शुद्धान्तो रक्षणोपेतः कार्यो भूपालसिद्धये॥ 7॥

इनके द्वारों पर लक्ष्मी आदि देवियों की मूर्तियाँ और मनोहर चित्रादि की रचना की जानी चाहिए। इस प्रकार का शुद्ध अन्तःक्षेत्र जो पूर्णतः रक्षणयुक्त हो, राजा अपनी सिद्धि के लिए बनाए।

कौबेर्यां भूषणं प्रोक्तं वारुणे वस्त्रकादिकम्।
दक्षिणस्यां गन्धमाल्यं पूर्वे भोजनमीरितम्॥ 8॥

इन भवनों के उत्तरी भाग में आभूषणों के भण्डार रखे जाने चाहिए। पश्चिम दिशा में वस्त्रादि का गृह हो। दक्षिण दिशा में गन्ध-माल्यादि कक्ष एवं पूर्व दिशा के भाग में महिलाओं के लिए भोजनगृह हो, ऐसी निर्माण की विधि है।

गन्धर्वदेवचित्राढ्यं कल्पयेच्छिल्पकोविदः।
तटाकमथवा वापीं तत्पार्श्वे कल्पयेद्बुधः॥ 9॥

इस प्रकार के भवनों में शिल्पकोविद को गन्धर्व आदि देवताओं के चित्रों का अंकन करना चाहिए। साथ ही उपयोग के लिए पार्श्व में तालाब या बावड़ी का भी शिल्पी को निर्माण करना चाहिए।

चेटीनां वासभवनैरन्वितश्च समन्ततः।
वातायनशतोपेतो वितानादिभिरन्वितः।
कलशादिसमोपेतः कल्पनीयो मनोहरः॥ 10॥

इत्यन्तःपुरलक्षणकथनम्।

इन्हीं रनिवासों में चेटी या सेवा करने वाली दासियों (वारातनों) के आवास की भी सभी ओर व्यवस्था की जानी चाहिए। इनमें विविध दृश्यों के अवलोकन के प्रयोजन से सैकड़ों वातायनों की रचना होनी चाहिए। साथ ही इनके लिए वितानों की शोभा हो। इनके शिखर पर कलश आदि की स्थापना मनोहर ढँग से की जानी चाहिए।

शुद्धान्तनिर्माणकथनप्रसङ्गादत्रशुद्धान्तवासिनीनां महिषीप्रमुखविलासिनीनां विहार स्थललक्षणप्रतिपादनपूर्वकं तन्निवासभवनोपयोगिबहुविधगवाक्षलक्षणमाह —

भूपतेस्तु महिष्या वा तुष्ट्यथ कल्पनं वरम्।
कल्पनीयं शिल्पधिया कल्पसूत्रविधानतः ॥ 11 ॥
विहारमण्टपो वाऽपि महाशालाऽथवा मता।
चतुरश्रं भानुदण्डमथवा$_{12}$ तत्कलान्वितम्$_{16}$ ॥ 12 ॥

अब गवाक्षों के लक्षण कहे जा रहे हैं। राजा को चाहिए कि वह अन्तःपुर में अपनी महारानी के सन्तुष्ट्यर्थ बहुत सुन्दर कल्पनाओं को साकार करे। वह शिल्पबुद्धि में प्रवीण कल्पसूत्र के विधानवेत्ता से इनकी रचना करवाए। विशेषकर वहाँ पर रानियों के लिए विहार योग्य मण्डप बनाए या महाशाला की रचना करवाए। ये चौकोर होनी चाहिए तथा इनका प्रमाण बारह दण्ड या सोलह दण्ड रखा जाना चाहिए।

मध्यकल्पनसंयुक्तं वितानादिमनोहरम्।
पञ्चभौमं सप्तभौमं नवभौममथापि वा ॥ 13 ॥

इनका मध्यभाग सुन्दर, सुकुमार कल्पनालोक की सृष्टि करने वाला हो। उनमें बहुत मनोहर वितानों की रचना हो। ये रचनाएँ पाँच मंजिली या सात अथवा नौ मंजिली हो सकती हैं।

सोपानपङ्क्तिसंवीतकूपनिर्माणभासुरम्।
चित्रतोरणयुग्द्वारचतुष्केनान्वितं तथा ॥ 14 ॥

इनको सीढ़ियो की शृंखलाओं सहित बनाए। वहाँ पर जलस्रोत के रूप में कलात्मक कूपों का निर्माण करवाए। इन पर बहुविध चित्र और तोरणों की रचना हो और वहाँ पर जुड़वा द्वार सहित चौकियाँ (चौकड़ियाँ) भी निर्मित हों।

किञ्चैतादृशालोकनसौधतलेषु स्थापनीयगवाक्षलक्षणं तन्नामकथनेनैव शास्त्रकारोऽत्र व्यनक्ति —

आलोकपालिकायुक्तं तत्रस्थं तु गवाक्षकम्।
पद्मपत्रगवाक्षं वा गजनेत्रगवाक्षकम् ॥ 15 ॥
छटागवाक्षमथवा धेनुपादगवाक्षकम्।
मृगीनेत्रगवाक्षं वा पारावतगवाक्षकम् ॥ 16 ॥

शुकनासागवाक्षं वा बहुरन्ध्रगवाक्षकम्।
तुरगास्यगवाक्षं वा कल्पयेत्तत्र शिल्पवित्॥ 17॥

इनमें दृश्यावली के देखने के लिए आलोकपालिका अथवा प्रकाश आने-जाने के योग्य गवाक्षों का निर्माण-नियोजन होना चाहिए। ये गवाक्ष नौ प्रकार के होते हैं— 1. पद्मपत्रगवाक्ष, 2. गजनेत्रगवाक्ष, 3. छटागवाक्ष, 4. धेनुपादगवाक्ष, 5. मृगीनेत्रगवाक्ष, 6. पारावतगवाक्ष, 7. शुकनासागवाक्ष, 8. बहुरन्ध्रगवाक्ष और 9. तुरगमुखगवाक्ष। शिल्पविदों को इन गवाक्षों को परिकल्पित करना चाहिए।[१]

अथ गवाक्षस्य बहिरन्तर्भागे च शोभार्थमुखभद्रेण वा नागभद्रेण वा चतुर्भद्रेण वा संयुतं कल्पनं कार्यम् —

मुखभद्रैर्नागभद्रैश्चतुर्भद्रैर्युतं तु वा।
अयःकीलयुतं वाऽथ शिलापट्टयुतं तु वा॥ 18॥

---

१. वास्तुसारमण्डनम् में आया है कि राजगृहों, प्रासादों में गवाक्षों का निर्माण सौंदर्य ही नहीं, विशिष्टावलोक्य की दृष्टि से उपयोगी होता है। ये पन्द्रह प्रकार के होते हैं। जिस गवाक्ष की लुम्बी न हो वह त्रिपत्राक कहलाता है। जिसकी दो लुम्बी हो वह उभय, चार लुम्बी से युक्त गवाक्ष नन्द्यावर्त या स्वास्तिक, आठ लुम्बी से युक्त प्रियानत, बारह लुम्बी से युक्त सन्मुख गवाक्ष होता है। इसी प्रकार जिस गवाक्ष में एक छाद्य हो उसे सुवक्त्र, दो छाद्य हों तो प्रियंग, तीन हों तो पद्मनाभ, चार हों तो दीपचित्र तथा पाँच छाद्य हों तो उसे वैचित्र्य गवाक्ष कहा जाता है। ये छाद्ययुक्त गवाक्षों के पाँच भेद हैं। जो गवाक्ष लम्बा हो वह सिंह, जो अधिक चौड़ा हो वह सिंहाक्ष, जिसकी लम्बाई-चौड़ाई बराबर हो वह बुद्धिद, जो भद्रयुक्त हो वह बुद्धिसागर और जिस गवाक्ष में पक्ष सहित दायें-बायें जालिका हो उसे गरुड गवाक्ष कहा जाता है। ये आकार भेदानुसार गवाक्षों के पाँच अन्य भेद हैं— गवाक्षस्त्रिपताकांक्षो द्विलुम्बिरुभयोनतः। नन्द्यावर्तश्चतुलुम्बीरष्टलुम्बिरुप्रियानतः॥ सन्मुखो द्वादशयुक्तोच्छन्दाः पञ्च प्रकीर्तितः। एकबाहोनेकवक्त्र प्रियङ्गाः पङ्क्ति युग्मतः॥ छाद्यत्रये पद्मनाभोद्दीपचित्रायुगान्विता। विचित्रः पञ्चमी छाद्यैः पञ्चभेदा च पुनर्मत॥ आयामतोऽधिकं सिंहा सिंहाक्षः पृथुलोऽधिकम्। बुद्धिदश्चतुरश्रोऽसुभद्रं बुद्धिसागरः॥ गरुडः पक्ष संयुक्तो मुख वामे दक्षिणे। गवाक्षाः भूपति विद्भिवल्लभा दशपञ्चधा॥ (वास्तुसारमण्डनम् 139-143)

इसी प्रकार से राजवल्लभवास्तुशास्त्रम् में आया है— वातायनो लुम्बिकया विहीनो बुधैरुदीर्यस्त्रिपताक एव। द्विलुम्बिक- श्चोभयसंज्ञकश्च यः स्वस्तिकोऽसौ युगलुम्बियुक्त॥ स्याद् बाणैः प्रियवक्त्र एव सुमुख षड्भिः युतश्चेति चेत् छाद्यैकेन युतः सुवक्त्र उदितो द्वाभ्यां प्रियङ्गो भवेत्। एकेनोपरि पद्मनाभ उदितः तद्दीपचित्रो युगैर्वैचित्र शरपङ्क्ति-भिस्तु विविधाकारैर्युताः पञ्च च॥ सिंहो दैर्घ्यविवर्द्धितो हि पृथुले हंसो गवाक्षो भवेत् तुल्योऽसौ मतिदोऽपि भद्रसहितो ज्ञेयस्तु बुद्ध्यर्णवः। द्वारेणैव युगास्त्रकेण गरुडः पक्षद्वये जालकं प्रोक्ताः पञ्चदशैव रूपमदलावेद्यादि कक्षासनैः॥ (राजवल्लभ. 8, 9-11)

इन गवाक्षों की जालियों के चारों ओर मुखभद्र की शोभा के लिए नागभद्र (बेलबूटे) और चार-चार भद्र (गोले गलते, चढ़ाव-उतार युक्त सौन्दर्य) रचना की जानी चाहिए। ये गवाक्ष यदि काष्ठ निर्मित हो तो उनको लोहे की खूँटियों, कीलों से दीवार में लगाए और यदि शिलानिर्मित हो तो जालियों के साथ ही जड़ने चाहिए।

दृढसन्धानसंयुक्तं दृढकल्पनमेदुरम्।
युक्त्या शिल्पवशात्सर्वं शुद्धान्ते चाथ हर्म्यके ॥ 19 ॥

इन गवाक्षों का निर्माण-नियोजन सुघड़ता-सुदृढ़ता के साथ हो। दृढ़तर परिकल्पना के अनुसार युक्तिपूर्वक, शिल्पशास्त्रान्तर्गत सर्वशुद्ध अन्तःपुरों और हवेलियों, रनिवासों में इनको बनाए।

चूलीहर्म्येषु सदनेष्वपि मानवसद्मसु।
प्रासादे विविधे रम्ये शालास्वपि च तन्नयेत् ॥ 20 ॥

चूली हर्म्य (शिखरवाली हवेलियों) में, भवनों में, मानवीय आवासों, मन्दिरों और अन्य विविध रम्य वास्तुशालाओं में इसी विधि के अनुसार इन गवाक्षों, जालियों को बनाया और लगाया जाना चाहिए।

इति विश्वकर्मप्रणीते विश्वकर्मवास्तुशास्त्रे अन्तःपुरलक्षणगवाक्षलक्षणकथनं नाम एकोनविंशोऽध्यायः ॥ 19 ॥

इस प्रकार विश्वकर्माप्रणीत विश्वकर्मवास्तुशास्त्र में अन्तःपुर लक्षण, गवाक्ष लक्षण कथन नामक उन्नीसवाँ अध्याय पूर्ण हुआ।



अथायुधशालालक्षणपुस्तकशालालक्षणनिरूपणं नाम

विंशोऽध्यायः ॥ 20 ॥

तत्र प्राथमिकमायुधशालालक्षणम् —

देवप्रसादनप्राप्तिः जयश्रीवर्धनं तथा।
आरोग्यवर्धनं नित्यमायुधादिनिरीक्षणात् ॥ 1 ॥

अब आयुधशाला के लक्षण कहते हैं। देवकृपा की प्राप्ति, विजय सहित श्री की अभिवृद्धि और आरोग्यवर्धन के लिए यह अतीव आवश्यक है राजा नियमित रूप से आयुधादि का निरीक्षण करे।

तस्माद्भूपतिना स्थाप्यमायुधागारकल्पनम्।
प्रासादमध्यभागे वा न्यायशालासमीपतः ॥ 2 ॥
अथवा मध्यशालायां नित्यवैशेषिकक्रमात्।

आयुधों के इसी महत्व के लिए राजा को आयुधागार की रचना करवानी चाहिए। यह राजा के महल के मध्य भाग में अथवा न्यायशाला के समीप बनवाए जहाँ पर नित्य चौकीदारों की व्यवस्था होती है। या फिर, आयुधागार को मध्यशाला में भी बनाया जा सकता है जहाँ पर वैशेषिक क्रम या उनकी विशेषताओं को ध्यान में रखा जाता है।

परशिशवो हरिर्ब्रह्मा सुरेशो वरुणो मरुत्॥ 3 ॥
गन्धर्वपतिरर्कश्च चन्द्रमाश्चित्रकार्मुकः।
वैनतेयोनागराजः केतुमाली महाद्युतिः ॥ 4 ॥
वैश्वानरो यमश्चैव हेतीनामधिपा मताः।

उक्त विधि से निर्मित आयुधागार में परम शिव, विष्णु, ब्रह्मा, इन्द्र, वरुण, मरुत, गन्धर्वपति, सूर्य, चन्द्रमा, चित्रकार्मुक, गरुड़, नागराज, केतुमाली, महाद्युति, वैश्वानर, यम— ये सब अस्त्रों के अधिपति माने गये हैं।

अत्रिर्वसिष्ठः पुलहः काश्यपो भृगुनन्दनः ॥ 5 ॥
मरीचिश्च्यवनः कण्वो विश्वामित्रो महामुनिः।
नारदोबालखिल्यश्च बृन्दको लोकदर्शकः ॥ 6 ॥
दीर्घदर्शी कुन्दरोमा गालवः पञ्चवारकः।
भारद्वाजः क्षत्रपालः केशिको मधुसूदनः ॥ 7 ॥
मुनिस्सुदर्शनः पिङ्ग इस्येते मुनि सत्तमाः।
स्वरशक्तिक्रियाकोटिष्वनिताद्युपदेशिनः ॥ 8 ॥

इसी प्रकार मुनि अत्रि, वसिष्ठ, पुलह, काश्यप, भृगुनन्दन (शुक्राचार्य), मरीचि, च्यवन, कण्व, विश्वामित्र महामुनि, नारद, बालखिल्य, लोकदर्शक, वृन्द, दीर्घदर्शी कुन्दरोमा, गालव, पञ्चवारक, भारद्वाज, क्षत्रपाल, केशिक, मधुसूदन, मुनि

सुदर्शन, पिङ्ग— ये सब मुनिश्रेष्ठ अपनी स्वर शक्ति की करोड़ों क्रियाओं में उपदेश देने वाले हैं।

ह्रींकारदेवः कपिलो झंकारेशः सुदर्शनः।
नकारनाथस्स्वर्भानूरेफेशो वह्निदैवतः॥ 9॥
इत्यायुधाधीशमातृगणकाक्षरशक्तयः।
विज्ञेयाः प्रत्यहं पूज्याः स्थिरचित्तेन भूभुजा॥ 10॥

इसी प्रकार ह्रींकारदेव, कपिल, झंकारेश, सुदर्शन, नकारनाथ, स्वर्भानु, रेफेश और अग्निदेव— ये सब आयुधों के अधिपति मातृकागणों की अक्षर शक्तियाँ हैं। इस प्रकार से माहात्म्य जानकर राजा को नित्य ही स्थिरचित्त होकर इनकी पूजा करनी चाहिए।

गन्धमाल्याक्षतैश्शुद्धैस्सर्वकामसमृद्धये।

गन्ध, माला, अक्षत आदि के साथ शुद्ध-पवित्र होकर पूजन करने से सर्व कामनाओं की सिद्धि-समृद्धि होती है।[१]

अस्त्राणामपि शस्त्राणां यन्त्राणां बहुरूपिणाम्॥ 11॥
स्थानकं मातृकान्यासं भक्त्या सम्मानयेन्नृपः।

अस्त्र (जो दूर से फेंके जाए, यथा धनुष-बाण, तोप, बन्दूक, शतघ्नी, भुशुण्डी), शस्त्र (जो हाथ में रखे जाए, यथा तलवार, खड्ग, भाला, शक्ति, कटार, छुरी आदि) तथा बहुत प्रकार के यन्त्र (यथा तोपों को ले जाने वाले यान, आग्नेयास्त्र चलाने वाले यन्त्रोपस्कारक) के स्थानकों, मातृकान्यासों, पूजागृहों की राजा भक्तिपूर्वक सम्मान देकर पूजा करे।[२]

---

१. इस प्रकार का विस्तृत विवरण महालक्ष्मीरत्नकोश के उत्तरभाग और महाभारत आदि में आया है। धनुर्वेद विषयक कोदण्डमण्डनम्, नीतिप्रकाशिका, धनुर्वेद, विष्णुधर्मोत्तरपुराण, मानसोल्लास आदि में भी इस प्रकार के विचार द्रष्टव्य है।

२. आयुध के अन्तर्गत नीतिप्रकाशिकाकार वैशम्पायन के अनुसार शस्त्र, अस्त्र, प्रत्यस्त्र और परमास्त्र- ये चार पाद माने गए हैं— मुक्तश्चैव ह्यमुक्तश्च मुक्तामुक्तमतः परम्। मन्त्रमुक्तश्च चत्वारि धनुर्वेदपदानि वै॥ मुक्तं बाणादिविज्ञेयं खड्गादिकममुक्तकम्। सोपसंहारमस्त्रं तु मुक्तामुक्तमुदाहृतम्॥ उपसंहाररहितं मन्त्रमुक्तमिहोच्यते। चतुर्भिरेभिः पादैस्तु धनुर्वेदः प्रकाशते॥ शस्त्रमस्त्रञ्च प्रत्यस्त्रं परमास्त्रमितीव च। चतुर्विध्यं धनुर्वेदे केचिदाहुर्धनुर्विदः॥ आदानञ्चैव सन्धानं विमोक्षसंहृतिस्तथा। धनुर्वेदश्चतुर्धेति वदन्ति परे जगुः॥ तत्राद्यं मतमालम्ब्य

अधुना पूजार्थ आयुधनामानि —

कुन्तः पाशस्तरी खड्गः करवालस्सखेटकः ॥ 12 ॥
भल्लः खरः खरोद्धारो भिण्डिपालस्समेरुकः ।
शङ्कुलश्च कुठारश्च टङ्कश्शूलस्सृणिस्तथा ॥ 13 ॥
मुसलो वह्लिकाग्रश्च खलुका मुष्टिभेदनम् ।
परशुस्तरवारी च छुरिका च विदारिका ॥ 14 ॥
मण्डलाग्रादयश्चान्ये परमर्मप्रभेदिनः ।
तानशेषांस्तदीशानानर्चयेत्प्रत्यहं नृपः ॥ 15 ॥

इन आयुधों में कुन्त, पाश, तरी, खड्ग, करवाल, खेटक, भाला, खर, खरोद्धार, भिन्दीपाल, मेरुक, शङ्कुल, कुठार, टङ्क (टँकु, टाँकी), त्रिशूल, सृणि, मुसल, बह्लिकाग्र, खलुका, मुष्टिभेदन, परशु, तरवारी, छुरिका, विदारिका (चाकू), मण्डलाग्रा और अन्य शत्रुओं के मर्मस्थल प्रभेदित करने वाले समस्त आयुधों और इनके अधिपति देवताओं की राजा द्वारा प्रतिदिन पूजा की जानी चाहिए।[१]

दशादिविंशतीदण्डवैशाल्येन समन्विताम् ।
प्राचीमुखां स्थापयेत्तु पञ्चप्राकारसंवृताम् ॥ 16 ॥

इन आयुधागारों के विस्तार के प्रमाण में दस से लेकर बीस राजदण्डों तक की विशालता पूरी तरह होनी चाहिए। इनकी स्थापना पूर्व दिशाभिमुख हो। इनके चारों ही ओर पाँच परकोटे सुरक्षा के लिए हो।

मुक्तामुक्तायुधान्यहम्। द्वात्रिंशद् भेदतो वच्मि तत्रायं विस्तृतिक्रमः ॥ (नीतिप्रकाशिका 2, 11-16)

१. अपराजितपृच्छा में छत्तीस प्रकार के आयुधों का उल्लेख हुआ है—1. त्रिशूल, 2. छूरिका, 3. खड्ग, 4. खेट या ढाल, 5. खट्वाङ्ग, 6. धनुष, 7. बाण, 8. पाश, 9. अङ्कुश, 10. घण्टा, 11. रिष्टि, 12. दर्पण, 13. दण्ड, 14. शङ्ख, 15. चक्र, 16. गदा, 17. वज्र, 18. शक्ति, 19. मुद्गर, 20.भुशुण्डी, 21. मुशल, 22. परशु, 23. कर्त्तिका, 24. कपाल या खोपड़ी-खप्पर, 25. शिर या शत्रु का मस्तक, 26 सर्प, 27. शृङ्ग या सींग, 28. हल, 29. कुन्त या भाला, 30. पुस्तक, 31. माला, 32. कमण्डल, 33. शूचि या सरवा, 34. पत्र-कमल, 35. पानपात्र और 36. योगमुद्रा— आयुधानामतो वक्ष्ये नाम संख्यावलिं क्रमात्। त्रिशूलच्छुरिकाखड्गखेटाः खट्वाङ्गकं धनुः ॥ बाणपाशाङ्कुशाः घण्टारिष्टिदर्पणदण्डकाः। शङ्खचक्रं गदावज्रशक्ति मुद्गरभुशुण्डयः ॥ मुसलः परशुश्चैव कर्तिका च कपालकम्। शिरः सर्पश्च शृङ्गश्च हलः कुन्तस्तथैव च ॥ पुस्तकाक्ष कमण्डलुशुचयः पद्मपत्रके योगमुद्रा तथा चैव षट्त्रिंशच्छत्रकाणि च ॥ (अपराजित, सूत्र 235, 10-13)

उत्तमाधिष्ठानभावां पञ्चशालान्वितां तथा।
कालीं रुद्रपतिं द्वारे स्थापयेत्तत्र भूपतिः ॥ 17 ॥

इनमें उत्तम अधिष्ठान भावों वाली पाँच शालाएँ बनाई गई हों अर्थात् सुरक्षा के पहरेदारों, अधिकारियों के कार्यालय, आवासादि वहाँ पर संसाधन सहित हों। इन आयुधागारों के द्वार पर राजा को महाकाली और रुद्रपति महादेव की स्थापना करवानी चाहिए।

महावेदीमध्यभागे क्षुद्राधिष्ठान संयुता।
चतुःक्षुद्रपदोपेता चतुःकर्णसमन्विता ॥ 18 ॥

वहाँ एक महावेदी के मध्यभाग में एक छोटी बैठक पीठ हो जो चार लघु पायों से और चारों ही कोनों से समन्वित हो।

प्रागानना नागकर्णा ब्रह्मदेवा च कीर्तिता।
तत्र स्वर्णमये पीठे खड्गः स्थाप्यश्शुभेऽहनि ॥ 19 ॥

वे आगे की ओर के मुख से नागकर्णा हो, जिसको ब्रह्मदेवा कहा जाता है, वहाँ पर सुवर्ण के पीठे, बैठक पर खड्ग की स्थापना शुभ दिन में की जानी चाहिए।

शालानां मध्यभागेषु कुन्तादीन्कल्पयेत्क्रमात्।
हेतिनाथप्रतिकृतिं कल्पयेत्तत्र भित्तिसु ॥ 20 ॥

इसी प्रकार शाला के मध्य भाग में कुन्त-भाला आदि आयुधों की स्थापना क्रमिक रूप से करनी चाहिए। वहाँ पर हेतिनाथ की प्रतिकृति भित्ति पर बनानी चाहिए।

एकभौमा त्रिभौमा वा शाला सा परिकीर्तिता।
शिखरत्रयसंयुक्ता छत्रयुक्ताऽथवा मता ॥ 21 ॥

यह आयुधागार की शाला एक मंजिल अथवा तीन मंजिल तक की बताई गई है। इन पर तीन-तीन शिखर हो अथवा तीन-तीन छतरियाँ, घुम्मटें बनाई जानी चाहिए।

पताकालङ्कृता कल्प्या शुभे काले नृपाज्ञया।
प्रत्यब्दं ब्राह्मणान्भूपस्तोषयेद्भोजनादिभिः ॥ 22 ॥

इत्यायुधशालालक्षणकथनम्।

उन पर फहराती हुई पताकाएँ हों, इन पताकाओं का निर्माण, आरोहण शुभ मुहूर्त में राजा की आज्ञा के अनुसार हो। इस अवसर पर वहाँ प्रति वर्ष ब्राह्मणों को भोजन, दान आदि से सन्तुष्ट करते रहना चाहिए।

प्रतिपाद्याधुना तद्वदेव विशेषतो ज्ञानादिश्रेयोदाननिरतशास्त्रशालास्थापनलक्षणम्-

खड्गसन्धारणं राज्ञश्शास्त्रसेवनमित्यपि।
द्वयं (चैव विशेषण) शुभप्रदमितीरितम्॥ 23॥

अब पुस्तकशाला (ज्ञानशाला या पुस्तकालय) के लक्षण कहते हैं। राजाओं के लिए आयुध-सन्धारण (युद्धकौशल का ज्ञान) और राजशास्त्र सेवन (राजनीति का अध्ययन) ये दोनों ही विशेषकर शुभप्रद है।

विज्ञानधर्मसुकृतसुखतत्त्वादिवर्धकम्।
शास्त्रं भूपतिना सेव्यं नियमेन (मनीषिणा)॥ 24॥

यह शास्त्र राजा के विज्ञान, धर्म, सुकृत-पुण्यकर्म, सुखतत्त्व आदि को बढ़ाने वाला होता है। अतः बुद्धिमान् राजा को नियमित रूप से इस शास्त्र का स्वाध्याय करना चाहिए।

ज्ञानेन प्राप्यते लक्ष्मीर्ज्ञानेन सुखमश्नुते।
प्राणिसंरक्षणे ज्ञानमाद्यो मन्त्रीति कथ्यते॥ 25॥

क्योंकि ज्ञान से ही लक्ष्मी की प्राप्ति होती है। ज्ञान से ही सुख मिलता है। प्राणियों के संरक्षण के लिए भी ज्ञान पहला मन्त्री कहा गया है।

गुरुदेवार्चनपरः प्राणिरक्षादृढव्रतः।
यशसे कल्पते भूपश्शास्त्रसेवनतत्परः॥ 26॥

गुरु की सेवा-अर्चना में तत्पर रहने वाले तथा प्राणियों की रक्षा के लिए दृढ़तर व्रत के धारक तथा शास्त्र सेवन में निरत रहने वाले राजा यशस्वी होते है।

तेन तुष्यन्ति पितरो ब्राह्मणा वेदपारगाः।
काले वर्षति पर्जन्यो मेदिनी सस्यशालिनी॥ 27॥

इससे उसके पितृगण भी सन्तुष्ट होते हैं। वेदपरायण ब्राह्मण भी तृप्त होते हैं। राजा के इस धर्माचरण से सुकाल रहता है। समय-समय पर मेघ बरसते हैं और पृथ्वी हरी-भरी रहती हुई धान्यादि प्रदान करती है।

सुखभाजः प्रजाः सर्वा न्यायस्थितिरचञ्चला।
इत्यादिक्षेमजनकं शास्त्रसेवनमीशितुः॥ 28॥

राज्य की सारी प्रजा भी सुखी-सम्पन्न होती है। वहाँ पर न्याय व्यवस्था भी अचञ्चल अर्थात् दृढ़ रहती है। इस प्रकार राजा के द्वारा किया जाने वाला शास्त्र-सेवन उपर्युक्त कल्याणों का जनक है।

तस्माद्भूपतिना कार्यं प्रत्यहं शास्त्रसेवनम्।
प्रासादे नीतिभवने पुराणामपि मध्यमे॥ 29॥
विदुषां मेलनस्थाने शास्त्रशालां प्रकल्पयेत्।

अतएव राजा को नित्यप्रति शास्त्रों का अध्ययन, स्वाध्याय करना चाहिए। इसके लिए अपने प्रासाद में ही एक नीतिभवन में तथा पुर-नगरों के मध्य में भी जहाँ विद्वानों के सम्मेलन और गोष्ठियाँ होती हों, वहाँ पर शास्त्रशाला, पुस्तकालयों की रचना-स्थापना करनी चाहिए।

शास्त्रस्थापनस्थलस्य लक्षणं यथा —

चतुरश्रा शास्त्रशाला प्राङ्मुखावरणत्रया॥ 30॥
मध्ये कल्पविधानेन प्रकल्प्या वेदवेदिका।
मुखभद्रचतुष्केण संयुताङ्गणशोभिनी॥ 31॥

ये पुस्तकालय चौकोर भूमि पर चौकोर ही कक्ष या सभागार वाले हों। इनको पूर्वमुखी रखा जाए और इनके लिए तीन आवरण एवं तीन चौक की रचना की जानी चाहिए। इनके मध्य में वैदिक वाङ्मय की स्थापना के लिए वेदिकाओं (चौकियाँ, पट्टस्थान) की रचना की जाए। इनके मुख को चार भद्रों और आँगन सहित शोभायमान करना चाहिए।

बहिरान्धारिका युक्ता वातायनशतोज्ज्वला।
एकभौमा त्रिभौमा वा शिखरेणापि भासुरा॥ 32॥

इन पुस्तकालयों के बाहर की ओर अन्धारिका, छायादार बरामदा बनाया जाए जिसमें सैकड़ों खुले हुए दरिंचे-वातायन हो। ऐसा शास्त्रागार एक मंजिला या तीन मंजिला हो सकता है। उस पर सुन्दर शिखर की रचना की जाए।

अन्यदप्याह —

प्रथमावरणे वेदो द्वितीयावरणे स्मृतिः।
तृतीयावरणे चार्ष वेदनाथः परः पुमान्॥ 33॥

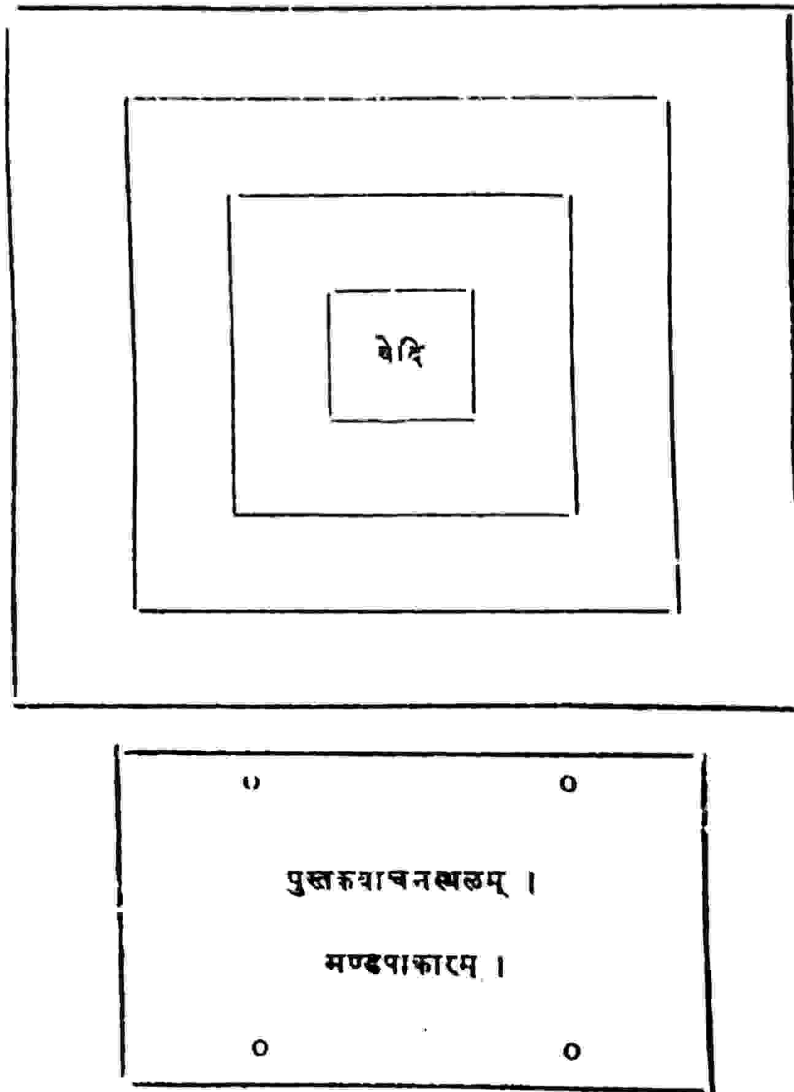
पुस्तकालय के प्रथम आवरण-चौक में वेद (ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद) की स्थापना की जाए। द्वितीयावरण में स्मृतियों (धर्मशास्त्रों) की स्थापना हो। तृतीयावरण में आर्षग्रन्थों (जिनकी ऋषि-मुनियों ने रचना की हो) और परम पुरुषों के वेदज्ञान का संस्करण हो।

वाणीं हयमुखं शम्भुमुमां सपरिचारिकाम्।

स्थापयेत्तत्र कार्यज्ञ: कलशादिसमन्विता: ।
गुरुपीठसमायुक्त: प्रजानां शेमुषीप्रद: ॥ 34 ॥

पुस्तकालय में वाणी (सरस्वती), हयमुख (भगवान् विष्णु), शिव और उमा की प्रतिमाओं को परिचारकों सहित स्थापित करना चाहिए। कारीगर को चाहिए कि वे इनकी स्थापना कलश सहित करे। वहाँ पर एक गुरुपीठ (व्याख्यान आसन, व्यासपीठ) की रचना भी की जानी चाहिए ताकि प्रजाजनों (श्रोताओं) को श्रवणानन्द पूर्वक ज्ञान की लब्धि हो सके।

॥चतुर्मुखद्वारयुतपुस्तकशालाकल्पनप्रकार:॥



इति विश्वकर्मवास्तुशास्त्रे आयुधशाला पुस्तकशालालक्षणकथनं नाम विंशोऽध्याय: ॥ 20 ॥

इस प्रकार विश्वकर्माप्रणीत विश्वकर्मवास्तुशास्त्र में आयुधशाला, पुस्तकशाला लक्षण कथन नामक बीसवाँ अध्याय पूर्ण हुआ।

अथ अन्तर्भवनलक्षणनिरूपणं नाम

एकविंशोऽध्याय: ॥ 21 ॥

अथास्मिन्नेकविंशाध्याये राजकीयप्रासादभवनमानवसदनादिनिर्माणेषु बहुविधेषु कल्पनीयस्यान्तर्गेहस्य लक्षणं प्रतिपादयितुमादौ तत्स्थापनयोग्यस्थलं निर्दिशति–

प्रासादेष्वपि हर्म्येषु धनिनां भवनेषु च।
विविधष्वपि निर्माणेष्वपि मानवसद्मषु ॥ 1 ॥
शालास्वपि क्वचित्कल्प्यमन्तर्गेहं विशेषतः।

(अब अन्तर्भवन या छोटे कक्ष के लक्षण कहे जाते हैं) राजमहलों, हवेलियों, धनाढ्यों के भवनों में, लोगों के आवास के लिए विविध प्रकार के निर्माण कार्यों में तो कहीं पर विशेष शालाओं में भी उपयोगी अन्तर्गेह बनाए जाते हैं।

इत्थं स्थलप्रदर्शनानन्तरं तादृशान्तर्गेहकल्पनफलमाह —

हस्तादिभिर्यथा देही गेहैस्तत्फलमाप्यते ॥ 2 ॥
तस्माच्छिल्पविदा कार्यं कार्यनिर्माणहेतवे।

जिस प्रकार देहधारियों में हाथ आदि अंग बहुपयोगी होते हैं, वैसे ही गृहों में ये अन्तर्गृह उपयोगी होते हैं। गृहों में अन्तर्शाला भी ऐसी ही सुविधा के लिए बनते हैं। इसलिए शिल्पविदों को निर्माण कार्य हेतु उनका निर्माण करना चाहिए।

द्वयञ्चतुष्कमथवा गेहानामष्टकं तु वा ॥ 3 ॥
कल्पयेच्छिल्पशास्त्रज्ञो द्वादशं वाऽथ षोडश।

इनके लिए दो चौक अथवा गृहों में आठ चतुष्क या चौकड़ियाँ बनाए। इतना ही नहीं, यदि शिल्पशास्त्रज्ञ चाहे तो इसके लिए बारह अथवा सोलह चतुष्क या चौकड़ियाँ भी परिकल्पित कर सकता है।

तस्मादेतादृशान्तर्भवनानि पूर्वनिर्दिष्टगृहोत्तमेषु कस्मिन्वास्थाने स्थाप्यानीत्याकांक्षायां तदाह —

पूर्वद्वारतलप्रान्ते देहल्याः पार्श्वयोरपि ॥ 4 ॥

इनमें पूर्व की दिशा वाले द्वारों के प्रान्तभाग में देहली और दरवाजों की साखें भी बनाई जानी चाहिए।

प्रथमावरणोल्लासिचत्वरेषु च मध्यमे।
द्वितीयावरणेष्वेवं शालासु विविधासु च॥ 5॥

इन भवनों के प्रथम आवरणों में खुले चौक मध्य में रखे जाते हैं। द्वितीय आवरण में विविध प्रकार की शालाएँ या भवन भी बनाए जाते हैं।

तस्मात्तादृशान्तर्भवनादिनिर्माणेषु कानि तानि लक्षणानित्याकाङ्क्षायां तल्लक्षणं सम्यग्विशदयति —

युग्मस्तम्भसमोपेतं युग्मतूलादिसंयुतम्।
कारयेच्छिल्पशास्त्रज्ञो धनुर्मुष्टिद्वयादिकम्॥ 6॥

ये कक्ष दो-दो स्तम्भों के युग्म के बने होते हैं। इनमें युग्म तूलादि बने होते हैं अर्थात् दो तूल या दीपक रखने के आले हो। शिल्पशास्त्रज्ञों द्वारा इनको दो धनुर्मुष्टि के प्रमाण से बनाए जाए।

चतुरश्रं वर्तुलं वा कोणषट्कमथापि वा।
कोणाष्टकसमायुक्तं युग्मपट्टसमन्वितम्॥ 7॥
द्वारयुक्तं द्वारहीनं क्वचित्तञ्च प्रकल्पयेत्।
कवाटयुगलोपेतं पार्श्वयोः सगवाक्षकम्॥ 8॥

इनको चौकोर, गोलाई युक्त या छहकोण वाले बनाए या फिर अष्टकोणाकार और दो-दो पाटों की छवाई वाले, द्वारयुक्त अथवा द्वारहीन भी कहीं-कहीं बनाए जिनके दो-दो कपाट वाले किंवाड़ों की युगल जोड़ी और उनके आजू-बाजू में गवाक्ष बने हों।

द्वारोपद्वारयुक्तं वा युग्मयुग्मकवाटकम्।
अन्तर्बहिश्च भित्तीनां प्रान्तेषु क्षुद्रपट्टिका॥ 9॥

ये द्वारों वाले तथा उपद्वारों या खिड़कियों वाले, दो-दो किवाड़ जोड़ियों वाले बनाए जाए। उनके अन्दर एवं बाहर की भित्तियों वाले किनारे छोटी-छोटी पट्टिकाओं से जड़े हुए हों।

सममानं पुरोमानं कल्पयेद्युक्तिपूर्वकम्।
विषमस्थलभाङ्नैव कार्यं कुत्रापि शिल्पिभिः॥ 10॥

इन अन्तर्गृहों को सममान एवं पुरोमान सहित युक्तिपूर्वक कल्पित करे। कहीं-कहीं तो शिल्पीगण विषम स्थलों में भी इस प्रकार का सुघड़ कार्य कर देते हैं।

भित्तिसम्मुखभागवाऽपि न स्थाप्यं स्तम्भसंमुखम्।
युग्मयुग्मविभेदेन समसङ्ख्यां प्रकल्पयेत्॥ 11॥

भित्ति के सम्मुख भाग में स्तम्भों की स्थापना नहीं करे। उन स्तम्भों को दो-दो की जोड़ी के भेद से सदैव समसंख्या में ही बनाए।

द्वयोस्तु मध्यमे भागे वेदिर्वैवाहिकी मता।
नानासनसमोपेतं दीपभागविराजितम्॥
अन्तर्गृहं बहुविधं कारयेच्छिल्पतन्त्रवित्॥ 12॥

इन युग्म जोड़ियों के मध्य के भाग में विवाह कार्यों के लिए वेदी निर्माण की गई हो। वहाँ नाना प्रकार के आसन-बैठकें आदि लगे हों और अनेक दीपक प्रकाश के प्रयोजन से रखे हुए हों। इस तरह से शिल्पतन्त्रविद् को बहुविध अन्तर्गृहों का निर्माण करना चाहिए।

इति विश्वकर्मप्रणीते विश्वकर्मवास्तुशास्त्रे अन्तर्भवनलक्षणानिरूपणं नाम एकविंशोऽध्यायः ॥ 21॥

इस प्रकार विश्वकर्माप्रणीत विश्वकर्मवास्तुशास्त्र में अन्तर्भवन लक्षण निरूपण नामक इक्कीसवाँ अध्याय पूर्ण हुआ।



अथ भोजनशालालक्षणनिरूपणं नाम

द्वाविंशोऽध्यायः ॥ 22॥

अथ भोजनशालालक्षणकथनात्मकं द्वाविंशाध्यायमारभते —

पृथिव्यादिमहाभूतैर्निर्मिता मानुषी तनुः।
तस्मात्तदुत्थसद्द्रव्यैस्तस्याः पोषणमीरितम्॥ 1॥

(अब भोजनशाला के लक्षण कहते हैं) पृथ्वी आदि पञ्चमहाभूतों (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश) से यह मानुषी काया बनी हुई है। अतः इसका पोषण भी पृथ्वी से उत्पन्न सद्द्रव्यों से ही सम्भव है।

यथाकालं पक्वमन्नं भक्ष्यं खाद्यञ्च लेह्यकम्।
भुञ्जीयान्मतिमान्देही स्थाने सल्लक्षणान्विते॥ 2॥

जैसा समय हो, उसके अनुसार ही भोजनान्न— जो कि भक्ष्य, खाद्य, लेह्य (चोष्य)[१] होता है, समझदारों द्वारा स्थान एवं लक्षण सहित ग्रहण किया जाता है।

तस्मात्सुखादिश्रेयोऽर्थी भोजनागारमुत्तमम्।
स्थापयेत्स्वगृहे नित्यं नैमित्तिकमिदं बुधः ॥ 3 ॥

इस भोजन के लिए सुख व श्रेय के इच्छुक जनों को उत्तम भोजनागार बनाना चाहिए। ज्ञानियों को चाहिए कि वे अपने गृह में (दो प्रकार की पाकशाला) नित्य भोजनागार एवं नैमित्तिककाल भोजनागार तैयार करवाए।

किञ्च तत्रैव व्यवहारः इत्याह —

युग्मदण्डसमोपेतं दैर्घ्यै विंशतिदण्डकम्।
नैमित्तिके कल्पने तु मध्यभित्तिसमन्वितम्॥ 4 ॥

भोजनशाला के प्रमाण के लिए यह ज्ञातव्य है कि दो राजदण्ड के बराबर चौड़ाई और बीस राजदण्ड के बराबर लम्बाई रखी जानी चाहिए। नैमित्तिक भोजनशाला के लिए मध्य में भित्ति रखी जाए।

अथवा स्तम्भपञ्चाशद्द्वारस्तम्भद्वयान्वितम्।
पार्श्वयोरुभयोः स्थाप्यं चत्वारिंशत्पदं पृथु॥ 5 ॥

अथवा उस भोजनशाला में पचास स्तम्भ हों और द्वार दो-दो स्तम्भाश्रित हो और उनके उभयपार्श्व में चालीस पद-पाये पृथुत्व लिए स्थापित हो।

अथ शालाकार प्रकल्पनम् —

भक्ष्यादिस्थापनार्थाय वेदिमध्येऽर्कपादका$_{12}$।
वातातपप्रवेशार्हा विभक्ताङ्गणशेखरा॥ 6 ॥

वहाँ भोजन सामग्री रखने के लिए बारह स्तम्भों की वेदिका या चौकी बनाई जानी चाहिए। जिसमें वायु और धूप प्रवेश कर सके, ऐसा खुला आँगन भी होना चाहिए। इस पर छत बनाई जाए।

एकाङ्गणेन युक्ता वा चाङ्गणद्वयभासुरा।
शाला भैक्षुकभोज्यार्हा वेदिकोपरि कीर्तिता॥ 7 ॥

---

१. अन्न चार प्रकार के होते हैं 1. भक्ष्य, 2. भोज्य, 3. लेह्य और 4. चोष्य। रोटी आदि जो चबाकर खाया जाए, वह भक्ष्य है। दूध आदि जो निगला जाए, वह भोज्य, चटनी आदि जो चाटा जाए, वह लेह्य एवं ईखादि जो चूसा जाए, वह चोष्य है। भोजनकुतूहल, पाकशास्त्र, आहारचर्या आदि ग्रन्थों में इस प्रकार का वर्णन विशेष रूप से द्रष्टव्य है।

ऐसे ही भोजन सामग्री रखने की वेदियाँ एक आँगन वाली अथवा दो आँगन वाली हो किन्तु, सदैव स्वच्छ, सुन्दर हो। ऐसी शालाएँ भोजन करने वालों के लिए वेदिकोपरि कहलाती है।

अपि चैतस्यां भोजनशालायां उभयोः पार्श्वयोः पीठाद्यासनानि स्थाप्यानि —

स्निग्धं भूमितलं कार्यं दीपासनसमन्वितम्।
पीठादिरचनोपेतं कल्पयेच्च मनोहरम्॥ 8॥

इन भोजन शालाओं के लिए भूमितल को चिकना बनाया जाए। वहाँ पर दीपक रखने के लिए उचित स्थान का प्रबन्ध हो। इसी प्रकार वहाँ पर बैठने के लिए बाजोट, पीठों (वर्तमान रीति के अनुसार कुरसी-टेबल) को सुन्दर रूप से बनाना चाहिए।

प्रसङ्गादत्र स्थलान्तरलक्षणमप्युच्यते, यथा —

भैक्षकाणां यतीनाञ्च स्थानमन्यत्प्रकीर्तितम्।
पृथगेव तथा कल्प्यं स्थानं माणवकादिनाम्॥ 9॥

भोजनशाला में भोजन के लिए आने वाले यतियों के लिए अन्य स्थान हो, ऐसा कहा गया है। इसी प्रकार बालकों, किशोरों (माणवका, विद्यार्थियों) के लिए पृथक् भोजन स्थल होना चाहिए।

पितृणां स्थानमन्यच्च कीर्तितं तन्त्रपारगैः।
योषितां भोजनस्थानं पृथगेव प्रकल्पयेत्॥ 10॥

इसी प्रकार पितरों के लिए भी अन्य स्थल नियोजित किया जाना चाहिए, ऐसा वास्तुतन्त्रविदों ने कहा है। महिलाओं के लिए भी पृथक् से भोजनस्थान परिकल्पित किया जाना चाहिए।

मध्ये चत्वरसंयुक्तशालाभिस्तिसृभिस्तु वा।
दाभ्यामुपेतमथवा चतुरङ्गणभासुरा॥ 11॥

इन भोजनशालाओं के मध्य में चौकियाँ भित्तियुक्त बनाई जाए। ऐसी दो शालाएँ साथ हो अथवा वे चार आँगनों वाली बनाई जा सकती है।

अन्यदप्याह —

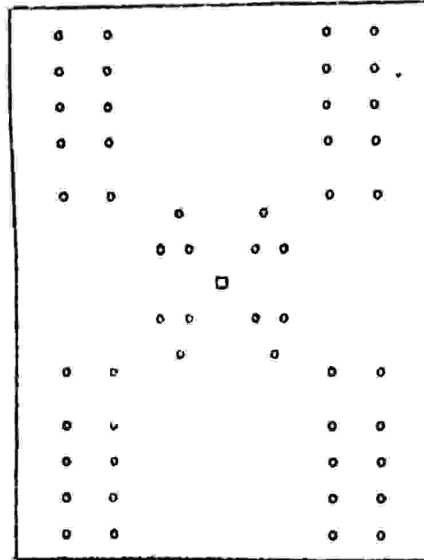
वर्तुलादिकमेतत्तु कारयेन्न कदाचन।
बटूनां प्राङ्मुखः पीठः पितृणामुत्तराननः॥ 12॥

यह ज्ञातव्य है कि इन शालाओं को कभी वर्तुल या गोलाकार नहीं बनाना चाहिए। बटुकों या बालकों के लिए पूर्वमुखी पीठ रखी जानी चाहिए और पितरों के लिए उत्तर दिशाभिमुख पीठ रखी जाए।

ऐन्द्रं वारुणक शिल्पी पुंसा श्रेयःप्रदो मतः।
योषितां प्राङ्मुखश्शस्तः सौभाग्य-तनयप्रदः ॥ 13 ॥

शिल्पियों को चाहिए कि वे पुरुषों के लिए पूर्वमुखी या फिर पश्चिममुखी पीठ रखे। ऐसा कहा गया है कि यह उनके लिए श्रेयप्रद है। इसी प्रकार महिलाओं के लिए पीठ पूर्वाभिमुख हो तो सौभाग्य और पुत्र प्रदायक होती है।[१]

धनिकभूपालभवनादिषु (५२) स्तम्भसमेतस्य भोजनशालाकल्पनस्य प्रकारोद्धारः॥



इति विश्वकर्मप्रणीते विश्वकर्मवास्तुशास्त्रे भोजनशालालक्षणनिरूपणं नाम द्वाविंशोऽध्यायः ॥ 22 ॥

इस प्रकार विश्वकर्माप्रणीत विश्वकर्मवास्तुशास्त्र में भोजनशाला लक्षण निरूपण नामक बाईसवाँ अध्याय पूर्ण हुआ।

---

१. **तथा च टीकायाम्**— भोजनशालायां विद्यार्थिनां माणवकादीनां भोजनासनं प्राङ्मुखं कार्यम्। श्राद्धव्रतदिनादिषु आवाहनीयपित्रादीनां भोजनासनमुदङ्मुखं कार्यम्। पुंसां कन्यकानां माङ्गल्यवतीनां योषितां च भोजनासनानि प्राचीमुखान्याहोस्वित् प्रतीचिमुखानि तदुभयमुखानि च तासां सौभाग्यसुतादिदायीनीति महर्षयस्तत्त्वविदः। अत एव विवाहादिसमयेष्वपि कन्यकायोषिदादीनां प्राङ्मुखोपवेशनं स्मृत्यादिषु प्रसिद्धम्। तस्मादेतादृशशुभमुखभासुरं नानाविधं भोजनार्थं पीठं प्रकल्प्य तत्र भोजनशालायां यथाकालमीश्वरध्यानपूर्वकं सन्ध्यासेवनानन्तरं श्रेयसे भुञ्जीयादित्यर्थः।

अथ शय्यागृहलक्षणकथनं नाम

त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ 23 ॥

अथास्मिंस्त्रयोविंशेऽध्याये शय्यागृहलक्षणम्। आदौ तत्कल्पनमाह —

मनोहरस्थले शय्या बलमेधादिवर्धिनी।
तस्मात्सर्वैः प्रकर्तव्यं शय्यागेहं मनोहरम्॥ 1 ॥

(अब गृह में शयनकक्ष के लक्षण कहते हैं) मनोहर स्थान पर नियोजित की गई शय्या बल और बुद्धि को बढ़ाने वाली होती है। इसलिए व्यक्ति को चाहिए कि प्रयास करके शय्यागृह को सुन्दरतम बनाया जाए।

प्रासादशालापुरतः शालान्तःस्थलभागिके।
अलिन्दशालयोः कल्प्यमथवा कूटसद्मसु॥ 2 ॥

प्रासादशाला या राजमहल में आगे की ओर, शाला के अन्तस्थल भाग में अर्थात् पूर्वभाग में वेदिका के समीप अथवा पीछे की ओर अलिन्द और शाला के अन्दर अथवा कूटसद्म (ऊपर के कमरों) में शय्यागृह बनाना चाहिए।

नगरराजधान्यादिषु भूपालादीनां भवनेषु कल्पनीयशय्यागेहस्थलं निर्दिशति —

भौमादिषून्नततलेष्वपि गन्धानिलान्विते।
स्थलेषु नातिशीतोष्णेष्वपि शय्यास्थलं मतम्॥ 3 ॥

विभिन्न मंजिलों वाले, उन्नत तलों में जहाँ सुगन्धित, स्वच्छ हवा आती हो, ऐसे स्थलों पर, जहाँ न तो बहुत ठण्डा हो और न ही अधिक गर्मी हो, वहाँ पर शयनकक्ष बनाना चाहिए, ऐसा सिद्धान्त है।

क्षुद्राधिष्ठानसंयुक्तं सोपानसहितं तु वा।
एक-द्वि-त्रि-चतुर्द्वारं प्रान्तशालावृतं तु वा॥ 4 ॥

इसे लघु अधिष्ठान से युक्त करे और चढ़ने-उतरने के लिए सीढ़ियों का प्रबन्ध करे। उसके लिए एक, दो, तीन या चार द्वार रखे जाए और चतुर्दिक प्रान्तशाला या वरण्डों की रचना की जाए।

तस्य मानप्रमाणमाह —

दण्डद्वयादिकं मानं शालाकारं प्रकल्पयेत्।
अन्तर्गेहसमं वाऽपि मण्डलाकारभाक्तथा॥ 5 ॥

इन शयनागारों का मान दो राजदण्ड प्रमाण के शालाकार कक्ष वाला होना चाहिए। इनके लिए अन्तर्गृह समान या फिर मण्डलाकार बने हो।

चतुरश्रं कल्पनं वा कोणपट्टादिसंयुतम्।
युग्मवातायनयुतमेकवातायनं तु वा॥ 6॥

इनको चौकोर बनाना चाहिए जिनमें कोनों में पट्ट आदि नियोजित करे। इसी प्रकार जुड़वा वातायन, झरोखे-खिड़कियाँ भी बनाई जानी चाहिए। मात्र एक गवाक्ष भी नियोजित किया जा सकता है।

युग्मस्तम्भकशालं वा पट्टसोपानसंयुतम्।
सवितानं सोपशालं पञ्जरादिसमन्वितम्॥ 7॥

ये शयनकक्ष दो-दो स्तम्भों के बने हो सकते हैं जिनमें पट्ट और सीढ़ियाँ रखे। इनकी छत पर चन्दोवा लगे हो। उनमें उपशाला हो और पञ्जर-जालियाँ, रोशनदान आदि भी होने चाहिए।

तथा चान्यप्रकल्पनम् —

मध्यवेदिकया युक्तं तत्र दीपं प्रकल्पयेत्।
प्राच्यामुदीच्यां तु मुखं कल्पनीयं सतोरणम्॥ 8॥
ससोपानं सखट्वादि कारयेच्छिल्पवित्तमः।

इन शयन कक्षों के मध्य में वेदी या चबूतरे पर दीपक रखने की व्यवस्था की जानी चाहिए। इनका मुख सदा ही पूर्व दिशा अथवा उत्तर दिशा की ओर रखना चाहिए। मुखद्वारों पर तोरण अवश्य बनाया जाना चाहिए। शिल्पविद् को चाहिए कि वह इनको सीढ़ियों सहित बनाए। वहाँ पर उचित प्रकार के खाट, पलँग[१] आदि स्थापित करे।

---

१. विवेकविलास में आया है कि कभी ऐसे खाट पर नहीं सोना चाहिए जिसमें जूँ-खटमल आदि पड़ गए हों। छोटी व टूटी खाट, शयनार्थी को कष्टप्रद, मैली खाट, पड़े पाए वाली और दग्ध लकड़ी से बनी खाट से बनी खाट को त्याज्य जानना चाहिए। चार काष्ठों से निर्मित पलङ्ग, बैठने का आसन और कुर्सी शुभकारी होती है। यदि पाँच अथवा उससे अधिक लकड़ी की बनाई गई हो तो उससे उसके प्रयोग करने वाले व उसके कुल का विनाश होता है— खट्वां जीवाकुलां ह्रस्वां भग्नां कष्टां मलीमसाम्। प्रतिपादान्वितां वह्नि दारुजातां च सन्त्यजेत्॥ शयनासनयोः काष्ठमाचतुर्योगतः शुभम्। पञ्चादिकाष्ठयोगे तु नाशः स्वस्य कुलस्य च॥ (विवेकविलास 5, 7)

इत्यमनन्तर शयनविधिमाह —

दक्षिणस्यां शिरोभाग प्रतीच्यां वा विशेषतः ॥ 9 ॥
पार्श्वयोर्मङ्गलद्रव्यस्थापनं शुभवर्धकम् ।
मुकुरादिसमोपेतं जलपात्रेण मञ्जुलम् ॥ 10 ॥

गृहस्वामी को चाहिए कि वह सोते समय अपना सिर सदैव दक्षिण में रखे या फिर पश्चिम दिशा में सिरहाना करे। शयनकक्ष में पार्श्वभाग में मंगलद्रव्यों की स्थापना करना शुभ की अभिवृद्धि का कारक होता है।[१] इनमें दर्पण का प्रबन्ध हो और जलपात्र का सुन्दर प्रबन्ध होना चाहिए।

कल्पनीयो द्वारभागे गन्धर्वश्शरहस्तकः ।
चन्द्रस्यार्कस्य वा बिम्बं कल्पयेत्तत्र मानवित् ॥ 11 ॥

इन शयनकक्षों के द्वारभाग पर बाण हाथ में लिए गन्धर्वों का चित्रण होना चाहिए। इसी प्रकार वहाँ पर चन्द्रमा और सूर्य के बिम्ब भी चित्रकारों को परिकल्पित करना चाहिए।

इति विश्वकर्मप्रणीते विश्वकर्मवास्तुशास्त्रे शय्यागृहलक्षणकथनं नाम त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ 23 ॥

इस प्रकार विश्वकर्माप्रणीत विश्वकर्मवास्तुशास्त्र में शय्यागृह लक्षण कथन नामक तेईसवाँ अध्याय पूर्ण हुआ।



---

१. प्रकारान्तर से शयनकाल में सिर दक्षिण या पूर्व में रखने की रीति है। इससे विद्या और वैभव की प्राप्ति होती है। आधुनिकों ने शयनकक्ष में दर्पण की मनाही की है किन्तु शास्त्र की आज्ञा के परिप्रेक्ष्य में आधुनिक मत उचित प्रतीत नहीं होता। इसी प्रकार जो अपने पूज्य हों (अन्न, गौ, गुरु, देवता) उनसे ऊँचे स्थान पर, भींगे हुए पाँव और उत्तर एवं पश्चिम दिशा की ओर सिर रखकर नहीं सोना चाहिए। इसी प्रकार पुरुष को कभी वंश-अनुवंश के नीचे, पादान्त और नागदन्त या नँगूचे के नीचे नहीं सोना चाहिए, यह घातक है। वराहमिहिर ने कहा है— धान्यगोगुरुहुताशसुराणां न स्वपेदुपरि नाप्यनुवंशम्। नोत्तरापरशिरा न च नग्नो नैव चार्द्रचरणः श्रियमिच्छन्॥ (बृहत्संहिता, 52, 124) इसी प्रकार विश्वकर्मा का मत है— शय्यानुवंशविन्यस्तातुला हन्यात्कुटुम्बिनः। कर्तुः शय्या स्वतानस्था नागदन्ताः क्षयावहाः॥ (तत्रैव भट्टोत्पलविवृति में उद्धृत) श्रीपतिभट्टाचार्य की भी यही उक्ति है— गोधान्यदेवाग्निगुरुपदिष्टान्स्वपेन्न चैवापरसौम्यमूर्धाः। न चानुवंशो न जलार्द्रपादः श्रियोभिलाषी पुरुषो न नग्नः॥ (ज्योतिषरत्नमाला 17, 30)

अथ वसन्तगृहलक्षणकथन नाम

चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ 24 ॥

अथ वसन्तगृहलक्षणकथनात्मकं चतुर्विंशाध्यायमुपक्रमते—

सार्वभौमादिभिर्भूपैर्मोदाय मधुसेवनम्।
काले कार्यमिति **प्रोक्तं** तन्त्रविद्भिर्मुनीश्वरैः ॥ 1 ॥
तस्मात्तत्कल्पयेत्पुर्यामुद्याने भवनान्तरे।

(अब वसन्तगृह लक्षण कहते हैं) सार्वभौम राजाओं के आमोद-प्रमोद के लिए, मधुसेवन (वसन्त) के क्रीड़ाकाल की अनुभूति के निमित्त वास्तुतन्त्रविद् मुनीश्वरों ने इस गृह का निर्माण करना बताया है। इसलिए नगर के उद्यान या राजभवन के अन्दर इस स्थल का परिकल्पन करना चाहिए।

वसन्तगृहनिर्माणलक्षणमाह —

परितस्तु चतुश्शालं जलकुम्भादिशीतलम् ॥ 2 ॥

इसके लिए चतुश्शाल (आमने-सामने चार कक्ष) बनाकर उनमें वसन्तक्रीड़ा के प्रयोजन से चारों ओर शीतल जल के कलश भरकर रखे जाने चाहिए।

प्राङ्मुखं कल्पनं शस्तं तदेव प्रीतिदायकम्।
चतुर्दण्डप्रमाणेन हीनं नोत्तममीरितम् ॥ 3 ॥

इस भवन को यदि पूर्वमुखी बनाया जाए तो प्रशस्त होता है, यह प्रीतिप्रदायक सिद्ध होता है। इसका प्रमाण चार राजदण्ड रखना चाहिए, इससे कम होना उत्तम नहीं होता है।

चतुश्शालावृते मध्यभागे मण्डलकल्पनम्।
विश्रान्तिवेदी तत्रैव गन्धशैत्यादिभासुरा ॥ 4 ॥

इसका मध्यभाग चतुश्शाला से आवृत्त होगा, इसमें मण्डल कल्पित किया जाना चाहिए। इसी प्रकार वहाँ विश्रान्ति के प्रयोजन से वेदिका होगी। वह निर्माण सुवासित शीतलतायुक्त होना चाहिए।

तत्र मण्डपरूपवसन्तगृहनिर्माणलक्षणं यथा —

चत्वरादिसमोपेता सालङ्कारा **सतोरणा**।
मुखीकरणयुक्तं **वा** मण्टपाकृति **वा भवेत्** ॥ 5 ॥

इन गृहों के चारों ही ओर चौक-चबूतरे होते हैं। इनको अलंकृत तोरणों से युक्त किया जाना चाहिए। साथ ही ये मुखीकरण युक्त अथवा मण्डपाकार बनाये जाने चाहिए।

चतुर्द्वारसमोपेतं नानाङ्गणसमन्वितम्।
एकभौमयुतं भौमं त्रिभौमं सार्वभौमिकम्॥ 6॥

ये कक्ष चार द्वारों वाले और नाना आँगनों से युक्त बनाए जाने चाहिए। इनको एक तलीय, तीन तलीय या सार्वभौमिक अर्थात् बहुमंजिले बनाए जा सकते हैं।

किञ्चान्तःपुरवासिनां महिष्यादीनां तु पृथगेव वसन्तसदनकल्पनम् —

योषितां तु पृथक् शाला कल्पनीया विशेषतः।
नानासनसमोपेता सुहृदादिविभेदतः॥ 7॥

इसी प्रकार महिलाओं के लिए ऐसी विशिष्ट शालाओं को अलग से नियोजित किया जाना चाहिए। इसमें मित्रों और अपने स्नेहीजनों के बैठने के लिए नाना प्रकार के आसन पूरी तरह सजे हुए होने चाहिए।

शीतलैरुपचारैश्च मेदुरा दिशि सर्वतः।
चतुर्दिङ्मण्टपं पूर्वमन्दिरं वा प्रकल्पयेत्॥ 8॥

ये रचनाएँ चारों ओर शीतलता के उपचारों, संसाधनों के कारण स्निग्ध बनी हों। इनमें चतुर्दिक् मण्डप हो और पूर्व में मन्दिर परिकल्पित किया जाए।

क्षुद्राधिष्ठानसंयुक्तं सोपानावलिमञ्जुलम्।
आलोकमण्टपोपेतमथवा गीतिशालकम्॥ 9॥
सतटाकं विहरणस्थानञ्च परिकल्पयेत्॥ 10॥

इसी प्रकार ये क्षुद्र अधिष्ठान या छोटे-छोटे बैठकी चबूतरों सहित बनाए जो सोपानावली के कारण मञ्जुल प्रतीत हो अर्थात्४ इनमें प्रकृति के विहंगमावलोकन के लिए मण्डपों की रचना की जाए अथवा वहाँ पर गायनशाला का निवेश भी हो। वसन्त गृह को सदैव तालाब सहित और विहार (आमोद-प्रमोद) स्थलों सहित बनाया जाना चाहिए।

इति विश्वकर्मप्रणीते विश्वकर्मवास्तुशास्त्रे वसन्तगृहलक्षणकथनं नाम चतुर्विंशोऽध्यायः॥ 24॥

इस प्रकार विश्वकर्माप्रणीत विश्वकर्मवास्तुशास्त्र में वसन्तगृह लक्षण कथन नामक चौबीसवाँ अध्याय पूर्ण हुआ।

अथ सकलविधद्वारलक्षणकथनं नाम

पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ 25 ॥

अथास्मिन्पञ्चविंशेऽध्याये गृहहर्म्यभवनप्रसादादिषु स्थापनीयद्वाराणां लक्षणमुपपादयति —

शुभे मुहूर्ते सुदिने स्थपतिर्धृतकङ्कणः ।
शुचिः शुद्धमना भक्त्या पूजयित्वेष्टदेवताः ॥ 1 ॥
सर्वमङ्गलघोषैश्च स्वस्तिशब्दैश्च शिल्पिभिः ।
वास्तुं प्रदक्षिणीकृत्य मुखद्वारं प्रकल्पयेत् ॥ 2 ॥

(इस अध्याय में गृहादि के लिए द्वार के लक्षण कहे जा रहे हैं) शुभ तिथ्यादि समय, शुभ मुहूर्त, शुभ दिन को देखकर स्थपति को चाहिए कि वह अपने हाथ में कङ्कण आदि धारण करे और पवित्र मन होकर अपने इष्ट देवता की भक्तिपूर्वक पूजा करे। समस्त मङ्गलघोष और स्वस्तिवाचन के बीच शिल्पी को चाहिए कि वह गृह, भवन, प्रासादादि के वास्तुस्थल की प्रदक्षिणा करे और उसके लिए आवश्यक मुखद्वार को परिकल्पित करे।

एतादृशमङ्गलाचरणपूर्वकं तच्च द्वारस्थापनं तावत्प्रासाद कल्पने —

प्रासादे भवने हर्म्ये मठमण्डपसद्मसु ।
शालासु क्षुद्रगेहेषु भौमस्थानेष्वपि क्वचित् ॥ 3 ॥
स्थलान्तरेषु स्थपतिर्युक्त्या तद्योजयेद्दृढम् ।
अधोमुखं चोर्ध्वमुखं स्थापयेन्न कदाचन ॥ 4 ॥

किसी भी प्रासाद, भवन, हर्म्य, मठ, मण्डप, सदन, शाला, लघुगृह अथवा किसी-किसी भूमिस्थानों एवं स्थलान्तर में स्थपति उचित युक्ति का प्रयोग करते हुए दृढ़ द्वार की आयोजना करे। इनको कभी अधोमुख या ऊर्ध्वमुख स्थापित नहीं करना चाहिए।

स्थाप्यं तिरोधानहीनं समसूत्रं सपङ्क्तिकम् ।
स्थानभेदं च तन्मानं निश्चित्यैव प्रकल्पयेत् ॥ 5 ॥

इनकी स्थापना बिना किसी भी प्रकार के छिपाव के समसूत्र और पंक्तियुक्त करनी चाहिए। इनके स्थानभेद भी निश्चित मान-प्रमाण के अनुसार नियोजित करने चाहिए।

भूलम्बं भित्तिबन्धश्च तदधः कल्पयेद्दृढम्।
अधश्शिला प्रकर्तव्या नोपरिष्टात्कदाचन॥ 6॥

इस कार्य में ज्ञातव्य है कि भूलम्ब और भित्तिबन्ध को उसके नीचे से दृढ़तर करना चाहिए। इसके लिए आधार नींव की गाढ़ शिला पर ही बनाए। ऊपर की ओर कभी भी शिला नहीं रखनी चाहिए।

किञ्च तादृशद्वारं द्वादशविधं भवति। तत्र लक्षणादिकं क्रमशो विशिनष्टि —

लक्ष्मीद्वारं तु पूर्वस्थं सर्वमङ्गलदायकम्।
द्वितीयमारोग्यदं तद्गान्धर्वं देहलीस्थले॥ 7॥
कल्पनीयमिदं प्रोक्तं शयनास्थानकेऽपि च।

गृहादि के लिए उपयोगी प्रथम लक्ष्मीद्वार पूर्व दिशा की ओर होता है। यह सर्वमङ्गलदायक होता है। दूसरा देहलीस्थल के गान्धर्वद्वार से गृहपति को आरोग्य की प्राप्ति होती है। इसको शयनगृह में भी बनाया जा सकता है।

विश्वकर्म तृतीय तु दीर्घायुःप्रदमीरितम्॥ 8॥
वैवाहिकासु शालासु शालास्वन्यासु कल्पयेत्।

तीसरा विश्वकर्म संज्ञक द्वार दीर्घ आयुष्य प्रदाता कहा गया है। इससे वैवाहिक शालाओं और अन्य शालाओं में कल्पित किया जा सकता है।

चतुर्थं वैश्रवणकं धनवृद्धिकरं मतम्॥ 9॥
कोशागारेषु तत्स्थाप्यं सुमुहूर्ते शुभेऽहनि।

चौथा वैश्रवण (कुबेर) द्वार है। यह धन की वृद्धि करने वाला है। इसे कोशागारों में शुभ मुहूर्त, शुभ दिन देखकर स्थापित करना चाहिए।

पञ्चमं वारुणं प्रोक्तमारोग्यशुभदायकम्॥ 10॥
स्थाप्यं तद्भोजनागारे द्रव्यशालासु सद्मसु।

पाँचवाँ द्वार वारुण कहा गया है। यह आरोग्य और शुभ प्रदायक कहा गया है। इसको भवन में भोजनागार या द्रव्यशाला के लिए स्थापित करना शुभ है।

षष्ठं तु वासवं मेधावर्धकं समुदीरितम्॥ 11॥
विद्याशालासु तत्स्थाप्यममात्यभवनेष्वपि।

छठा वासव द्वार बुद्धिवर्धक कहा गया है। इसको विद्याशाला या आमात्यों के भवन के लिए स्थापित करना चाहिए।

शाङ्करं वैष्णवं ब्राह्मं पूजागारे शुभप्रदम्॥ 12॥
प्राङ्मुखं वोत्तरमुखमन्यश्च शुभदं मतम्।

सातवाँ शाङ्कर, आठवाँ वैष्णव और नवाँ ब्राह्म संज्ञक द्वार होता होता है। ये पूजागार के लिए शुभप्रदायक है। ये द्वार पूर्वमुखी अथवा उत्तरमुखी हों तो शुभकारक होते हैं, ऐसा मत है।

सौरं सत्पुत्रजनकं शालायां तत्प्रकल्पयेत्॥ 13॥
चान्द्रं पुष्टिप्रदं स्थाप्यं विश्रान्तिस्थलमुख्यके।

दसवाँ सौर संज्ञक द्वार सत्यवादी पुत्र प्रदायक कहा जाता है। इसको शाला में स्थापित करना चाहिए। ग्यारहवाँ चान्द्र नामक द्वार पुष्टिप्रदायक है। इसको मुख्य रूप से विश्रान्तिस्थल पर स्थापित किया जाए।

आर्षं तु मेधाजनकं भौमशालासु कल्पयेत्॥ 14॥
एवं द्वादशधा प्रोक्तं तत्तच्चिह्नैर्विनिर्णयेत्।

बारहवाँ आर्ष नामक द्वार होता है। यह बुद्धि का जनक होता है। इसको भौमशाला, तलघरों में बनाना चाहिए। इस प्रकार ये बारह प्रकार के द्वार कहे गए हैं। इनको इनके चिह्नों के आधार पर निर्धारित करना उचित होता है।

स्पष्टार्थचक्र

द्वार	स्थान	फल
1. लक्ष्मीद्वार	भवन, पूर्वदिशा	सर्वमंगलप्रद
2. गान्धर्वद्वार	देहली, शयनागार	आरोग्यप्रद
3. विश्वकर्मद्वार	वैवाहिकशाला व अन्यत्र	लम्बी आयु
4. वैश्रवणद्वार	कोशागार, कुबेरगृह	धनवृद्धि
5. वारुणद्वार	भोजनागार, द्रव्यागार	आरोग्य व शुभवृद्धि
6. वासवद्वार	पाठशाला, मन्त्रीसदन	बुद्धिवर्धक
7. शाङ्करद्वार	पूजागृह/पूर्व या उत्तरमुखी	शुभकारक
8. वैष्णवद्वार	पूजागृह/पूर्व या उत्तरमुखी	शुभप्रदायक
9. ब्राह्मद्वार	पूजागृह/पूर्व या उत्तरमुखी	शुभदायक
10. सौरद्वार	शालागृह	सत्पुत्रदायक

11. चान्द्रद्वार	विश्रान्तिगृह, सराय	पुष्टिप्रदायक
12. आर्षद्वार	भौमशाला, तलघर	बुद्धिजनक

इत्यनन्तरं पद्मकप्रमुखानि द्वारान्तराणि तु धान्यागारादीनां स्थापयेदिति आह—

अन्यानि पद्ममुख्यानि तत्र-तत्र प्रकल्पयेत् ॥ 15 ॥
धान्यागारे वस्त्रगेहेऽलङ्कारस्थानके तथा।
स्नानागारे नृत्तशालास्वपि सङ्गीतकादिषु ॥ 16 ॥

इनके अतिरिक्त पद्मादि मुख्य जो द्वार हैं, उनको निम्नाङ्कित स्थलों पर स्थापित करने चाहिए— धान्यागार, वस्त्रागार, अलङ्कारस्थल, स्नानागार, नृत्तशाला, सङ्गीतशाला इत्यादि।

अथैतेषु द्वारेषु कल्पनीयविभागतक्षणचित्ररचनादिलक्षणक्रममाह —

तद्द्वयासन्तु त्रिहस्तं तन्मानोन्नतियुतं दृढम्।
तक्षकैः कल्पयेद्युक्त्या सारदारुमुखैश्शुभम् ॥ 17 ॥

द्वार को दो या तीन हस्त मान की ऊँचाई वाला और दृढ़ बनाए। तक्षक (काष्ठकर्मी) को चाहिए कि वह इसके चौखट के लिए सारदारु या अच्छी लकड़ी काम में ले और सम्यक् युक्ति को अपनाए।

सौवर्णं राजतं वाऽपि दारुजं पार्श्वपट्टकम्।
शुकपट्टं हंसपट्टं लताकुसुमपट्टकम् ॥ 18 ॥

इन द्वार-चौखटों के लिए सोने, चाँदी अथवा लकड़ी के पार्श्वपट्टों का प्रयोग करना चाहिए। इनके अलंकरण के लिए तोतों के पट्ट, हंस के पट्ट और कुसुम और लतिकाओं के पट्टों का प्रयोग करना चाहिए।

अधःस्थले वा सर्वत्र कुमुदादींश्च कल्पयेत्।
गान्धर्वं भैरवं रूपं क्वचिद्द्वारेषु योजयेत् ॥ 19 ॥

इन द्वारों के नीचे के भाग में सब ओर कुमुदादि या कमलों के चित्रण का तक्षण कार्य करवाना चाहिए। इसी प्रकार कतिपय द्वारों की शाखाओं पर गान्धर्व, भैरव के रूपों को भी उत्खचित करवाया जा सकता है।

षड्भागे प्रथमे कम्पदलपद्मांशपट्टिकाः।
रचयेच्चित्रविन्यासं नेत्रानन्दकरं शुभम् ॥ 20 ॥

इन द्वारपट्टों के प्रथम छह भागों में कम्पदल, पद्मांश पट्टिका की रचना की जानी चाहिए। इन पर विविध प्रकार के चित्रण का विन्यास कुछ इस प्रकार हो कि वे नेत्रों को आनन्द प्रदान करते प्रतीत हों और शुभ लगे।

पट्टं पद्मञ्च कुमुदं किङ्किणीं क्षुद्रपालिकाम्।
रेखावलिं तत्तु रूपमन्यच्चानन्ददायकम्॥ 21॥

इसी प्रकार पट्ट, पद्म, कुमुद, किङ्किणी, क्षुद्रपालिका या कोर-किनारी बनाए जिनकी रेखावली का मूल्यांकन अत्यन्त आनन्द प्रदान करने वाला हो।

दृढार्गलसमोपेतकवाटद्वयभासुरम्।
दृढसन्धिक्रियं कार्यं द्वारं सर्वशुभप्रदम्॥ 22॥

इसी प्रकार द्वारों को दो किवाड़ वाले दरवाजों से युक्त बनाए। उनके लिए दृढ़ आगलकिया (अर्गला) योजित हो। साथ ही उनकी सन्धिक्रिया (एकाधिक पट्टों के संयोजन का कार्य) भी दृढ़ हो। इस प्रकार बनवाया गया द्वार सर्वशुभदायक होता है।

इति विश्वकर्मप्रणीते विश्वकर्मवास्तुशास्त्रे सकलविधद्वारलक्षणकथनं नाम पञ्चविंशोऽध्यायः॥ 25॥

इस प्रकार विश्वकर्माप्रणीत विश्वकर्मवास्तुशास्त्र में सकलविध द्वार लक्षण कथन नामक पच्चीसवाँ अध्याय पूर्ण हुआ।



अथ तोरणलक्षणकथनं नाम

षड्विंशोऽध्यायः॥ 26॥

अथास्मिन् षड्विंशाध्याये तोरणलक्षणं विशिनष्टि —

तोरणं त्रिविधं कार्यं शिलादारुसुधादिभिः।
दैवं भौपं मानुषच्च तक्षणादिप्रमाणतः॥ 1॥
तत्तत्कार्येषु तद्योज्यं प्रमाणज्ञैः क्रियाकरैः।

(अब तोरणों की रचना और उनके लक्षणों के विषय में कहा जा रहा है)

तोरण सामान्यतया तीन प्रकार के होते हैं— 1. शिलानिर्मित, 2. काष्ठनिर्मित और चूनादि से निर्मित। ये तोरण क्रमशः देवालय, नृपालय और मनुष्यालय के लिए अपने तक्षणादि प्रमाणों के अनुसार प्रमाणज्ञ शिल्पियों द्वारा उन-उन कार्यों में प्रयोग में लाना चाहिए।

शालान्ते चत्वरान्ते च क्वचिद्द्वारान्तरे तथा॥ 2॥
कूटाधिष्ठानभागे च भित्त्यन्ते च कवाटके।
अलिन्दके वेदिकायामपि डोलादिषु क्वचित्॥ 3॥

इनको शाला भवन के अन्त में, चत्वर या चौक-चबूतरे के अन्त में और कहीं-कहीं द्वार के अन्तर में भी, कूट, अधिष्ठान के भाग में, भित्तियों के अन्त में, किवाड़ के आगे, अलिन्दों के आगे, वेदिका के आगे और किसी-किसी डोला-झूला के आगे भी बनाए जाए।

तले वातायने स्तम्भे पटलादिषु वा तथा।
पर्यङ्के चापि सोपाने यद्योज्यं शिल्पिभिः क्रमात्॥ 4॥

इसी प्रकार तल पर, वातायन पर, स्तम्भों के आगे, छत-पटलों के आगे, पलंगों के आगे, सीढ़ियों के आगे भी शिल्पियों को इन्हें क्रमशः योजित करना चाहिए।

अथ एतादृशतोरणक्रियां कर्तुमुचितान्यायुधानि निर्दिशति —

वारटङ्कं भेदटङ्कं रन्ध्रटङ्कं शिखान्वितम्।
पट्टटङ्कं लताटङ्कं स्वीकुर्यादप्रमत्ततः॥ 5॥

इन तोरणों के लिए आवश्यक उपस्कारकों का प्रयोग किया जाए। यथा— वारटङ्क[१], भेदटङ्क[२], शिखायुक्त रन्ध्रटङ्क[३], पट्टटङ्क[४] और लताटङ्क[५] आदि आयुधविशेषों को प्रमादरहित होकर स्वीकार करना चाहिए।

---

१. वारटङ्क- तत्र तत्र रेखाकरणसाधकायुधविशेषः।

२. भेदटङ्क-तावदुभयोः पट्टिकयोरन्यत्र मध्ये निम्नादिस्थलभेदेन साधकायुधविशेषः।

३. दारुखण्डेषु रन्ध्रकारी टङ्को रन्ध्रटङ्कः।

४. शुकहंसादि विविधचित्रतक्षणोपयोगी पट्टटङ्कः।

५. लतादिलेखाकरणसाधको लताटङ्कः। इत्याद्यायुधजालानानुपदं शिखीकृतानां तक्षणादिकार्योपयोगिधारावत्कल्पितानां सर्वेषां साह्येनैव दारुतक्षकशिलातक्षकेष्टिकाकारादिभिस्तत्र तत्र समुचिते स्थले तोरणचित्रतक्षणादिक्रिया यथाप्रमाणं कार्येत्युक्तं भवति।

तक्षकैः कल्पकैर्वापि तोरणादिक्रियापरैः।
मानं रेखाङ्कनं शिक्षां तक्षणं रचयेत्क्रमात्॥ 6॥

तक्षकों (काष्ठ घटन करने वाले) सलाटों, कल्पकै (कल्पना करने वाले) गजधरों तथा तोरणादि की क्रिया को जानने वालों को चाहिए कि वे मान, रेखांकन, शिक्षा और तक्षण को क्रमशः प्रयोजित करें।

अथ तोरणस्वरूपं व्यनक्ति —

चूतपत्रादिरूपं **वा** पक्षिरूपमथापि **वा**।
लतारूपादिकं **वाऽपि** रेखारूपं क्वचित्स्थले॥ 7॥

इन तोरणों को कहीं आम्रपत्रादि के रूप से अलंकृत करे तो कहीं पर पक्षियों के चित्रों को उत्कीर्ण करे। कहीं बेल-बूँटों को उत्खचित करे तो कहीं पर केवल रेखा रूप ही दिखाया जाना चाहिए।

लक्ष्म्यादिरूपमथवा गोपुरादिस्थलाकृति।
कल्पनं विविधं रम्यं नानातोरणमीरितम्॥ 8॥

इसी प्रकार कहीं लक्ष्मी आदि देवियों के स्वरूप का अंकन किया जाए तो कहीं पर गोपुर आदि की स्थलाकृति का रचाव-दरसाव हो। इस तरह विविध रूप वाले रमणीय नाना प्रकार के तोरणों का परिकल्पन करना चाहिए।

इति विश्वकर्मप्रणीते विश्वकर्मवास्तुशास्त्रे तोरणलक्षणनिरूपणं नाम षड्विंशोऽध्यायः॥ 26॥

इस प्रकार विश्वकर्माप्रणीत विश्वकर्मवास्तुशास्त्र में तोरण लक्षण निरूपण नामक छब्बीसवाँ अध्याय पूर्ण हुआ।



अथाधिष्ठानलक्षणनिरूपणं नाम

सप्तविंशोऽध्यायः॥ 27॥

इदानीमधिष्ठानलक्षणमस्मिन् सप्तविंशाऽध्याये विशिनष्टि —

प्रासादानां मण्टपानां शालानां च क्वचित्स्थले।
गोपुराणां क्वचिद्भौमे गोपुरद्वारकस्य च॥ 1॥

गर्भगेहस्य च तथा देवानामालयस्य च।

विविधानां कल्पनानामधोऽधिष्ठानकल्पनम्॥ 2 ॥

औन्नत्यार्थं च रक्षार्थं शोभार्थं च बलार्थकम्।

प्रासादों, मन्दिरों, मण्डपों और शालाओं में किसी-किसी स्थल पर, कहीं गोपुरों की और अन्य भौमिक रचनाओं या गोपुरद्वारों अथवा गर्भगृह तथा देवालयों के लिए भी विविध कल्पनाओं वाले अधिष्ठानों की रचनाएँ होती हैं। ये उनकी उन्नति, रक्षा, शोभा एवं बल प्रदर्शन हेतु बनाए जाते हैं।

एकहस्तं द्विहस्तं वा त्रिहस्तं वा विशेषतः॥ 3 ॥

एकदण्डप्रमाणं वा कारयेत्स्थलयोग्यकम्।

विमानगोपुरादीनां प्रमाणं परिगृह्य च॥ 4 ॥

ये अधिष्ठान एक हस्त, दो हस्त अथवा विशेषकर तीन हाथ के बनाए जाते हैं। एक दण्ड के प्रमाण से अथवा स्थल के योग्य प्रमाण से भी बनाए जाते हैं। इसके लिए विमान, गोपुर आदि का प्रमाण लिया जाता है।

तद्भूमिलम्बनं कार्यं दृढीकुर्याद्यथाविधि।

चिक्कणैश्च शिलाखण्डैर्वालुकाद्यैश्च पूरयेत्॥ 5 ॥

उक्त भूमि के लम्बन का कार्य यथाविधि सुदृढ़ करना चाहिए। उस स्थल को चिक्कण, पाषाण के खण्डों, बालू या रेती आदि से अच्छी प्रकार भरना चाहिए।

गजपादैर्मुद्गरैश्च काष्ठखण्डैर्घनीकृतम्।

परितो भागमानेन विभजेत्कल्पनोचितम्॥ 6 ॥

इसके बाद उस स्थल, नींव के भाग को गजपादों (धौंसों), मुद्गरों, लकड़ी के दण्डों से कूट-कूटकर घनीकृत बनाया जाता है। इसके बाद उन्हें चारों ओर से भाग मानानुसार बाँटते हुए कल्पना के अनुसार विभाजित करना चाहिए।

एतादृशाधिष्ठानं तावदष्टविधं भवति। यथा —

मञ्चभद्रं बोधिभद्रं वाजिभद्रं च कौमुदम्।

बन्धस्वरूपमन्यच्च स्थापयेत्स्थपति क्रमात्॥ 7 ॥

अधिष्ठान के आठ रूप हैं— 1. मञ्चभद्र, 2. बोधिभद्र, 3. वाजिभद्र, 4. कुमुदभद्र और इन्हीं नाम के अन्य बन्ध रूप 5. मञ्चबन्ध, 6. बोधिबन्ध, 7. वाजिबन्ध एवं 8. कुमुदबन्ध— इनको स्थपति क्रमानुसार स्थापित करे।

शिलाभिरिष्टिकाभिर्वा देवमानुषकल्पनम्।
स्थापयेद्भारवहनामभिन्नं न च वक्रितम्॥ 8॥

इनको शिला अथवा पत्थर की गड़ाई से, इष्टिका अथवा ईंटों की चुनाई से क्रमशः देव एवं मानुष प्रयोजन से परिकल्पित करना चाहिए अर्थात् देव अधिष्ठान शिला से और मानुष अधिष्ठान इष्टिकाओं से कल्पित करने चाहिए। ज्ञात रहे कि भारवहन (पाट, छबने) को सीधा अभिन्न ही बनाया जाए, कभी वक्रीय (टेढ़ा-मेढ़ा, गोलाईयुक्त) नहीं बनाए।

एतादृशाधिष्ठानाष्टकस्य पार्श्वभागेषु क्षेपणीयलक्षणक्रममाह —

भूमिरादौ रसा प्रोक्ता त्रिपट्टा केवला मता।
उत्तमे कल्पने हस्तप्रमाणं योजयेद्बुधः॥ 9॥

इनमें से जो आधारभूमि होती है, वह रसा नाम से ज्ञेय है जबकि त्रिपट्टा या तीन स्तर वाली भूमि को केवला नाम दिया गया है। इनकी उत्तम योजना करने के लिए ज्ञानी शिल्पी को हस्तप्रमाण काम में लेना चाहिए।

अष्टादशाङ्गुलं वाऽपि द्वादशाङ्गुलमेव वा।
क्वचित् षडङ्गुलं वाऽपि कल्पयेत्पादुकाख्यकम्॥ 10॥

इसके लिए हस्त प्रमाण अठारह अंगुल का हो अथवा बारह अंगुल का हो। कहीं-कहीं छह अंगुल हस्त प्रमाण भी काम में लिया जा सकता है, इससे (क्रमशः उत्तम, मध्यम एवं अधम) पादुका नामक भाग को कल्पित करे।

तदूर्ध्वस्थमधिष्ठानं विविधं परिकीर्तितम्।
शुद्धां शैली च सङ्कीर्णामथवाऽत्र प्रयोजयेत्॥ 11॥

(ये एक प्रकार से नींव भराई के पट्ट हैं) इनके ऊपर अधिष्ठान, शिल्पियों की भाषा में आणोट होते हैं, ये विविध प्रकार के होते हैं। यहाँ शुद्धा, शैली-शिलाओं वाला, संकीर्ण या मिश्रित अधिष्ठान का प्रयोग करना चाहिए।

सार्धा-र्धकद्वि-द्विदण्डदण्डार्धं पादमानकम्।
सोपानं पद्मकं वाऽपि शोभार्थं परिकल्पयेत्॥ 12॥

इसके लिए डेढ़ दण्ड प्रमाण, आधा और दो-दो एवं दण्डार्ध, एक दण्ड बराबर, पादमान या एक चौथाई प्रमाण से शोभा के लिए सोपान, पद्मक को परिकल्पित करे।

द्विगुणं त्रिगुणं वाऽपि पञ्चांशं वा चतुर्गुणम्।
विभज्योपानकस्योर्ध्वे क्षेपणं कम्पपद्मकम्॥ 13॥

इसी प्रकार दो गुना, तीन गुना, चौगुना या पाँच गुणा भाग कल्पित करते हुए उपान और उस पर क्षेपण, कम्प एवं पद्मक की रचना की जानी चाहिए।

द्विपादं पद्मकं कम्पमेकांशं वा विशेषतः।
षड्भागं कर्णविस्तारमम्बुजं चाष्टभागकम्॥ 14॥

दो भागों में पद्मक और एक अंश से कम्प की वैशिष्ट्य रचना करे, छह भाग का कर्णविस्तार और आठ भाग से अम्बुज बनाए।

क्षेपणं चार्धभागेन युक्त्या तत्र प्रयोजयेत्।
अलिन्दान्तरितं ह्यंशं तदर्धं वा तदर्धकम्॥ 15॥

वहाँ युक्तिपूर्वक आधे भाग का क्षेपण करे। अलिन्द का अन्तरित अंश उसका आधा या उसके आधे का भी आधा कल्पित करना चाहिए।

वाजनं कर्णविस्तारसमं वाऽधिकमानकम्।
त्रिभागेन युतं कम्पं कपोतं प्रतिवाजनम्॥ 16॥

इसी प्रकार वाजन के लिए कर्णविस्तार बराबर मान का या कुछ अधिक प्रमाण का कल्पित करे। तीन भाग प्रमाण से कम्प, कपोत और प्रतिवाजन होना चाहिए।

भागद्वयेन पद्मं तु वाजनं चार्धभागिकम्।
बाह्यवाजनमेकेन कम्पं पद्मं गलं तु वा॥ 17॥

पुनः दो भाग से पद्म और उसका आधा वाजन का प्रमाण करे। इसके बाहर एक वाजन, कम्प, पद्म या गल की रचना करनी चाहिए।

चतुःपञ्चषड्भागेन मत्स्यहंसशुकादिकम्।
लतादिकं वा संयोज्यं प्रत्यङ्गं मानसंयुतम्॥ 18॥

इसके उपरान्त चार, पाँच या छह भाग से अधिष्ठान पर मत्स्य, हंस, शुकादि बनाए। वहाँ पर लतादि का संयोजन करे और प्रत्यंग को मान सहित बनाए।

वृद्धिहीनं क्वचित्कार्यं तद्विहीनं तथा क्वचित्।
कुमुदं पद्मकं पट्टमूर्ध्वपट्टं च नेत्रकम्॥ 19॥

वेदभागं भूतभागं रविभागं क्वचित्स्थले।
समसूत्रप्रमाणेन संयुतं परिकल्पयेत्॥ 20॥[१]

किसी प्रत्यंग को वृद्धि से रहित या बढ़ाए बिना ही बनाए तथा कुछ को वृद्धिहीन किए बिना ही बनाए। कुमुद, पद्मक, पट्ट, ऊर्ध्वपट्ट और नेत्र को चार भाग, पाँच भाग और कहीं पर बारह भाग से भी बनाया जाए। इस प्रकार समसूत्र के प्रमाण को लेकर ही इनकी परिकल्पना की जानी चाहिए।

एवं क्षेपणभेदेन भागकल्पनभेदतः।
सा शैली कथिता प्रायः सप्त वाऽऽनन्दकारिणी॥ 21॥

इस तरह से क्षेपणभेद से और भागकल्पनभेद से जो शैली होती है, उसे प्रायः सप्त अथवा आनन्दकारिणी शैली कहा जाता है।

अन्यदप्याह —

शिलायामुपपीठेषु कवाटद्वारकल्पने।
गवाक्षस्थलडोलासु तिर्यग्दारुकलापिषु॥ 22॥

शिला के उपपीठ में कपाट, द्वार को परिकल्पित करना चाहिए। इसी प्रकार वहाँ स्थलगत डोला-झूलों और गवाक्ष-झरोखों के आड़े-तिरछे काष्ठकलापि या मयूरादि को बनाए।

सोपानेष्वपि खट्वेषु पीठस्तम्भादिकर्मसु।

---

१. तथा च टीकायाम्— किञ्चैतादृशादिपट्टिकाया उपरि तद्गलान्तकं कल्पितं स्थलं अष्टत्रिंशद्भागेन विरचय्य तस्या मेदिनीपट्टिकाया उपरि द्विभागेन पद्मरचनामेकभागेन कम्परचनां तक्षयेदित्यर्थः। एवं तस्य कम्पस्योपरि षड्भागेन तलकर्णमष्टभागेनाम्बुजं, तदुपर्यर्धभागेन क्षेपणं, सार्धद्वयेन भागेनालिन्दमन्तरितं, त्रिभागेन वाजनं, त्रिभागेन वा किञ्चिदधिकप्रमाणेन वा कर्णविस्तारं प्रकल्प्य, तदुपरि भागत्रयेण कम्पं, तदुपरि भागत्रयेण कपोतं, तदुपरि भागत्रयेण प्रतिवाजनं, तदुपरि भागद्वयेन पद्ममर्धभागेन वाजनं, तदुपर्येकेन भागेन बाह्यवाजनं, तदुपर्येकेन भागेन कम्पं वा पद्मं वा गलञ्च क्षेपयेदित्यर्थः।

एवमत्र प्रतिपादितानि पद्मकम्पकर्णाम्बुजान्तरितकर्णविस्तारकपोतवाजनप्रतिवाजनादीति तु तत्तकल्पनानुगुणं टङ्कादिना कल्पनतक्षणकरणादिनैव तत्तत्स्थलसङ्केतनामान्येवं विधानि भजन्तीति भावः। शिल्पकार्यज्ञैरेवैतादृशकम्पवाजनगलान्तरितादीनां प्रमाणं तन्निमार्णनीतिश्चाचार्यपरम्परोपदेशेन पूर्वकालकल्पननिरीक्षणेन च ज्ञेयेति भावः।

एतावता प्रकारेणाष्टत्रिंशद्भागस्थलेषु क्रमेणोपर्युपरि पद्मकम्पादिकलनानन्तरमधिष्ठानललाटभागे भागचतुष्केन वा, पञ्चभागेन, षड्भागे वा हंसशुककशारिकामत्स्यादिविविधचित्र-रचनाभासुरामुपरिपट्टिका स्थापयेदित्यर्थः।

वाजकुम्भादिकार्येषु प्रोक्तेयं क्षेपणक्रिया॥

युक्त्या तत्कारयेच्छिल्पी यथाशोभं यथाबलम्॥ 23॥

यह कार्य सोपान, खाट, पीठ, स्तम्भादि के कार्य, वाज, कुम्भादि के कार्य में यही क्षेपण प्रयोजित करनी चाहिए। शिल्पी को चाहिए कि वह जहाँ जैसी शोभाजनक और जैसी बलीकृत लगें, वहाँ वैसी ही युक्तिपूर्वक उसका प्रयोग करे।

इति विश्वकर्मप्रणीते विश्वकर्मवास्तुशास्त्रे अधिष्ठानलक्षणकथनं नाम सप्तविंशोऽध्यायः॥ 27॥

इस प्रकार विश्वकर्माप्रणीत विश्वकर्मवास्तुशास्त्र में अधिष्ठान लक्षण कथन नामक सत्ताइसवाँ अध्याय पूर्ण हुआ।



अथ एकादिनवभौमगोपुरविधिकथनं नाम

अष्टाविंशाध्यायाद्द्वात्रिंशाध्यायान्ताः कुलकरूपाः॥ 28–32॥

अथ अष्टाविंशाध्यायप्रभृतिकं द्वात्रिंशाध्यायान्तं कुलकरूपं व्याख्यानसौकर्याय संयोजितम्। अत्र समग्रगोपुरलक्षणं प्रतिपादयामः —

देवालयानां भूनेतुर्भवनानां पुरामपि।

ग्रामाणामपि दुर्गाणां शालानामपि सद्मनाम्॥ 1॥

मुखद्वारेषु कर्तव्यं गोपुरं शिल्पिभिः क्रमात्।

(इस अष्ठाइस से बत्तीसवें संयुक्त अध्याय में एक से लेकर नौ तल वाले गोपुरों की विधि कही जा रही है) हरिहरादि समस्त देवालयों, चक्रवर्ती आदि कोटियों के राजाओं के प्रासादों के पुराभागों, ग्रामों, दुर्गों और वहाँ के भवनों के मुख्य द्वारों पर शिल्पीजनों को गोपुरों की रचना क्रमपूर्वक करनी चाहिए।

शैलीमानं तु संयोज्यमिह स्थपतिभिर्मतम्॥ 2॥

अनुलोमादिमानं वा मार्गविस्तारमानकम्।

कल्पनावर्गमानं वा गोपुरारम्भकर्मणि ॥ 3 ॥

यहाँ स्थपतियों द्वारा शैलीमान का संयोजन करना चाहिए— ऐसा मत है। अनुलोममान या छोटे-बड़े मानों या मार्ग के विस्तार या चौड़ाई के मान के अनुसार अथवा कल्पनावर्ग के मार्ग को स्वीकारते हुए गोपुर का कार्य आरम्भ करना चाहिए।

निश्चित्य मतिमाच्छिल्पी भूमिलम्बनमाचरेत्।
त्रिभागमादिमध्यान्तं विभज्यायाममानितम् ॥ 4 ॥

समझदार शिल्पी पर्याप्त विचार कर और भूमिलम्बन विधि को ग्रहण करे और मान के अनुसार तीन भागों में आदि-मध्य एवं अन्त को विभाजित करके आयामों का मान निकाले।

भूतलं भूमिलम्बञ्च भूनिर्माणं समाचरेत्।
मुखे मध्ये पृष्ठतले तक्षणं वाऽधितक्षणम् ॥ 5 ॥

इसके अन्तर्गत ही भूतल, भूमिलम्बन, भूनिर्माण का कार्य करना चाहिए। इसके अनन्तर मुख पर, मध्य के भाग में और पृष्ठतल या पीठ के भाग में आवश्यक तक्षण या अधितक्षण कार्य करना चाहिए।

रेखादिभिः समायुक्तमथवा बहुचित्रकम्।
मध्यालिन्दसमोपेतमथवाऽङ्गुलहीनकम् ॥ 6 ॥
एकभौमयुतं कार्यं क्वचिद्ग्रामादिषु स्थिरम्।

इत्येकभौमगोपुरलक्षणम्।

इस तक्षण के लिए आवश्यक रेखांकन किया जाए अथवा अनेकानेक प्रकार के चित्रों, मूर्तियों (शिल्पशास्त्र में मूर्तियों के लिए चित्र शब्द का प्रयोग हुआ है) का उत्कीर्णन करना चाहिए। मध्य के अलिन्द बराबर हो अथवा उनसे एक अंगुल प्रमाण कम हो सकता है। किसी भी ग्रामादि में गोपुर निर्माण करना हो तो वहाँ एक मंजिल वाले गोपुर ही बनाने चाहिए। (इस प्रकार एक तल वाले गोपुर के लक्षण कहे गए हैं)।

अथ त्रिभौमगोपुरलक्षणम् —

साधिष्ठानस्तम्भयुतं तदेवोन्नतकायकम् ॥ 7 ॥

तीन तल वाले गोपुर को अधिष्ठान और स्तम्भ युक्त बनाए और उसी के अनुरूप उसकी ऊँचाई को कल्पित करना चाहिए।

वेदिकोपरिजालाढ्यं शिखरत्रयभासुरम्।
त्रितलेन समायुक्तं कर्णनासादिमण्डितम्॥ 8॥
त्रितलं गोपुरं प्रोक्तं शिल्पविद्भिः पुरातनैः।

इसमें वेदिका के ऊपर पर्याप्त जालियाँ बनाए और उस पर तीन शिखरों की रचना करे। इसको तीन तलों से युक्त करे और कर्णनासादि के साथ मण्डित करना चाहिए। इस प्रकार से बने हुए गोपुर को प्राचीन शिल्पविदों ने त्रितल गोपुर कहा है।

ग्रामे देवालये स्थाप्यं ग्रामद्वारे विशेषतः॥ 9॥
मठमण्टपमुख्यस्य कल्पनस्य पुरःस्थले।

इति त्रिभौमगोपुरलक्षणम्।

किसी भी ग्राम में अथवा देवालय में, विशेष रूप से ग्रामद्वार पर इसका निर्माण करे। इसी प्रकार मठ, मण्डप के मुख्यद्वार और पुर-नगर के स्थलों पर भी ऐसे तीन तल वाले गोपुर नियोजित किए जा सकते हैं। (इस प्रकार तीन तल वाले गोपुर के लक्षण कहे गए हैं)।

अथ पञ्चभौमगोपुरलक्षणम् —

ससोपानं चतुर्थादिभौमकल्पनशोभितम्॥ 10॥

चार तल वाले गोपुर को सोपान सहित सुन्दर रूप से परिकल्पित किया जाना चाहिए।

बृहत्तलमुखोपेतं पञ्चभिश्शिखरैर्युतम्।
मध्याधिष्ठानसंयुक्तमग्रपट्टादिभूषितम्॥ 11॥

इसमें दीर्घाकार तलपीठ हो। इसका मुख्यद्वार पाँच शिखरों वाला हो। इसमें मध्याधिष्ठान भी हो और इसे आगे की ओर से पट्टादि से विभूषित करना चाहिए।

अलिन्दद्वयभाग्यान्तं सपादं वा विपादकम्।
देवीनां भवनद्वारे देवानां च पुरामपि॥ 12॥

दो भागों के अन्त में अलिन्द बने हो जो स्तम्भों से युक्त या वियुक्त हो सकते हैं। ये गोपुर देवियों के प्रासाद या देवताओं के आलय सहित पुरों के द्वारों पर निर्मित किए जा सकते हैं।

भूपालभवनद्वारे दुर्गाणां च मुखस्थले।
ग्रामाणां च मुखद्वारे कल्पनीयं विशेषतः॥ 13॥

इसी प्रकार राजा के महल के द्वार या दुर्ग के मुख्यद्वार और ग्रामों के मुख्यद्वार पर भी ऐसे गोपुरों की रचना विशेष रूप से की जा सकती है।

बहुतोरणसंयुक्तं तलदेवादिभूषितम्।
तलस्तम्भयुतं वापि कल्पयेत्पञ्चभूमिकम्॥ 14॥
गोपुरं शिल्पवित्प्राज्ञो यथाशोभं यथाबलम्।

इति पञ्चभौमगोपुरलक्षणम्।

इनको अनेक तोरणों से युक्त करे और तलगत अलंकरण में देवताओं के स्वरूपों को उत्कीर्ण करे। ये तलस्तम्भ युक्त हो और पाँच मंजिलों तक ऊँचे हो। इस प्रकार के गोपुर के लिए शिल्पी को सुशोभनीय यथाशक्ति उसकी रचना करनी चाहिए।

अथ सप्तभौमनवभौमगोपुरलक्षणम् —

तदेवात्युन्नततलं वैशाल्यादिसमन्वितम्॥ 15॥
अलिन्दस्तम्भसंयुक्तं तलस्तम्भैश्च धारितम्।
द्वारद्वयं द्वारपट्टद्वयेन परिशोभितम्॥ 16॥

सात और नौ तल के गोपुर के लिए पूर्वोक्त रीति के अनुसार ही ऊँचे तल और विशाल क्षेत्र को कल्पित करे। इसके लिए स्तम्भ युक्त अलिन्द बनाएँ और तलस्तम्भों को धारण किए दो द्वार रखें जो कि दो-दो पट्टों से शोभित होने चाहिए।

मध्याङ्गणद्वययुतं देहलीवेदिकायुतम्।
तत्र सोपानपङ्क्तिर्वा चित्रं वा बहुरूपकम्॥ 17॥

इनके मध्य में दो आँगन रखे जबकि इनको देहली और वेदिका से युक्त करे। इनके लिए सोपान पक्तियों की रचना करे। इन पर मूर्तियाँ या अनेक प्रकार के रेखाचित्रों की रचना की जानी चाहिए।

अधोभागे द्वारयुग्मं किन्नरीयुग्मभासुरम्।
मध्यभागे लतारूपं सगुच्छं सममेदुरम्॥ 18॥

इनके नीचे के भाग में युग्मद्वार हो जिन पर किन्नरियों के जोड़े बनाए जाए। इनका मध्य भाग लताओं से चित्रित हो जिनमें फलों के गुच्छ रसभरे उत्कीर्ण करने चाहिए।

मौलिभागे कुम्भगुच्छसरोजमुकुलान्वितम्।
तिर्यक्पट्टिकयुग्मेषु मध्ये वा पार्श्वयोस्तथा॥ 19॥

इन गोपुरों के शिरोभाग पर कुम्भगुच्छों की आकृतियाँ और खिले हुए कमलों की रचना की जाए। यहाँ दोनों आड़ी पट्टियाँ मध्य या पार्श्वशाखाओं की होनी चाहिए।

शतपत्रं पङ्कजं वा हंसाकृतिरथापि वा।
युक्त्या मनोहरं स्थाप्यं सौवर्णं राजतं तु वा॥ 20॥

इसी प्रकार वहाँ पर शतपत्र, पंकज अथवा हंसाकृतियाँ बनाए, इनको सुवर्ण या रजत से मनोहर बनाकर युक्तिपूर्वक स्थापित करना चाहिए।

द्वारपट्टिकभागेषु किङ्किणीरेखिका मताः।
द्वि-द्विभागविभक्तेषु तलेषु बहुचित्रकम्॥ 21॥

इसी प्रकार द्वारपट्टिका के भागों पर किंकिणियों का रेखांकन किया जाना चाहिए। तलों को दो-दो भागों में विभाजित करते हुए उनको अनेक प्रकार के चित्रों-मूर्तियों से मण्डित करना चाहिए।

देवरूपं स्थापनीयं नानाङ्गणमहाप्रपे।
कूटे वा क्षुद्रवलभीभागे वा पुण्यदर्शकम्॥ 22॥

विविध प्रकार के आंगन और महाप्रपा (विशाल प्याऊ) आदि पर विविध देवताओं का स्वरूप चित्रित करना चाहिए।[१] कूट अथवा छोटे वलभीभाग पर इसका निर्माण पुण्यदायी होता है।

तत्रोपरि विमानादिशिखराणि च कल्पयेत्।
कल्पनं चित्रकं वापि स्थानकं शालकं तु वा॥ 23॥

इनके ऊपर विमानों की रचना वाले शिखरों की रचना की जानी चाहिए अथवा वहाँ पर नाना प्रकार के चित्रों का उत्कीर्णन भी किया जा सकता है, ये

---

१. तत्र च शिवालयगोपुरतलेषु प्रमथगणचिह्नं, वासुदेवादिविष्णुमन्दिरगोपुरतलेषु वैष्णवदेवाख्यगरुडहनुमत्प्रमुखचिह्नं सुदर्शनशङ्खादिलक्ष्म च कृत्वा विरचय्य मध्ये मध्ये दिक्पालदेवदानवयक्षविद्याधरकिन्नर किंपुरुषगन्धर्वोरगराक्षसादि विविधरूपं सुधाबिम्बं निर्मापयेत्। इदञ्च लक्षणं द्राविडकलिङ्गशैल्योरेव। पाञ्चाल्यादि शैल्यन्तरेषु तत्र तत्राङ्गणतले क्वचिद्दिक्पालादिरूपं विरचय्य क्वचिद्दौरीप्रमुखबिम्बावलिं स्थापयेत्। इदं द्राविडशैल्यामपि क्वचिदभ्युपमतमेव। सर्वत्र शैलीनिर्माणं तु मिथः किञ्चिद्विलक्षणमेवेति मतिः— इति टीकायाम्।

स्वरूप स्थानक या शालक (आलय के अन्तर्गत) हो सकते हैं।

समञ्च विषमैर्हीनं युक्त्या मानेन तद्बुधः।
योजयेदिष्टिकाभिश्च सुधाभिरपि सिद्धये॥ 24॥

इन गोपुरों को सममान में बनाए और विषम मान से पूरी तरह रहित करे। इसी प्रकार से इनके मान का परिकल्पन करे। इनमें ईंटों का प्रयोग करे और उनकी चुनाई की अच्छी रचना के लिए सुधा (चूना, अराइश) का प्रयोग करना चाहिए।

पीतादिवर्णकलं योजयेद्वा विचक्षणः।
द्वादशाङ्गुलकं वापि चतुर्विंशतिकं तु वा॥ 25॥
पक्षयोरुभयोः पङ्क्तिं कल्पयेत्सुधयापि वा।

विचक्षण शिल्पी को चाहिए कि इनका पीले वर्ण से कलन करे या इनकी पीली कलई करनी चाहिए। इसके लिए बारह अंगुल या चौबीस अंगुल प्रमाण की दोनों ही पक्षों में चूने की पंक्तियाँ (तल सोपान) बनाए।

मध्यद्वारतलं युक्त्या कारयेत्तलमानकम्॥ 26॥
प्रतिभौममिदं कार्यं कल्पनद्वयपङ्क्तिकम्।
अश्वपादसमायुक्तं गजपादयुतं तु वा॥ 27॥

यहाँ मध्यद्वार के तल को युक्तिपूर्वक तलमान के अनुरूप बनाना चाहिए। इस तरह प्रत्येक मंजिल का कार्य किया जाना चाहिए। इसमें दो-दो पंक्तियाँ बनाई जाए जिनमें अश्वस्तर और गजस्तर का पंक्तिवार नियोजन भी होना चाहिए।

सकवाटं जलस्रावयोग्यं सर्वतलं मतम्।
प्रकल्पयेद्दृढं शिल्पी यथाशोभं यथाबलम्॥ 28॥

इनमें सभी तलों पर किंवाड़ और परनालों की व्यवस्था की जानी चाहिए। शिल्पियों को चाहिए कि इनको सुदृढ़ बनाए और जिस प्रकार शोभास्पद हो, वैसे कार्यार्थ बल का प्रयोग करना चाहिए।

सप्तभौमं गोपुरं वा नवभौमयुतं तु वा।
देवालये पुरद्वारे क्वचिदन्यत्र वा बुधः।
विशालमार्गमिलितं स्थापयेत्क्षेमसिद्धये॥ 29॥

इस प्रकार के सात तल वाले गोपुर अथवा नौ तल वाले गोपुरों की रचना ज्ञानी शिल्पियों को देवालय, पुर के द्वार और अन्य कहीं भी करनी चाहिए। जहाँ

पर चौड़े रास्ते मिलते हों, वहाँ पर गोपुर को कल्याण की सिद्धि के लिए स्थापित करना चाहिए।

इति विश्वकर्मप्रणीते विश्वकर्मवास्तुशास्त्रे एकादिनवभौमगोपुर विधिकथनं अष्टाविंशाध्यायादि द्वात्रिंशाध्यायान्ताः ॥ 28-33 ॥

इस प्रकार विश्वकर्माप्रणीत विश्वकर्मवास्तुशास्त्र में एक से लेकर नौ तल वाले गोपुर के लिए विधि कथन नामक अठाईस से लेकर बत्तीस तक के अध्याय पूर्ण हुए।



अथ वापीलक्षणकथनं नाम

त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ 33 ॥

अथास्मिंस्त्रयस्त्रिंशाध्याये ग्रामनगरराजभवनादिषु तत्र तत्र कल्पनीयवापी दीर्घिकयोः

कल्पनप्रकारमाह—

यत्र स्वादुजलस्रावः सन्ततं स्थितिभाग्भवेत्।
परीक्ष्य तत्र कर्तव्यं वापीकूपादिकं मतम्॥ 1 ॥

(अब बावड़ी जैसे जलस्रोत के लक्षण कहते हैं) जिस स्थान पर मीठे पानी के स्रोत हों और वे लगातार बने रहते हों, ऐसे स्थल की परीक्षा करके वहाँ पर बावड़ी, कूप आदि का निर्माण करना चाहिए।[१]

---

१. अपराजितपृच्छा में दस प्रकार के कूप, चार प्रकार की बावड़ियों, चार प्रकार के कुण्ड-दीर्घिका और छह प्रकार के तलाबों का वर्णन आया है। इनमें कूप के लक्षण— श्रीमुखो विजयः प्रान्तो दुन्दुभिश्च मनोहरः। चूडामणिश्च दिग्भद्रो जयो नन्दश्च शङ्करः॥ चतुर्हस्तादितो वृद्धिर्यावद्धस्तास्त्रयोदशम्। श्रीमुखाद्याः शङ्करान्ता दश कूपाः प्रकीर्तिताः॥ चतुर्हस्तः श्रीमुखः स्याद् विजयः पञ्चहस्तकः। षड्भिर्हस्तैर्भवेत् प्रान्तो दुन्दुभिः सप्तहस्तकः॥ मनोहरश्चाष्टहस्तश्चूडा- मणिर्नवकरः। दिग्भद्रो दशहस्तश्च ह्येकादशकरो जयः॥ नन्दे च द्वादशकराः शङ्करे च त्रयोदश। एवमादिगुणापेतो वृत्तकूपा दशोत्तमाः॥ शेषास्तु कूपिका वत्स त्रिहस्ताश्चादिमादधः। द्विहस्ता वै प्रशस्ताश्च कर्तव्याः सर्वकामदाः॥ (अपराजितपृच्छा 74, 3-8)

इसी प्रकार नन्दा, भद्रा, जया और विजया बावड़ियों का वर्णन इस प्रकार आया है— नन्दा भद्रा जया चैव चतुर्थी विजया तथा। एकवक्त्रा त्रिकूटा च नन्दा नाम वरप्रदा॥ द्विवक्त्रा च

भूपालादिधनिकभवनादिषु कल्पनीयदीर्घिकाख्याया वाप्या लक्षणमत्र विशिनष्टि-

चतुरश्रां वर्तुलां वा दीर्घां वा तां प्रकल्पयेत्।
त्रिदण्डं वा चतुर्दण्डं पञ्चदण्डमथापि वा॥ 2॥
षडादिदशदण्डान्तं प्रमाणमिह योजयेत्।
चतुर्मुखां वा द्विमुखां क्वचिदेकमुखां तु वा॥ 3॥

(इन कूप-बावड़ियों के आकारगत लक्षणों को कहते हैं) इनको 1. चतुरस्र, 2. वर्तुल और 3. दीर्घ या लम्बाकार परिकल्पित करना चाहिए। ये तीन दण्ड, चार दण्ड, पाँच दण्ड, छह दण्ड से लेकर दस दण्ड प्रमाण तक निर्मित किए जा सकते हैं। इनको आधार तल पर चतुर्मुख, द्विमुखी और कहीं-कहीं एकमुखी भी बना सकते हैं।

किञ्चास्याः वापीकल्पनभित्तेः —

दशहस्तप्रमाणं वाऽधिकं वा तलमध्यभाक्।
भित्तिकल्पनमत्रोक्तमैष्टिकं शैलकं तु वा॥ 4॥

इन वापी-कूपों का तल मध्य दस हाथ प्रमाण के बराबर होता है अथवा इससे अधिक हाथ प्रमाण भी हो सकता है। इनकी भित्तियों को ईंटों से अथवा पाषाण से निर्मित करना चाहिए। (इसमें अच्छी प्रकार से पके हुए चूने का प्रयोग करते हुए चुनाई की जानी चाहिए)।

जलसमीपे विहरणार्थं अङ्गणकल्पनम् —

जालान्तिकेऽङ्गणं कल्प्यमाद्यमेतदुदीरितम्।
द्वितीयाङ्गणकं वापि तृतीयाङ्गणकं तु वा॥ 5॥

इसके अधोभाग के लिए भूमिलम्बनकरण के बाद जल के समीप ही विहार के लिए चौकोर और दो या एक भाग का आँगन परिकल्पित किया जाना चाहिए। (इसमें जो नीचे का होता है, वह पहला आँगन है) उसके ऊपर के भाग में दूसरा आँगन बनाए और पुनः उसके ऊपर तीसरा आँगन भी परिकल्पित किया जा सकता है।

सपादं वा विपादं वा युक्त्या स्थापनमीरितम्।
कल्पनं दार्ढ्यसंयुक्तं पादसोपानमञ्जुलम्॥ 6॥

षट्कूटा भद्रा नाम सुशोभिता। त्रिवक्त्रा नवकूटा च जया वै देवदुर्लभा॥ चतुर्वक्त्रा सूर्यकूटा विजया सर्वतोमुखी। वाप्यश्च कथिता वत्स कुण्डानि शृणु सम्प्रति॥ (तत्रैव 74, 9-11)

मुखमण्टपयुक्तं वा कवाटादिसमन्वितम्।

ये चौक स्तम्भों से युक्त या स्तम्भों से रहित हो सकता है किन्तु उनको बहुत युक्ति के साथ स्थापित किए जाने चाहिए। इनके सुन्दर सोपान दृढ़ता के साथ स्थापित किए जाने चाहिए। इनके लिए मुखमण्डप बनाए जाने चाहिए। यथावश्यकता इनको किवाड़ों से युक्त भी किया जा सकता है।

वाप्यां करणीयसोपानक्रममुदाहरति —

वाप्यां वर्तुलरूपायां भुजङ्गावेष्टनाकृति ॥ 7 ॥
पङ्क्तिं दृढां वा रचयेदथवा सूत्रपङ्क्तिकम्।
चतुर्विंशत्यङ्गुलेव विहीनं नेष्यते बुधैः ॥ 8 ॥

यदि बावड़ी को गोलाई से युक्त बनाया जाता है तो उसमें जल के सतह तक पहुँचने के लिए भित्ति के साथ-साथ सर्पाकार, मुड़ती हुई सीढ़ियाँ बनाई जानी चाहिए। इस सोपान पङ्क्तियों को मजबूती के साथ बनाए। इसके लिए सूत्रपङ्क्ति रखनी चाहिए अर्थात् इनको सूत्रपंक्ति नामक एकहस्त, द्विहस्त, वाले क्रमशः नीचे की ओर जाती हुई सोपान की कतारें बनाई जाए। ज्ञानियों का मत है कि वापी में कभी सोपान का आकार चौबीस अंगुल से कम नहीं रखना चाहिए।

तत्र घटीयन्त्रस्थापननिर्देशमाह —

घटीयन्त्रस्थलं तीरे रचयेत्साङ्गणं बुधः।
अवगाहतलोपेतद्वारकिन्नररूपकम्॥
कल्पनं देवमूर्तीनामथवा सम्प्रयोजयेत्॥ 9 ॥

बावड़ियों पर जलोत्थान के लिए रहट का प्रयोग करना चाहिए और इसको स्थापित करने के लिए बावड़ी, कूप के तीर-तल पर आँगन (दाबड़ा) बनाना चाहिए। इसके अतिरिक्त गहरे जल के तल तक द्वार बनाए। वह किन्नर के रूप का होना चाहिए अर्थात् उन सीढ़ियों में जगह-जगह किन्नर-मिथुनों की मूर्तियाँ बनाई जाए। कहीं-कहीं वरुण देवादि की मूर्तियाँ भी हों अथवा अन्य पूज्य, दर्शनीय देवताओं के बिम्बों का प्रयोग भी किया जा सकता है।[१]

---

१. अपराजितपृच्छा में कुण्डादि जलस्रोतों की रचना और उनमें स्थापनीय देवताओं के सम्बन्ध में कहा गया है— चतुर्द्वाराणि सर्वाणि सगवाक्षाणि मध्यतः। गवाक्षमस्तकान्येवं प्रवेशो वामदक्षिणे॥ प्रवेशा निर्गमास्तत्र विधातव्या ह्यनेकधा। कर्णे चतुष्किकाः कार्यास्त्वङ्गपट्टशालिकाः॥ मध्ये भिट्टं तु कर्त्तव्यं माडं च तद्धि श्रीधरम्। तन्मध्ये जलशायी

इति विश्वकर्मप्रणीते विश्वकर्मवास्तुशास्त्रे वापीलक्षणकथनं नाम त्रयस्त्रिंशोऽध्याय: ॥33 ॥

इस प्रकार विश्वकर्माप्रणीत विश्वकर्मवास्तुशास्त्र में वापीलक्षण कथन नामक तैंतीसवाँ अध्याय पूर्ण हुआ।



स्याद् वाराहो वा तथोच्यते॥ भद्रे चैकादश रुद्रा: प्रशस्ता द्वारके तथा। दुर्वासा नारदश्चैव विविधा गणनायका: ॥ क्षेत्रपालो भैरवश्च तथा चोमामहेश्वर:। कृष्णशङ्कर: कर्तव्या दण्डपाणिर्विशेषत: ॥ कात्यायनी चण्डिका च भल्लस्वामी च भास्कर:। हरिहरपितामहश्चन्द्रादित्यपितामह: ॥ हरिहरस्वर्णगर्भ: पट्टशाला वाराणसी। (अपराजित. 74, 14-20)

यहाँ घटीयन्त्र से आशय रहट है। इसमें सारदारु की रस्सी बनाकर उनमें मिट्टी की घटिकाएँ लगाई जाती हैं, चक्रविधि से इनको संचालित किया जाता है और ये सतह से जल से भरी हुई ऊपर उठती है और खाली करती हुई क्रमश: पुन: नीचे जाती हुई जलपूरित होकर ऊपर उठती है। इस जलयन्त्र या अरहट, रहट के सम्बन्ध में अपराजितपृच्छा में कहा गया है—पदैर्द्वादशभिर्वास्तु योजयेज्जलयन्त्रके। पदस्थाने तथा देवान् पश्चात् कर्म समाचरेत्॥ कृते सप्तपदे क्षेत्रे ब्राह्मभद्रं पदत्रये। विंशतिस्तम्भसम्युक्तं पदिका स्तम्भशालिका॥ मध्ये चतुष्किका कार्या ब्रह्मण: पदमाश्रिता। वेदिकास्तत्र कर्तव्याश्चतुर्विंशतिपाद्युता: ॥ वास्तुं प्रपूजयेत्प्राज्ञो जलयन्त्रोचितं तथा। षोडशाङ्घ्रिसमायुक्तमन्यथा दोषकृद् भवेत्॥ चतुरश्रं समं क्षेत्रं स्तम्भैर्द्वादशभिर्युतम्। पद्माकृति शुभं मध्ये जलयन्त्रं तु सुव्रत॥ अनभावृष्टि: कर्तव्या आयुवास्तुसमन्वितम ?। नानाविचित्ररूपाणि चतुर्दिक्षु प्रकल्पयेत्॥ चतरश्रीकृते क्षेत्र सप्तभागविभाजिते। भद्राणि त्रिपदानि स्यु: कोणे कूपाश्च कारेयत्॥ विषमा: कूपिका: कार्या: समा वै दोषदास्तथा। यन्त्रतो द्विगुणोच्छ्रायं त्रिगुणं च तथायते॥ अधस्तात्तु पुनर्मध्ये धाराख्यं मण्डपं शुभम्। स्तम्भैर्द्वादशभिर्युक्तमेकेन कलशेन च॥ चतुष्किाश्चतुर्दिक्षु द्वौ द्वौ स्तम्भौ च कल्पयेत्। करोटकं समायुक्तं कलशैश्चैकषष्टिभि:॥ रथिकाकूटघण्टाभि: सुवृत्तं शुक्रनासकै:। भ्रमश्च दर्शयत्तोयं विचित्रैर्मणिकुट्टिमै:॥ तद्बाह्यतस्तु प्राकारं कपिशीर्षविवर्जितम्। हट्टयन्त्रसमाकीर्णं सजलै: सारणैर्युतम्॥ परिखा तत्र बाह्ये तु सप्तहस्तप्रमाणत:। काननं त्वेवमाख्यातं नृपाणां क्रीडनार्थकम्॥ ग्रीष्मे क्रीडां प्रकुर्वन्ति नृपा नरसमन्विता:। धडालीनां च मध्यस्थं प्रविष क्रीडमानसै: ॥ दर्शयन्ति विचित्राणि रूपाणि चेव मूर्ध्वत:। सर्वाङ्गश्रोतस: सन्धौ वृष्टिं कुर्वन्ति मेघवत्॥ अवृष्टिगर्जिता: शब्दा विद्युदुद्योतकान्विता:। एवमायासतो ग्रीष्मे पर्यटन्ति नृपा मुदा॥ वस्त्रालङ्कारकैर्यैस्तु प्रविशन्त्युदकेषु च। तत्सर्वं सूत्रधारेषु दातव्यं तु मुदान्वितै: ॥ अन्येषां राजप्रासादे ग्रामं दद्यात् स्वराष्ट्रके। कृत्वा क्रीडां नृपश्चेत्थं वासन्ते च महोत्सवे॥ (तत्रैव 74, 1-18)

अथ तटाकलक्षणकथनं नाम

चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ 34 ॥

अथास्मिंश्चतुस्त्रिंशाध्याये तटाकनिर्माणप्रकारं प्रतिपादयितुमादौ तन्निर्माणफलं-व्यनक्ति —

तटाककल्पनाच्छ्रेयः प्राणिनां च सुखं मतम्।
तस्मात्तत्कल्पयेद्धीमान्ग्राममध्ये शुभस्थले ॥ 1 ॥

(इस चौंतीसवें अध्याय में तालाब निर्माण के प्रकार को बताने के लिए पहले उसका फल कहते हैं) तटाक या तालाबों की रचना करना प्राणियों के लिए सुखकारक मानी गई है, इसलिए बुद्धिमान् पुरुष को किसी भी ग्राम के मध्य में शुभ स्थल पर तालाब बनाना चाहिए।

मार्गस्य मध्यभागे च वास्तुभूमौ विशेषतः।
सततं स्वादुसलिलस्त्रावो यत्र च दृश्यते ॥ 2 ॥

किसी मार्ग के मध्य भाग में जहाँ वास्तुभूमि हो और जहाँ सतत पेयजल का स्रोत हो या जहाँ पर पानी की आवश्यक हो, वहाँ पर तालाब बनाना चाहिए।

अथ तटाकस्य प्रमाणादिकमाह —

अन्तःकूपसमायुक्तं दक्षिणोत्तरदैर्घ्यकम्।
वरुणेन्द्रदिशाभागस्थापि वा स्थलयोग्यकम् ॥ 3 ॥
तटाकनाम्ना भणितं महत्खातं हितप्रदम्।
निष्पङ्कगाधसलिलं पूरयेद्वा क्वचित्स्थलम् ॥ 4 ॥

जिनके अन्तःकूप हो और लम्बाई दक्षिण से उत्तर की ओर हो अथवा पश्चिम से पूर्व दिशा की ओर विस्तार हो अथवा जहाँ भी योग्य स्थल हो, वहाँ पर बड़े क्षेत्र में खुदाई कर बनाए गए तालाब हितप्रदायक होते हैं। कहीं पर भी तालाब हो, उनमें कीचड़, गन्दगी रहित शुद्ध जल भरा होना चाहिए।

जलनिर्गमनोपेतभागमायनसंवृतम्।
भान्वङ्गुलोन्नता पङ्क्तिर्द्विगुणायतिका मता ॥ 5 ॥

इन तालाबों को जल के निर्गम मार्गों या निकास योग्य प्रवाह मार्गों से युक्त बनाया जाना चाहिए। ये निर्गम मार्ग बारह अंगुल ऊँचे और उनकी शृंखलाएँ इस

प्रमाण की दोगुनी कल्पित की जानी चाहिए।

मध्य महापङ्क्तियुक्तमृजुसूत्रं च निश्चलम्।
तीरमण्टपसंयुक्तं तीरवृक्षैश्च शोभितम्॥ 6 ॥

इनके निर्गमों के मध्य में महापंक्ति युक्त निश्चल स्थल ऋजुसूत्र से हों (अर्थात् इन तालाबों के बारह या चौबीस अंगुल चौड़े सीढ़ियों वाले घाटों की रचना की जाए। इनके बीच-बीच में विश्राम के लिए चौड़े खुले स्थल, हथाइयाँ बनाई जाए जहाँ पर तालाब पर आने वाले व्यक्ति अपने वस्त्रादि सामग्री को रख सकें, विश्राम भी कर सके)। ऐसी महापंक्ति सीढ़ियों की कतार के तीर पर मण्डप भी बनाए। तट पर सुन्दर शोभाकारक वृक्षों को लगाया जाना चाहिए।

जलमण्टपसंयुक्ता क्वचित्कार्योत्तमे (स्थले)।
दैवे तटाके तत्कल्प्यं विमानशिखरोज्ज्वलम्॥ 7 ॥

कहीं-कहीं जल के मध्य में मण्डप बनाए जाकर उत्तम स्थलों का कार्य सम्पादित किया जाना चाहिए। इन में जलाशय के देवताओं के लिए उज्ज्वल शिखरों वाले विमान, मन्दिरों की रचना की जा सकती है।

खण्डपङ्क्तिः क्वचित्कार्या तटाकेषु सरस्सु च।
मेदिनीपट्टिकोपेता जलं सर्वत्र कल्पयेत्॥ 8 ॥

कहीं-कहीं तालाब या सरोवर में खण्डपंक्ति की सीढ़ियाँ, अलग-अलग पंक्ति वाले सोपान कल्पित किए जाने चाहिए। तलैयों में भी ऐसी खण्ड सीढ़ियाँ बनाए। इसी प्रकार वहाँ मेदिनीपट्टिका या भूमि की पट्टी के साथ भी तालाब या सरोवर की सर्वत्र रचना की जानी चाहिए।

कल्पितेषु सर्वत्र सोपानमार्गेषु शोभार्थं चित्ररचनाप्रकारमाह —

रेखारूपं मीनरूपं लतारूपञ्च तक्षयेत्।
भूर्जपत्रक्षेपणं वा नानाङ्गणसमन्वितम्॥ 9 ॥

तालाब की सीढ़ियों की शोभा के लिए इन पर यत्र-तत्र रेखाओं में रूपक या चित्रविधि से मत्स्य की मूर्तियाँ, लताओं या बेलबूँटों का उत्कीर्णन किया जाना चाहिए। इसी प्रकार भोजपत्रों के चित्र, नाना आँगन की सीढ़ियों में बनाए जाए।

वानरक्रीडनं वापि तक्षयेत्सुमनोहरम्।
क्वचिदष्टमुखोपेतं तटाकं बहुपङ्क्तिकम्।

स्थापयेन्नृपतिर्देशे प्राणिनां सुखदायकम् ॥ 10 ॥

इसी प्रकार कहीं-कहीं चित्रों में भास्कर्य के लिए वानरक्रीड़ा को भी मनोहर रूप में तक्षित किया जाना चाहिए। कहीं-कहीं आठ मुखों वाले तालाब अनेक पंक्तियों वाले हो सकते हैं। राजा को अपने देश में प्राणियों के सुख के उद्देश्य से इस प्रकार के तलाबों का निर्माण और उनकी प्रतिष्ठा करनी चाहिए।[१]

इति विश्वकर्मप्रणीते विश्वकर्मवास्तुशास्त्रे तटाकलक्षणकथनं नाम चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ 34 ॥

इस प्रकार विश्वकर्माप्रणीत विश्वकर्मवास्तुशास्त्र में तटाक या जलाशय लक्षण कथन नामक चौंतीसवाँ अध्याय पूर्ण हुआ।



अथ नृपदेवालयविधानपूर्वमण्टपविधानकथनं नाम

पञ्चत्रिंशषट्त्रिंत्रोऽध्यायश्च ॥ 35–36 ॥

अथ चक्रवर्त्यादिक्षत्रियभवनेषु कल्पनीयकुलदेवालय लक्षणं, तस्य तु पुरोभागे कल्पनीयपूर्वमण्टपविधानक्रमपञ्चोपपादयति पञ्चत्रिंशत्षट्त्रिंशदात्मकेनाध्याय-द्वयेन —

भूपहर्म्यस्य वायव्यामैशान्यां वा विशेषतः ।
कुलदेवालयः स्थाप्यो जय-सन्तानसिद्धये ॥ 1 ॥

(इस संयुक्ताध्याय में राजाओं के भवन में देवालयों के निर्माण के लक्षण कहे

---

१. अपराजितपृच्छा में सर, महासर, भद्रक, सुभद्र, परिघ, युग्मपरिघ इस प्रकार के छह तड़ागों का वर्णन आया है— सरो महासरश्चैव भद्रकं च तृतीयकम्। चतुर्थ यन्मया प्रोक्तं सुभद्राख्यं तदुच्यते ॥ परिघं युग्मपरिघं तडागं षड्विधं स्मृतम्। बकैकस्थलं परिघं युग्मपरिघं तद् द्वितः ॥ अर्धचन्द्रः सरः प्रोक्तं वृत्ताकारं महासरः। भद्रकं चतुरश्रं स्यात् सुभद्रं भद्रसंयुतम् ॥ दण्डसहस्रकं ज्येष्ठं मध्यमं च तदर्धकम्। मध्यमार्ध कनिष्ठं च त्रिविधं पालिदैर्ध्यतः ॥ पञ्चाश-द्धस्तकैर्ज्येष्ठं मध्यमं च तदर्धकम्। कनिष्ठं द्वादशकरः पालिमानं च विस्तरे ॥ वापीकूपतडागानि नैकश उदगाश्रयाः। जलाश्रयं च सम्पाद्य कुर्यात् पुण्यं महोत्सवम् ॥ यस्य गोपदमात्रं तु ह्युदकं धारयेन्मही। वर्षषष्टिसहस्राणि शिवलोकं स गच्छति ॥ (अपराजित. 74, 32-38)

जा रहे हैं) राजप्रासादों में विशेष रूप से वायव्य कोण में या ईशान कोण में कुलदेवता के लिए मन्दिर की रचना की जानी चाहिए। इसके निर्माण से विजय और सन्तान की प्राप्ति होती है।

अथ एतादृशशुभफलदातुः तद्देवालयस्य कियद्वा प्रमाणम् ? कथं वा कल्पनादिकं ? इति चेत्तद्विवृणोति —

विंशद्दण्डकमारभ्य द्वि-द्विदण्डविवर्धनात्।
पञ्चाशद्दण्डकान्तं तत्प्रमाणं मुनिभाषितम्॥ 2॥

कुल देवता के प्रसाद का निर्माण कम से कम बीस राजदण्ड प्रमाण से आरम्भ करे। दो-दो राजदण्ड प्रमाण को बढ़ाते हुए पचास राजदण्ड प्रमाण तक भी इनका निर्माण किया जा सकता है, जैसा कि मुनियों का वचन है अर्थात् 20, 22, 24, 26, 28, 30, 32, 34, 36, 38, 40, 42, 44, 46, 48 एवं 50 राजदण्ड विस्तार से देवालयों का निर्माण करवाए। इस प्रकार से देवालय के सोलह आयाम-दैर्घ्य प्रमाण कहे गए हैं।

अस्य तु नृपदेवालस्य मुखद्वारमाह —

प्राकारसंयुतः प्रायः पूर्व-पश्चिमवक्त्रकः।
पार्श्वशालासमायुक्तो गोपुरेण च भासुरः॥ 3॥

इन देवालयों को परकोटा सहित बनाए और इनको पूर्वाभिमुख या पश्चिमाभिमुख बनाया जाना चाहिए। इसी प्रकार इनके पास में शाला बनाए और इनके लिए गोपुर की रचना की जानी चाहिए।

दशहस्तोच्छ्राययुतगर्भगेहेन भासुरः।
विमानशिखरोपेतश्छत्रखड्गादिचिह्नितः॥ 4॥

ऐसे देवालय के लिए दस हस्त प्रमाण से गर्भगृह की भित्तियों की ऊँचाई रखनी चाहिए। उस प्रासाद पर शिखर की रचना करे। उसको (देवता के लक्षणानुसार ही) छत्र, खड्ग आदि चिह्नों को बनाना चाहिए।

राजकुलदेवतां महाकाल्यालयचिह्नादीनां —

खड्गवेदी पुरः स्थाप्या यदि कालीनिवेशनम्।
तत्पुरः सा प्रकर्तव्या शान्तिकुम्भसमन्विता॥ 5॥

यदि उक्त देवालय काली या महाकाली का हो तो उसके आगे के भाग में खड्गवेदी या चबूतरा स्थापित किया जाना चाहिए (जैसा कि देवीमन्दिरों में त्रिशूल

वेदिका होती है)। उस देवी काली को शान्तिकुम्भ सहित बनाना चाहिए।

सौवर्णद्वारयुगलं तन्मध्ये देहलीतलम्।
साक्षिवेदीकल्पनं तु तत्रत्यं क्षत्रमङ्गलम्॥ 6॥

उक्त देवी मन्दिर के लिए सुवर्ण से निर्मित दो द्वार हों और उनके बीच में देहलीतल की रचना की जानी चाहिए। इसी प्रकार वहाँ देवी के सम्मुख साक्षीवेदी (होम के लिए पाँच कुण्डों सहित रचना) बनाए जहाँ पर बैठकर राजा-रानी अपने क्षात्रधर्म के मङ्गल की कामना कर सके।

एवं नवरत्नादिविभूषितं सर्वालङ्कारसंयुतं वेदिकातलं प्रकल्प्य तस्या वेदिकायाः कुलदेवतायाश्च प्रदक्षिणमार्गशालकं च तत्रैव स्थापयेत् —

सर्वालङ्कारसंयुक्तं नवरत्नविभूषितम्।
प्रदक्षिणायनयुतं काल्या वा भैरवस्य वा॥ 7॥
मूलस्थानं च रचयेत्सुमुहूर्ते शुभेऽहनि।

सभी अलंकरणों से संयुक्त, नौ प्रकार के रत्नों से विभूषित और प्रदक्षिणायन सहित कालीदेवी अथवा भैरव के मूलस्थान की रचना शुभ दिन और शुभ मुहूर्त देखकर की जानी चाहिए।

ब्राह्मणांस्तोषयेद्गोभूहिरण्याद्यैर्यथाक्रमम्॥ 8॥
अष्टोत्तराहुतीर्हुत्वा शान्तिञ्च जुहुयात्ततः।

इस अवसर पर ब्राह्मणों को सन्तुष्ट करने के लिए यथाक्रम गाय, भूमि, स्वर्ण आदि का दान किया जाना चाहिए। इसी अवसर पर वहाँ हवन में 108 आहुतियाँ प्रदान कर शान्तियजन करे।

तारोत्सवादिभिर्देवीं नैवेद्यैर्विविधैरपि॥ 9॥
प्रीणयेन्नृपतिः पश्चात्पूर्वमण्टकल्पनम्।

इसी प्रकार तारोत्सव आदि आयोजित कर देवी को विविध प्रकार के नैवेद्य निवेदित करने चाहिए। इस प्रकार राजा देवी को प्रसन्न करे और इसके बाद देवालय के आगे की ओर के भाग में पूर्वमण्डप को परिकल्पित करना चाहिए।

तदेव पूर्वमण्टपकल्पनं विशिनष्टि —

चतुष्पादयुतं प्रायश्चाष्टपादसमन्वितम्॥ 10॥
तदुपस्तम्भसहितं साधिष्ठानं सपीठकम्।

बाह्याभ्यन्तरशालाढ्यं कैशिकं विजयं तु वा॥ 11॥

उक्त मण्डप चार स्तम्भों वाला होना चाहिए। यह आठ स्तम्भों वाला भी कल्पित किया सकता है। इसी प्रकार इसे उपस्तम्भों और अधिष्ठान एवं पीठ सहित बनाना चाहिए। इसके बाहर और अन्दर की ओर शाला की रचना हो। यह मण्डप कैशिक या विजय संज्ञक हो सकता है।

शुकनासासमायुक्तं वलभीपटलान्वितम्।
सुन्दरं कल्पनं मध्ये तत्पुरो वाऽथ कल्पयेत्॥ 12॥

इसको शुकनासा सहित बनाए और वलभी और पटलान्वित करे। इस प्रकार के मण्डप की रचना मध्य में बहुत सुन्दर ढँग से हो, ऐसे पुर की कल्पना करनी चाहिए।

प्रतीच्यामन्नशालाञ्च क्षत्रासनसमन्वितम्।
चतुस्तोरणभूषाढ्यं कोणहीनं प्रकल्पयेत्॥ 13॥

इसके पश्चिमी भाग में अन्नशाला हो और वहीं पर राजा के विराजित होने के लिए आसन की रचना की जानी चाहिए। इसको चार तोरणों से विभूषित करे और यह ध्यान रहे कि उसमें कोने निकले हुए न हों।

अन्यदप्याह —

क्षत्रियाणां गृहे कार्यं पृथक्कालीनिवेशनम्।
सपूर्ववेदिकं क्षत्रपट्टेनापि परिष्कृतम्।
जयारोग्यसुतैश्वर्यकारणं परिकल्पयेत्॥ 14॥

क्षत्रियों या राजाओं के गृहों में पृथक् से भी कालीदेवी का निवेशन किया जा सकता है जहाँ पर कि राजपरिवार प्रतिदिन पूजन कर सके। उसके आगे वेदी वाला परिष्कृत क्षत्रपट्ट हो। इस प्रकार की रचना कर्ता के लिए विजय, आरोग्य, सन्तान और ऐश्वर्य की कारणभूत कही गई है।

इति विश्वकर्मप्रणीते विश्वकर्मवास्तुशास्त्रे नृपदेवालयविधान पूर्वमण्टपविधानकथनं नाम पञ्चत्रिंशोऽध्यायष्षट्त्रिंशोऽध्यायश्च॥ 35-36॥

इस प्रकार विश्वकर्माप्रणीत विश्वकर्मवास्तुशास्त्र में नृप-देवालय, पूर्वमण्डप विधान कथन नामक पैंतीसवाँ और छत्तीसवाँ अध्याय पूर्ण हुआ।

अथ मृगशाललक्षणनिरूपणं नाम

सप्तत्रिंशाध्यायः ॥ 37 ॥

अथ भूपालधनिकादिभवनेषु स्थापनीयाया मृगशालायाः निर्माणप्रकारं वक्तुमादौ तन्निर्माणप्रयोजनं व्यनक्ति —

बालानां बालिकानाञ्च युवतीनां विशेषतः।
शुद्धान्तसुन्दरीणाञ्च चित्तहर्षाभिवृद्धये॥ 1 ॥
कल्पनं विविधं कार्यं स्थलजात्यादिभेदतः।

(अब राजप्रासाद में पक्षीशाला के निर्माण के लक्षण कहे जाते हैं) राजा के बालकों, बालिकाओं, युवतियों, अन्तःपुर की सुन्दरियों के चित्त के हर्ष की वृद्धि के प्रयोजन से स्थल और पक्षियों के जातिभेद के अनुसार विविध प्रकार की पक्षीशालाओं का निर्माण कार्य किया जाना चाहिए।

तत्र त्रिविधिकल्पनक्रमप्रमादिकमाह —

शुकानामपि कीराणां मयूराणामपि क्वचित्॥ 2 ॥
हरिणानाञ्च वत्सानां लाल्यलीलादिनामपि।
शाला तु विविधा स्थाप्या लोहदारुसुधेष्टिकैः॥ 3 ॥

मुख्य रूप से शुक-सारिका, मयूरों, हरिण और उनके बछड़ों का लालन-पालन करते हुए उनके लीला[१], उछलकूद आदि देखने के लिए विविध प्रकार की शालाएँ लोहा, काष्ठ, चूना-ईंट आदि से स्थापित करनी चाहिए।

शुकानां पञ्जरः कुन्दा हरिणानां निगद्यते।
वत्सादीनां शालका च त्रैविध्यं मुख्यमीरितम्॥ 4 ॥

जिसमें शुकों को रखा जाता है, वे पिंजरे कहे जाते हैं। हरिणों के आवासगृहों को कुन्द, वत्सों-बछड़ों के गृह शालक कहे जाते हैं— इस प्रकार तीन तरह के मुख्य जन्तुगृह होते हैं।

---

१. पशु-पक्षियों की लीलाओं, उनके विनोद आदि का विस्तृत वर्णन अभिलषितार्थ चिन्तामणि या मानसोल्लास के तीसरे खण्ड में विस्तार से आया है।

एवमुक्तस्य त्रिविधकल्पनस्य निर्माणस्वरूपादिकमाह —

लोहदण्डं दारुदण्डं शृङ्खलान्वितमेव वा।
बहुरन्ध्रं सकटकं पञ्जरं कल्पयेद्बुधः ॥ 5 ॥

लोहदण्डों या ताणियों वाला, काष्ठ के दण्डों वाला, साँकलों-शृंखलाओं वाला अथवा बहुत से छिद्रों या जालीदार, कटकयुक्त पिंजरा भी शिल्पियों को बनाना चाहिए। (यह शुकादि पक्षियों के लिए उपयोगी है)।

लोहदण्डमयी प्रायः कुन्ददारुमयी क्वचित्।
क्वचिच्छिलात्रुटमयी सगवाक्ष सतोरणा ॥ 6 ॥

प्रायः लोहमय या काष्ठ की बाड़ वाला वाड़ा जिसे कुन्द कहा जाता है, कभी-कभी पाषाण खण्डों से भी बनाया जा सकता है। इसको गवाक्ष और तोरण सहित बनाया जाए। (यह हरिण, चीतल, साँभर आदि के लिए प्रयोजनीय होता है)।

अथ वत्सादीनां शालानिर्माणक्रममाह —

क्षुद्रशाला क्वचित्कार्या वत्सादीनां शुभे स्थले।
नानाङ्गणसमोपेतशावला वाऽथ भौमिका ॥ 7 ॥

जन्तुओं के छौनों, गोवत्सादि के लिए क्षुद्रशाला या छोटी बाड़ी शुभस्थल पर बनानी चाहिए। इसमें तरह-तरह के चौक हों अथवा भौमिकाओं का विधान रखना चाहिए।

सतोयपात्रा साधारा मध्यशृङ्खलिकान्विता।
वातायनस्थलकृता भीकरैश्च विवर्जिता ॥ 8 ॥

इन सभी प्राणियों के आवासों में पालतू पशु-पक्षियों के पीने के लिए जलपात्रों की व्यवस्था हो, ये आधार सहित हों और इनके मध्य में बाँधने के लिए साँकलों की व्यवस्था हो। इसी प्रकार इनको झरोखों सहित बनाना चाहिए जो भयोत्पादक नहीं होने चाहिए।

बहिः खेलनभूम्या वा शालया वा समेयुषी।
चतुर्दण्डाधिकौन्नत्या पटल्या च विभूषिता ॥
कल्पनान्तरमूह्यैवं स्थाप्यं शिल्पविशारदैः ॥ 9 ॥

इसके बाहर देखने और खेलने के लिए पर्याप्त स्थान रखना चाहिए। ये शालाएँ पहचानी जा सके, इसके लिए नामपट्टों का प्रबन्ध हो। ये चार राजदण्डों के प्रमाण

के बराबर ऊँची पटल्या से विभूषित हों, ऐसी छप्परवाली, अन्तरभूमि वाली शाला को शिल्प विशारदों को स्थापित करना चाहिए।

इति विश्वकर्मप्रणीते विश्वकर्मवास्तुशास्त्रे मृगशालालक्षणकथनं नाम सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥ 37 ॥

इस प्रकार विश्वकर्माप्रणीत विश्वकर्मवास्तुशास्त्र में मृगशाला लक्षण कथन नामक सैंतीसवाँ अध्याय पूर्ण हुआ।



अथ वाजिशालाहस्तिशालालक्षणनिरूपणं नाम

अष्टत्रिंशदेकोनचत्वारिंशाध्यायौ ॥ 38–39 ॥

अथ वाजिनां हस्तिनाश्च निवासयोग्यशालालक्षणकथनात्मकौ अष्टत्रिंशाध्यायैकोनचत्वारिंशाध्यायौ प्रतिपादयति —

तुरगैर्वारणैस्सैन्यैर्जयश्रीस्सुखमुत्तमम्।
वर्धते भूभुजां नित्यं प्रातरालोकनादिभिः ॥ 1 ॥

(इस अड़तीसवें-उनचालीसवें अध्याय में अश्वशाला और हस्तिशाला के लक्षणों का निरूपण किया जा रहा है) घोड़ों और हाथियों के धनी-अभ्यासी होने से सैनिकों को विजय मिलती है। इसी से सम्पदा और उत्तम सुखों की लब्धि होती है। इनसे राजा भी नित्य प्रातः आलोक की तरह वृद्धि को प्राप्त करते जाते हैं।

तस्माद्भूपतयस्सर्वे मानयेयुर्मनोहरान्।
तच्छालां पुरतः कृत्वा सायंप्रातस्यार्चयेत् ॥ 2 ॥

इसलिए सभी राजागण को मानपूर्वक इन मनोहर घुड़शालाओं और हस्तिशालाओं को अच्छी प्रकार से सजा-संवारकर सायं-प्रातः अर्चन-पूजन करना चाहिए।

तोषयेच्छालयदेतान्देवांशान्मङ्गलप्रदान्।
राज्याभिषेके जन्मर्क्षे विवाहे मृगयासु च ॥ 3 ॥

शुभकालेषु तान्सवान्हेमभूषादुकूलकैः।
गन्धादिभिरलङ्कृत्य मानयेच्छुभदायिनः॥ 4॥

राजा को चाहिए कि वह इनका लालन-पालन करे। अपने आश्रित सभी घोड़ों, हाथियों को सन्तुष्ट करे जो कि देवांश होने से मंगलप्रद कहे गए हैं। राज्याभिषेक के अवसर पर, जन्म का नक्षत्र पड़ने पर, विवाह का दिवस होने पर, आखेट के अभियान पर और शुभकाल पर उन सभी हाथी-घोड़ों को स्वर्ण के आभूषणों, दुकूल-दुपट्टे-झूल आदि से सजाया जाना चाहिए। उन्हें इत्रादि से सुगन्धित कर अलंकृत करना चाहिए। यह बहुमान शुभदायी होता है।

सा शाला द्विविधा नित्या, नैमित्तिका चेति। क्रमेणैतयो कल्पनप्रमाणदिकमाह-

नित्या नैमित्तिका चेति तच्छाला द्विविधा मता।
पुरोद्यानान्तिके प्रायो बहिरन्तःस्थलेऽथवा॥ 5॥
शुभवास्तुतले नित्यां कल्पयेदक्ष्मभिर्दृढाम्।

इन घोड़ों और हाथियों की शालाएँ दो प्रकार की होती है— 1. नित्या शाला और 2. नैमित्तिका शाला। ये प्रायः पुर के उद्यान के अन्त में बाहर या भीतर स्थापित की जाती है।[१] शुभ वास्तुस्थल पर नित्या विधि की शाला को पाषाणों की दृढ़ रचना के साथ बनाया जाता है।

अस्य विशदार्थो यथा —

शतदण्डं मध्यतलमथवाधिकमानकम्॥ 6॥

इनको सौ राजदण्ड के प्रमाण से मध्यतल सहित अथवा इससे भी अधिक मानकपूर्वक बनाया जाता है।

चतुरश्रं दीर्घरूपं चत्वरो त निगद्यते।
तन्मानकल्पनं कुर्यात्सर्वतोऽङ्गणसंयुतम्॥ 7॥

ये चौकोर रूप में, दीर्घाकार या लम्बाई वाली, चौकों से युक्त कही गई है। अतः उसके मान की कल्पना सर्वतः आंगनों से युक्त करनी चाहिए।

अथ स्थलप्रमाणमाह —

दण्डद्वयव्यासमानं कल्पनं वाजिनां मतम्।

---

१. तथा च टीकायाम्— तेषां बहूनां सततावासस्थानं नित्या शाला। नृपालयभवनादि समीपे कदाचित्समुचितेषु समयेषु आनीय स्थापनस्थानं नैमित्तिकशालेति तदर्थकमः।

द्विगुणं त्रिगुणं वाऽपि वारणानां निगद्यते ॥ 8 ॥

दो राजदण्डों के व्यासमान से घुड़शाला का प्रमाण कहा गया है। इनसे दोगुनी (चार राजदण्डों) अथवा तिगुनी (छह राजदण्डों) प्रमाण से गजशाला को कल्पित किया जाना चाहिए।

पृथक्तलसमोपेतमङ्गणानां शतावृतम्।
प्राच्यामुदीच्यां शुभदद्वारभागेन भासुरम् ॥ 9 ॥

इनके लिए पृथक् तल या आँगनों वाले सैकड़ों घेरों (बाड़बन्दी के लिए उपयोगी शताधिक प्रस्तर-काष्ठादि पट्टियों के कारण) वाली रचना हो। इनके पूर्व दिशा अथवा उत्तर दिशा में शुभदायी द्वारों के भाग कल्पित किए जाने चाहिए।

दृढार्गलसमोपेतकटकं गोपुरान्वितम्।
बहिश्शालां क्वचित्कुर्यादाधोरणगृहान्विताम् ॥ 10 ॥

इनके लिए दृढ़ आगलकिया या अर्गलाएँ हो और कड़ें लगे हों और गोपुरों की रचना की जाए। बाहर की ओर जो हस्तिशाला बनाई जाए, उनमें किसी के नीचे रणगृह या हाथियों की लड़ाई के लिए खुमाले (अग्गड़) भी बनाने चाहिए।

भिषग्गृहञ्च तत्रैव स्थापयेन्नगरेऽथवा।
मध्यशालासमोपेतं मध्यद्वारसमन्वितम् ॥ 11 ॥

वहीं पर अश्ववैद्य या गजवैद्य के लिए औषधशाला भी स्थापित की जानी चाहिए। ये नगर के मध्य भी हो सकती हैं। इनको मध्यशाला और मध्यद्वार से समन्वित करना चाहिए।

कल्पनद्वारकोपेतं कल्पनादृढवारकम्।
यथाविभवतः स्थाप्यं वाजिशालादिकल्पनम् ॥ 12 ॥

सम्यक् परिकल्पना के साथ इन शालाओं को द्वारों सहित बनाए और ये द्वार भी दृढ़तापूर्वक स्थापित किए जाए। जितनी सम्पदा हो, उसके अनुसार ही विशाल और सुन्दर अश्वादि के लिए शाला का निवेशन करना चाहिए।

जलकुण्डयुतं विण्वकतृणादिस्थानकैर्युतम्।
शृङ्खलाविकलं वापि शिलापट्टान्वितं तु वा ॥ 13 ॥

इनमें घोड़ों के पानी पीने के लिए जलकुण्ड या प्याऊ भी बनाए। इसी प्रकार बड़े-बड़े चारा-घास चरने के स्थान भी कल्पित किए जाने चाहिए जो कि साँकलों

वाली या शिलापट्टों वाली हो सकती है।

दृढबन्धनसंयुक्तक .... ।
गजशाला व्यापतिकां स्थापयेद्वालुकान्विताम्॥ 14 ॥

ये दृढ़ बन्धन युक्त हो तथा गजशालाओं की व्यापतिका या ठाणों को बालुका के ढेर से बनाए ताकि वहाँ पर हाथियों को बैठने, लेटने के लिए नर्म भूमि सुलभ हो सके।

परिखावलये वापि युद्धत्वव्याससंयुताम्।
महामार्गसमोपेतं तत्स्थानं कल्प्यमीरितम्॥ 15 ॥

अथवा इन ठाणों के चारों ओर परिखा-वलय या खाई बनाई जाए जो युद्धत्व व्यास युक्त अर्थात् गज-घमासान के लिए व्यास, अगगड़ युक्त हो तथा उसमें आने-जाने के लिए चौड़े रास्तों को परिकल्पित करना चाहिए।

नैमित्तिका मुखे स्थाप्या शाला मण्टपरूपिणी।
मुखकोणयुता वापि पुष्पकर्णादिमण्डिता॥ 16 ॥

जो नैमित्तिका शालाएँ बनाई जाए, उनके मुखभाग पर मण्डप रूपी शाला की रचना की जानी चाहिए जो मुख पर कोण युक्त हो, कँगूरों वाली हो अथवा वह पुष्पों की रचना से मण्डित की गई हो।

सर्वालङ्कारसंयुक्ता यथाशोभं यथाबलम्।
प्रकल्पयेन्नरपतिस्सम्पदानेभिवृद्धये॥ 17 ॥

इस प्रकार अश्व और गजशालाओं को समस्त अलंकारों से युक्त बनाया जाना चाहिए। जैसे शोभा वाँछित हो, वैसा ही कार्य करना चाहिए। इस प्रकार से राजा को अश्वादि शालाओं का निर्माण अपनी सम्पदा की वृद्धि के लिए करवाना चाहिए।

इति विश्वकर्मप्रणीते विश्वकर्मवास्तुशास्त्रे वाजिशालाहस्तिशालालक्षणनिरूपणं नाम अष्टत्रिंशदेकोनचत्वारिंशाध्यायौ॥ 38-39 ॥

इस प्रकार विश्वकर्माप्रणीत विश्वकर्मवास्तुशास्त्र में अश्वशाला, हस्तिशाला लक्षण निरूपण नामक अड़तीसवाँ और उन्नतालीसवाँ अध्याय पूर्ण हुआ।



अथ विद्याशालालक्षणकथनं नाम

चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ 40 ॥

अथास्मिंश्चत्वारिंशाध्याये पुरनगरे विद्याशालाख्यपठनपाठभ्यसनशाला निर्माणादि क्रममुपदिशति —

प्रासादे भवने पुर्यां ग्रामे वा शुभवास्तुके।
विद्याशालामेकशैलीमेकसूत्रप्रमाणकाम् ॥ 1 ॥

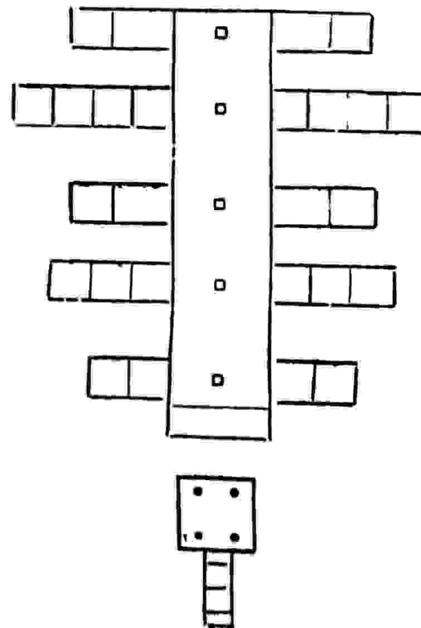
(अब पुर, नगर में पठन-पातन के योग्य पाठशाला के लक्षण कहे जाते हैं) राजमहलों, भवनों, पुरियों या ग्रामों अथवा शुभ वास्तुभवनों में विद्याशाला या पाठशाला का निर्माण होना चाहिए। ये एक शैली और एक ही सूत्र प्रमाण के अनुसार बनाई जानी चाहिए।

किञ्चात्र पाठशालाकल्पनविषये शुभवास्तुलक्षणमाह —

समानकल्पनयुतां नानाभौमामपि क्वचित्।
वासवार्षद्वारयुक्तां कल्पयेत्क्षेमसिद्धये ॥ 2 ॥

वास्तु की दृष्टि से पाठशाला को समान रूप में कल्पित किया जाना चाहिए। इनको विविध तलों वाला भी बनाया जा सकता है। सामान्यतया पाठशाला को पूर्वमुखी बनाया जाना चाहिए ताकि कल्याण की सिद्धि हो सके।

विद्याशालाकल्पनोद्धारमण्डलं यथा–



अथैतादृशविद्याशालाकल्पनप्रमाणमाह—

मध्यमानाधिका चान्तःशाला चत्वरशोभिनी॥ 3॥
चतुर्दिग्द्वारसंयुक्ता चतुःकल्पनशोभिनी।
नानावरणसंयुक्ता तलपञ्चकभासुरा॥ 4॥

पाठशाला के लिए मध्यमान से अधिक मान वाली अन्तःशाला की रचना की जानी चाहिए, वहाँ पर शोभाकारक चत्वर या खुला हुआ चौक है। इसके चतुर्दिक द्वारों की रचना की जानी चाहिए। यहं रचना इस प्रकार हो तो बहुत शोभाकारक हो। इसके लिए पाँच तल रखे जा सकते हैं जिनके लिए तरह-तरह की छतें हो सकती हैं।

सुषिराढ्या स्तम्भयुता समकल्पनभासुरा।
शालामण्टपभेदेन द्विधाऽधिष्ठानभाक् तथा॥ 5॥

इसके लिए सुषिर-पोले स्तम्भों का प्रयोग किया जाना चाहिए। ये स्तम्भ सम संख्या में रखे जाने चाहिए। शाला को दो प्रकार के अधिष्ठानों से युक्त किया जाए— 1. शाल अधिष्ठान और 2. मण्डप अधिष्ठान।

दृढभित्तिसमायुक्ता वातायनशतान्विता।
महाशाला बहिः स्थाप्या द्वारभागे विशेषतः॥ 6॥

इन शालाओं के लिए भित्तियों की रचना बहुत दृढ़तर रखी जानी चाहिए। प्रकाश-वायु आदि के लिए सैंकड़ों वातायनों, खिड़कियों को रखा जाए। इसमें बाहर की ओर विशेषकर द्वार के भाग पर महाशाला को निवेशित करना चाहिए।

मिथो द्वारसमोपेता मध्यशाला प्रकीर्तिता।
वास्तुभेदेन तद्भागं प्रविभज्य विशेषतः॥ 7॥

इसमें जोड़े वाले द्वारों से युक्त जो शाला होती है, उसे मध्यशाला कहा जाता है। वास्तु के भेद से इसको विभाजित करना चाहिए अर्थात् नियमानुसार ही इसका क्षेत्रभाजन कर अन्य रचनाएँ नियोजित की जानी चाहिए।

विद्याशालाकल्पने सदनं नाम गुरुवेदिकासनसहित तत्तद्विद्याभ्यसनस्थलाह —

गुरुवेदिसमायुक्तां कल्पयेन्नगरोत्तमे।
शास्त्रशालान्वितां मध्ये वादस्थानसमन्विताम्॥ 8॥

उक्त स्थल विभाजन के साथ ही वहाँ पर गुरुदेव की वेदी या आसन बनाया

जाना चाहिए। ये आसन प्रधान गुरु के लिए उत्तम नगर में रखने चाहिए। मध्यशाला में और इसके मध्य भाग में शास्त्रशाला (ग्रन्थ भण्डार, पुस्तकालय) बनाना चाहिए। इसी प्रकार वहाँ वादस्थान (व्याख्यान, वाद-विवाद के लिए पीठ) बनाया जाए।

परीक्षास्थानसंयुक्तां क्लृप्ताभ्यासगृहां तथा।
नानाभेदयुतां भूपो राजधान्यां प्रकल्पयेत्॥ 9॥

विद्याशाला में कालोचित जाँच-परीक्षा आयोजित करने के लिए परीक्षा कक्ष बनाए। इसके साथ ही पठित सूत्रादि शास्त्रों के अभ्यास के प्रयोजन से कक्ष (शोध-केन्द्र) निर्मित करना चाहिए। इसी प्रकार नाना संकायों के लिए विद्याशाला का निर्माण राजा द्वारा राजधानी में करवाना चाहिए।

विमानशिखरोपेतां नानाचित्रमनोहरम्।
सर्वालङ्कारसंयुक्ता पूर्वमण्टपशोभिताम्॥ 10॥

इन पाठशालाओं के कक्षादि को नाना प्रकार के विमान, शिखरों से युक्त बनाना चाहिए। उनमें विविध विषयों को प्रदर्शित करने वाले मनोहर चित्रों की रचना आवश्यक जानकर चित्रांकन करवाए। इसी प्रकार उसे नाना अलंकारों से युक्त करे और पूर्वमण्डप को शोभा के लिए बनाए।

सह मङ्गलघोषेण लोकक्षेमाय भूपतिः।
स्थापयेच्छिल्पिभिर्विद्याशालां शुभमुहूर्तके॥ 11॥

राजा को चाहिए कि वह जयोच्चार-मङ्गलघोष के साथ प्रजा के कल्याण के लिए शिल्पी के हाथों शुभ मुहूर्त में विद्याशाला की स्थापना करवाए।

इति विश्वकर्मप्रणीते विश्वकर्मवास्तुशास्त्रे विद्याशालालक्षणकथनं नाम चत्वारिंशोऽध्यायः॥ 40॥

इस प्रकार विश्वकर्माप्रणीत विश्वकर्मवास्तुशास्त्र में विद्याशाला लक्षण कथन नामक चालीसवाँ अध्याय पूर्ण हुआ।



अथ सङ्कीर्णभवनलक्षणकथनं नाम

एकचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ 41 ॥

एतावता प्रबन्धेन प्रायशो ग्रामाणां, नगराणां, दुर्गाणां, क्वचिन्नृपभवन कल्पनीय कल्पनानाञ्च लक्षणानि प्रतिपाद्योपरि विशेषतो वक्ष्यमाण मानवभवनशालाद्यान्तरालिककल्पनाविशेषलक्षणप्रकारं प्रतिपादयितुं। आदौ क्वचिद्ग्रामादिषु स्थापनीय सङ्कीर्णभवनलक्षणमनेनैकचत्वारिंशाध्यायेन व्यनक्ति—

सङ्कीर्णभवनं स्थाप्यं ग्रामेषु नगरेष्वपि।
क्वचिदिच्छावशातुङ्गसुधाद्वारं सशालकम्॥ 1 ॥

(ग्रामों, नगरों, दुर्गों और कदाचित् राजप्रसादों के वर्णन के उपरान्त अब ग्रामादि में स्थापना के योग्य संकीर्ण भवन के लक्षण कहे जाते हैं) ग्रामों सहित नगरों में भी संकीर्ण भवनों (धनाढ्यों-गरीबों के लिए भवनों) को साथ-साथ बनाया जाना चाहिए। इनमें कोई-कोई भवन इच्छा के अनुसार ऊँचे, विशाल, चूने से निर्मित पक्के दरवाजों और शालाओं, कोठरियों वाले हो सकते हैं।

अलिन्दभागे महती शाला तत्र प्रकीर्तिता।
नवरङ्गसमोपेता मध्ये वैवाहिकी मता॥ 2 ॥

इनके लिए अलिन्दभाग (वरण्डा) और महती शालाओं को बनाया जाना चाहिए। इनको नवरङ्ग शैली वाला भी बनाया जा सकता है जिनके मध्य में वैवाहिकी[१] अर्थात् मंगलकार्य के लिए चौकादि की रचना होती है।

अन्यदप्याह —

चतुष्कूटसमायुक्तं कल्पनं तत्र कल्पयेत्।
ततश्चत्वरभागाढ्यं भोजनागारमीरितम्॥ 3 ॥

---

१. इन विवाहशालाओं को देहली शाला के नामान्तर से भी सज्जनों ने कहा है। इन शालाओं के मध्य में नाना अलंकारों से युक्त वेदिका या चबूतरियाँ ईशानादि चारों ही कोणों के भाग में आठ-आठ स्तम्भों सहित होती है। ये चार स्तम्भों वाली भी हो सकती है। इनको नवरङ्गकल्पन या नवरङ्ग रचना के नाम से जाना जाता है। यह नवरङ्ग कल्पन नाम कौशल, बंग, सूरसेन, मगध इत्यादि देशों में प्रायः प्रचलित है। इस शैली में चतुरस्र रूप में प्रत्येक मंजिल पर वातायन सहित चौक होते हैं और चार कोठरियाँ और झूले-हिण्डोलने भी इनमें बनाए जाते हैं।

इन नवरङ्ग शालाओं को चार कोठरियों युक्त वहाँ के चौक में बनाना चाहिए। इसके साथ ही वहीं पर भोजनागार भी परिकल्पित होना चाहिए।

चतुर्विंशदद्वारयुतं द्वात्रिंशदद्वारकन्तु वा।
भौमत्रययुतं प्रायो नानावातायनान्वितम्॥ 4 ॥

इस रचना में चौबीस द्वार हो। यथावश्यकता इन द्वारों की संख्या बढ़ाकर बत्तीस तक भी रखी जा सकती है। इनको तीन तलों वाला बनाना और उनके नाना प्रकार के वातायनों को रखना चाहिए।

शावलापटलीयुक्तं क्वचिदन्तस्सपट्टकम्।
नानाचित्रसमोपेतं क्वचित्सुषिरकल्पनम्॥ 5 ॥

इसी प्रकार इनमें चौक के ऊपरी भागों में शावलकार पटली हो अर्थात् ईंटों की गोल जाली की आड़ वाला अथवा ठोस लकड़ी की पट्टिका युक्त अन्तरपट्ट हो। इसके लिए शिल्पी को नाना चित्रों की रचना करनी चाहिए। कहीं-कहीं इस पट्ट को सुषिर या खोखला भी कल्पित किया जा सकता है।

तथा चान्ये —

चतुर्दण्डविशालाढ्या मध्यशाला शुभावहा।
तदर्धमानका पार्श्वशाला भौमेष्वपि स्मृता॥ 6 ॥

इनके लिए चार राजदण्डों के बराबर विस्तृत सुन्दर मध्यशाला कल्पित करनी चाहिए। इस प्रमाण से आधे मान की अर्थात् दो राजदण्ड के बराबर पास की शाला हो। यह भौम अथवा तलों पर भी बनाई जा सकती है।

सुधादारुकृतस्तम्भचतुष्कं नवरङ्गकम्।
भौमान्तं द्वि-त्रिदण्डेन व्यासेन परिशोभितम्॥ 7 ॥

इन शालाओं को चूना-कलई और सारदारु से बनाए गए स्तम्भों की चौकी के रूप में नवरङ्ग शैली से बनाए और इसकी मंजिलों को अन्त तक दो-तीन राजदण्ड के प्रमाण से शोभित करना चाहिए।

नानालङ्कारसंयुक्ता तत्रस्था शुभवेदिका।
वापीकूपसमायुक्तं चत्वरद्वय भासुरम्।
सङ्कीर्णभवनं नाम्ना कथितं पूर्वसूरिभिः॥ 8 ॥

इनके लिए नाना अलंकरणों से युक्त शुभवेदिका भी बनाए। जलस्रोत के रूप

में वहाँ पर बावड़ी, कूप आदि बनाए और दो चबूतरों की रचना की जाए। इस प्रकार से पूर्वमनीषियों ने संकीर्ण नामक भवन के सम्बन्ध में निर्देश किया है।

इति विश्वकर्मप्रणीते विश्वकर्मवास्तुशास्त्रे सङ्कीर्णभवनलक्षणकथनं नाम एकचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ 41 ॥

इस प्रकार विश्वकर्माप्रणीत विश्वकर्मवास्तुशास्त्र में संकीर्णभवन लक्षण कथन नामक इकतालीसवाँ अध्याय पूर्ण हुआ।



अथ पताकालक्षणकथनं नाम

द्विचत्वारिंशाध्यायः ॥ 42 ॥

अथ द्विचत्वारिंशाऽध्याये सकलविधकल्पनार्ह पताकालक्षणं व्यनक्ति —

द्वारतिर्यक्पट्टिकासु स्तम्भप्रस्तरमौलिषु।
तिर्यग्दारुषु सोपानपट्टिकासु विशेषतः ॥ 1 ॥

(इस बयालीसवें, तैतालीसवें अध्याय में पताका और पारिभद्र के लक्षणों को कहा जा रहा है) द्वारों के ऊपर के पाट अर्थात् छबनों, पाषाण स्तम्भों के शिखर, लकड़ी के आड़े पटियों, सोपानों पर विशेष रूप से (पताका को लगाना चाहिए)।

दीपस्थानेषु पर्यङ्केष्वपि शालासु भूमिषु।
गवाक्षेषु कवाटेषु वेदिकास्वासनेषु च ॥ 2 ॥

इसी प्रकार दीपस्थान पर, पर्यंक, शालाओं, तलभूमि, गवाक्षों, कपाट-किंवाड़ों, वेदिका और आसनों पर (पताका को लगाना चाहिए)।

पूतिकासूपपीठेषु नानावक्त्रेषु मेशिषु।
पताका विविधा योज्या कल्पनैस्तक्षणैरपि ॥ 3 ॥

इसी तरह पूतिका, उपपीठ (अथवा कुण्डियों) के लिए नाना प्रकार के मुखों वाली मेशी या मादा भेड़ों के आकार वाली तरह-तरह की पताकाएँ तक्षणकला से रचित कर लगाए।

ऊर्ध्वमानैरधोमानैर्भूमिमानैश्च वर्तुलैः ।
तिर्यङ्मानैश्च विविधैः कल्पनार्हैर्यथाक्रमम् ॥ 4 ॥

इन पताकाओं की ऊँचाई-नीचाई, भूमिमान के अनुसार, गोलाकार में, तिर्यक् या आड़े मान में भी तरह-तरह से यथाक्रम रचना करनी चाहिए।

माल्या प्रमाणविच्छिल्पी पताकां मेलयेत्क्रमात् ।
शोभार्थमपि रक्षार्थं नानारूपा च सा मता ॥ 5 ॥

प्रमाण को जानने वाले शिल्पी पताकाओं को क्रम से बनाए और लगाए। ये पताकाएँ शोभा और रक्षा के लिए होती हैं। उनको नाना प्रकार से बनाया जाना चाहिए।

किञ्च तेषु प्रसिद्धनामानि शास्त्रकारोऽत्र प्रतिपादयति —

मुखं प्रतिमुखं तोला किङ्किणी रेखिका च्छटा ।
पद्मका कुमुदा दीपा बिन्दुका झषरूपिणी ॥ 6 ॥
नासिका रूपिका कम्पा विरिकास्याऽञ्जना परा ।
गला च प्रस्तरा वेशा प्रपा पर्यङ्किका तथा ॥ 7 ॥
मृदङ्गा पटहा काल्या शौकी छत्रा वरासका ।
मध्यरेखा मध्यतारा प्रान्ततारा सरन्ध्रका ॥ 8 ॥
दण्डिका वलिका क्षुभ्या मारा चान्धारिका तथा ।
पुष्पा फला च कुम्भा च दैवी मानुषिकी तथा ॥ 9 ॥
ऐरावता च कैलासा शिखरा च विमानिका ।
रथिका तुरगा योधा गजा चन्द्रार्कभाकरा ॥ 10 ॥
पताका विविधा प्रोक्ता मुनीन्द्रैः शास्त्रपारगैः ।
तां योजयेयुः शिल्पज्ञा यथाशोभं यथाबलम् ॥ 11 ॥

इति पताकालक्षणकथनम् ।

इन पताकाओं के आकारानुसार प्रसिद्ध नाम इस प्रकार है— मुख, प्रतिमुख, तोला, किंकिणी, रेखिका, छटा, पद्मका, कुमुदा, दीपा, बिन्दुका, मीनरूपिणी, नासिका, रूपिका, कम्पा, विरिकामुखा, परा, गला, प्रस्तरा, वेशा, प्रपा, पर्यंकिका, मृदंगा, पटहा, काल्या, शौकी, छत्रा, वरासका, मध्यरेखा, मध्यतारा, प्रान्ततारा, रन्धसहिता, दण्डिका, वलिका, क्षुभ्या, मारा, आन्धारिका, पुष्पा, फला, कुम्भा, दैवी, मानुषिकी, ऐरावता, कैलासा, शिखरा, विमानिका, रथिका, तुरगा, योधा,

गजा, चन्द्रार्का इत्यादि भेदों से युक्त विविध स्वरूपों और प्रमाणों वाली पताकाओं का वर्णन शास्त्रविदों ने किया है। अतः शिल्पज्ञों को इनको जिस प्रकार से शोभा होती है, वैसी ही प्रयत्नपूर्वक योजित करना चाहिए। (इस प्रकार पताकाओं का लक्षण कहा गया है)।[१]

इति विश्वकर्मप्रणीते विश्वकर्मवास्तुशास्त्रे पताकालक्षणकथनं नाम द्विचत्वारिंशाध्यायः ॥ 42 ॥

इस प्रकार विश्वकर्माप्रणीत विश्वकर्मवास्तुशास्त्र में पताका लक्षण कथन नामक बयालीसवाँ अध्याय पूर्ण हुआ।

---

१. तथा च टीकायाम्—किञ्च शिल्पिभिर्विनाऽन्यैः शास्त्रज्ञैरपि सर्वथा नैतेषां पताकादीनां पारिभद्राख्यलोहकृतिभेदानां च लक्षणादिकं निर्णेतुं शक्यम्। तथापि अस्माभिर्यथामति व्याख्यानधोरणीमप्याश्रित्य क्वचित् व्याख्यायते। यथा— मुखनामक-पताकाख्यशिल्परचना तु पूर्वोक्तद्वारपट्टिकादिस्थलेषु अभिमुखसूत्रपातक्रमं कल्पिता वाजिवारण हंसशुक-शारिका हरिणकेकिगन्धर्व यक्षकिन्नरदेवादीनां मुखसदृक्टङ्कादिशिल्परचनेत्यर्थः॥ एवं प्रतिमुखनामक पताका तु एतादृशवाजिवारणहंसादिमुखरचनाकल्पनं विनैव तत्प्रतिमुखरूपिका। भूतवेतालापिशाचिकावानरभल्लूकादिमुखाख्य प्रतिमुखरचना तु देवालयस्तम्भसोपानवलभीप्रान्त-स्तम्भप्रस्तरादिभागेष्वैव स्थाप्या। सर्वथा न मानव गृहेषु कल्प्येति नियमः॥ तोलाख्यपताका तु तत्र तत्र स्तम्भादिप्रस्तरभागेषु चतुरश्ररूपं मध्यस्थकुसुमरचनमन्त्यभागेषु द्वित्रिरेखायुतं कल्पनमित्यर्थः॥ किङ्किणीरूपं चित्रं तक्षणं (रूपं) सर्वत्र शिल्पतक्षण कार्येषु प्रसिद्धमेव। रेखिकापताका तु रेखारूपा निरन्तरकल्पना, कचिद्विरलकल्पना, क्वचित्तिर्यग्रेखासहित कल्पनेत्यादिबहुरूपा प्रसिद्धा। छटाः पद्मका पद्माकारा। कुमुदा कुमुदाकारा। दीपा दीपाकारा। सिन्धुकाः झषस्वरूपा, कचिन्मत्स्यद्वयरूपा तक्षणकरणादिभेदवती चित्रकल्पना। नासिका साहारा शुकादिनासामात्रकल्पना। रूपिकाः कम्पा तत्र तत्र कन्याख्यक्षुद्रप्रमाणतक्षणाकृतिः। विरिकास्याः अञ्जनाः पराऽतिदीर्घप्रमाणगोपुरमहीधरादिषु गन्धर्वादिचित्ररचना। गला वाजनप्रतिवाजनमध्यपट्टादि-स्थानमध्यरचनीयकल्पनास्वरूपिणी। प्रस्तरा प्रस्तर रूपवती। वेशा क्षुद्रसोपानरूपिणी प्रवेशस्थलद्योतकचित्रकल्पना। प्रपाः पर्यङ्किका पर्यङ्काकारा। मृदङ्गा मृदङ्गाकारकल्पना। पटहा वर्तुलाकारपटहरूपत्रती कल्पना। काल्याः शौकी शुकरूपवती। छत्रा छत्राकारकल्पनवती। परासकाः मध्यरेखा अतिसूक्ष्मदृश्या शोभार्थकल्पिता मध्यरेखा। मध्यताराः प्रान्तताराकल्पनं तु तूलपट्टिकागवाक्षद्वारफलकादिषु मध्यभागे चतुरङ्गणविभजनववंती सकुसुमा सालंकारा कल्पनतक्षणाकारा। सरन्ध्रा तत्र तत्र चित्रविशेषेषु समुचितप्रमाणस्थलेषु करणीयमनोहररन्ध्रान्वितकल्पना। दण्डिकादीनां लक्षणं शिल्पिभिरेवोह्यम्। ऐरावतद्वारभागकल्याणशालापट्टिकादिषु कल्पनीया ऐरावतरूपवती प्रायशस्तक्षणरूपा। कैलासा कैलासादिसशिखरमहीधर कल्पनवती। शिखरा केवलशिखररूपिणी। विमाना केवलविमानरूपिणी। रथिका रथरूपवती। तुरगा तुरगरूपिणी। योधा सायुधयोधादिरूपभासुरा। गजा दन्तद्वयसहितगजहरिणसिंहादिरूपवती। चन्द्रार्का चन्द्रार्कयोर्मण्डलवती कल्पनेत्येवं सामान्यार्थगुम्भः। एवमुक्तरीत्या नानाविधपताकादिप्रमाणादिकं तु शिल्पिभिरेव कार्यकैरूपदेष्टव्यमिति भावः।

अथ पारिभद्रलक्षणकथनं नाम

त्रिचत्वारिंशाध्यायः ॥ 43 ॥

अथ त्रिचत्वारिंशाऽध्याये पारिभद्रलक्षणकथनम् —

पारिभद्रं लोहकर्म कथितं मुनिपुङ्गवैः।
तत्तत्स्थानेषु तद्योज्यं दृढसन्धानसिद्धये॥ 1॥

(इस तैतालीसवें अध्याय में पारिभद्र नामक लोहकृति जिसे लोक में परेक या कील कहा जाता है, के लक्षण कहे जाते हैं) पारिभद्र-लोहकर्म को श्रेष्ठ मुनियों ने कहा है। उसे उन-उन स्थानों पर नियोजित करना चाहिए जहाँ मजबूत संधों की सिद्धि करनी अपेक्षित हो।

वारटङ्कादिभिस्तच्च दार्ढ्यार्थं योजयेद्दृढम्।
तत्प्रोक्तं विविधं लोके तत्तत्कार्यप्रमाणतः॥ 2॥

इनको मजबूती प्रदान करने के लिए लोहे के टँक-कीलों से लगाना चाहिए। इनको लगाने हेतु लोक में इनके कार्य प्रमाण के अनुसार विविध प्रकार का कहा गया है।

दारुकारैर्लोहकारैः कल्पयेत्स्थानयोग्यकम्।
तत्प्रमाणञ्च विविधं तज्ज्ञात्वा योजयेद्बुधः॥ 3॥

अतः काष्ठाकार (बढ़ई) और लौहकार (लौहार) के द्वारा इनका निर्माण स्थान की योग्यता के अनुसार करना चाहिए। उनका प्रमाण (लम्बाई-मोटाई) भी विविध होती है, अतः बुद्धिमान् को चाहिए कि उसका अच्छी प्रकार ज्ञान करके ही प्रयोग करे।

तदेव विशिनष्टि —

मिर्णिका कुञ्चिका शङ्कुः कीला कील्या च कीलका।
शृङ्खुला तर्जिनी हस्ता शङ्कुला रन्ध्रिका तथा॥ 4॥
पट्टिका पट्टका पट्टी बोधिका बोधका बुधा।
धारिणी धरणी धारा गलिका कण्ठिका गली॥ 5॥
चित्रिका चार्गला कुण्ठा वेशिनी च प्रवेशिनी।
इत्येवं विविधा प्रोक्ता पारिभद्रक्रियार्हका॥ 6॥

इनके विविध नाम हैं। यथा— मिर्णिका, कुंचिका, शंकु, कीला, कील्या, कीलका, शृंखला, तर्जिनी, हस्ता, शंकुला, रन्ध्रिका, पट्टिका, पट्टका, पट्टी, बोधिका, बोधका, बुधा, धारिणी, धरणी, धारा, गलिका, कण्ठिका, गली, चित्रिका, अर्गला, कुण्ठा, वेशिनी और प्रवेशिनी— इतनी प्रकार की विविध पारिभद्रक्रिया कही गई है।[१]

अन्यदप्याह —

कवाटद्वारपर्यङ्कडोलास्तम्भासनादिषु।
तिर्यग्दारुषु सोपानेष्वपि दार्ढ्याय योजयेत्॥ 7॥
तत्स्थलं मसृणीकुर्याचित्रादींश्च प्रकल्पयेत्।

सामान्यतया किंवाड़ों का कार्य, द्वार, पलंग-मचलिका, डोल-यान, स्तम्भ, आसन-बाजोट, तिर्यग्दारु, सीढ़ियों आदि के कार्य में दृढ़ता के लिए इन कीलों का प्रयोग किया जाता है। जहाँ कील-परेक का प्रयोग किया जाए, उस स्थान को मसृणी या चिकना बनाकर चित्रादि भास्कर्यों द्वारा सुन्दर रचनाकृत किया जाना चाहिए।

युक्त्याऽन्यदपि यद्योज्यं शकटादिषु शिल्पिभिः॥ 8॥
नानालोहकृतं भद्रं यथामानं यथाबलम्।
तत्तत्स्थानार्हकं योज्यं देवमानवकल्पने॥ 9॥

शिल्पीगण अन्यान्य युक्तियों के साथ पारिभद्र या कीलों का प्रयोग छकड़ों,

---

१. तथा च टीकायाम्— मिर्णिका, कुञ्चिका, शङ्कुरिति दीर्घायुःपट्टमयः। कीला तदपेक्षया बृहदाकृतिः। कील्या तदपेक्षया बृहदाकारा। कीलकाऽतिसूल्मस्वरूपा अयश्शङ्कुरित्यर्थः। शृङ्खला प्रसिद्धा। तर्जिनी, एवंरूपा गवाक्षक्षुद्रद्वारावली कवाटयोजिनी तद्दार्ढ्ययोजिनी तजिनीनामभाक्। हस्ता हस्ताकारा अयोमयपट्टिका, अधोदधीति केचित्॥ शङ्कुला क्षुद्रककचा प्रसिद्धा। रन्ध्रिका रन्ध्रकारिणी। अथ वा स्थलकायः रन्ध्रस्थान एव प्रवेशयोग्यायः पिण्डखण्डः सशिखरश्चेति केचित्। पट्टिका, पट्टका, पट्टीत्येतत्त्रिविधमपि अयःपट्टकल्पनं स्तम्भादिगलस्थानेषु विशीर्णाद्यनुत्पत्तये स्थापनीयं परस्परं किञ्चिद्वैशाल्यादिभेदयुतम्। बोधिकाबोधकाबुधाख्यमेतत्त्रिविधमप्ययःखण्डकल्पनं तत्र तत्र गवाक्षस्तम्भादिमौलिभागेषु कल्पनीयम्। एवं कचित्तम्भादीनामधोभागेषु स्थापनीयायःखण्डमयी धारिणी धरणी धरेति बोध्यम्। एवं गलिका कठिका गला चायोमयी किञ्चिद्भेदप्रमणिवती गुलिकाकारा॥ एवं एवं चित्रिका अर्गला कुण्ठा देशिनी प्रवेशिनोस्यादयो नानाविधा अयः प्रमुखलोहकृताः अयः कील शृङ्खलार्गलादयः कवाटबन्धन द्वारफलकाबन्धनपर्यङ्कघटनडोलाफलकासंयोजनस्तम्भसन्धारण कीलस्थापनयोजनादि दृढीकरणकार्येषु यथाप्रमाणं यथाबलं यथाशोभं स्थापनीयाः।

गाड़ियों के लिए भी कर सकते हैं। जिस स्थान के लिए जैसे लोह कील की आवश्यकता हो, वहाँ वैसा ही मान-बल के अनुसार पारिभद्र का उपयोग किया जा सकता है अर्थात् वे मान-प्रमाण के अनुसार बनाए जाते हैं और देवालय हो या मानवालय, उनको योजित किया जा सकता है।

इति विश्वकर्मप्रणीते विश्वकर्मवास्तुशास्त्रे पारिभद्रलक्षणकथनं नाम त्रिचत्वारिंशाध्यायः ॥ 43 ॥

इस प्रकार विश्वकर्माप्रणीत विश्वकर्मवास्तुशास्त्र में पारिभद्र लक्षण कथनात्मक तैंतालीसवाँ अध्याय पूर्ण हुआ।



॥ श्रीगणाधिपतये नमः ॥

विश्वकर्मवास्तुशास्त्रम्

दिव्येन विश्वकर्मणा विरचितम्।

('मोहनबोधिनी' हिन्दी व्याख्या)

अथमहाशालालक्षणविशेषशालालक्षणकथनात्मकौ

चतुश्चत्वारिंशाध्यायः ॥ 44 ॥

अथ महाशालालक्षणकथनम्। एनयोरध्याययोश्चतुश्चत्वारिंशत्तमपञ्चचत्वारिंशत्तमर्देवानां ब्राह्मणादीनां सर्वेषामपि वर्णानां गृहभवनादिषु प्रकल्पनीयमहाशालाया विशेषशालायाश्च लक्षणं प्रतिपादयितुं आदौ तन्निर्मितिफलमाह—

भूभृतां ब्राह्मणानाञ्च देवानाञ्च विशेषतः।
वैश्यानां शूद्रजातानां महाशाला शुभप्रदा॥ 1 ॥

(इस चवालीसवें अध्याय में महाशाला के लक्षण कहे जा रहे हैं) महाशाला सदैव भूभृता अथवा राजाओं, ब्राह्मणों, देवताओं, वैश्यों के साथ-साथ शूद्र समुदाय वालों के लिए भी शुभप्रदायक होती है।

निषेव्या शुभकालेषु तूर्यघोषपुरस्सरम्।
शिल्पिभिः कथिताः शाला विविधाः स्थलभेदतः॥ 2 ॥

जब महाशाला का निर्माण कार्य हो, निर्माणकर्ता को चाहिए कि तूर्यवादन के साथ शिल्पियों के कथनानुसार स्थलों के भेद के अनुसार स्थापत्य कार्य करवाए। (यह प्रवेशावसर के प्रसंग में भी ज्ञातव्य है)।

एक-द्वि-त्रि-चतुः-पञ्च-षट्-सप्त-ष्ट-नव स्मृताः।
दैवे च मानवे वास्तुभूभागे शुभदा मताः॥ 3 ॥

इसके लिए वास्तुभूभाग सदा एक, दो, तीन, चार, पाँच, छह, सात, आठ और नौ देवताओं और मानवों के लिए शुभ होते हैं।

पूर्वभागे पार्श्वयोश्च पश्चादेकैव सा मता।
तासां मानञ्च विविधं ज्ञेयं शिल्पविशारदैः॥ 4॥

इसके पूर्वभाग में और पार्श्व या बाजू के भाग में तथा पश्चिम या पीछे के भाग में भी परिग्राह्य विविध मान का शिल्पयों को बोध होना चाहिए।

विस्तारार्धतदार्धार्धतदर्धाविषयोजनैः।
प्रमाणैस्तच्च विज्ञेयं नागरादिषु **तन्मतम्॥ 5॥**

(प्रमाण के सन्दर्भ में तीन मान ज्ञात है) महाशाला के 1. विस्तार का आधा, 2. उसका भी आधा एवं 3. उक्त आधे का भी आधा, इस प्रकार विषय-क्षेत्र के लोगों को ग्रहण करना चाहिए। नगरों के मत-सन्दर्भ में ये ही प्रमाण जानने चाहिए।

एवं तत्र तत्र निर्माणेषु कल्पनीयक्षुद्रशालानां मानादिकं संग्रहेणोक्त्वा पूर्वोक्ताया महाशालाया निर्माणप्रमाणादिक्रमं स्पष्टमुपदिशति —

प्रतिलोमानुलोमाभ्यां द्विविधा सा प्रकीर्तिता।
वास्तुलाभवशात्कार्या प्रासादेष्वनुलोमतः॥ 6॥

इन प्रमाणों को व्यवहार में ग्रहण करते समय यह ज्ञातव्य है कि ये प्रतिलोम और अनुलोम- दो विधियों से बनी मानी जाती है। भवन के वास्तु लाभ के लिए ग्रामों के भवनों को अनुलोम विधि से करना चाहिए।

तत्प्रमाणवतीं भूमिं स्वीकुर्यात्प्रतिलोमतः।
आद्या दैवेषु शुभदा द्वितीया मानवे तथा॥ 7॥

यह ज्ञातव्य है कि इसके प्रमाण की भूमि को प्रतिलोम विधि से स्वीकार करे। इनमें पहली देवताओं के लिए शुभकारक है जबकि दूसरी मानवों के लिए शुभप्रद है।

साधिष्ठाना क्वचित्स्थाप्या नवहस्ताङ्घ्रिकान्विता।
चत्वारिंशत्पदोपेता चतुर्विंशतिपादका॥ 8॥
पादषोडशका वाऽपि मध्याङ्गणसमुज्ज्वला।

अतः किन्हीं महाशालाओं को अधिष्ठान युक्त बनाना चाहिए जो नौ हस्त प्रमाण सहित होगी अथवा चालीस पाद या स्तम्भों अथवा चौबीस पाद-स्तम्भों वाली हो या फिर सोलह पाद वाली हो। उसके मध्य में खुला हुआ आँगन रखना चाहिए।

चतुरश्रायता शाला चत्वरान्तिकभाक्तथा॥ 9॥
भौमान्विता सा संयोज्या पार्श्वाङ्गणसमेयुषी।

वह चतुरस्रायत या चौकोर शाला हो और उसके अन्त में चत्वरों या चौकों की योजना हो। वह आजू-बाजू में खुली भूमि युक्त हो, ऐसी विविध भौमान्वित संयोजित करे।

द्वादशाङ्गणमारभ्य द्विद्व्यङ्गुलविवर्धनात्॥ 10॥
त्रिहस्तं भित्तिविस्तारं स्थापयेन्मानवे गृहे।

इसको द्वादश आँगन से आरम्भ करे और (सामान्य प्रमाणतः) दो-दो अङ्गुल से बढ़ाते हुए तीन हाथ तक इसके लिए भित्ति का विस्तार प्रमाण रखे। यह मानवीय आवास के लिए ज्ञातव्य है।

भूभुजाञ्च चतुर्हस्तं पञ्चहस्तं तु दैविके॥ 11॥
दुर्गादौ हस्तषट्कञ्च शिल्पविद्भिः प्रकीर्तितम्।

राजाओं के महलों के लिए चार हस्त के मान प्रमाण से और देवताओं के प्रासादों को पाँच हस्त प्रमाण से भित्ति कल्पित करे। इसी प्रकार दुर्ग आदि का निवेश करना हो तो शिल्पियों का मत है कि छह हस्त प्रमाण से भित्ति को रखना चाहिए।

अन्योन्यमधिका वाऽपि न्यूना वा सा च भित्तिका।
समा सर्वत्र मुख्या हि शाखानां हीनसङ्ख्यका॥ 12॥

इति महाशालालक्षणकथनम्।

उक्त सभी मान प्रमाण एक दूसरे से अधिक कहे गए हैं तथापि इनमें से जो न्यून हो, वह भित्तिका कही जाएगी। महाशाला सर्वत्र मुख्य होती है और उसकी शाखा रूप अन्य शाला को कम हस्तादि प्रमाणों से ही नियोजित करना चाहिए। (इस प्रकार महाशाला के लक्षण कहे गए)।

इति विश्वकर्मप्रणीते विश्वकर्मवास्तुशास्त्रे महाशालालक्षणकथनात्मकं चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः॥ 44॥

इस प्रकार विश्वकर्माप्रणीत विश्वकर्मवास्तुशास्त्र में महाशाला लक्षण कथन नामक चवालीसवाँ अध्याय पूर्ण हुआ।



अथ विशेषशालालक्षणकथनात्मकं

पञ्चचत्वारिंशाध्यायः ॥ 45 ॥

प्रतिपाद्याधुना क्वचिदतिधनिकानां भूपालाञ्च हर्म्यप्रासादप्रभृतिषूत्तमकल्पनेषु-कल्पनीयाया विशेषशालाया लक्षणमुपपादयति —

भौमान्विता तु सा शाला विशेषाख्या प्रकीर्तिता।
प्रासादहर्म्यभवनेष्वपि सा योग्यका मता॥ 1 ॥

(अब धनाढ्यों, राजाओं के महलों, हवेलियों में निर्माण योग्य विशेष शाला के लक्षण प्रतिपादित किए जा रहे हैं) जो शाला विविध भूमितलान्वित होती है, उसको विशेषशाला के नाम से जाना जाता है। यह प्रासादों सहित हवेलियों और भवनों के लिए योग्य कही गई है।

एक-द्वि-त्रि-चतुश्शालां तां क्रमात्स्थापयेद्बुधः।
स्वाम्यावाससमोपेता क्वचिद्भौमेषु सा मता॥ 2 ॥

ज्ञानियों को चाहिए कि वे ऐसी शाला को भवनों में एक, दो, तीन और चतुश्शाला के क्रम से स्थापित करे। वहीं पर किसी भूभाग पर गृहस्वामी का आवास भी बनाया जाना चाहिए।

स्वभित्तेर्दक्षिणे भागे स्वाम्यावासः प्रशस्यते।
रङ्गभागे चोत्तरस्थे तद्गृहिण्यास्थलं मतम्॥ 3 ॥

यह ज्ञातव्य है कि उस भवन की भित्ति के दायें भाग में स्वामी का गृह बनाया जाना प्रशस्त होता है। इसी प्रकार रँगभाग में, उत्तर दिशा में गृहस्वामिनी या गृहिणी का आवास कल्पित किया जाना चाहिए।

चतुष्कूटसमायुक्ता तथा पृष्ठसभान्विता।
पार्श्वयोरुभयोर्वाऽपि चाग्रभागे च शालका॥ 4 ॥

इनको चतुष्कूट युक्त बनाए और पीछे की ओर सभा रखे। इसके उभय पार्श्व में और आगे की ओर शाला का नियोजन करे।

भागद्वयेन निष्क्रान्तिः प्राक्प्रत्यग्भागयोस्तथा।
इति सप्ततलं राज्ञां प्रशस्तं परिकीर्तितम्॥ 5 ॥

क्वचिदाषोडशतलं कुर्यादेवं विधानवित्।

इनमें पूर्व व पश्चिम भाग में दो-दो भाग से निष्क्रान्त या निकासी का प्रावधान किया जाना चाहिए। इस प्रकार से सात तलों वाली विशेष शाला राजा के लिए प्रशस्त कही गई है। इसका निर्माण शिल्पकार सोलह तलों सहित भी कर सकता है।

एवमत्र प्रतिपादितप्रकारेण स्थलजातिभेदेन च बहुविधानां नानारूपाणां महाशाला विशेषशालाकल्पनानां स्वरूपं तु प्रसिद्धं पञ्चविधं भवति। यथा —

सर्वतोभद्रका शाला स्वस्तिका वर्धमानका ॥ 6 ॥
नन्द्यावर्ता च चरका पञ्चधा सा प्रकीर्तिता।

विशेष शालाएँ पाँच प्रकार की होती हैं— 1. सर्वतोभद्रका, 2. स्वस्तिका, 3. वर्धमानका, 4. नन्द्यावर्ता और 5. चरका।

एतासां लक्षणञ्च क्रमात्प्रतिपादयति —

सर्वतोभद्रमष्टास्यं षण्णेत्रं स्वस्तिकं भवेत्॥ 7 ॥
पार्श्वयोः पुरतश्चैव वर्धमानं तथा भवेत्।
नन्द्यावर्तं मतं पूर्वे पश्चिमे दक्षिणे तथा॥ 8 ॥
उत्तरे द्विमुखोपेतं निष्पटञ्चरकं मतम्।
चरकं देवयोग्यन्तु कथितं पूर्वसूरिभिः ॥ 9 ॥

इनमें सर्वतोभद्रका शाला अष्ट पहलु-द्वार वाली और स्वस्तिका छह द्वारों वाली होती है। इसमें पार्श्वभाग और आगे के भाग की ओर वर्धमान शाला होती है। नन्द्यावर्ता शाला पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण द्वार वाली होती है जबकि द्विमुख या दो द्वारों वाली निष्पटञ्चरक कही गई चरका शाला देवताओं के योग्य होती है, ऐसा प्राचीन विद्वानों ने कहा है।

स्पष्टार्थ चक्र

1. सर्वतोभद्रकारूपका शाला — आठ द्वार वाली
2. स्वस्तिकारूपका शाला — छह द्वार वाली
3. वर्धमानरूपका शाला — पार्श्व भाग और आगे द्वार
4. नन्द्यावर्तरूपका शाला — पूर्व, पश्चिम व दक्षिण और उत्तर में द्वार
5. चरकरूपका शाला — द्विमुखा, द्वार-भित्ति, आवरण रहित (देव मन्दिरार्थ)

अन्यदप्याह —

एकानेकतलोपेता नानालङ्कारभासुरा।
खलूरिकायुता राज्ञां प्रासादेषु विशेषतः ॥ 10 ॥

एकाधिक तलों वाली, तरह-तरह के अलंकरणों की सजावट लिए खलूरिका[१] (निरीक्षक, प्रहरियों की चौकी) रचना सहित बनाई जानी वाली शाला राजाओं के प्रासाद में विशेष रूप से तैयार की जानी चाहिए।

डोलास्थानसमायुक्ता कटकम्बलमण्डिता।
सचित्रतोरणा रम्या लोकानाञ्च विधीयते ॥ 11 ॥

इति विशेषशालालक्षणकथनम्।

इनको डोला-यान स्थान सहित नियोजित करे। वे कट-कम्बल से मण्डित हो और चित्रों सहित तोरणादि से सुरम्य होती है। इस विधान के साथ विशेषशाला लोगों के लिए बनाई जानी चाहिए। (इस प्रकार विशेषशाला के लक्षण कहे गए)।

इति विश्वकर्मप्रणीते विश्वकर्मवास्तुशास्त्रे विशेषशालालक्षणकथनात्मकं पञ्चचत्वारिंशाध्यायः ॥ 45 ॥

इस प्रकार विश्वकर्माप्रणीत विश्वकर्मवास्तुशास्त्र में विशेशशाला लक्षण कथनात्मक पैंतालीसवाँ अध्याय पूर्ण हुआ।



---

१. खलूरिकाख्य योधप्रहरणस्थापनस्थलं क्षुद्रमण्डपाकारं कूटाकारं वा प्रकल्पयेत्, इति टीकायाम्। मयमतम् में मनुष्यों के आवास में खलूरिका का निर्माण करने का निर्देश है। गृहों में वेदिका को स्तम्भ सहित बनाने और वहाँ पर खलूरिका का निर्देश है। इसी प्रकार विदिशा में खलूरिका बनाने का मत भी मिलता है। मय ने पुष्पदन्त के पद पर खलूरिका बनाने को कहा है। इसके अतिरिक्त भवन के पार्श्व में आँगन सहित खलूरिका भवन का निर्देश भी किया गया है—खलूरिका मनुष्याणां वासेष्वेवमुदीरिताः॥ प्रथमावरणाद् यावत् त्रिप्रकारान्तमावृतिः॥ (मयमतम् 23, 70) मृण्मया वा लुपारुढा तृणादिच्छादनान्विता। खलूरिका वा कर्तव्या वेदिकापादशोभिता॥ असन्धिकं भिन्नगृहं ससन्धिकं ह्यभिन्नकं भिन्नगृहेषु तेषु वै। चतुर्गृहं दिक्षु गतं प्रधानकं विदिक्षु वा मण्डपकं खलूरिका॥ (तत्रैव 27, 10-12) जललीला विधातव्या पुष्पदन्ते खलूरिका। लवणं तत्र विज्ञेयं मरीचाद्यंशतोचितम्॥ तदपरभागे भवनं तेन सहैवैपुससनवतलकम्। पृष्ठे तद्द्विकपार्श्वे चाङ्गणयुक्ता खलूरिकांशेन॥ (तत्रैव 29, 35-134)

अथ कल्याणशालालक्षणकथनात्मकं

षट्चत्वारिंशाध्यायः ॥ 46 ॥[1]

अधुना सर्वेषामत्यन्तक्षेमवर्धिन्याः कल्याणशालायाः स्वरूपादिकं प्रतिपादयति-

कल्याणशाला शुभदा सर्वेषामेव भूतले।
तस्मात्तां कल्पयेद्धीमान् शुभकाले शुभस्थले॥ 1 ॥
कनीयसीं मध्यमा वा चोत्तमाङ्कारयेद्बुधः।

(इस अध्याय में कल्याणशाला के लक्षणों का वर्णन किया जा रहा है, यहाँ प्रथम कल्याणशाला का प्रतिपादन है) इस भूतल पर सभी के लिए कल्याणशाला शुभ कही जाती है। इसलिए बुद्धिमान को किसी शुभ स्थल पर शुभकाल में इस शाला की रचना करनी चाहिए। ये शालाएँ तीन प्रकार की बनाई जानी चाहिए— 1. कनिष्ठिका, 2. मध्यमा और 3. उत्तमा।

कल्याणशालां कुत्र वा स्थले स्थापयेयुरित्याकांक्षायां तदर्हस्थलानि निर्दिशति-

प्रासादस्य पुरोभागे द्वारस्यानन्तरस्थले॥ 2 ॥
शालानां मध्यमे भागे पूर्वे वाऽऽवरणस्य तु।
हर्म्याणां सदनानाञ्च गृहाणाञ्च विशेषतः॥ 3 ॥

ये कल्याण शालाएँ प्रासाद के पूर्वभाग में अथवा द्वारमुख के अन्तस्थल पर कल्पित की जानी चाहिए। शालाओं के मध्य भाग में अथवा हवेलियों, भवनों और गृहों के पूर्व के आवरण भाग में भी बनाई जा सकती है।

वक्षःस्थले नाभिदेशे कल्पयेत्तां मनोहराम्।
मध्यचत्वरभागाढ्यां पादरङ्गान्वितान्तु वा॥ 4 ॥

किसी-किसी ग्राम में वास्तुपद विन्यास के अनुसार वक्षस्थल के भाग में और नाभिदेश में इनको मनोहर रूप से कल्पित करना चाहिए। इनके मध्य में चत्वरों या चौकों की बहुलता और पादअङ्गरचना का विन्यास हो।

चतुरस्रां व्यासयुतामुपशालावृतस्थलाम्।
चतुरङ्गणसङ्कीर्णां मण्डलाकृतिकान्तु वा॥ 5 ॥

---

१. प्रकाशितपाठे अध्यायत्रयेण षट्चत्वारिंशसप्तचत्वारिंशाष्टचत्वारिंशाध्यायाः संयुक्ताः।

कल्याणशाला को चतुरस्र और व्यास युक्त उपशालावृतस्थल या गोलीय स्थल वाली बनाए। इनमें तरह-तरह के चार आँगन मण्डलाकृति या गोलाकार में बनाए।

स्थापयेन्मानविच्छिल्पी यथासूत्रप्रमाणकम्।
देव-भूसुर-भूपाल-विट्-शूद्रादिगृहान्तरे॥ 6॥

शिल्पियों को चाहिए कि वे इनकी रचना सूत्र-प्रमाण के अनुसार देवालय, ब्राह्मणावास, राजमहल, विट् और शूद्रादि के गृहों के अन्तराल पर करे।

एवं कल्पने कोऽपि नियमः —

मानयेद्ब्रह्मदण्डेन दैवे वास्तुस्थलै तथा।
प्रासादे भूपदण्डेनान्यत्रान्येन वा क्रमात्॥ 7॥

देवभवनों को वास्तुस्थल पर ब्रह्मदण्ड के मान-प्रमाण से बनाना चाहिए। राजमहलों को राजदण्ड के मानक प्रमाण से योजित करे और अन्य सभी को भी निर्धारित क्रम से बनाए।

चतुर्दण्डादिकं तत्र मानं द्वादशकावधि।
कीर्तितं मुनिभिर्दिव्यदृष्टिभिस्तत्वदर्शिभिः॥ 8॥

इनको चार दण्ड से लेकर बारह दण्ड प्रमाण तक बनाया जा सकता है, ऐसा दिव्यदृष्टिधारक तत्त्वदर्शी मुनियों द्वारा कहा गया है।[१]

किञ्च क्वचित्स्थले एतादृशप्रमाणं मुख्यतश्शैलीत्रयशोभिनी परिकीर्तिता बोध्या-

एकभागविहीनं वा क्वचिदर्धेन हीनकम्।
मानं प्रयोज्यमित्युक्तं स्थपतीन्द्रैः क्वचित्स्थले॥ 9॥

इन शालाओं के परिकल्पन में यह ज्ञातव्य है कि कोई स्थपतीन्द्र (मुख्य गजधर, अभियन्ता) एक भाग की न्यूनता के साथ तो कोई किसी स्थल पर आधे भाग की कमी के साथ निर्दिष्ट मान का प्रयोग करता है।

मानुषी सा गान्धर्वी दैवीति बहुधेरिता।
प्रागुक्पश्चिममुखा कल्पयेत्सूत्रवेदिभिः॥ 10॥

---

१. अस्य विशदार्थस्त्वेवम्— अत्र ग्रामादौ इतरजनगृहादिषु साधारणदण्डचतुष्कादिद्वादश-दण्डावधिकं, नृपप्रासादेषु भूपदण्डचतुष्कादिद्वादशदण्डावधिकं, देवप्रासादेषु ब्रह्मदण्डचतुष्कादि द्वादशदण्डावधिकञ्च क्रमात्सम्प्राप्तस्थलानुकूलं मानं कल्याणशालाकल्पनाय स्वीकार्यमित्यर्थः। एतादृशदण्डानां प्रमाणादिकं तूक्तपूर्वमेव। इति टीकायाम्।

एवं द्वारयुता शाला स्मृता मङ्गलदायिनी।

ये शालाएँ कई प्रकार की बनती है, जैसे— 1. मानुषी, 2. गान्धर्वी और 3. दैवी। इनके लिए सूत्र के ज्ञाता पूर्व, उत्तर एवं पश्चिमाभिमुख परिकल्पना करते हैं। इस प्रकार से तीन दिशाओं के द्वारों वाली शाला मङ्गलदायिनी कही गई है।

स्पष्टार्थ चक्र

1. मानुषी कल्याणशाला — विप्र, वैश्य, शूद्रादि के गृह में स्थापनीय
2. गान्धर्वी कल्याणशाला — राजप्रासादों में स्थापनीय
3. दैवी कल्याणशाला — देवमन्दिरों में निर्माण योग्य।[१]

कल्याणशालायां मध्यभागे वरवधूवेदिकासहितं वरस्थानाख्यं कल्पनमवश्यं स्थापनीयम् —

वरस्थानद्वयोपेता स्थानत्रयसमन्विता॥ 11॥
चतुःस्थानान्विता वापि पञ्चस्थानान्विताथवा।

ये शालाएँ दो वरस्थानों (वर-वधूवेदिका) वाली होती है किन्तु त्रयस्थान समन्वित, चतुस्स्थान समन्वित और पञ्चस्थान समन्वित भी हो सकती है।

सार्धदण्डं दण्डयुगं व्यासेनेयमुदाहृता॥ 12॥
क्वचित्तदधिकं मानमथवाङ्गणकल्पने।
चतुष्पञ्चदण्डान्तं स्थलयोग्यं प्रकल्पयेत्॥ 13॥

इसी प्रकार इनका प्रमाण डेढ़ दण्ड, दो दण्ड कहा गया है। इनके अतिरिक्त आँगन के लिए मान को इससे कुछ अधिक भी रखा जा सकता है। चार या पाँच दण्ड तक भी योग्य स्थल की लब्धि होने पर इनको परिकल्पित किया जा सकता है।

परितोऽङ्गणभाजं वा द्वारोपद्वारकान्वितम्।
युग्माङ्गणचतुश्शालाकूटकां वा प्रकल्पयेत्॥ 14॥

इनमें पीछे की ओर आँगनों वाले और द्वार एवं उपद्वारों वाले दो आँगन एवं चार शालाओं वाले चतुश्शालकूटक या चौशाला के रूप में लघु कक्ष बनाए।

---

१. किञ्च नन्दिवास्तुशास्त्रादिषु अस्यैव कल्याणशालाकल्पनस्य लक्षणान्तरमुक्तम्। तच्च तत्रैव ज्ञेयमिति टीकायाम्।

चतुष्षडष्टदशकद्वादशाधिकपादकैः।
धारितान्तरभागां वा महासुषिरकान्विताम्॥ 15॥

इनमें चार, छह, आठ, दस, बारह के क्रम से स्तम्भों का न्यास होगा। इन स्तम्भों से शाला का अन्दर का भाग होगा, इसमें छिद्रों वाली जालियों का न्यास भी किया जाएगा। (प्रसंगात् यह वर्णन सघन एवं खोखले स्तम्भों के सन्दर्भ में भी ज्ञेय है)।

भागत्रये कुड्यभाग्वा द्वयोरेकत्र वा क्वचित्।
शृङ्खलाकीर्णिता वापि दारुपट्टान्विताऽथवा॥ 16॥

इनमें तीन भागों वाली भित्ति होगी अथवा कहीं-कहीं एक या दो भाग से भी कल्पित हो सकती है। यहाँ साँकलों से बन्धी हुई अथवा लकड़ी के पट्टों से युक्त रचना हो सकती है।

नानाकल्पनसंयुक्ता सम्मुखस्थितशालका।
नानालङ्कारसंयुक्ता युग्मायुग्मगवाक्षका॥ 17॥

इस प्रकार की रचना नाना कल्पनाओं से युक्त होगी और शाला के सम्मुख स्थित होगी। यहाँ विविधानेक अलंकरणों से विभूषित युग्म-अयुग्म गवाक्षों का न्यास भी किया जाना चाहिए।

संयुक्ता वा वियुक्ता वा कल्पनीया दृढान्तरा।
सममाना समौन्नत्या शिलालोहादिकस्थला॥ 18॥

ये शालाएँ परस्पर संयुक्त या वियुक्त हो सकती है। इनको दृढ़ता के साथ अन्दर की ओर से बनाया जाना चाहिए। ये समान मान, समान ऊँचाई वाली और शिला अथवा लोहादि धातुओं की स्थलीभूत निर्मिति होगी।

इति विश्वकर्मप्रणीते विश्वकर्मवास्तुशास्त्रे
कल्याणशालालक्षणकथनात्मकषट्चत्वारिंशाध्यायः॥ 46॥

इस प्रकार विश्वकर्माप्रणीत विश्वकर्मवास्तुशास्त्र में कल्याण शाला लक्षण कथन विषयक छियालीसवाँ अध्याय पूर्ण हुआ।



अथ पञ्चभौमविधानक्रमनिरूपणात्मकं

सप्तचत्वारिंशाध्यायः ॥ 47 ॥

अथ सप्तचत्वारिंशाध्यायस्य व्याख्यायां कल्याणशालायां पञ्चभौमविधानक्रमाह–

क्वचिद्भूपालहर्म्येषु प्रासादे वा विशेषतः।
तां पञ्चभूमिकोपेतां कल्पये सूत्रविद्बुधः ॥ 1 ॥

(अब इस अध्याय में कल्याणशाला के लिए पँचभौम विधान का क्रम कहा जा रहा है) किसी राजभवन में अथवा प्रासाद में विशेष रूप से शिल्पी को चाहिए कि पाँच मंजिली कल्याणशाला की रचना करे।

भौमशालासमां वापि किञ्चिन्न्यूनप्रमाणकाम्।
पार्श्वहर्म्यसमोपेतां पार्श्वभागङ्गणस्थलम्॥ 2 ॥

इन भौमशाला या एकाधिक मंजिल वाली शालाओं की अपेक्षा वहाँ कुछ कम प्रमाण से पार्श्व में हवेलियों सहित पीछे के भाग में आँगन-स्थल की रचना की जानी चाहिए।

तत्रैव वातायनडोलकं रूपालङ्करणमाह —

पूर्वशालासमोपेतां वातायनशतावृताम्।
तले तले डोलकं स्यान्नानाचित्रमनोहरम्॥ 3 ॥

इसमें पूर्वशाला या आगे की शाला हो और वह सैकड़ों झरोखों से आवृत हो। इसमें प्रत्येक तल पर डोलक, हिण्डोलनों को बनाया जाए जो कि नाना प्रकार के चित्रों से तक्षित दिखाई देते हों।

कूटमण्टपवैमानमानकं तत्प्रकीर्तितम्।
मध्यभागं विशालाढ्यं समं वा पार्श्वकल्पनम्॥ 4 ॥

वहाँ पर कूट-मण्डप या लघु मण्डपों की रचना हो और विमान या शिखर मानों की रचना होना कहा गया है। वहाँ का मध्यभाग विशाल या समतलकृत हो। ऐसा पार्श्व में भी परिकल्पित हो सकता है।

पादसन्धारितं वापि महासुषिरधारितम्।
द्विदण्डं वा त्रिदण्डं वा नेष्यतेऽत परं बुधैः ॥ 23 ॥

यह निर्मिति सम्पूर्णतः स्तम्भों पर आधारित होगी और बहुत-सी जालियों सहित कल्पित की जाएगी। इसका प्रमाण दो राजदण्ड अथवा तीन राजदण्ड प्रमाण का होगा, विद्वानों को इससे अधिक अभीष्ट नहीं है।

सर्वेषां प्राङ्मुखं शस्तं भूपालानामुदङ्मुखम्।
जङ्गमस्थावरक्षेमकल्पतं डोलकस्थलम्॥ 5॥

ये पँचभौमिक रचनाएँ सभी के लिए पूर्वमुखी एवं राजा के लिए उत्तरमुखी होना प्रशस्त कहा गया है। इसके साथ ही डोलक स्थल को जँगम-स्थावर के लिए कल्याणप्रद कल्पित किया जाना चाहिए।

करभित्ति---------------------।
कल्पयेन्मतिमान्युक्त्या सर्वतस्समसूत्रकम्॥ 6॥

इन वास्तु रचनाओं को बुद्धिमान सदैव निर्दिष्ट युक्ति के साथ बनाए और सर्वत्र समसूत्र का ही व्यवहार करना चाहिए।

सव्यापसव्ययोर्मार्गस्त्वथवाऽत्र चतुःस्थले।
वलभीतोरणोपेतां मार्गस्योपरि वा तले॥
कारयेन्मध्यमान्तं वा भित्त्यन्त वा विशेषतः॥ 7॥

इनमें सव्य और अपसव्य अर्थात् दायाँ और बायाँ मार्ग में या फिर चतुस्थल या चौक में वलभी एवं तोरण युक्त मार्ग के ऊपर या नीचे, मध्य से अन्त तक बनाए अथवा भित्ति के अन्त तक भी विशेष रूप से बनाना चाहिए।

इति विश्वकर्मप्रणीते विश्वकर्मवास्तुशास्त्रे पञ्चभौमविधानक्रमकथनात्मकं सप्तचत्वारिंशाध्यायाः॥ 47॥

इस प्रकार विश्वकर्माप्रणीत विश्वकर्मवास्तुशास्त्र में कल्याणशाला के अर्थ में पञ्चभौम विधान क्रम कथनात्मक सैंतालीसवाँ अध्याय पूर्ण हुआ।



अथ गोपुरविधानक्रमनिरूपणात्मकं

अष्टचत्वारिंशाध्यायः ॥ 48 ॥

तत्र कल्याणशालायां मौलिस्थाने कल्पनीयविमानगोपुरादि विधानक्रमाह —

प्रायः प्रासादे राज्ञा विमानं तत्र कारयेत्।
मागधेष्वपि पाञ्चालेष्वपि कालिङ्गिकेषु च॥ 1॥

(अब कल्याणशाला के शिखर के क्रम में गोपुरविधान निरूपित किया जा रहा है) प्रायः राजा के प्रासाद में कल्याणशाला का निर्माण किया जाना हो तो उन पर शिखर की योजना अवश्य रखी जानी चाहिए। ये तीन प्रकार की प्रमुखतः हो सकती है— 1. मागध शैली, 2. पाञ्चालशैली और 3. कलिङ्ग शैली।

पूर्वद्वारोपरि स्थाप्यं तद्विमानं मनोहरम्।
आस्थानमण्टपस्योर्ध्वे चूलीहर्म्यस्य मौलिषु॥ 2॥

इनके पूर्व द्वारों या आगे के द्वारों पर मनोहरतम विमान या छतरी की रचना की जानी चाहिए। इसी प्रकार आस्थान मण्डप के ऊपर और चूली भवन हो तो उनके ऊपर भी शिखर की रचना हो।

कल्याणशालायाश्चोर्ध्वे राज्ञां मन्दिरकूटके।
क्वचिद्देवगृहस्योर्ध्वे भागे वा मङ्गलप्रदम्॥ 3॥

कल्याणशाला के ऊपर एवं राजा के प्रासाद के कूट या ऊँचाई पर, कहीं-कहीं देवालय के भी ऊपरी भाग में शिखर की रचना करना मंगलप्रद कहा गया है।

विमानकल्पनङ्कार्यं शिखरेणापि भासुरम्।
वर्तुलञ्चतुरस्रं वा व्यासाधिक्यं द्विदण्डकम्॥ 4॥

शिखरों पर विमान की रचना का कार्य बहुत सुन्दर ढँग का होना चाहिए। ये वर्तुलाकार, चतुरस्र हो सकती है। इनमें दो दण्ड व्यास रखा जा सकता है।

अन्यदप्याह —

नानातलसमोपेतं गोपुराकृति वा क्वचित्।
हस्तायामं मध्यतलं द्विहस्तं पार्श्वपट्टिकम्॥ 5॥

इसी प्रकार यह विविधानेक तलों से हो सकता है, वहाँ कदाचित गोपुर की

आकृति को भी परिकल्पित किया जा सकता है। इनका मध्य तल एक हाथ के आयाम के बराबर रखें और इसमें दो हाथ प्रमाण से पार्श्वपट्टिका की रचना की जानी चाहिए।

तथा चान्यलङ्करणमाह —

क्षुद्रान्धारिकया युक्तं वलभीतोरणान्वितम्।
मुखपट्टिकया युक्तं नानाचित्रमनोहरम्॥ 6॥

ये छोटी-छोटी अन्धारिकाओं या कोटड़ियों सहित कल्पित किए जाएँगे। इनको वलभी और तोरणान्वित करे। इसी प्रकार मुखपट्टिका के साथ-साथ वहाँ नाना प्रकार के मनोहर चित्रों का अंकन किया जाना चाहिए।

देव-गन्धर्व-चिह्नानि मातृणां चिह्नकानि वा।
योजयेन्मतिमाञ्छिल्पी शालामौलिविमानके॥ 7॥

इसके लिए देव, गन्धर्वों के चिह्नों सहित मातृकाओं के चिह्नों को भी कल्पित कर बुद्धिमान् शिल्पी को चाहिए कि इस शाला के विमान या शिखरों को अलंकृत करे।

इति विश्वकर्मप्रणीते विश्वकर्मवास्तुशास्त्रे गोपुरविधानक्रमनिरूपणात्मकं अष्टचत्वारिंशाध्यायाः॥ 48॥

इस प्रकार विश्वकर्माप्रणीत विश्वकर्मवास्तुशास्त्र में कल्याणशाला के लिए गोपुर विधानक्रम निरूपण नामक अड़तालीसवाँ अध्याय पूर्ण हुआ।



अथ रङ्गशालालक्षणकथनात्मकः

एकोनपञ्चाशोऽध्यायः॥ 49॥

अथास्मिन्नेकोनपञ्चाशाध्याये रङ्गशालानिर्माणक्रमं विशिनष्टि —

प्रासादस्य पुरोभागे स्वास्थानस्य तु दक्षिणे।
मन्त्रिसेनेशभवनापार्श्वे वा पुरमध्यमे॥ 1॥

मध्यसद्मसमीपे वा मेलनस्थानकेऽपि वा।
राजवीथीमुखान्ते वा शृङ्गाटकतलेऽथवा॥ 2॥
रङ्गशालां गीतिशालां मिलितां स्थापयेद्बुधः।

(अब नगर, पुर में रङ्गशाला, नाट्यशाला के निर्माण के विषय में कहा जा रहा है) ज्ञानी शिल्पप्रवर को चाहिए कि राजप्रासाद के आगे के भाग में; अपने स्थान के दक्षिण पार्श्व में; मन्त्री या सेनापति के भवन के पार्श्व में या नगर के मध्य में या फिर मध्य के सदन के समीप अथवा जहाँ सम्मेलन स्थल कल्पित हो; किसी राजमार्ग के द्वारान्त भाग या चौराहे पर रँगशाला (नाटक के लिए मंच) और गीतिशाला (गायन-वादन स्थली) का मिलित रूप में निवेश करे।

तस्मादेवं निर्दिष्टस्थलेषु भागत्रयेण संयुतां निर्मापयेत् —

देव-गन्धर्व-मानुष्य भागत्रयविभाजिताम्॥ 3॥
गीतिशाला नाट्यशाला पृथक्स्थाप्या क्वचित्स्थले।

इसके लिए देवभाग, गान्धर्वभाग और मानुषभाग— ये तीन भागों का विभाजन करना चाहिए (टीकाकार के मत से देवभाग चार दण्ड प्रमाण का, गान्धर्वभाग आठ दण्ड और मानुषभाग बारह दण्ड प्रमाण का हो)। किसी-किसी स्थल पर गीतिशाला और नाट्यशाला की पृथक् से स्थापना भी हो सकती है।

चतुर्दण्डं समारभ्य द्वि-द्विदण्डविवर्धनात्॥ 4॥
विंशद्दण्डान्तकं मानं प्रतिभागं विधीयते।

इनके लिए आयामादि का प्रमाण चार राजदण्ड से शुरू करे और दो-दो दण्ड प्रमाण बढ़ाते हुए बीस राजदण्ड (4, 6, 8, 10, 12, 14, 16, 18 एवं 20) तक का मान प्रतिभाग रखना चाहिए।

राजधान्यां क्वचिद्भागे मानाधिक्यन्तु मानुषे॥ 5॥
अथवा यद्द्विगुणितं मानं वा नेयमीरितम्।
अथवा मण्डलं भागं मानुषं कल्पयेद्बुधः॥ 6॥
अथवाऽऽवरणस्थानात्क्वचिद्भौमादि भेदतः।

राजधानी में निर्माण का प्रयोजन हो तो किसी भाग की मानुषी शाला का मान अधिक भी रखा जा सकता है (क्योंकि वहाँ प्रजा की विपुलता होती है, अतएव

वहाँ रँगशाला को बड़ा भी बनाया जा सकता है) अथवा जो दुगुना प्रमाण[1] निर्दिष्ट है, उसे इस प्रकार से काम में लेवें कि मण्डल या समूह के भाग में मानुष रँगशाला और गीतिशाला की रचना हो सके। इसके अतिरिक्त इनको आवरणस्थान या फिर लघु स्थान वाली कही गई भूमि के भेद के अनुसार भी बनाया जा सकता है।

तत्रावलोकनदृढमहाधिष्ठानयुक्तमेवाद्यतलनिर्माणमाह —

पार्श्वाङ्गणस्थापनाद्वा महिष्याद्यवलोकनम्॥ 7॥
यथा स्फुटन्तु सर्वेषां तथैवत्कल्पनं वरम्।

इसको नानाभौम सहित विभाजित करते हुए पार्श्व आङ्गन की स्थापना करे अथवा राजरानियों के अवलोकनार्थ प्रबन्ध किया जाना अपेक्षित है। जिस प्रकार से, जहाँ से सभी दर्शकवर्गों को स्पष्टतः दिखाई देता हो, वैसा निर्माण किया जाना उचित है।

महाधिष्ठानसंयुक्तं नेत्रत्रयसमन्वितम्॥ 8॥
कल्पनं सुखदं नृणां देवाद्यानन्दवर्धकम्।

इसके लिए रँगशाला को महाधिष्ठान या ऊँची पीठ और तीन नेत्र सहित बनाना चाहिए अर्थात् बृहद् प्रेक्षा-प्रस्तुति स्थल सहित नेत्रस्थल नामक गोपुर द्वार मानानुसार महाद्वार प्रेक्षकों के आगमन-निर्गम के लिए बनाने चाहिए। इस प्रकार की रचना लोगों के लिए सुखद होती है और देवादि के आनन्द को बढ़ाने वाली होती है।

एवं दैवगान्धर्वभागमानवभागकल्पननिर्माणानां प्रयोजनं किमिति चेत्तद्विवृणोति-

दैवेऽलङ्करणं शस्तं गान्धर्वे गानमीरितम्॥ 9॥
मनुष्यभागे स्थानानि कथितानि सभासदाम्।

---

१. तथा च नाट्यशास्त्रे— त्रिविधं सन्निवेशश्य शास्त्रातः परिकल्पितः॥ विकृष्टश्चतुरश्रश्च त्र्यश्रश्चैव तु मण्डपः। तेषां त्रीणि प्रमाणानि ज्येष्ठं मध्यं तथाऽवरम्॥ प्रमाणमेषां निर्दिष्टं हस्तदण्डसमाश्रयम्। शतं चाष्टौ चतुःषष्टिर्हस्ता द्वात्रिंशदेव च। अष्टाधिकं शतं ज्येष्ठं चतुःषष्टिस्तु मध्यमम्। कनीयस्तु तथा वेश्म हस्ता द्वात्रिंशदिष्यते॥ देवानां तु भवेज्ज्येष्ठं नृपाणां मध्यमं भवेत्। शेषाणां प्रकृतीनां तु कनीयः संविधीयते॥ प्रेक्षागृहाणां सर्वेषां प्रशस्तं मध्यमं स्मृतम्। तत्र पाठ्यं च गेयं च सुखश्राव्यतरं भवेत्॥ प्रेक्षागृहाणां सर्वेषां त्रिप्रकारो विधिः स्मृतः। विकृष्टश्चतुरस्रश्च त्र्यस्रश्चैव प्रयोक्तृभिः॥ कनीयस्तु स्मृतं त्र्यस्रं चतुरस्रं तु मध्यम्। ज्येष्ठं विकृष्टं विज्ञेयं नाट्यवेदप्रयोक्तृभिः॥ प्रमाणं यच्च निर्दिष्टं लक्षणं विश्वकर्मणा। प्रेक्षागृहाणां सर्वेषां तच्चैव हि निबोधत॥ (नाट्य. 2, 7-12)

रँगशाला के दैवभाग में नटादि पात्रों के लिए वेशभूषा-अलंकरण या शोभार्थ युक्तियों का प्रयोग प्रशस्त है। गान्धर्वभाग में गायन-वाद्यवृन्दों के लिए स्थान अपेक्षित है। इसी प्रकार मानुषभाग में सभासदों के प्रेक्षण के लिए आसन स्थान होना चाहिए।

मनुष्यभागस्य पुरः स्थानं वैरिञ्चमीरितम्॥ 10॥
ब्रह्मद्वारन्तु तत्रस्थमखण्डानन्दवर्धकम्।

इसी प्रकार मानुषभाग के पहले के स्थान में सामाजिक लोगों के देखने-बैठने के लिए स्थान नियोजित होता है। (मानुष व गान्धर्वशाला इन दोनों ही शालाओं के मध्य का ब्रह्मस्थान होता है) यहाँ स्थापित द्वार ब्रह्मद्वार होता है, जो अखण्ड आनन्द की अभिवृद्धि करने वाला होता है।

किञ्च पूर्वोक्तब्रह्मद्वारस्य किं वा प्रमाणमिति चेत्तदाह—

द्वारोत्सेधसमं श्रेष्ठं चतुरंशविहीनकम्॥ 11॥

(ब्रह्मद्वार से नट, सूत्रधारादि रँगशाला में प्रवेश कर अभिनय करते हैं) इस द्वार की ऊँचाई सम और चार अंश कम रखना श्रेष्ठ है अर्थात् जहाँ से नेत्रद्वार प्रमाण सोलह भाग का हो तो ब्रह्मद्वार उससे चार अंश कम रखते हुए बारह भाग का ही बनाए।[१]

मध्यमे द्वि-त्रिभागे च कन्यसंवृषभोदयम्। (?)
गर्भार्थकस्य तद्द्वारव्यासमत्र प्रकीर्तितम्॥ 12॥

मध्यम में दो-तीन भागों में जो कनिष्ठ या छोटा हो, वह वृषभोदय (?) होता है, उसके गर्भ का आधा उस द्वार का व्यास कहा गया है।

तथा चान्यस्थलमाह —

रङ्गविद्या समायुक्तं स्थलमेतन्निगद्यते।
गायकानां स्थानकं वा निस्साणातोद्यभूमिकम्॥ 13॥
तदन्तरेऽष्टभागं वा नवभागमथापि वा।

---

१. भरताचार्य के नाट्यशास्त्र की अभिनवभारती टीका में कहा गया है— जनप्रवेशनं च तृतीयद्वारनेपथ्यगृहस्य। येन भार्यामादाय नटपरिवारः प्रविशति। अन्यत्तु द्वारमाभिमुख्येन पूर्वस्यां दिशि कुर्यात्। द्वारवृत्त्या सामाजिकजनप्रवेशनार्थम्। ननु किमपेक्षमाभिमुख्यम्। कक्ष्यापेक्षयैव पूर्वादिभिरित्युक्तम्। यद वक्ष्यति च— यतो मुखं भवेद्भाण्डद्वारं नेपथ्य तु। सा मन्तव्या तु दिक् पूर्वा नाट्ययोगे विपश्चिता॥ (नाट्य. 13, 11; अ. 2, 95 पर उद्धृत)

विभजेत्तत्र मानज्ञः कल्पयेत्सदनं दिशि ॥ 14 ॥

नाटक की कला प्रस्तुति के लिए जो यह स्थल कहा गया है, उसके लिए गान करने वालों का स्थानक रखा जाए या निस्सान (मुरली, वीणा, मर्दलादि) वाद्य-आतोद्य[१] (आतोद्य या तोद्य वे वाद्य होते हैं, जिनको पीटकर बजाया जाता है) की भूमि रखे। इसके अन्तराल पर आठ या नौ भाग का मान ज्ञानपूर्वक विभाजन करते हुए शिल्पी को दिशा-सदन बनाना चाहिए।

पञ्चादशकरं[15] तुङ्गमेकांशं मात्रमीरितम्।
पञ्चाष्टाङ्गुलमायामेव तन्मानमीरितम् ॥ 15 ॥

इस (दैव-गान्धर्व भाग के बीच भित्ति) के लिए पन्द्रह हाथ की ऊँचाई को मात्रा माना गया है और पाँच एवं आठ अँगुल के आयाम का उसका मान कहा गया है।

सव्ये नटीनां वस्त्रादीनितरस्मिन्नटस्य च।
शाला वा कूटका वाऽपि पूजोपकरणार्हका ॥ 16 ॥

रँगशाला के सव्य भाग में नटी पात्रों के लिए वस्त्रादि का प्रबन्ध होना चाहिए और इतर, अपसव्य भाग में नटों के लिए शाला या कूटका (वेशबनाव, नेपथ्यगृह) अथवा पूजा के उपकरण रखने का प्रावधान होना चाहिए।

तत्र नान्दीवेदीकल्पनाह —

शालाकृति प्रकर्तव्या परतो नान्दिकोचिता।
तत्पुरः सदनं तुङ्गं नानाभौमयुतं महत् ॥ 17 ॥
चतुर्दण्डं पञ्चदण्डमथवा दशकावधि।
मानमत्र प्रयोज्यन्त तक्षकैः कल्पनार्हकम् ॥ 18 ॥

इसी प्रकार नान्दी के उद्घोष आदि प्रयोजन से आगे की ओर शालाकृति बनानी चाहिए। उसके पहले आगे की ओर ऊँचा भवन एकाधिक तलों, भूमियों वाला कल्पित करे। यह चार राजदण्डों या पाँच राजदण्डों से लेकर दस राजदण्ड तक के प्रमाण का हो सकता है, यह मान तक्षकों को परिकल्पित करना चाहिए।

मध्यभागं विशालञ्च नानाङ्गणविराजितम्।

---

१. तथा च नाट्यशास्त्रे— शङ्खदुन्दुभिनिर्घोषैर्मृदङ्गपणवादिभिः ॥ सर्वातोद्यैः प्रणुदितैः स्थापनं कार्यमेव तु। (नाट्य. 2, 36-37)

विमानशिखरोपेतं कर्णनासाविभूषितम्॥ 19॥

वहाँ मध्य भाग को विशाल आँगन सहित बनाए। उक्त भवन को विमानाकार शिखर से सज्जित करे जिसमें कर्ण, नासिका आदि का अलंकरण किया जाना चाहिए।

तुङ्गस्तम्भशतैर्युक्तमशीतिस्तम्भकं तु वा।
चतुष्षष्टिस्तम्भयुतमथवैतत्प्रकल्पयेत्॥ 20॥

इसके लिए सौ ऊँचे स्तम्भ हो सकते हैं। स्तम्भों की संख्या अस्सी या फिर चौसठ भी रखी जा सकती है। इस प्रकार स्तम्भों का न्यास (क्रमशः उत्तम, मध्यम और अधम शाला रूप से) परिकल्पित करना चाहिए।

भूपालरङ्गशालायान्तु स्तम्भस्थापनस्थलं मण्डपाकारं प्रकल्पयेत् —

शालाकारमिदं प्रोक्तं राजवेश्मनि मण्टपम्।
वदन्ति मुनयश्शस्तं ज्ञानानन्दकरं परम्॥ 21॥

इस प्रकार के शालाकार को राजमहल का मण्डप कहा जाता है, जिसे शिल्पशास्त्र के मुनि प्रशस्त बताते हैं और इसे परम ज्ञानानन्दकारक मानते हैं।

तत्र रमणीयदर्पणादिकं सचित्ररचनं लम्बयेनाह —

मणिदर्पणशोभाढ्यं वातायनशतान्वितम्।
तोरणादीनि चित्राणि तत्र-तत्र प्रकल्पयेत्॥ 22॥

वहाँ पर सुन्दर मणियों सहित दर्पणों की जड़ाई से शोभायमान सैकड़ों वातायनों की रचना की जानी चाहिए। इसी प्रकार तोरण, चन्दोवा सहित स्तम्भ ललाट पट्टिका के भाग में यत्र-तत्र चित्रांकन भी किया जाना चाहिए।

तथा च ब्रह्मद्वारनेत्रद्वारभागभित्तिष्वपि नानाभूषणनिर्देशमाह —

विधातारञ्च वाणीञ्च गीतिशास्त्रप्रवर्तकान्।
विद्याधरीं जगद्धात्रीं कल्पयेच्चन्द्रसूर्यकौ॥ 23॥

वहाँ पर ब्रह्मद्वार भाग की भित्ति, नेत्रद्वार भाग की भित्ति के क्षेत्रान्तर्गत विधाता, सरस्वती, गीतिशास्त्र के प्रवर्तक गान्धर्व नारद, विद्याधरी, जगन्मातृका, चन्द्र और सूर्य की रचना की जानी चाहिए।

द्वारपार्श्वस्थले योधं स्थापयेद् खड्गधारिणम्।
चामरग्राहिणीं दिव्ययोषितं वाऽत्र कल्पयेत्॥ 24॥

द्वार के पार्श्वस्थल पर खड्ग लिए योद्धाओं की आकृतियाँ (यथा—छड़ीदार, खड्गदार) बनाई जानी चाहिए। इसके अतिरिक्त चामरग्राहिणी दिव्य नारियों का अंकन भी किया जा सकता है।

लक्ष्मीमुमां शिवं दिव्यगायकान्वा प्रकल्पयेत्।
पार्श्वभित्तिसमायुक्तामङ्गणाङ्गणकल्पनाम्॥ 25॥

इसी प्रकार लक्ष्मीदेवी, उमादेवी, शिव सहित दिव्य गायकों— गन्धर्व, किन्नर, उरग, नन्दिगणादि का अंकन करे। वहाँ पर पार्श्वभित्ति युक्त कई आँगनों की रचना भी की जानी चाहिए।

अन्यदप्याह —

सुषिद्वारभागाढ्यामात्तपङ्क्तिक्रमां तथा।
कल्पयेल्लक्षणोपेतैः नानाचित्रादिभिर्युताम्।
क्वचिदुद्यानवापीं वा सुखदां शुद्धवास्तुकाम्॥ 26॥

इस प्रकार से वहाँ पर छिद्रों वाले, जालीदार द्वारों से युक्त तथा धूप से बचने के लिए छज्जों की पंक्तियों हो जिन पर नाना प्रकार के चित्रों का अंकन[१] कर रँगशाला को सौन्दर्ययुक्त बनाना चाहिए। यदि सुविधा हो तो वहाँ पर उद्यान, बावड़ी आदि जलस्रोत सहित सुखदायक शुद्ध वास्तु रचना की जानी चाहिए।

इति विश्वकर्मप्रणीते विश्वकर्मावास्तुशास्त्रे रङ्गशालालक्षणकथनं नाम एकोनपञ्चाशोऽध्यायः॥ 49॥

इस प्रकार विश्वकर्माप्रणीत विश्वकर्मवास्तुशास्त्र में रँगशाला लक्षण कथन नामक उनचासवाँ अध्याय पूर्ण हुआ।



१. भरताचार्य कृत नाट्यशास्त्र और महाराणा कुम्भा (1433-68 ई.) कृत सङ्गीतराज में नाट्यशाला के निर्माण की विस्तृत विधि आई है। विस्तार से वहाँ द्रष्टव्य है। चित्रकर्म के लिए निर्देश है— समासु जातशो चित्रकर्म प्रयोजयेत्। चित्रकर्मणि चालेख्याः पुरुषाः स्त्रीजनास्तथा॥ लताबन्धश्च कर्तव्याश्चरितं चात्मभोगजम्। एवं विकृष्टं कर्तव्यं नाट्यवेश्म प्रयोक्तृभिः॥ (नाट्य. 2, 84-85)

अथ मन्त्र्यादिभवनलक्षणकथनं नाम

पञ्चाशोऽध्यायः ॥ 50 ॥

अथास्मिन्पञ्चाशत्तमेऽध्याये भूपालकुटुम्बभूतसचिवसेनापतियुवराजप्रमुखानां निवासयोग्यभवनलक्षणं संग्रहेण प्रतिपादयति —

प्रासादादिषु सर्वेषु राज्ञां यन्मानयोजनम्।
तदर्धं वा तदर्धं वा मन्त्रिसेनेशहर्म्यके॥ 1॥

(इस अध्याय में राजपरिवार के सचिव, सेनापति, युवराज आदि के निवास योग्य भवनों के लक्षणों का वर्णन किया जा रहा है) राजप्रासादों के जो भी मान निर्धारित हों और उनके विस्तार-वास्तु की जो भी रचना हो, उससे आधी वास्तु-योजना (1/2) में अथवा आधे के भी आधे (1/4) भाग के वास्तु के बराबर मन्त्री और सेनापति की हवेली को बनाना चाहिए।

तस्मात्तदिदं सचिवसेनानायकहर्म्यादिनिर्माणं कुत्र वा स्थले कल्पनीयमिति चेत्तदाह —

योजयेत्स्थपतिश्रेष्ठः अन्तस्स्थं पूर्ववक्त्रकम्।
बहिश्चेत्पश्चिमास्य वा कौबेरास्यमथापि वा॥ 2॥

स्थपतियों में प्रमुख के लिए ज्ञातव्य है कि राजमहल के अन्दर के भाग में जो भवन मन्त्रियों व सेनापति के बनाए जाए, उनके द्वार का मुख सदैव पूर्व दिशा की ओर से ही रखे। यदि उनके निवास राजमहल के बाहर की ओर हों तो उनके द्वार पश्चिम या उत्तर दिशाभिमुख हो सकते हैं।

इत्यमनन्तरं संक्षेपतस्तत्क्रममाचेष्ट —

क्षुद्रप्राकारसंयुक्तं भौमत्रयसमन्वितम्।
त्रि-पञ्च-सप्तभौमान्तं कल्पनं प्रविधीयते॥ 3॥

इन भवनों के परकोटे लघु आकार वाले हों। ये भवन तीन मंजिल तक बनाए जो सकते हैं। इसके अतिरिक्त तीन, पाँच या सात भौम, तल तक भी इनके निर्माण का विधान कहा गया है।

अथाऽऽन्तरालिकलक्षणमद्य विवृणोति —

शतदण्डप्रमाणं$_{100}$ वा द्विशतावधिमानकम्$_{200}$।
नेयमत्र विधानेन कल्पनार्हं पृथुक्रियम्॥ 4॥

इनका विस्तार मान सौ राजदण्डों के बराबर या उससे अधिक दो सौ राजदण्डों के बराबर रखा जा सकता है। इस प्रकार प्रथम से अन्तिम द्वार तक भित्तिस्थापना की कल्पना मानानुसार करना योग्य माना जाता है।

मण्डलाकारमध्यस्य शालकं सोपशालकम्।
तत्र द्वारचतुष्कोणयुक्तं कल्पनकं बहिः॥ 5॥

इसका मध्यभाग मण्डालाकार हो, गोलाई लिए हुए हो। उसके चारों ही ओर शालाएँ, उपशालाएँ या छोटे-बड़े कक्षों की रचना हो। उनके द्वार भी चौकोण युक्त हो और बाहर की ओर खुलने वाले हो।

अष्टशालासमायुक्तं मध्यद्वारसमुज्ज्वलम्।
महाचत्वरयुक्तं वा महाङ्गणसमावृतम्॥ 6॥

इसका मध्य द्वार विशाल अष्टशालाओं से सुशोभित हो। इसके मध्य में बड़ा चौक खुला हुआ हो जिसका आँगन विशाल क्षेत्र वाला हो।

सामन्तानां क्षत्रियाणामुत्तमासनयोग्यकम्।
कारयेन्मतिमान् शिल्पी हर्म्यकं शिखरोज्ज्वलम्॥ 7॥

इस तरह से सामन्तों-जागीरदारों और उत्तम ठिकानों के क्षत्रियों के लिए भी मतिमान् शिल्पीगणों को उज्ज्वल शिखर या छतरीदार गुम्बजों वाली हवेलियों की रचना करनी चाहिए।[१]

अथ युवराजभवनलक्षणकथनम् —

युवराजस्य भवनमन्तर्वा बहिरेव वा।

---

१. वराहमिहिर का मत है कि सेनापति के लिए प्रथम गृह का विस्तार 64 हाथ रखा जाएगा एवं वह अपने छठे अंश से युक्त दीर्घता लिए होगा। इस प्रकार छह हाथ विस्तार में न्यून क्रमानुसार अन्य चार गृहों का विस्तार वाला होगा जबकि विस्तार छह भाग युक्त चार अन्य गृहों का दीर्घ होगा। सचिवों (मन्त्रियों) के गृह पाँच प्रकार के होते हैं। प्रथम गृह साठ हाथ के विस्तार में, क्रमिक रूप से 4-4 हाथ छोटे विस्तार के अन्य चार गृह होंगे एवं सर्वत्र विस्तार का आठवाँ अंश अधिक दीर्घ होगा— षड्भिः षड्भिर्हीना सेनापतिसद्मानां चतुःषष्टिः। पञ्चैवं विस्ताराः षड्भागसमन्विता दैर्घ्यम्॥ षष्टिश्चतुर्भिर्हीना वेश्मानि पञ्च सचिवस्य। स्वाष्टांशयुतं दैर्घ्यं तदर्धतो राजमहिषीणाम्॥ (बृहत्संहिता 53, 5-6)

प्राकारत्रययुक्तं वा क्षुद्रगोपुरभासुरम्॥ 8॥

(अब युवराज के महल के लक्षण कहे जाते हैं)[१] युवराज के महल को भी राजमहल के भीतरी भाग में अथवा इसके बाहरी में तीन परकोटों से युक्त बनाए। इसमें छोटे गोपुर-द्वार बड़े सुन्दर ढँग से बनाए जाने चाहिए।

शतदण्डप्रमाणं वा पञ्चाशद्दण्डकं तु वा।
मध्यकल्पनमानन्तु नेयमत्र विशारदैः॥ 9॥

ये भवन भी सौ राजदण्ड अथवा पचास राजदण्ड के प्रमाण से बनाने चाहिए। शिल्पविशारद इसके मध्य का रचनामान (75 राजदण्ड) भी ग्रहण कर सकते हैं।

तत्र द्वारभौमादीनां प्रमाणमाह —

पूर्वद्वारसमायुक्तं पूर्ववेदिकया युतम्।
नवभौमं सप्तभौममथवा पञ्चभूमिकाम्॥ 10॥

युवराज के भवन को पूर्व दिशाभिमुख बनाए। उसमें आगे की ओर वेदिका अथवा चबूतरा बनाया जाए। इनको नौ, सात या पाँच भूमिका या मंजिलों वाला बनाए।

शिखरत्रयसंयुक्तं भित्त्यन्तकलशान्वितम्।
नानाङ्गणसमायुक्तं चूली-हर्म्यविराजितम्॥ 11॥

इनके तीन छतरी वाले शिखर कल्पित करे जिनमें भित्त्यन्त भाग पर कलशों की स्थापना की जानी चाहिए। वे अनेक चौक-आँगन वाले हों और चूली-हर्म्य से शोभास्पद हो।

पार्श्वशाला-मध्यशाला-पुरश्शालासमन्वितम्।
मध्यचत्वरसंयुक्तं नवरङ्गादिभिर्युतम्॥ 12॥

इनमें पार्श्वशाल (आजू-बाजू के कक्ष) हो, मध्यशाल और आगे के कक्षों की योजना हो। मध्य में चौक-चत्वर हों और नवरँग मण्डप की रचना की जानी चाहिए।

तत्र मङ्गलासनस्थानमण्डपादीनां परिकल्पनीयः —

मङ्गलासनसंयुक्तं पूर्वमण्टकल्पनम्।

---

१. वराहमिहिराचार्य का मत है कि युवराज के अस्सी हाथ विस्तार एवं अपने तृतीयांश से युक्त दीर्घ प्रमाण के प्रथमादि गृह होंगे, प्रथमादि गृहों के विस्तार में उत्तरोत्तर छह हाथ हीन करके अन्य चार गृह कल्पित किए जाएँगे—षड्भिः षड्भिश्चैवं युवराजस्यापिवर्जिताऽशीतिः। त्र्यंशान्विता च दैर्घ्यं पञ्च तदर्धंस्तदनुजानाम्॥ (**बृहत्संहिता 53, 7**)

पट्टिकामार्गसंयुक्तं मुखभद्रं प्रकल्पयेत्॥ 13॥

वहाँ पर मंगल आसन से युक्त पूर्व मण्डप को परिकल्पित किया जाना चाहिए। इसी प्रकार उसे पट्टिका मार्ग से जोड़ें और मुखभद्र या आगे की दीवार भी बनाए।

पुरकार्यालयोपेतं न्यायवित्पीठिकान्वितम्।
अमात्यासनयुक्तञ्च कल्पनं पूर्वभागके॥ 14॥

इस राजमहल के आगे के भाग में नगर के कार्यालय का न्यास करे और न्यायविद् की पीठ को भी स्थापित किया जाए। इसी प्रकार वहाँ मन्त्रीगणों के बैठने के आसनों से युक्त पीठ को भी पूर्वभाग में कल्पित करना चाहिए।

किञ्चास्य कल्पनस्य मुखभागे नानालङ्कारमण्डिताङ्ग आह —

नानासदनकोपेतमन्तःस्थलमुदीरितम्।
एकावरणकं वापि क्वचिदावरणद्वयम्॥ 15॥

इस प्रकार से नाना प्रकार के सदनों से युक्त यह अन्तस्स्थल राजमहल का भीतरी भाग कहा गया है, जो एक आवरण या कहीं-कहीं दो आवरण वाला होता है।

कल्पयेन्मतिमाञ्छिल्पी क्वचिदावरणत्रयम्।
पृथक्कल्पनयुक्तं वा तद्युतं वा विहारकम्॥ 16॥

यदि कहीं शिल्पी उचित समझें तो उसे तीन आवरण या परकोटों वाला भी बना सकते हैं। उसके साथ ही अलग से कल्पनायुक्त रचना वाला विहार भी बनाया जा सकता है।

स्थलमस्य प्रकर्तव्यं नानालङ्कारभासुरम्।
भोज्यशय्यास्नानशालाः पूर्वाग्नेयोत्तरस्थिताः॥
युक्त्यान्यकल्पनं धीमान्स्थापयेच्छिल्पयोग्यकम्॥ 17॥

इस स्थल को नाना प्रकार के अलंकरणों से सजाना-धजाना चाहिए। उसमें भोजनशाला, शय्यासन, स्नानशालाओं को पूर्व, आग्नेय और उत्तर दिशा में स्थित करनी चाहिए। इसी प्रकार युक्तिपूर्वक अलग से परिकल्पना करके शिल्पी को उपयुक्त निर्माण करना चाहिए।

इति विश्वकर्मप्रणीते विश्वकर्मवास्तुशास्त्रे मन्त्र्यादिभवनलक्षणकथनं नाम पञ्चाशोऽध्यायः॥ 50॥

इस प्रकार विश्वकर्माप्रणीत विश्वकर्मवास्तुशास्त्र में मन्त्री, युवराजादि के भवनों के लक्षणों का कथन नामक पचासवाँ अध्याय पूर्ण हुआ।

अथ ग्रामगृहनिर्माणक्रमकथनं नाम

एकपञ्चाशोऽध्यायः ॥ 51 ॥

अथास्मिन्नेकपञ्चाशेऽध्याये ग्रामेषु विविधेषु विविधब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्यादीनां सर्वेषां साधारणगृह-वेश्म-निकेतनादीनां मानस्थापनादिक्रमं विशदयति —

ग्रामास्तु विविधाः ख्याता देशस्थलविभागतः ।
शुद्धैश्च मिश्रितैरन्यैः कल्पनैर्भिन्नमानकैः ॥ 1 ॥

(अब इक्यावनवें अध्याय में ग्रामों के अन्तर्गत विप्रादि चारों ही वर्णों के समुदायों के लिए गृह निर्माण के लक्षण कहे जा रहे हैं) ग्राम विविध प्रकार के होते हैं जो देशभेद (बंग, अंग, पाञ्चाल, कोसलादि), स्थलभेद (जाँगल, अनूप, साधारण, पार्वतीय) और भूमि (रंग, स्वादादि) के विभाग के अनुसार ही ख्यात होते हैं। इनमें शुद्धमानाधारित, मिश्रमानाधारित और अन्य भिन्नमानाधारित परिकल्पित होते हैं।

तस्मात्तद्गृहनिर्माणं विविधं परिकीर्तितम्।
मानज्ञश्च क्रियावेदी तक्षको लोकबान्धवः ॥ 2 ॥
गृहादीन्स्थापयेद्दोषहीनान्मङ्गलसिद्धये।

अतएव इनके लिए गृहनिर्माण की विधियाँ भी विविध प्रकारेण कही गई है। ये मानज्ञानियों, क्रियावेदियों, तक्षकों और लोकबन्धुओं के मन्तव्याधारित होती हैं। इन गृहादि के निर्माण, स्थापना में यह सदैव ध्यान रखा जाना अपेक्षित है कि वे दोषरहित हो और वहाँ निवास करने वालों की मंगल की सिद्धि करने वाले हो।

तथा च गृहे प्राथमिक मुख्यद्वारं निर्माणपणीयमाह —

ब्राह्मण-क्षत्रिय-विशां-शूद्राणामपि जीविनाम् ॥ 3 ॥
सङ्कीर्णवर्णजानाञ्च गृहं वेश्म निकेतनम्।
प्राङ्मुखं वोत्तरमुखं पश्चिमास्यं स्थलोचितम् ॥ 4 ॥
दक्षिणाननयुग्वाऽपि पूर्ववेदिसमन्वितम्।

ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों, शूद्रों आदि चतुर्वर्णीय समुदायों सहित अन्य संकीर्ण वर्ण के अन्तर्गत जन्म लेने वाले लोगों के लिए गृह, हवेलियों या निकेतनों को पूर्वमुखी, उत्तरमुखी अथवा पश्चिममुखी जैसा भी स्थल सुलभ हो, वैसा बनाया जा

सकता है और यदि कोई गृह दक्षिणमुखी भी बनाना पड़े तो वहाँ पर पूर्व में समसूत्र से वेदी या चबूतरा अवश्य ही बना देना चाहिए (ऐसा श्रेयस्कर है, कभी ईशानादि चारों कोनों में गृहद्वार नहीं रखना चाहिए)।

अथ क्षुद्रग्रामे शालादीनां कल्पनमाह —

युग्मस्तम्भालिन्दशालातूलपट्टादिभिर्युतम्॥ 5॥
एक-द्वि-त्रि-चतुः-पञ्च-षट्छालाभिः समन्वितम्।

छोटे ग्राम के लिए गृहों को युग्म संख्यक स्तम्भों, अलिन्द-बरामदों, तूलपट्टी या कनातों आदि से युक्त रखना चाहिए। इनके अन्तर्गत एक, दो, तीन, चार, पाँच अथवा छह शालाओं तक का निर्माण करना चाहिए।

शावलैरिष्टिकाखण्डैः पटलैर्वा विशेषतः॥ 6॥
दृढावरणकं शस्तं तज्जीवानां सुखप्रदम्।

इनको शावलों, ईंटों के टुकड़ों या लकड़ी के पट्टियों से विशेष रूप से दृढ़ावरण अथवा छतों से युक्त किया जाना चाहिए, यह वहाँ रहने वालों के लिए प्रशस्त एवं सुखप्रदायक होता है।

वामे च दक्षिणे भागे शालाकल्पनशोभितम्॥ 7॥
चत्वरादिसमाक्रान्ततलमध्येन भाजितम्।
शालाकुड्यादिभिर्युक्तं चत्वरालिन्दसंयुतम्॥ 8॥

उनके बायें और दायें भाग में आवास के लिए शोभाजनक कक्षों का नियोजन करे और उनके मध्यभाग के तल पर चत्वर या चौक बनाए जो विस्तृत हो एवं उसके चारों ही ओर शाला कुड्या सहित चौक एवं अलिन्द का निवेश हो।

नानागृहसमायुक्तं युग्मतूलादिवेशकम्।
क्षुद्रग्रामेष्वियं शैली प्रशस्ता परिकीर्तिता॥ 9॥

इस प्रकार से नाना आकार-प्रकार के गृह एवं टाटपट्टियों से तैयार किए गए (झोंपड़पट्टी) आवास भी हो सकते हैं। इस शैली में गृह छोटे गाँवों में बनाना प्रशस्त होता है।

अथ बृहदाकारमहाग्रामेषु कल्पनीयसद्म-निकेतनादीनां प्रमाणनिर्माणादिक्रमाह-

त्रिविधं भवनं प्रोक्तं वृहद्ग्रामादिषु क्वचित्।
सौधं शावलकं मिश्रं कल्पभेदप्रमाणकैः॥ 10॥

कदाचित् तीन प्रकार के गृहों को बड़े ग्रामों के अनुकूल बताया गया है। भेद प्रमाण से ये गृह 1. सौध, 2. शावलक और 2. मिश्र कल्पित होते हैं।

वीथीषु च प्रतोलीषु नमिश्रं कारयेद्बुधः।
दृढभूलम्बनोपेतः कल्पस्सर्वत्र कीर्तितः॥ 11॥

ज्ञानी शिल्पी को कभी वीथी या रास्तों पर और प्रतोली या राजमार्गों पर इन मिश्र भवनों को नहीं बनाना चाहिए। वहाँ पर तो दृढ़ नींव के आलम्बन वाले भवनों को ही बनाया जाना सर्वत्र कीर्तिप्रद कहा गया है।

तत्रैव गृहकल्पने प्रमाणन्तु द्विविधमुक्तम् —

प्रतिलोमानुलोमाभ्यां तत्र मानमुदीरितम्।
व्यासविस्तारमानन्तु त्रिदण्डादिप्रमाणतः॥ 12॥
विंशद्दण्डावसानं तद्ग्रामगेहेषु कीर्तितम्।

वहाँ इनके प्रतिलोम और अनुलोम के मान प्रमाण अग्रानुसार होंगे— इनका व्यास विस्तार साधारणतः तीन राजदण्डों के बराबर होता है और इनको अधिकतम बीस राजदण्ड प्रमाण तक बनाया जा सकता है, इस प्रकार यह प्रमाण ग्रामगृह का कहा गया है।

भूभागेऽधिकमाने तु मध्यतिर्यक्क्रिया मता॥ 13॥
पूर्ववेदिकया युक्तं तुङ्गद्वारसमन्वितम्।
पूर्ववेदीपादमानतदर्धार्धविभेदतः॥ 14॥

इनके भूभागों में अधिक प्रमाण वाले गृहों की मध्यतिर्यक् क्रिया कही गई है। उनमें आगे की ओर वेदिका होती है और उनका द्वार अपेक्षाकृत बड़ा व ऊँचा होता है। यह विभेदीकरण के अनुसार पूर्व वेदी के पाद के मान से आधा-आधा होता है।

भित्तिकल्पनमत्रोक्तं ग्रामेषु विविधेष्वपि।
मध्यालिन्दद्वयोपेतं मध्यचत्वरयुग्मकम्॥ 15॥

उपर्युक्त ग्राम में गृहों के लिए भित्तियों की रचना विविध प्रकार की हो सकती है। गृहों के मध्य में दो अलिन्द और मध्य में ही दो चत्वर या चौकों की रचना हो।

नानाशालासमायुक्तं नानाक्षुद्रगृहान्वितम्।
अन्त्यकल्पनयुक्तं वा तद्दूरे वा क्वचित्स्थले॥ 16॥

इस प्रकार ये गृह नाना शालाओं से युक्त हो, उनमें विविध लघु गृहों की रचना की जानी चाहिए। ऐसी क्षुद्र गृह रचनाएँ ग्राम के अन्त में या फिर दूर किसी स्थान में होनी चाहिए।

वाजि-गो-महिषादीनां स्थानकं कल्पयेद्बुधः।
वापी-कूपसमायुक्तं निष्कुटारामशोभितम्॥ 17॥
नानावरणयुक्तं वा कल्पनञ्च क्वचिन्मतम्।

इन गृहों के साथ ही घोड़े, गाय, भैंस आदि के लिए बाड़े, ठाण भी ज्ञानियों को नियोजित करने चाहिए। जनसुविधार्थ कूप-बावड़ी भी बनाए और रंजन के प्रयोजन से निष्कुट-कुंज, बाग-बगीचों की शोभा भी करे। इसी प्रकार कुछ लोगों का मत है इन गृहों को नाना आवरणों या छतों वाला बनाए।

किञ्चैतादृशक्षुद्रग्रामगृहभूमिश्च महाग्रामगृहभूमिश्चभागत्रयात्मिका विभक्ता भवति, यथा —

ब्राह्मगान्धर्वमानुष्यभागत्रयविभाजितम्॥ 18॥
कारयेन्मतिमाञ्छिल्पी कल्पनार्हपृथुक्रियम्।

क्षुद्रग्राम और महाग्राम में बनाए गए गृहों की कुल भूमि को स्थल-निवेश के प्रयोजन से बुद्धिमान शिल्पी 1. ब्राह्मभाग, 2. गान्धर्वभाग और 3. मनुष्यभाग — इन तीन भागों में विभाजित करे (शिल्पी को इनका पृथक्कीकरण करते हुए वहाँ पर विविध स्थलों का निवेश करना बताया गया है)।

ब्राह्मे वेदप्रचारश्च गान्धर्वे शयनादिकः॥ 19॥
मानुष्ये भोज्यशालादिः क्रमादेवं प्रकीर्तितः।

उक्त विभाजन के अनुसार ग्रामगृह के ब्राह्मभाग में वेदप्रचार या शास्त्रपठनशाला, गान्धर्वभाग में शयनादि कक्ष और मनुष्यभाग में भोज्यशालादि का क्रमशः निवेश करना चाहिए।

अपि चैतादृशभागत्रयस्थलेषु स्थलान्तेष्वपि स्तम्भादि निवेशनमाह—

स्तम्भान्धारिकया युक्तं समकल्पनशोभितम्॥ 20॥

इन गृहों में दृढ़ स्तम्भों को आन्धारिका नामक उपदारुखण्ड सहित समसंख्या में स्थापित करे और सुन्दरता का प्रयास करना चाहिए।

मध्यभागद्वारकन्तु कल्पनं सर्वयोग्यकम्।

हीनभागद्वारकन्तु ग्रामेष्वेव क्वचिद्विदुः ॥ 21 ॥

इसी प्रकार इनके मध्यभाग में द्वार का निवेश सब दृष्टि से योग्य माना जाता है। कतिपय विद्वानों का यह मत भी है कि छोटे ग्रामों में द्वार को बृहदापेक्षया हीनभाग से रखना चाहिए।

नित्यनैमित्तिकद्वारकल्पनादिसमन्वितम्।
चतुष्कर्णद्वारकूटं द्वादशद्वारकल्पनम्॥ 22 ॥

नित्य-नैमित्तिक द्वार या सामान्य द्वार वाले गृहों की रचना के साथ ही चतुष्कर्ण द्वारकूट या चारों ही कोनों पर द्वारकूट वाले बारह द्वारों की रचना की जानी चाहिए।

अथ महावासमनेकतलभूषितगृह निवेशाह —

महावासनिकायुक्तग्रामशैलीमनोहरम्।
स्थापयेन्मानविच्छिल्पी ग्रामगेहादिकल्पनम्॥ 23 ॥

इसके अतिरिक्त, ग्राम में महावास या बड़ा गृह भी हो सकता है, ऐसी गृहरचना को मानविद् शिल्पी को ग्राम की शैली के अनुसार परिकल्पित करना चाहिए।

क्वचिच्छालागृहोपेतमनेकतलभूषितम्।
नानाचित्रादिसंयुक्ताभित्तिकल्पनवेशकम्॥ 24 ॥

कतिपय ग्रामों में ये गृह विविध शालाओं और मंजिलों से युक्त भी हो सकते हैं। इनकी भित्तियों को नाना प्रकार के चित्रों से विभूषित किया जाना चाहिए।

तत्र सुरक्षोपायमाह —

मिर्णिका-कुञ्चिकोपेतकवाटैरभिशोभितम्।
वातायनशतोपेतं वितानाद्यैरलङ्कृतम्॥ 25 ॥

ऐसे ग्राम गृहों के लिए मिर्णिका एवं कुञ्चिका जैसी लोह निर्मित कीलों-नँगूचों वाले शोभास्पद किंवाड़ों का प्रयोग करना चाहिए। उनके लिए सैकड़ों वातायन बनाए। साथ ही इनको अनेक वितानों, चन्दोवादि से अलंकृत किया जाना चाहिए।

नाराचवास्तुनाथादिस्थानकेनापि वर्जितम्।
विषमैः कल्पनैर्हीनं यथाशोभं यथाबलम्॥ 26 ॥

इनमें नाराच (तिर्यक् द्वार की ओर जाने वाले मार्ग, बाणायुध स्थल अथवा

तुलारूप) गृहरचना[१] और वास्तुनाथ स्थान का निवेशन वर्जित होता है। यदि विषम स्थल या हीन स्थिति हो तो जैसा सामर्थ्य हो और जैसा सुन्दर लगे, वैसी निर्माण कल्पना करनी चाहिए।

इति विश्वकर्मप्रणीते विश्वकर्मावास्तुशास्त्रे ग्रामगृहनिर्माणकथनं नाम एकपञ्चाशोऽध्यायः ॥ 51 ॥

इस प्रकार विश्वकर्माप्रणीत विश्वकर्मवास्तुशास्त्र में ग्राम गृह निर्माण कथन नामक इक्यावनवाँ अध्याय पूर्ण हुआ।



अथ विशेषतो विप्रादिचातुर्वर्ण्यगृहलक्षणकथनं नाम

द्विपञ्चाशोऽध्यायः ॥ 52 ॥

अथास्मिन्द्विपञ्चाशाध्याये विशेषतो ब्राह्मणादि चातुर्वर्ण्यगृहलक्षणं विशदयति। तत्रादौ ब्राह्मणगृहलक्षणकथनम् —

ब्राह्मणानां पूर्वमुखं गेहं शस्तं प्रकीर्तितम्।
राजधान्याञ्च नगरे शुभदं सर्वदिङ्मुखम्॥ 1 ॥

(अब ब्राह्मणादि चतुर्वर्णों के लिए गृहों के लक्षणों का वर्णन किया जा रहा है। सबसे पहले ब्राह्मणों के लिए गृहों का वर्णन है) लघु ग्राम हो या महाग्राम, वहाँ ब्राह्मणों के गृहों का पूर्वाभिमुख होना प्रशस्त कहा गया है। यदि राजधानी या नगर हो तो उनके गृह सर्वदिशामुख भी शुभ होते हैं (किन्तु कभी विदिशाभिमुख गृह नहीं होना चाहिए)।

---

१. तथा च टीकायाम्— एतादृशलक्षणान्वितं स्वयमेव शिल्पिभिर्युक्त्या तत्र तत्र नेयकल्पनयोग्यमिदं गृहकल्पनं यथाविभवं प्रकल्पयित्वैतदाधारभूतग्रामगृहस्थलेन सह न नाराचभूभागसम्मेलनं कार्यम्। तत दूरतो वर्ज्यमिति भावः। तथा सर्वत्र शिल्पिभिर्विषमकल्पनविहीनं यथाशोभं यथाबलं सर्वमपि कल्पनजालं प्रकल्पनीयमिति भावः। तथा च मयमते— तिर्यग्द्वारसमेता नाराचपथा इति ख्याता॥ (9, 38)

तद्गेहस्य दैर्घ्यवैशाल्यादिक्रममाह —

चतुर्दण्डं व्यासकन्तु तत्त्रिभागेन दैर्घ्यकम्।
क्वचित्तदधिकं वाऽपि नेयमत्र शुभे गृहे॥ 2॥

इन गृहों का व्यास (चौड़ाई) चार राजदण्डों के प्रमाण का होता है और इससे तीन भाग अधिक (12 राजदण्ड) इनका दैर्घ्य (लम्बाई) रखना चाहिए। कहीं-कहीं इस प्रमाण से अधिक विस्तार भी रखना इनके गृहों के लिए शुभ है।

अलिन्दद्वययुक्तं वा चतुश्शालान्वितं तु वा।
विशेषकल्पनं ब्रह्मभागे मङ्गलदायकम्॥ 3॥

इन भवनों को दो अलिन्दों वाला बनाए अथवा चतुश्शालान्वित करे और विशेष रूप से ब्रह्मभाग में ये निर्मितियाँ मंगलदायक होती है।

प्राङ्मुखा शुभशालाऽत्र कल्पनेऽनेकपादका।
नानाभौमान्वितं वाऽपि तन्मानञ्च क्वचिन्नयेत्॥ 4॥
तदर्धं वा तदर्धं वा मुखभद्रादिसंयुतम्।

इनके लिए पूर्व दिशाभिमुखी शुभ शाला को अनेक स्तम्भों से युक्त बनाए और उनमें किसी-किसी भवन को यथामान अनेक मंजिलों वाला भी बनाना चाहिए। उक्त भौम प्रमाण निर्धारित प्रमाण का आधा अथवा आधे का भी आधा हो सकता है। इन गृहों को तलानुसार मुखभद्रादि से संयोजित करे।

तत्र नानागेहं कार्यमाह —

नानागृहसमायुक्तं मध्यचत्वरकल्पनम्॥ 5॥
सार्धदण्डं दण्डयुगं सार्धदण्डद्वयं तथा।
दण्डत्रयप्रमाणं वा तच्च गेहं प्रकल्पयेत्॥ 6॥

इसी प्रकार इनमें अनेक कक्षों का निवेश करना चाहिए। मध्य में खुला हुआ चौक, चत्वर भी कल्पित करे। इन गृहों में कक्षों को पिण्डित क्षेत्र के डेढ़, दो या ढाई राजदण्ड के प्रमाण से बनाए। इनका आयामादि विस्तार तीन राजदण्ड प्रमाण भी रखा जा सकता है।

एवञ्चेदत्रोक्तब्राह्मणगृहकल्पनस्य किंवा मुख्यलक्ष्मेति चेत्तद्विशदयति —

ब्राह्मचिह्नेन संयुक्तं तदद्वारं शुभदं मतम्।
समसूत्रप्रमाणेन सर्वकल्पनमीरितम्॥ 7॥

ब्राह्मणों के इन गृहों के द्वारों को ब्राह्मचिह्न[1] (पुस्तक, यज्ञसूत्र, वेदी, तिलक, गो के चित्रादि) से संयुक्त किया जाना शुभकारक माना गया है। ये समस्त रचनाएँ समसूत्र प्रमाण से की जानी चाहिए।

किञ्च विशेषतो ब्राह्मणगृहेषु स्थापनीयमाह —

द्वि-द्विनासाकवाटाढ्यं तिर्यक्पक्षकशालकम्।
तिर्यक्कूटयुतं वापि कल्पयेच्छिल्पवित्तमः॥ 8॥

इन गृहों में दो-दो नासा वाले बहुत से किंवाड़ों का प्रयोग होता है। इनमें आड़े बाजू वाले कमरे (तिर्यक् पक्षशालक) होते हैं अथवा शिल्पीगण इनको तिरछे कूट-कँगूरों के संयोजन के साथ भी बना सकते हैं।

अथ क्षत्रियभवनस्य विशेषलक्ष्म किमिति चेत्तद्विवृणोति —

प्रायः क्षत्रियवंश्यानां ग्रामान्ते भवनं शुभम्।
दुस्साहत्वादनर्हत्वाद्ग्रामे वास्तुमही पृथक्॥ 9॥

(अब द्वितीय वर्ण क्षत्रियों के गृहों के लक्षण कहे जा रहे हैं) प्रायः क्षत्रिय वंशोत्पन्न लोगों के लिए ग्रामों की सीमा पर भवन बनाया जाना शुभ होता है। चूँकि ये दुस्साहसी, वीर होते हैं और युद्धादि के लिए तत्पर रहते हैं, अतः इनके भवन पृथक् ही बनाए।

चतुरश्रायता वापि सममानोदया मुखे।
पूर्वद्वारयुता वापि उत्तरास्याऽविशेषतः॥ 10॥

क्षत्रिय वंशजों के लिए गृहों के मुख चतुरस्र हो। इनके सब गृह बराबर ऊँचाई वाले होने चाहिए। इनके लिए द्वार विशेषकर पूर्व या उत्तर दिशाभिमुख रखे जाने चाहिए।

तद्गेहस्य दैर्घ्यवैशाल्यादिक्रममाह —

पञ्चाशद्दण्डकान्ता वा द्वित्र्यावरणमण्डिता।
सीमान्तभक्तियुक्ता वा क्षुद्रगोपुरमण्डिता॥ 11॥

---

१. तथा च टीकायाम्— पूर्वोक्तषष्ठाध्याये गर्भविन्यासलक्षणकथनप्रकरणे ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रादीनां गर्भविन्यासार्थं लक्ष्मकरणीयमिति प्रतिपादितं, तदेव लक्ष्म सर्वत्र तेषां तेषां गृहेषु प्राथमिकद्वारललाटभागे क्वचित्सर्वद्वारनेत्रभागेषु चित्ररूपं वा तक्षणरूपं वा बिम्बसंयोजनरूपं वा कारयेदिति व्यवस्था ज्ञेया। एवमग्रेऽपि लक्षणान्तरञ्च तेषाञ्चातुर्वर्ण्यक्रमापुरःपूर्वमेवेति।

इन भवनों को अधिकतम पचास राजदण्ड प्रमाण तक का बनाया जा सकता है। ये दो या तीन आवरण या छतों से मण्डित होने चाहिए। इन भवनों का सीमान्त भक्तियुक्त या लघु गोपुरों से विभूषित हो।

द्वारान्तर्द्वारसंयुक्तां चूलीहर्म्यादिमण्डिता।
द्विभौमा वा त्रिभौमा वा भित्त्यन्तकलशान्विता॥ 12॥

ये भवन विविध द्वारों और अन्तर्द्वारों से संयोजित हो और चूली हर्म्य (कलगी वाली घूमटदार हवेली) आदि से मण्डित किए जाए। ये प्रायः दो अथवा तीन भूमियों वाले हो तथा इनकी भित्तियों के शीर्ष पर कलशों की स्थापना होनी चाहिए।

अपि चात्र नवरङ्गादीनां निर्देशमाह —

नवरङ्गसमोपेता मध्यशालाविराजिता।
अलिन्दभागसंयुक्तयुग्मयुग्मकशालका॥ 13॥

इसी प्रकार क्षत्रियों के गृहों में नवरँग शालाओं की रचना होनी चाहिए। इनमें मध्यशाला का निर्माण भी करे। ये अलिन्द भाग से युक्त हो और साथ ही साथ युग्म-अयुग्म शालाओं की रचना भी हो सकती हैं।

तदन्तः क्षुद्रशाला वा तथा प्रासोपशालका।
क्षत्रचिह्नेन संयुक्ता मुखद्वारस्थली वरा॥ 14॥

इसके अतिरिक्त इनके अन्तिम भाग में लघु शाला बनाए या फिर उपशाला की रचना करे। इन भवनों के मुख्य द्वार के ललाट भाग को पहचान के लिए क्षात्र चिह्नों (खड्ग, छत्र, चन्द्र, सूर्य, पताका, सिंह, गज, अश्वादि) से सज्जित करना चाहिए।

एवं कल्पितानां तेषां मुख्यगेहानाष्टानां स नामानि यथा —

मुख्यगेहाष्टकोपेता कूपारामादिभिर्युता।
कल्पनीया शिल्पिवरैः कालसेव्यगृहान्विता॥ 15॥

क्षत्रियों के मुख्य भवन में कूप, बगीची सहित आठ गृहों का आयोजन होना चाहिए (यथा- 1. स्नानगृह, 2. अलंकरणगृह, 3. द्रव्यस्थापनगृह, 4. पचनगृह, 5. पूजागृह, 6. भोजनगृह, 7. शयनगृह और धनगृह)। इस प्रकार शिल्पप्रमुखों को क्षत्रियों के लिए समय का ध्यान रखते हुए गृहों का निवेशन करना चाहिए।

अथ ग्रामेषु स्थापनीयानां वैश्यशूद्रगृहमुख्यलक्षणकथनम् —

ग्रामक्लृप्तं वैश्यगृहं सदनं भवनन्तु वा।
पूर्वास्यमुत्तरास्यं वा क्वचिद्वारुणवक्त्रकम्॥ 16॥
शुभदं नगरे याम्यमुखं तु नगरोत्तमे।

(अब वैश्यादि के लिए गृहों के लक्षण कहे जा रहे हैं) सभी ग्रामों में चारों ही ओर वैश्यों के लिए गृहों, सदनों या भवनों का नियोजन होता है। ये भवन मुख्य रूप से पूर्वाभिमुख, उत्तराभिमुख अथवा कहीं-कहीं पश्चिमाभिमुख भी हो सकते हैं। नगरों या उत्तम नगरों में वैश्यों के लिए गृह दक्षिणाभिमुख भी शुभदायी माने गए हैं।

तद्गेहस्य दैर्घ्यवैशाल्यादिक्रममाह —

दण्डपञ्चकमत्रोक्तं मानं तद्दशकावधि॥ 17॥
कल्पनं कल्पयेच्छिल्पी शुद्धं वा मिश्रकन्तु वा।

इनका विस्तार प्रमाण पाँच राजदण्ड से लेकर दस राजदण्ड तक रखा जाना चाहिए। शिल्पियों को वैश्यों के लिए गृहों को शुद्ध शैली अथवा मिश्र शैली में बनाना चाहिए।

युग्मपादं तथा युग्मकवाटं तत्र योजयेत्॥ 18॥
शालाकूटादिकैस्सर्वकल्पनैरपि संयुतम्।

इनमें दो-दो की संख्या में स्तम्भों का न्यास करना चाहिए। किंवाड़ भी दो पल्लों वाले रखने चाहिए। इनको शाला, कूट आदि समस्त आवश्यक रचनाओं से युक्त किया जाना चाहिए।

अनेनैव प्रकारेण शूद्राणां ग्रामगृहादौ किञ्चित्क्षुद्रप्रमाणकल्पनाह —

शूद्राणामपि चान्येषां तदर्धं वा तदर्धकम्॥ 19॥
मानं गेहेषु संयोज्यं तत्तच्चिह्नैश्च भासुरम्।

ग्रामों में शूद्रादि के गृहों को पूर्वोक्त वैश्यों के गृहों के प्रमाण से आधा या आधे का भी आधा (सवा राजदण्ड से लेकर ढाई या पाँच राजदण्ड तक) विस्तार मान वाला बनाना चाहिए। इन गृहों को उनके पहचान चिह्नों (यदि वैश्यों के गृह हो तो तुला, मुद्रा आदि और शूद्रों के गृह हो तो हल-वृषभ, वस्त्रादि) से युक्त किया जाना चाहिए।[1]

---

१. तथा च षष्ठाध्याये ग्रन्थकार निर्देशमाह—ब्राह्मं गर्भं पूरयेत्तु पुस्तकैर्यज्ञसूत्रकैः। क्षात्रं गर्भं

मुखद्वारं कल्पनीयं देवगन्धर्वरूपयुक् ॥ 20 ॥

इन गृहों के मुख्य द्वार पर सुन्दरता के प्रयोजन से सदैव देवता और गन्धर्वों का रूपांकन किया जाना चाहिए।

मानेन युक्त्या स्थपतिः स्थापयेन्मिश्रकल्पनम्।
एवं वर्णक्रमाद्ग्रामभवनं परिकीर्तितम् ॥ 21 ॥

स्थपति को चाहिए कि वह सदैव मान-प्रमाण से युक्त ही समस्त रचनाओं को तैयार करे। इस तरह से यहाँ पर विप्रादि वर्णक्रम से ग्रामों के भवनों को बनाने का वर्णन किया गया।

इति विश्वकर्मप्रणीते विश्वकर्मवास्तुशास्त्रे विशेषतो विप्रादिचातुर्वर्ण्यगृहलक्षणकथनं नाम द्विपञ्चाशोऽध्यायः ॥ 52 ॥

इस प्रकार विश्वकर्माप्रणीत विश्वकर्मवास्तुशास्त्र में विप्रादि चातुर्वर्ण्य गृह लक्षण कथन नामक बावनवाँ अध्याय पूर्ण हुआ।



अथ कवाटार्गलादिलक्षणकथनं नाम

त्रिपञ्चशोऽध्यायः ॥ 53 ॥

एतावता प्रबन्धेन बहुधा प्रतिपादितानां विविधानां गृहभवनादिकल्पनानां रक्षण-योग्यकवाटस्थापनक्रमकथनात्मकं त्रिपञ्चाशाध्यायमारभते —

यन्मुख्यरक्षकं प्रोक्तं कवाटादिप्रकल्पने।
दृढसन्धिक्रियं कार्यमिति प्रोक्तं मुनीश्वरैः ॥ 1 ॥
नानाकल्पनयोग्यं तन्मानं बहुविधं मतम्।

(इस अध्याय में विविध प्रकार के भवनों के रक्षण योग्य किवाड़ और अर्गला, आगलकिया या कुण्डी के लक्षणों का वर्णन किया जा रहा है) भवनों की

पूरयेच्च खड्गच्छत्रादिभिर्दृढम्॥ वैश्यं गर्भं पूरयेच्च तुलाद्रव्यादिकैरपि। शूद्रं गर्भं पूरयेच्च सीरकैर्वस्त्रकैरपि॥ (विश्वकर्मवास्तुशास्त्रम् 6, 11-12)

सुरक्षा करने के जो मुख्य साधन है, ऐसे कपाट या किंवाड़ों की रचना के सन्दर्भ में मुनीश्वरों का मत है कि उनको सुदृढ़-सन्धिकार्य से तैयार करना चाहिए। इन किंवाड़ों की रचना के लिए बहुविध मान और मत व्यवहार में हैं।[१]

विशेषत: कवाटलक्षणं प्रतिजानीते —

दारुखण्डैर्दृढैः पीनैरयःकीलात्तदार्ढ्यकैः ॥ 2 ॥

प्रान्तखण्डयुतैश्चापि मध्यखण्डयुतैरपि।

तिर्यग्दलैश्च संयोज्यं कवाटं कुञ्चिकायुतम् ॥ 3 ॥

भवनों के लिए किंवाड़ों को मजबूत और सघन काष्ठ के खण्डों-पाटियों से लोहकीलों का अच्छी प्रकार से प्रयोग करते हुए बनाना चाहिए। किनारे के भाग में लगने वाले प्रान्त काष्ठ खण्डों सहित और किंवाड़ों को मध्यभाग के खण्डों से युक्त संयोजित करना चाहिए। इनको तिर्यक् दलों या आड़े पाटों को संयोजित करे और किंवाड़ों को कुञ्चिका युक्त करे।

द्वारसन्धियुतं तत्र भित्तिसन्धियुतं क्वचित्।

द्वारमानान्वितं खण्डरूपं वा भिन्नरूपकम् ॥ 4 ॥

इन किंवाड़ों को द्वारसन्धि या दरवाजे में अच्छी तरह से सन्धियुक्त करे और यदि आवश्यक हो तो भित्ति-सन्धि से भी युक्त करे। इनको द्वार के मान के अनुरूप ही काष्ठ से खण्डरूप अथवा भिन्नरूप में बनाया जाना चाहिए।[२]

---

१. मयमतम् में कहा गया है कि द्वार पर लगाए जाने वाले किंवाड़ के पल्लों की चौड़ाई को (भवन में लगाए जाने वाले) स्तम्भों की चौड़ाई की तुलना में एक तिहाई, एक चौथाई, एक पाँच अंश या फिर छह अंश में से एक भाग की रखने का नियम है। यदि देवालय, ब्राह्मण एवं राजप्रासाद हो तो उनके द्वार पर दो पल्लों वाले किंवाड़ लगाए जाएँगे और अन्य वर्गों के लिए एक ही पल्ले वाला किंवाड़ होगा। इसी प्रकार सामन्त प्रमुख का आवास हो तो उसके द्वार पर दो किंवाड़ लगाना प्रशस्त है—त्रिचतुष्पञ्चषड्भागे भागेन स्तम्भवैपुलम्। कवाटबहलं प्रोक्तं देवद्विजमहीभृताम्॥ द्विकवाटविशेषेण एक एव प्रकीर्तितः। सामन्तप्रमुखादीनां द्विकवाटं प्रशस्यते॥ (मय. 30, 13-14)

२. मय का निर्देश है कि किंवाड़ की ऊँचाई का प्रमाण साढ़े चार हाथ, पाँच, सात अथवा ग्यारह हाथ रखनी चाहिए। भवन के आन्तरिक भाग पर द्वार से जो शेष हो, उसके आधे से सोहावटी होगी एवं आधे पर दासा या देहली होगी जबकि शेष भाग से गुल्फ अथवा चरणपर्व का प्रमाण होगा। किंवाड़ के आन्तरिक भाग में रोधन, अर्गला आदि होगी जिसको किंवाड़ की कुल ऊँचाई की दो तिहाई या 4/5 भाग से रखी जाएगी। यदि दो किंवाड़ों की रचना छोटी या बड़ी असमान रूप से हुई हो तब दायें किंवाड़ की जो ऊँचाई हो, उसको पाँच भागों में

तत्र विविधाङ्गणकल्पनम् —

गवाक्षद्वारमुख्यान्तं पार्श्वदारुसमायतम्।
एकाङ्गणं द्व्यङ्गणं वा त्र्यङ्गणं वा क्वचिन्मतम्॥ 5॥

इसी प्रकार गवाक्षों, खिड़कियों, गोखड़ों के द्वार मुख्यान्तों को पार्श्वदारु या बाजू के काष्ठपटल युक्त एकांगण (एक अंग) या द्वयांगण (दो अंग) अथवा कहीं-कहीं त्र्यांगण (तीन अंग) वाला भी बनाना कहा गया है।

चतुरङ्गणकं योज्यं षड-ष्ट-दशकाङ्गणम्।
प्रान्तचित्रसमोपेतं शुकहंसादिमण्डितम्॥ 6॥
नानाकुसुमरूपं वा नानापत्रस्वरूपकम्।
पार्श्वपट्टद्वार भागकृतबन्धं क्वचिन्मतम्॥ 7॥

इसके अतिरिक्त चार अंग वाले किंवाड़ से लेकर संयोजन विधिपूर्वक छह, आठ या दस अंग वाले किंवाड़ भी बनाए जा सकते हैं। इनके किनारे चित्रयुक्त होते हैं, इन पर सुन्दरता के लिए शुक, हंस आदि का मण्डन करना चाहिए। इसी

विभाजित किया जाएगा। इसमें चौड़ाई को तीन भागों में बाँटा जाएगा ताकि पन्द्रह कोष्ठक बन जाएँ। सामान्यतया लम्बाई के प्रयोजन से ऊपर एवं नीचे के तीन कोष्ठक को त्याग दें। तीन-तीन कोष्ठों का यही त्याग चौड़ाई के सन्दर्भ में भी करना चाहिए। इस प्रकार से जो मध्य के कोष्ठक होंगे उनको 'आवार' कहा जाएगा। द्वार को नीचे पट्टादि से सुन्दरता पूर्वक यथाबल सुदृढ़ीकृत करना चाहिए। द्वार मध्यम, बृहद् या लघु है, इसी आधार पर उसकी गर्तिका (भाजन) का अनुपात तय करना उचित है। इस भाजन को सामान्यतया बाह्य चौड़ाई की अपेक्षा 1/3, 1/2, 2/3, 3/4 अथवा तीन, चार, पाँच अथवा छह मात्राङ्गुल प्रमाण से रखा जा सकता है। इसके अतिरिक्त कब्जे की चौड़ाई के अनुपात में अथवा दशाङ्गुल भी हो सकता है। गर्तिका में कब्जे या चूल को इस प्रकार रखा जाएगा कि वह हस्तिशूण्ड के समान प्रयुक्त होने लगे। उक्त किंवाड़ में वितस्ति प्रमाप के अनुसार ही नेत्र, मुद्रपाणि की योजना हो किन्तु रचना ऐसे से हो कि किंवाड़ में अयुग्म फलक अर्थात् पटिये विषम संख्या में रखे जाए। किंवाड़ के बीच कोई भी सन्धि वर्जित है— सार्धवेदेषुपातालनन्दरुद्रकरान्विता। उच्चानि तानि तल्पानि वेश्माभ्यन्तरतोदयात्(लीन्द्रः ?)॥ गुल्फार्धविमलार्धं तु किञ्चित्तीव्रं यथाबलम्। वेश्माभ्यन्तरतल्पोच्चे त्रिचतुष्पञ्चभागिके॥ द्वित्रिवेदांशतुङ्गं तत्सरदपं पूर्ववर्तीनि(-ति ?)। युग्मे महत्तरेऽल्पे च दक्षिणस्थे कवाटके॥विपुले चायते तस्मिंस्त्र्यंशे पञ्चांशकेतुके। उपरिष्टादधस्तात्तु पार्श्वयोस्त्र्यंशमंशकम्॥ त्यक्त्वा शेषं प्रवेशेन यदावारं तदुच्यते। यथाबलं यथाशोभमधःपट्टैर्दृढीकृतम्॥ मध्ये महत्तरे हीने योग्यव्यासकलान्वितम्। त्रिचतुःपञ्चषण्मात्रं व्यासार्धं द्वित्रियंशकम्॥ सत्रिपादत्रिभागैश्च सभाजनविकासनम्। बाहुली दशमात्रास्याद्धस्तिहस्ताद्विशालि वा॥ वितस्तीनां विधातव्यं नेत्रं यामुद्रपाणिवत्(?)। अयुग्मफलकं ग्राह्यं मध्यसन्धिविवर्जितम्॥ (तत्रैव 30, 15-22)

प्रकार नाना प्रकार के पुष्परूपों और विविधानेक पत्रों का अंकन भी उन पर किया जा सकता है। किसी-किसी का मत है कि पार्श्वपट्ट या बाजू के पाट द्वार भागबन्ध से संयोजित हो सकते हैं।

दृढबन्धनिकपूर्वकं मिर्णिकार्गला संयोज्यनिर्देशमाह —

कवाटपतनस्थाननिम्नमेकाङ्गुलं मतम्।
दृढबन्धनिकं तत्र मिर्णिकार्गलयोजनम्॥ 8॥

इसी प्रकार इन किंवाड़ों को पतनस्थल को एक अंगुल नीचा बनाए। वहाँ पर उनमें दृढ़बन्धनिक मिर्णिका कील सहित अर्गला को संयोजित करे।[१]

तथा चान्यभूषणविधिमाह —

कांस्यराजतसौवर्णमुकुलाद्यैर्दृढीकृतम्।
श्लक्ष्णितं टङ्कवेशेन क्वचिद्वर्णादिभूषितम्॥ 9॥

इन किंवाड़ों के लिए कांसा, चाँदी, सुवर्ण आदि से पुष्पों की रचना करके सिरों को दृढ़तर बनाए और बारीक टँकण से कहीं-कहीं वर्णाणादि अक्षरों से भी इनकी शोभा बढ़ाई जानी चाहिए।

देव-भूसुर-भूपाल-वणिजामपि दैवतम्।

---

१. मय का निर्देश है कि किसी किंवाड़, द्वार के मध्य में भेषणी (जिसे कामिकागम 1, 55, 36 में पोषण कहा गया है) का प्रयोग नहीं करें। यूँ भी यदि दो किंवाड़, द्वार में यथाबल ही भेषणी रखी जाए अथवा नहीं (ऐसा आवश्यकता पर भी निर्भर होता है)। किंवाड़ की मोटाई सामान्यतया चौड़ाई की आधी (?) एवं चौड़ाई का प्रमाण मोटाई से दोगुनी रखी जाएगी। किंवाड़ पर खराद या दण्ड तीन, पाँच, सात, नौ अथवा ग्यारह की संख्या में होंगे। इन खरादों का स्वरूप घोड़े के स्कन्ध या नखों के जैसा होगा। अश्वत्थ के पत्तों के अग्रिम भाग अथवा स्वास्तिक या कलशी अथवा मिर्णका के समान होंगे। किंवाड़ के वामदण्ड पर श्रीमुख की आकृति होनी चाहिए। इन पर लगने वाली अर्गला (अन्दर की ओर बन्द करने का यन्त्र, भागल या आगलकिया) पर पिञ्जरी या ढक्कन का विधान होगा। इसी प्रकार सन्धिपत्र, प्रक्षेपणक (बाहर की ओर बन्द करने के लिए धातु के यन्त्र विशेष) होंगे। इनके साथ ही गुच्छकों की रचना भी होगी। किंवाड़ के अन्दर भी पकड़ के लिए नगूँचे पुच्छ के समान अलङ्कृत बनेंगे। इनके मध्य में कुण्डल वलयाकार होगा। विषाण-परिघा क्षुद्रदण्ड सहित होगी— तल्पस्य भेषणी चैते मध्यं त्यक्त्वा समाहिते। कवाटयुगलोपेते यथाबलमभेषणी॥ अथ तल्पघनस्यान्यार्धघना द्विगुणविस्तृताः। दण्डत्रिपञ्चसप्तैव नवैकादशसङ्ख्यया॥ अश्वस्कन्धनखाभास्तेऽश्वत्थपत्राग्रसन्निभा। स्वस्तिकाभास्तु घटिका मिर्णका वाऽथवा मता॥ श्रीमुखैर्वामदण्डैश्च पिञ्जरीगलकार्गलैः। क्षेपणैः सन्धिपत्रैश्च गुच्छगैर्वनकैस्तथा॥ गुल्फैरन्तर्गतैर्ग्राभ्यैर्वालाभैर्मध्य-कुण्डलैः। विषाणपरिघाक्षुद्रदण्डैर्युक्तं कवाटकम्॥ (तत्रैव 30, 23-27)

संयोजनन्तु शुभदं सर्वद्वारेषु कीर्तितम्॥ 10॥

इसके अतिरिक्त देवालय के द्वार, ब्राह्मणों के आवास के द्वार, राजमहल के द्वार और वैश्यों की हवेलियों के द्वार पर देवताओं की चित्रावली का उत्कीर्णन-अंकन किया जाना चाहिए। यह अंकन सभी द्वारों पर शुभ होता है।[१]

गवाक्षद्वारशिबिकाकल्पनादिषु मानवित्।
समसूत्रं प्रयुञ्जीत यथाशोभं यथाबलम्॥ 11॥

यदि गवाक्षों या गोखड़ों के द्वार, शिबिका या पालकी-तामझाम की खिड़कियों की रचना का कार्य हो तो मान विशेषज्ञ को सदैव समसूत्र का प्रयोग करते हुए यथाशक्ति जैसा सुन्दर दिखाई दे, वैसा कार्य करना चाहिए।

इति विश्वकर्मप्रणीते विश्वकर्मवास्तुशास्त्रे कपाटार्गलादिलक्षणकथनं नाम त्रिपञ्चाशोऽध्यायः॥ 53॥

इस प्रकार विश्वकर्माप्रणीत विश्वकर्मवास्तुशास्त्र में विप्रादि कपाट-अर्गला आदि लक्षण कथन नामक तिरपनवाँ अध्याय पूर्ण हुआ।



---

१. मयमतम् में आया है कि किंवाड़ में समस्त विशेषताओं से युक्त इन्द्रकील (कनाला) बनेगी। इसको यथा आवश्यकता लौह आदि धातुओं से मण्डित, सुदृढ़ भी बनाया जाता है। गुल्फों के साथ इन्द्रकील आधे हिस्से पर सामने की ओर से होगी जिसको लौहादि से सुदृढ़ किया जाएगा। पत्रादि को लगाया जाएगा। इनका बन्धीकरण भली प्रकार, सभी प्रयासों और शोभाजनक रूप से दृढ़ता के साथ किया जाना चाहिए। मुकुल के अनन्तर एक पत्र त्रिनेत्र (रूप में) होगा। इसमें जितनी ऊँचाई योग की हो, उसके तृतीयांश से निखात से सौन्दर्य देना चाहिए किन्तु इसको यथाबल रखना आवश्यक है। तल्पतीव्र या अर्गलार्थ खाँचा एक समानपट्ट होगा जिसकी मोटाई किंवाड़ के समान होगी और चौड़ाई को मोटाई की अपेक्षा दोगुनी या फिर दोगुनी का तृतीयांश हीन रखना चाहिए। इसको पद्मपत्रों सहित पट्ट के अङ्गों, स्कन्धपट्टिका के साथ सज्जित किया जाएगा। प्रवेशकाल में जो दाहिनी ओर रहे, इस प्रकार उसे किंवाड़ पर उक्त तल्प को सुन्दरता के साथ स्थापित किया जाएगा। इसमें दाहिने किंवाड़ पर अर्गला रहेगी जबकि बायें किंवाड़ पर तल्प को लगाया जाता है— इन्द्रकीलसमोपेतं सर्वचित्रमनोहररम्। अथवा सान्यलोहैश्च युक्त्या तत्र दृढीकृतम्॥ गुल्फैः सार्धैर्ललाटैश्च शृङ्गायोमयपत्रकैः। बध्नीयात् सर्वयत्नेन यथाशोभं यथाबलम्॥ मुकुलानन्तरं पत्रत्रिनेत्रा सूचिकायता। योगोदयत्रिभागैकनिखातं वा यथाबलम्॥ तल्पतीव्रस(ना ?मा) तीव्रद्विगुणं द्विस्त्रिकान्वितम्। पद्मपत्रविचित्राणि पट्टाङ्गस्कन्धपट्टिका॥ प्रवेशदक्षिणे तल्पे स्थापितव्या मनोहरा। सार्गला दक्षिणं योगं वामे योगं सतल्पकम्॥ (तत्रैव 30, 28-32)

अथ सर्वविधसोपानलक्षणकथनं नाम

चतुःपञ्चाशोऽध्यायः ॥ 54 ॥

अथास्मिंश्चतुःपञ्चाशाध्याये सर्वविधसोपाननिर्माणक्रमं व्यनक्ति —

भौमाद्यारोहणार्थं यत्कल्पनं दृढसन्धिकम्।
सोपानमिति तत्प्राहुर्मुनयश्शास्त्रपारगाः ॥ 1 ॥
शिलादार्विष्टिक्लृप्तं लोहपट्टादिभूषितम्।
स्थापयेत्स्थपतिश्रेष्ठः स्थलमानस्वरूपवित् ॥ 2 ॥

(अब गृह, भवनादि में उपयोगी समस्त प्रकार के सोपान अथवा सीढ़ियों के निर्माण के क्रम में कहा जा रहा है) भवनों में विभिन्न भूमियों, मंजिलों पर आरोहण के लिए जो रचना दृढ़ रूप से संयोजित की जाती है, उसे शिल्पशास्त्र के पारंगत मुनियों ने सोपान नामाभिधान से कहा है। ये सीढ़ियाँ शिलाओं से, ईंटों से और लोहे के प्रट्टों से निर्मित होती है। स्थल-मान और स्वरूप को जानने वाला स्थपतिश्रेष्ठ इसकी स्थापना करे।[१]

तत्र कोऽपि नियमः स्वीकार्यः, यथा —

दैवे शिलामयं शस्तं मानवेऽन्यत्प्रकल्पने।

यदि देवालय में सोपान बनाने हो तो वे शिलामय या पाषाण वाले होने चाहिए। मानवावास के लिए शिला से अतिरिक्त अन्य द्रव्य (चूना, ईंट अथवा सघन काष्ठ की) की सीढ़ियाँ परिकल्पित की जानी चाहिए।

---

१. अपराजितपृच्छा में कहा गया है कि भवनादि में अन्य मंजिलों पर चढ़ने के लिए सोपानपङ्क्ति यानी सीढ़ियाँ बनानी चाहिए। उसी के आयाम के अनुसार निश्रेणी (निसरनी, निसैनी) भी बनाई जा सकती है जो सारदारु अर्थात् मजबूत लकड़ी की बनी हो। उसके पट्टे सोपान सदृश अर्थात् सीढ़ियों के समान ही फलकाकार-चौड़े हों, ऐसे स्थाप्य या लगाए जाएँ जो कि गृह पर आरोहण के लिए उत्तम हो। निश्रेणी शिरोभाग की ओर जाने में पादोन्नत— एक-एक पाँव की ऊँचाई जितनी और दो गज की चौड़ाई वाले पट्टों से बनाए जिनके दोनों ओर बांस का दृढ़ आधार ऊपर चढ़ने में सहारे के लिए बनाए अर्थात् बांस का रोस (रेलिंग) सहारे के लिए बनाए, जिससे ऊपर आरोहण करते समय सुरक्षा बनी रहे— आरोहणं च निश्रेणीकार्यमाह— अन्यभूम्यारोहणाय कार्यास्सोपानपङ्क्त्यः। सदृशायामनिश्रेणिः सारदारुमयी तथा॥ विस्तीर्णैः फलकैः पट्टै सोपानसदृशैस्तथा। सोपानानुक्रमैः स्थाप्यं गृहारोहणमुत्तमम्॥ पादोन्नतं शिरोभागे द्विहस्तानां तु विस्तरे। वंशं चोभयतः कुर्यात्कराधारं तु रोहणे॥ (अपराजित. 84, 22-24)

तस्मात्तादृशसोपानस्य कियद्वा प्रमाणमिति चेत्तद्विशदयति —

द्वादशाङ्गुलकं वापि षोडशाङ्गुलकं क्वचित्॥ 3॥
सार्धहस्तप्रमाणं तदौन्नत्यं समुदीरितम्।
द्विहस्तं वा त्रिहस्तं वा क्वचित्तदधिकं तु वा॥ 4॥

सीढ़ियों का प्रमाण सर्वत्र बारह अंगुल से लेकर सोलह अंगुल की चौड़ाई तक का कहा गया है। कहीं पर डेढ़ हाथ प्रमाण से भी इनकी ऊँचाई का प्रमाण कहा गया है तथा दो हाथ या तीन हाथ या फिर इससे कुछ अधिक भी इनका आकार मान रखा जा सकता है।

तदङ्गणं मिथो बद्धं प्रान्तकीलादिघट्टितम्।
प्रान्तशृङ्खलिकायुक्तं दारुपट्टयुतं क्वचित्॥ 5॥

इन सीढ़ियों का आँगन दोनों ओर से बद्ध और उसका प्रान्तभाग किनारा लोहे की कीलों आदि से घटित होना चाहिए। हाथ के सहारे के लिए प्रान्त या किनारा शृंखलिका, साँकलयुक्त तथा कहीं-कहीं लकड़ी के पट्टों से युक्त होता है।

भूलम्बं भित्तियुक्तं वा क्वचित्सुषिरभागपि।
दारुपट्टात्तदार्ढ्यं वा मिथःकीलादिघट्टितम्॥ 6॥

कहीं-कहीं ये सीढ़ियाँ भूमि के आधार पर संयोजित होती है। ये भित्ति के साथ-साथ अथवा कहीं-कहीं ये छिद्रयुक्त छत से, पैबारा वाली छत से भी संयोजित की जा सकती है जो प्रायः पूरी तरह लकड़ी के पट्टों से या कीलों आदि से घटित बनाई जाती है।

तथा च मध्यभागे विश्रान्तिस्थलमाह —

द्वारोपद्वारयुक्तं वा मध्यविश्रान्तिकस्थलम्।
सोपानकल्पनं प्रायः यथामानं यथाबलम्॥ 7॥

भवन में सीढ़ियों के साथ द्वार, उपद्वार भी बनाए जा सकते हैं किन्तु इनकी ऊँचाई अधिक होने पर प्रायः दस-दस सीढ़ियों के बाद एक मध्य विश्रान्ति स्थल या चौड़ा चौक रखा जाना चाहिए, जहाँ से आगे की चढ़ाई शुरू होती है। इस प्रकार विचार कर सोपानों को यथामान और यथाबल बनाना चाहिए।

सोपानां मध्यभागे वा क्वचितुभयोरपि पक्षयोः तक्षण प्रकल्पनीयम् —

मध्ये वा पार्श्वयोः प्रायः पद्मचित्रादिकल्पनम्।
दीपाट्टालकयुक्तं वा वितानादिविभूषितम्॥ 8॥

सीढ़ियों के मध्य में तथा आजू-बाजू में पद्मादि (कुमुद, हंस, शुक, सारिकादि) के चित्रों की रचना की जा सकती है। इसी प्रकार उजाले के लिए सीढ़ियों के मार्ग पर दीपक के लिए अट्टालक (दीपाधार) पार्श्वभाग में बनाए। इनके ऊपर छत के भाग में सुन्दर वितानों की आयोजना हो।

किञ्चात्र सोपानकल्पन उपरिभागस्य निर्देशमाह —

करलम्बसमोपेतं लोहपट्टावृतं क्वचित्।
श्लक्ष्णितं टङ्कवेशेन क्वचिद्वर्णादिभूषितम्॥ 9॥

इनको हाथ के सहारों (रेलिंग) सहित बनाए। इसके लिए लोहपट्ट का आवरण भी प्रयुक्त किया जा सकता है। सीढ़ियों को कहीं-कहीं टाँकियों से घड़ाई कर चिकनाई वाला बनाए। कदाचित् इनको रँग का प्रयोगकर सुन्दर भी दिखाया जा सकता है।

पादशाठीयुतं प्रायो नात्युन्नततलक्रियम्।
समं तिर्यक्कृतं वक्रं वर्तुलाकारवत्क्वचित्॥ 10॥

जिनमें वस्त्रों की पट्टिका सहित सीढ़ियाँ बनाई जाती हों (यथा- उच्च पद वालों के लिए आसनादि पर आरोहण के लिए), उनको अधिक ऊँचे तल वाली नहीं बनाए। कहीं-कहीं सीढ़ियाँ समान रूप से तिरछी बनाई जाती है, कहीं वक्र या टेढ़ी, तो कहीं पर वर्तुलाकार या गोलाई में चढ़ती हुई भी कल्पित की जाती है।

भौमस्थानवशोन्नेयं सोपानं मध्यदण्डभाक्।
नातिदीर्घान्तरतलं नातिनीचमपि क्वचित्।
स्थपतिः कल्पयेद्युक्त्या सोपानं मुखभद्रभाक्॥ 11॥

इनको भवन में मंजिलों के अनुसार ही बनाए और नियमानुसार उनमें मध्यभाग में दण्ड रखना चाहिए अर्थात् सीढ़ियाँ चढ़ने के लिए वर्तुलाकार होने पर सहारे के लिए कठेड़े (रेलिंग) के रूप में मध्यदण्ड नियोजित करना चाहिए। सीढ़ियों में न तो अधिक अन्तराल पर अगली सीढ़ी लगाए न ही बहुत कम ऊँचाई पर सीढ़ी का नियोजन हो अर्थात् जिससे सुविधा हो, उतना ही अन्तराल रखना चाहिए। इस प्रकार स्थपति को सीढ़ियों की रचना ऐसी करनी चाहिए कि वे दीखने में भी सुन्दर प्रतीत हों।

इति विश्वकर्मप्रणीते विश्वकर्मवास्तुशास्त्रे सर्वविधसोपानलक्षणकथनं नाम चतुःपञ्चाशोऽध्यायः॥ 54॥

इस प्रकार विश्वकर्माप्रणीत विश्वकर्मवास्तुशास्त्र में सर्वविध सोपान लक्षण कथन नामक चौपनवाँ अध्याय पूर्ण हुआ।

अथैकशालालक्षणकथनं नाम

पञ्चपञ्चाशोऽध्यायः ॥ 55 ॥

इत्यमनन्तर एकशालाद्विशालाबहुशालाख्यकल्पनाविशेषलक्षणं प्रतिपादयति —

ग्रामाक्लृप्ता त्वेकशाला मण्डलस्था द्विशालका।
राजधान्यां स्थापिता तु कथिता बहुशालका ॥ 1 ॥
स्थाप्या नृपेण सर्वत्र स्वदेशेषु विशेषतः।
नानाविद्यापरीक्षार्थं कल्पनानेकशोभिता ॥ 2 ॥

(ग्रन्थकार पचपनवें अध्याय से सत्तावनवें अध्याय तक एक पाठ शाला, दो पाठशाला व बहुत सी पाठशाला के सम्बन्ध में कहता है) राजा को चाहिए कि वह अपने देश के प्रत्येक ग्राम में एक पाठशाला, मण्डलान्तर्गत मुख्य नगर में दो पाठशाला और राजधानी में बहुत सी पाठशालाओं की स्थापना करे। इनको विविध प्रकार की विद्याओं (काव्य, नाटक, पुराणेतिहास, तर्क, व्याकरण, मीमांसा, श्रुति, स्मृति, धातुवाद, सङ्गीत, वाद्य, चित्रशाला, मालादि गुँथन, ग्रहज्ञान, वास्तुज्ञान आदि नाना शिल्प कलाएँ) के विकास-परीक्षण के प्रयोजन से स्थापित करे और अनेक प्रकार से सुन्दरतम बनाए।

किञ्चैतादृशशालात्रयकल्पनानां किं वा लक्षणमित्याकांक्षायां चेत्तद्विवृणोति —

ग्राम्यशाला पूर्वमुखा पञ्चाशद्दण्डमानका।
मण्डलस्थोत्तरमुखा शतदण्डप्रमाणका ॥ 3 ॥
बहुशाला **पश्चिमास्या** शतदण्डाधिकस्थला।

शिल्पियों के लिए यह ज्ञातव्य है कि ग्राम में बनाई जाने वाली ऐसी शालाओं को पूर्वाभिमुख रखें और उनका पचास राजदण्ड प्रमाण से बनाए। यदि मण्डलस्थ नगर में स्थापित की जानी हो तो शाला को उत्तराभिमुख रखे और सौ राजदण्ड प्रमाण से बनाए। इसी प्रकार राजधानी में स्थापना अपेक्षित हो तो ऐसी शालाओं को पश्चिमाभिमुख रखे और सौ राजदण्ड से अधिक भूमि पर कल्पित करे।

तदर्थं कौसलादि देशानुसारं शैल्यानुसरणनिर्देशमाह—

कौसलीं मागधीं वापि शौरसेनीमथापि वा ॥ 4 ॥

शैलीमाश्रित्य शिल्पज्ञश्शालाकल्पनमादिशेत्।
समकल्पनसंयुक्तां समालङ्करणक्रियाम्॥ 5॥

शिल्पज्ञ को चाहिए कि वह इन शालाओं के लिए 1. कौसल शैली, 2. मागधी शैली अथवा 3. शौरसेनी शैली का आश्रय लेकर परिकल्पन करे। इनको समरूप में कल्पित करे और तद्नुसार ही उनका अलंकरण कर्म भी करना चाहिए।

उत्तमां मध्यमां वापि कल्पनां वा कनीयसीम्।
मानभेदाद्योग्यशालां स्थापयेच्छुभवास्तुनि॥ 6॥

सामान्यतया ये शालाएँ भी तीन प्रकार की कल्पित होती है— 1. उत्तम शाला, 2. मध्यम शाला और 3. कनिष्ठ शाला। इनके लिए उचित मानभेद को ग्रहण करे और तद्वत् ही शुभ वास्तुभूमि में उसकी स्थापना करे।

तत्राद्याया: ग्रामे स्थापनीयाया: एकशालाया: निर्माणक्रममुपदिशति —

भौमद्वयं पूर्वभागे दशदण्डस्थले मतम्।
तन्मानद्विगुणे व्यासे ततश्शालाप्रकल्पनम्॥ 7॥

ग्राम के लिए कल्पित की जाने वाली शाला के निर्देश है कि वह दो मंजिलों वाली हो और ग्राम के पूर्वभाग में दसदण्ड विस्तार प्रमाण से बनाए। इस विस्तार से दोगुना उसका व्यास रखना अपेक्षित है।

भौमत्रयं तत्र योज्यं शिखरत्रयभासुरम्।
स्थाने रूपञ्च तन्मध्ये शिखरैस्सप्तभिर्युतम्॥ 8॥

इसी प्रकार शाला यदि तीन भूमियों वाली हो तो उन पर तीन शिखरों की रचना की जानी चाहिए। इनके लिए स्थानगत रूपविन्यास हो और मध्य में सात शिखर भी हो सकते हैं।

एवमुत्तङ्गमानेन क्रमात्तदवरोहयेत्।
मध्यभागे महाशालां कल्पयेत्सुषिरोज्ज्वलाम्॥ 9॥

इस प्रकार के उत्तुङ्ग मान के क्रम से उनको ऊँचा उठाते हुए इनके मध्यभाग में महाशाला या सभागार कल्पित करना चाहिए। इसमें प्रकाश प्रबन्धन के लिए उचित जालियों का निवेशन करे।

द्वारोपद्वारसंयुक्ता पार्श्वशाला क्वचिन्मता।
समावरणका वापि विषमावरणा क्वचित्॥

युग्मद्वारा युग्मपादा युग्माङ्गणसमन्विता॥ 10॥

इसके लिए द्वार, उपद्वार की रचना हो और कतिपय निर्मितियों के साथ पार्श्वशाला भी नियोजित करनी चाहिए। इसी प्रकार इनका समानतः आवरण हो, कहीं-कहीं विषम आवरण भी रखा जा सकता है। इसके अतिरिक्त ये दो-दो द्वार वाली, दो-दो स्तम्भ वाली और दो-दो ही आँगन वाली होगी।

इति विश्वकर्मप्रणीते विश्वकर्मवास्तुशास्त्रे एकशालालक्षणकथनं नाम पञ्चपञ्चाशाध्यायः॥ 55॥

इस प्रकार विश्वकर्माप्रणीत विश्वकर्मवास्तुशास्त्र में एकशाला लक्षण कथन नामक पचपनेवाँ अध्याय पूर्ण हुआ।



अथ द्विशालालक्षणकथनं नाम

षट्पञ्चाशोऽध्यायः॥ 56॥

अथ नगरमध्यभागे कल्पनीयद्विशालाख्यपरीक्षास्थलस्य निर्माणक्रममाह —

द्विशालाकल्पनं प्रायश्चतुर्द्वारसमन्वितम्।
चतुःपादसमायुक्ता चतुरङ्गणभूषिता॥ 1॥

(इस अध्याय में द्विशाला नामक परीक्षास्थल के निर्माण के सम्बन्ध में वर्णन है, ये मण्डलान्तर्गत नगरों में निवेशित की जाती है) दो शालाओं की रचना प्रायः चार द्वारों सहित की जाती है। इनको चार स्तम्भों और चार ही आँगनों सहित कल्पित किया जाता है।

कुड्यान्ते मध्यभागे च चतुस्सूत्रप्रमाणकम्।
मध्यशालाकल्पनं वा मध्यकूटप्रकल्पनाम्॥ 2॥

इनके भित्ति के अन्त में, मध्यभाग से चार सूत्र प्रमाण लेकर मध्यशाला कल्पित करे अथवा मध्यकूट को परिकल्पित करना चाहिए।

कारयेन्मानविच्छिल्पी महाशालाप्रकल्पनम्।
आदिमध्यान्तभागेषु कल्पनं पूर्वबन्धतम्॥ 3॥

अतएव मानविज्ञ शिल्पी को चाहिए कि वह ऐसी महाशाला की रचना करे। इनके आरम्भ, मध्य और अन्त के भागों की रचना के लिए पूर्व में वर्णित निर्देशों का अनुसरण करना चाहिए।

द्वारस्थाने पूर्वसमस्थाने मध्यप्रकल्पने।
सुषिरव्याससमानार्धं पार्श्वकूटप्रकल्पने॥ 4॥

इसी प्रकार इनके लिए द्वारस्थान पूर्व में समस्थान पर हो, मध्यस्थान भी कल्पित हो। इसी प्रकार इन शालाओं को भी जालियों से युक्त करें। इनका जो प्रमाण हो, उसके आधे से इनके पार्श्वकूट को परिकल्पित करना चाहिए।

इति विश्वकर्मप्रणीते विश्वकर्मवास्तुशास्त्रे द्विशालालक्षणकथनं नाम षट्पञ्चाशाध्यायः॥ 56॥

इस प्रकार विश्वकर्माप्रणीत विश्वकर्मवास्तुशास्त्र में द्विशाला लक्षण कथन नामक छप्पनवाँ अध्याय पूर्ण हुआ।



अथबहुशालालक्षणकथनं नाम

सप्तपञ्चाशोऽध्यायः॥ 57॥

अधुना राजधान्यां कल्पनीयबहुशालाख्यपरीक्षास्थाननिर्माणलक्षणमभिधत्ते —

बहुशालाकल्पनं तु मण्डपाकारवन्मतम्।
सप्तभौमयुतं कार्यं राजधान्यां विशेषतः॥ 1॥

(अब राजधानी में कल्पनीय बहुशाला के निर्माण के लक्षण कहे जाते हैं) बहुशाला का परिकल्पन सामान्यतया मण्डपाकार किया जाता है। ये सप्तभौम वाली और विशेष रूप से राजधानी में स्थापित की जाती है।

किञ्चिताद्दशभौमान्वितस्य बहुशालाकल्पनस्य दैर्घ्यादिप्रमाणन्तु —

नवभौमयुतं$_9$ वापि रुद्रभौमयुतं$_{11}$ तु वा।
मानज्ञस्स्थपतिस्तत्र प्रथमात्किञ्चिदूनकम्॥ 2॥

ततः किञ्चिन्मानहीनं तृतीयं भौममादिशेत्।
हीनप्रमाणमत्रैवमङ्गणं प्रान्तभूमिषु॥ 3॥

ये शालाएँ कहीं-कहीं नौ मंजिल तक हो सकती है और कहीं-कहीं ग्यारह मंजिला भी कल्पित की जा सकती है। मान विशारद शिल्पी प्राथमिक या आधार-शाला को कुछ छोटी और उसके पौन मान में कमी वाली तीसरी मंजिल (यथा- 80, 78, 76, 74 के क्रम से) बनाते हैं। इन आँगनों की प्रान्तभूमि को भी हीन प्रमाण युक्त रखते हैं।

अस्य विशदार्थस्तु चान्यपरिकल्पनमाह —

योजयेत्तुङ्गशिखरकल्पनं बहुचित्रकम्।
महाशालाकल्पनं वा महामण्डपकल्पनम्॥ 4॥

ऐसी शाला के ऊपर तुङ्ग शिखर की रचना की जाए और उसे अनेकविध विचित्र रचनाओं वाला बनाए। उसके साथ ही महाशाला या फिर मण्डप की रचना भी की जानी चाहिए।

महाभागे प्रकर्तव्यं वातायनशतोज्ज्वलम्।
पाठकासनसंयुक्तं पङ्क्तिपङ्क्तिक्रमक्रमम्॥ 5॥
पाठवित्स्थानयुक्तञ्च तन्मध्यं रम्यचित्रकम्।

(उक्त रचना विविध भवनों और आधुनिक संकायों की तरह हो सकती है) वहाँ पर महाभाग या विशाल क्षेत्र रखा जाए। इसके लिए प्रकाश प्रबन्धन के लिए सैकड़ों वातायनों को रखा जाना चाहिए। इसी प्रकार वहाँ पर पाठकों, अध्ययनार्थियों के लिए आसनों का प्रबन्ध करे जो कि क्रमशः दायें-बायें और आगे-पीछे पंक्तिवार होंगे। इसके अतिरिक्त उक्त पाठकों के आसनों के मध्य में पाठवित्स्थान या आचार्य के लिए भी आसन कल्पित होना चाहिए जो रम्य, सुन्दर और (नाना रूप देव, गन्धर्व, यक्षादि के चित्रों से) विचित्र दिखाई देता हो।

तत्राभ्यासयोग्य विषयादीनां —

काव्यं देशीयभाषां वा नाटकादीनथापि वा॥ 6॥
मीमांसान्यायविस्तारं वेदं धर्मसमुच्चयम्।
मणिक्रियां लोहकर्म नानाशिल्पक्रियामपि॥ 7॥

उक्त शाला में पठन-पाठन के योग्य विषयों में काव्य, तत्क्षेत्रीय-देशीय भाषा,

नाटक, मीमांसा, न्यायशास्त्र का विस्तार, वेदागम और धर्म-स्मृति-समुच्चयों सहित रत्न-धातुशास्त्र और लोहादि शिल्पकर्मों का अध्ययन-अध्यापन किया जाना चाहिए।

विदन्ति ये पुण्यवशात्तत्परीक्षास्थलन्त्विदम्।
पुमर्थसिद्धये राज्ञो विजयाय च मण्डले।
कल्पयेन्मतिमाञ्छिल्पी समनेत्रं समक्रियम्॥ 8॥

इन विद्याओं, शिल्पों को पढ़ाने के बाद विद्यार्थियों की परीक्षा के लिए भी वहाँ पर परीक्षण-स्थान बनाए जाने चाहिए। इससे राजा के पुरुषार्थ की सिद्धि होती है और भूमण्डल पर विजय-कीर्ति होती है। शिल्पी को चाहिए कि वह ऐसी शाला को पूरी देखभाल व कुशलता के साथ बनवाए।

इति विश्वकर्मप्रणीते विश्वकर्मवास्तुशास्त्रे बहुशालालक्षणकथनं नाम सप्तपञ्चाशाध्यायः॥ 57॥

इस प्रकार विश्वकर्माप्रणीत विश्वकर्मवास्तुशास्त्र में बहुशाला लक्षण कथन नामक सत्तावनवाँ अध्याय पूर्ण हुआ।



अथ नानाविधपीठिकावेदिकालक्षणकथनं नाम

अष्टपञ्चाशोऽध्यायः॥ 58॥

अथास्मिन्नष्टपञ्चाशत्तमेऽध्याये देवप्रासाद-गर्भगृहमध्यस्थापनीयवेदिकादीनां स्थलान्तरकल्पनीयानां पीठिकादीनाञ्च कल्पनक्रममुदाहरति —

देवप्रीतिकरी वेदिर्वेदिका पीठिका तथा।
भुक्तिमुक्तिप्रदा पुंसा देवसान्निध्यकारिणी॥ 1॥

(इस अध्याय में नाना प्रकार की पीठिका, वेदिका के लक्षणों का वर्णन है) वास्तु के प्रसंग में यह ज्ञातव्य है कि देवताओं की प्रीतिकारक वेदी, वेदिका तथा पीठिका मनुष्यों को भुक्ति-मुक्ति प्रदान करने वाली एवं देवता का सान्निध्य प्रदायक है।

शुभे मुहूर्ते भट्टार्यैर्गर्भिता चाभिमन्त्रिता।
तस्मात्तां योजयेच्छिल्पी यथामानं यथाबलम्॥ 2॥
देव-भूपाल-मानुष्यनानावास्तुविभागवित्।

अतएव शुभ मुहूर्त देखकर वहाँ भट्ट, विद्वान् आर्य मतवेत्ता को आमन्त्रित करके इनके निर्माण के लिए आवश्यकता के अनुसार वहाँ ऐसे शिल्पियों को यथामान, यथाबल नियोजित करना चाहिए जो कि तीनों प्रकार की वेदिकाओं 1. देवता (देववेदिका), 2. राजा (भूपालवेदिका) और 3. जन सामान्य (मानववेदिका) के वास्तु विन्यासकर्म का जानकार हो।

तत्रैव गर्भगेहस्यवेदिकाकल्पनस्योक्तं —

चतुरश्रं-षडश्रं वा तथाष्टाश्रं क्वचिन्मतम्॥ 3॥
द्वादशाश्रं-षोडशाश्रं व्यासहीनं त्रिकोणकम्।
चापाकारं क्वचित्कार्यं वर्तुलं मुखपट्टिकम्॥ 4॥
द्विमुखं-त्रिमुखं वापि चतुर्मुखमथापि वा।

देवालयों में प्रतिमाओं की स्थापना के लिए तेरह प्रकार की वेदिकाओं का निर्माण किया जाता है, यथा— 1. चतुरस्र, 2. षडस्र और किसी-किसी के मत से 3. अष्टास्र, 4. द्वादशास्र, 5. षोडशास्र, 6. अतिदैर्घ्ययुक्त व्यासहीन, 7. त्रिकोणाकार, कतिपय कार्यों के लिए 8. धनुषाकार, 9. वर्तुल या गोलाकार 10. मुखपट्टिकाकार, 11. द्विमुखा, 12. त्रिमुख अथवा 13. चतुर्मुख।

तत्र क्रियाकौशलं निर्देशमाह —

कटिसूत्रसमायुक्तं कर्णनासादिमण्डितम्॥ 5॥
चतुष्पादयुतं वापि पादाष्टकसमन्वितम्।
षोडशस्तम्भकं वापि निष्पादं मुखभूषितम्॥ 6॥
किङ्किणी-तोरणैर्मण्डैर्भ्रुकुटीभिस्समन्वितम्।

इनको कटिसूत्र से युक्त करे और कर्णनासादि से मण्डित किया जाना चाहिए। इसी प्रकार वहाँ चतुष्पाद या अष्टपाद या फिर षोडशस्तम्भ स्थापित किए जाने चाहिए, कहीं-कहीं ये वेदिकाएँ स्तम्भ रहित केवल मुखाभरणों से अलंकृत भी हो सकती है। इसी प्रकार इनको अलंकरण के प्रयोजन से किंकिणी, तोरणों से मण्डित किया जाना चाहिए। भृकुटी युक्त भी बनाए।

किञ्च देवसोपानस्य नियमाः —

देवसोपानसंयुक्ताधिष्ठानोपरिसंस्थितम्॥ 7॥
तदर्धं वा तदर्धार्धाधिकमौन्नत्यमीरितम्।
एकहस्तं द्विहस्तं वा त्रिहस्तमथवा क्वचित्॥ 8॥
सूत्रमानमिदं प्रोक्तं देवागारे विशेषतः।
शिवस्य विष्णोर्देवीनां गर्भवेदि प्रकल्पयेत्॥ 9॥

देवालय में वेदिका पर स्थापित देवस्वरूप तक पहुँचने के लिए सोपानों को अधिष्ठान से ऊपर संयोजित किए जाने चाहिए। (इनको प्रतिमा के तालानुसार कल्पित किया जा सकता है, अन्यथा ये तीन, पाँच, सात या नौ हो सकते हैं) सोपानों को अधिष्ठान से आधी ऊँचाई वाला बनाए अथवा उसकी आधी की भी आधी ऊँचाई से भी युक्त रखा जा सकता है। इसी प्रकार प्रतिमा के ताल के अनुपात में एक हाथ, दो हाथ या तीन हाथ तक के ऊँचाई हेतु प्रमाण भी लिए जा सकते हैं। देवताओं के प्रासाद के सम्बन्ध में इस प्रकार का मान विशेष रूप से कहा गया है। यह शिवालय, वैष्णवालय और देव्यालय में वेदी के परिकल्पन के समय ज्ञातव्य है।

तथा चान्य संयोजनीयक्रमाह —

सव्य सव्येतरे भागे गोमुखादिसमन्वितम्।
प्रणालीं क्षुद्रमानां वा स्थपतिस्तत्र योजयेत्॥ 10॥

वेदी के सव्य और अपसव्य भाग में गोमुखादि की रचना की जानी चाहिए। साथ ही अभिषेक-स्नानोपरान्त गिरने वाले जल की निकासी के प्रयोजन से स्थपति को लघुमान से प्रणाली का नियोजन भी करना चाहिए।

जन्मान्तं मूलविस्तारभागार्धाधिकमानकम्।
समं वा विषमं मानं गेहान्ते योजयेद्बुधः॥ 11॥

वहाँ जन्मान्त से मूल विस्तार को आधे भाग से अधिक मान वाला रखें। ज्ञानीजन गृहान्त में मान बराबर या विषम रूप से कल्पित किया जाना चाहिए।

कल्पयेद्विविधं रूपं शैल-लोह-द्रुमादिभिः।
पूर्ववेदिकया युक्तं पूर्वं भद्रविभूषितम्॥ 12॥
वर्णसङ्करहीनं तत्प्रशस्तमिति भाषितम्।

इसी प्रकार वेदी को नाना रूपों से बनाया जा सकता है। शिला, लोहादि धातु या काष्ठ का इसके लिए प्रयोग किया जा सकता है। इनको पूर्ववेदी से युक्त और पूर्वभद्र से विभूषित करे। इसे प्रायः वर्णसंकरहीन अर्थात् एक ही रचना की प्रधानता से कल्पित करना प्रशस्त कहा गया है।

पद्मपीठं शेषपीठं क्षेत्रपीठमथापि वा॥ 13॥
लिङ्गपीठं सौम्यपीठं पूर्वपीठं तथा क्वचित्।
यथाबलं यथाशोभं नानाचित्रमनोहरम्।
मानज्ञः स्थपतिश्रेष्ठो दृढं कल्पं प्रकल्पयेत्॥ 14॥

वहाँ देवताओं के अनुसार ही निर्मितेय पद्मपीठ, शेषपीठ, क्षेत्रपीठ, लिंगपीठ, सौम्यपीठ अथवा पूर्वपीठ के लिए यथावश्यकता, जिस तरह से सुन्दरता प्रदर्शित हो सके, वैसे ही तक्षणपूर्वक मानविद् स्थपति श्रेष्ठ को विविध चित्रों का निर्माण करना चाहिए और वेदी को सुदृढ़तर बनाना चाहिए।

एतावता प्रबन्धेन सकलदेवमन्दिरेष्वपि कल्पनीयविविधरूपेणमूलबेरोत्सवबेर स्थापनार्ह नानारूपवेदिकाकल्पनप्रकारलक्षणादिकं संग्रहेण प्रतिपाद्याधुना मानव गृहकल्पनीयवेदिकालक्षणं प्रतिपादयति —

सर्वेषामपि वर्णानां नानारूपप्रकल्पने।
शिलावेदिर्न शुभदा तस्मात्तां वर्जयेद्बुधः॥ 15॥
वेदिकां शुभदां शिल्पी सुधा-लोहादिनिर्मिताम्।
कल्पयेद्विविधाकारां स्थलमानादिभेदतः॥ 16॥

(अब मानवों के गृहों में वेदिका के लक्षण कहे जा रहे हैं) प्रायः सभी वर्णों के गृहों के लिए नाना रूपों में वेदिका का नियोजन किया जाना चाहिए किन्तु मनुष्यों के घरों में कभी पाषाण वाली वेदिका नहीं बनानी चाहिए, वहाँ यह शुभ नहीं होती ज्ञानियों ने इसका निषेध किया है। ऐसे में शिल्पी को चाहिए कि वह मनुष्यों के गृहों में चूना-ईंट, लोहादि से शुभप्रद वेदिका बनाए और जहाँ जैसा स्थल हो, वैसा ही उसके लिए मान ग्रहण कर आवश्यक आकार प्रदान करे।

कुत्र वा स्थले मानववेदिकेयं स्थाप्येत्याकांक्षायां तादृशस्थलानि निर्दिशति —

शालाप्रान्ते चत्वरान्ते गेहद्वारान्तिकस्थले।
महाशालामध्यभागे कूटकल्पनमध्यमे॥ 17॥

देहल्यलिन्दभागेषु देवागारस्थलेषु च।
भोज्यशालाप्रान्तभागे पचनालयकोणके ॥ 18 ॥
विश्रान्तिस्थानके वापि भौमभागे क्वचित्तथा।

भवनों में प्राय: विश्रान्त्यर्थ विवाह शाला के मुख प्रान्त में, शालान्तर मुख प्रान्त के भाग में, पूर्व वर्णित गृह द्वार के सव्य-अपसव्य भाग में, चत्वर के अन्त में या उसके कोण स्थल में, महाशाला के मध्य भाग में, नवरँग के कूट के मध्य भाग के स्थल में, देहली, अलिन्द के भाग में, देवागार के भाग में, भोज्यशाला के समीप, पचनालय के कोण भाग में विश्रान्ति प्रान्ति के स्थान में वेदिका को बनाया जा सकता है। इसे अन्य तलों पर भी कदाचित कल्पित किया जा सकता है।

तत्प्रमाणमानन्तु —

हस्तं सार्धैकहस्तं वा द्विहस्तं वा त्रिहस्तकम् ॥ 19 ॥
क्वचित्तदाधिकं वापि स्थलयोग्यं प्रकल्पयेत्।
षोडशांशं द्वादशांशमष्टांशं चतुरंशकम् ॥ 20 ॥
विभजेज्जन्मकं वेदिरचनामत्र योजयेत्।

उक्त स्थलों पर एक हाथ, डेढ़ हाथ, दो हाथ, तीन अथवा कहीं-कहीं इस प्रमाण से अधिक प्रमाण से भी स्थल के योग्य वेदिका परिकल्पित की जा सकती है। उक्त स्थल प्रमाण को सोलह अंश, बारह अंश, आठ या चार अंश से विभाजित करके भी जन्म रचना के अनुसार वेदिका को कल्पित किया जा सकता है।

सपादं वा पादहीनं पृष्ठकट्यादिभूषितम् ॥ 21 ॥
श्रीकान्तं सौम्यकान्तं वा गान्धर्वं कान्तमेव वा।
नानालङ्कारसंयुक्तं कल्पयेन्नृपवेश्मनि ॥ 22 ॥

इनको पायों सहित या पायों रहित भी बनाकर पृष्ठ एवं कटि भाग में अलंकरणादि करना चाहिए। यदि राजमहलों में वेदिका बनानी हो तो उसे श्रीकान्त, सौम्यकान्त अथवा गान्धर्वकान्त जैसे नाना अलंकरणों से युक्त करके स्थापित करना चाहिए।

अथ धनिकभूपालदेवादिप्रासादभागेषु पीठिकाख्योत्तमासनस्य लक्षणमाह —

पीठिका विविधा प्रोक्ता देवानां भूभुजामपि।
नवरत्नादिघटिता मानवानां क्वचिन्मता ॥ 23 ॥

(अब पीठिका, पीठा या बाजोट के लक्षण कहे जा रहे हैं) पीठिका की रचना विविध प्रकार की होती है। यह देवताओं को विराजित करने के लिए या राजाओं के बैठने के लिए बनती है तो उसको नवरत्नों से जटित किया जाना चाहिए। कभी-कभी सामान्य जनों के लिए ऐसी पीठिका कल्पित की जा सकती है।

एकपक्षं द्विपक्षं वा सिंहपक्षमथापि वा।
एक-द्वि-त्रि-चतुः-पञ्च-षट्-सप्ता-ष्ट-नवाधिकैः ॥ 24 ॥
भागैर्जन्माधिकैर्युक्तं नानाक्षेपणभाजितम्।

ये पीठिकाएँ एक पक्ष वाली (जिसमें नवरत्नावली सहित पार्श्व में मुखपट्टिका हो, जैसा कि सिंहासन में होता है), दो पक्ष वाली (मञ्च की तरह की) या कहीं-कहीं सिंहपक्ष (जिसमें सिंह, हंस आदि पक्षियों को आकारद किया गया हो) भी हो सकती है। इनके लिए एक, दो, तीन, चार, पाँच, छह, सात, आठ, नौ और इससे अधिक भी भागों में विभाजनपूर्वक पाद, जन्म, आसन, फलक आदि की रचना करते हुए इन नाना क्षेपण या तदर्थ उपयोगी अंगों को परिकल्पित करना चाहिए।

कूटकोष्ठादिसंयुक्तमान्धारसहितन्तु वा ॥ 25 ॥
एकहस्तादिमानन्तु तत्र नेयं यथाबलम्।
चतुरङ्गुलकं मानं जङ्गमे स्थावरेऽपि च ॥ 26 ॥

इनको कूट, कोष्ठादि से युक्त करते हुए आन्धार सहित बनाए। बैठक के प्रयोजन के साथ ही इनको एक हाथ के मान से आरम्भ करते हुए जहाँ जैसी आवश्यकता हो, वैसा बनाना चाहिए। इनमें अलंकरण के लिए जंगम-स्थावर प्राणियों की रचना चार अंगुल की पट्टिका पर की जानी चाहिए।

अन्यदप्याह —

विष्कम्भादिसमोपेतं नानारूपं मनोहरम्।
यथायुक्ति यथामानं दृढमासनकल्पनम्।
कल्पयेत्स्थपतिश्रेष्ठः स्थलकालप्रमाणवित् ॥ 27 ॥

इसी प्रकार पीठिका, आसन को विष्कम्भों से युक्त करते हुए विविध रूपों से मनोरम बनाना चाहिए। इस प्रकार के सुदृढ़ आसन के निर्माण के लिए स्थल एवं

काल के प्रमाण को जानने वाले स्थपतिश्रेष्ठ को जैसा मान हो, वैसी ही तकनीक अपनानी चाहिए।

इति विश्वकर्मप्रणीते विश्वकर्मवास्तुशास्त्रे नानाविधवेदिकापीठिकालक्षणकथनं नाम अष्टपञ्चाशोऽध्यायः ॥ 58 ॥

इस प्रकार विश्वकर्माप्रणीत विश्वकर्मवास्तुशास्त्र में नानाविध वेदिका व पीठिका लक्षण कथन नामक अठावनवाँ अध्याय पूर्ण हुआ।



अथ पोतिकालक्षणकथनं नाम

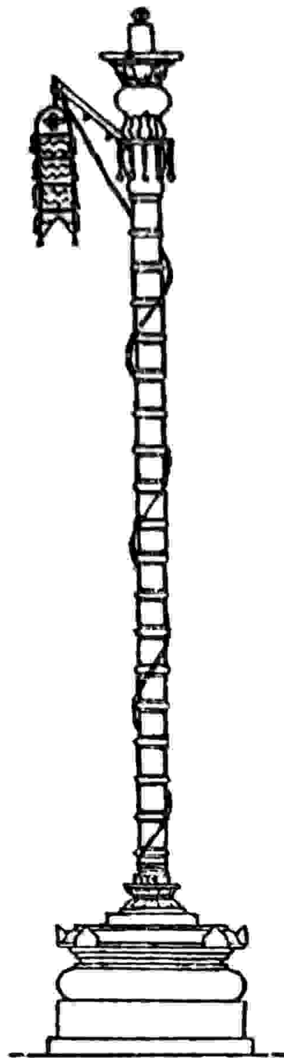
एकोनषष्टितमोऽध्यायः ॥ 59 ॥

अथास्मिन्नेकोनषष्टितमेऽध्याये सर्वविधकल्पनालङ्कारभूतपोतिकानिर्माणलक्षणादिकमाह —

दीपस्थलं पोतिकाख्यं कथितं शास्त्रपारगैः।
देवेषु मानवेष्वन्यत्कल्पनेष्वपि भूरिषु॥ 1 ॥

(इस उनसठवें अध्याय में गृहोपयोगी दीपपात्र के निर्माण के सम्बन्ध में कहा जा रहा है) शास्त्रविदों ने दीपक रखने के स्थल को 'पोतिका' का नाम दिया है। इनको देवालयों में ही नहीं, मनुष्यों के भवनों और अन्यत्र भी बहुत अच्छी प्रकार से बनाया जाता है।

पोतिका



तस्मात्तादृशदीपपात्रनिर्माणद्रव्यं तु त्रिविधमेव, यथा —

शिला-लोह-सुधारूपाद्दैवभूपालमानवम्।
तत्कल्पनं त्रिधा प्रोक्तं निर्माणानां शुभप्रदम्॥ 2॥

पोतिका के निर्माण के लिए तीन विधियाँ हैं जो शुभप्रदायक है। ये हैं— 1. शिलाद्रव्य से, 2. लोहद्रव्य से एवं 3. चूना, काष्ठ-इष्टिका से। ये इसी प्रकार क्रमशः देवालय, राज्ञालय और मनुष्यालय में प्रयोजनीय है।

स्पष्टार्थ चक्र

1. पाषाण आदि की पोतिका — मन्दिरों में प्रयोजनीय
2. लोहादि धातु की पोतिका — राजमहलों में प्रयोजनीय
3. काष्ठ, चूना-ईंटों की पोतिका — सर्वसामान्य के गृहों में प्रयोजनीय

तादृशदीपनिर्माणक्रममुदाहरति —

पञ्चताला सप्तताला वाऽष्टताला क्वचिन्मता।
नवताला क्वचिल्लोहशिलादित्तत्प्रयोजिता॥ 3॥

इनको पाँच ताल ऊँचाई का या सात ताल की ऊँचाई का बनाना चाहिए। कहीं-कहीं इनको आठ ताल की भी बनाई जा सकती है। कदाचित् लोहा या शिला की पोतिका बनानी हो तो उसे नौ ताल की ऊँचाई का भी बनाया जा सकता है।

तादृशदीपधारिणीयुवतिबेरनिर्माणक्रमो, यथा —

गान्धर्वी किन्नरी विद्याधरी वा पक्षिरूपिका।
नानालङ्कारसंयुक्ता दीपपात्रकधारिणी॥ 4॥

दीपपात्रों को धारण करने के लिए शिला, धात्वादि से युवतियों का उत्कीर्णन 1. गान्धर्वी, 2. किन्नरी, 3. विद्याधरी अथवा 4. पक्षीरूपिका (हंसिका, मयूरिका, शुकादि उत्तम पक्षिणियों) के रूप में किया जा सकता है। इन दीपपात्र धारिणियों को नाना प्रकार के अलंकरणों से युक्त बनाना चाहिए।

महासना वा साधारा देवभूपालकल्पने।
मानज्ञेन स्थलज्ञेन स्थापितव्या शुभस्थले॥ 5॥
तद्युग्मकं वा पुरतो युग्मं विपरिवृत्तकम्।

देवालयों अथवा राज्ञालयों में किसी शुभस्थल का चयन कर मान और स्थलविद् को चाहिए कि वह इन दीपधारिणियों को किसी उच्च आसन पर साधार स्थापित करे। यह स्थापना युग्मरूप में या आगे की ओर युग्मस्वरूप हो सकती है। इनको घेरे के रूप में भी स्थापित किया जा सकता है।

पोतिकास्थापनयोग्यस्थलमाह —

शालासु स्तम्भपालीसु सोपानेऽलिन्दशालके॥ 6॥
कूटे च नवरङ्गे च भौमकल्पनपालिषु।
गोपुरद्वारभागेषु मण्डपास्थानभूमिषु॥ 7॥
प्राकारकुड्यभागेषु तटाकादिस्थलेष्वपि।
द्वारपार्श्वे चत्वरान्ते देवगेहे विशेषतः॥ 8॥
भोज्यशालादिषु तथा शयनादिस्थलेषु च।
कल्पनान्तरभागेषु प्रकल्प्या पोतिका क्रिया॥ 9॥

इन दीपधारिणियों से युक्त पोतिकाओं को शाला में, स्तम्भपालियों, सीढ़ियों, अलिन्दशाला, कूट या उच्च स्थलों, नवरँग या रँगमहलों में, विविध मंजिले भवनों में, गोपुरद्वार भाग, मण्डपस्थल, प्राकार, दीवार के भाग, तालाब, द्वरवाजों के पास में, चत्वर के अन्त में और देवगृहों में विशेष रूप से स्थापित करना चाहिए। इसी प्रकार भोजनशाला, शयनादि स्थल और अन्य कल्पित स्थलों पर भी पोतिका का निर्माण या स्थापना की जानी चाहिए।

भित्त्यन्ते पादकान्ते च कल्पनान्ते च सुस्थले।
सुधारूपी दारुमयी क्वचित्कार्या विशेषतः ॥ 10 ॥

भित्तिका के अन्त में, पाये के अन्त में भी अच्छे स्थान को देखकर पोतिका को कल्पित किया जाना चाहिए। यहाँ चूना और काष्ठ से बनी हुई पोतिका को विशेष रूप से स्थापित करना चाहिए।

सम्मुखं समसङ्ख्यञ्च पोतिकाकल्पनं वरम्।
योजनीयं वियोक्तव्यं जङ्गम-स्थावरक्रमात्॥ 11 ॥

किसी भी स्थान में सामने की ओर समसंख्या में पोतिका को लगाना श्रेष्ठ होता है तथा जंगम-स्थावर क्रम से (चलिष्णु या उठाऊ हो तो) इनको वियोक्त अथवा असम भी योजित किया जा सकता है।

किञ्च क्वचिद्देवागारद्वारभित्त्युभयपार्श्वेषु शृङ्खलासंयोजितमाह —

शृङ्खलावलितं वापि क्वचिन्माना मुखान्विता।
करपट्टिकया युक्तं दर्व्या वापि समायुतम्॥ 12 ॥
तैलकुण्डिकयुक्तं वा द्विहस्तं वा त्रिहस्तकम्।

कहीं-कहीं इनको साँकलों से लटकाकर भी योजित किया जा सकता है और कहीं-कहीं आगे की ओर भी रखा जा सकता है। इनके साथ ही वहाँ करपट्टिका (हाथ में धारण करने जैसी पट्टिका) रखनी चाहिए। दर्वी या पल (तेल सींचने का पात्र) भी रखा जाना चाहिए। इनके लिए नियमित तेल की आपूर्ति हो सके, अतएव तैलकुण्डिका भी बनाई जाए, यह दो हाथ या तीन हाथ प्रमाण की होगी।

छटादीपं सपक्षं वा विपक्षं वा वितानकम्॥ 13 ॥
चतुश्चतुःपञ्चपञ्च क्वचिद्व्यत्यस्तकल्पनम्।
कर्णनासादिसंयुक्तं दशास्थानसमन्वितम्॥ 14 ॥

गृहादि में शोभा के लिए लगाए जाने वाले दीपों को सपक्ष (आजू-बाजू) या

विपक्ष (एक बाजू) में लगाएँ। इनको वितान या चन्दोवा सहित लगाया सकता है। सजावट के लिए चार-चार, पाँच-पाँच या ऐसे ही दो-दो दीपक भी कल्पित हो सकते हैं। इसी प्रकार पोतिका को कर्णनासादि और दशास्थान से संयोजित करे।

शतपत्रस्थानयुतं सहस्रकलशन्तु वा।
पत्रतोरणरूपं वा लतातोरणरूपकम्॥ 15॥
नानाबिम्बसमोपेतं प्रपारूपं क्वचिन्मतम्।
युक्त्या प्रकल्पयेत्तत्तत्कल्पनार्हं मनोहरम्॥ 16॥

दीपों की सज्जा का प्रयोजन हो तो उनको शतपत्र या पद्मदल सहित अथवा सहस्रकलश रूप में या पत्रतोरण के रूप में या फिर लतातोरण के रूप में जाज्वल्यमान किया सकता है। नाना रूपों और कदाचित प्रपारूप में भी पोतिका को नियोजित किया सकता है। इस प्रकार मनोहर कल्पना को साकार करने के लिए विविध युक्तियाँ प्रयोग में लाई जा सकती है।[१]

---

१. मानसार में दीपरचना के लक्षणादि इस प्रकार आए हैं—द्वादशाङ्गुलमारभ्य चैकादशाङ्गुलं भवेत्। अष्टसप्ताङ्गुलोपेतं विंशत्यङ्गुलविवर्धनात्॥ नवधा दीपदण्डोच्चं द्विद्वाङ्गुलविवर्धनात्। अथवा हस्तमानेन दीपदण्डोदयं क्रमात्॥ एकहस्तं समारभ्य त्रित्र्यङ्गुलविवर्धनात्। द्विकरान्तं तथोत्सेधं तथा हस्तेन वर्धयेत्॥ नवहस्तावसानं स्यात्कन्यसादि त्रयं त्रयम्। केचित्पुरतो दीपदण्डं हर्म्यवशोदयम्॥ प्रस्तरं वेदिकान्तं च ग्रीवान्तं दण्डकान्कम्। नासिकान्तं फलकान्तं पद्मान्तं तद्घटान्तकम्॥ स्तूपिकाग्रावसानं स्यात्कन्यसादि त्रयं त्रयम्। एकद्वाङ्गुलमारभ्य द्विद्वाङ्गुलविवर्धनात्। अथवा-र्धाङ्गुलैर्वृध्यात्पञ्चषडङ्गुलान्तकम्। मात्राङ्गुले नैवोक्तं च दीपदण्डविशालकम्॥ एवं तु दारुजैः कुर्याल्लोहजेन विशेषतः। एकाङ्गुलं समारभ्य चार्धार्धाङ्गुलवर्धनात्॥ पञ्चाङ्गुलावसानं स्यात्कन्यसादि त्रयं त्रयम्। फलकादण्डकमिति प्रोक्तं विस्तारं दण्डमूलके॥ त्रिचतुष्पञ्चषट्सप्तसाष्टभागे विभाजिते। तत्तदेकांशहीनं स्याच्छेषदण्डाग्रविस्तृतम्॥ चित्रपाण्यग्रवद् दण्डं मूले पद्मासनान्वितम्। अग्रे च फलकान्तं च ताटिकाद्यैर्विभूषितम्॥ अथवाङ्घ्रिकवारिस्यादूर्ध्वे च कुड्मला-न्वितम्। दण्डविस्तारमानेन दण्डद्वित्रयमेव वा॥ चतुर्दण्डं पञ्चषट्दण्डं पद्मविस्तारमेव च। फलका च त्रिदण्डं स्यादथवा पङ्कजोक्तवत्॥ दण्डमध्ये तु ते सर्वे युग्मा चाङ्घ्रिकवारिका। चतुरश्रं वा तदष्टाग्रं वृत्तं वा चलदण्डकम्॥ स्थिरदण्डविशाले तु मानाङ्गुलवशान्नयेत्। त्रिचतुर्मात्रमारभ्य द्विद्वाङ्गुलविवर्धनात्॥ एकोनविंशत्यङ्गुल्या विंशत्यङ्गुलकान्तकम्। एवं नवविधं प्रोक्तं स्थिरदण्डविशालकम्॥ लोहजैर्दारुजैर्वापि शैले वाथ प्रकल्पयेत। पुरोक्त-दण्डतुङ्गे तु त्रिचतुष्पञ्चषडंशके॥ एकैकं चाधिकं युक्तं दण्डस्य घन मानकम्। मूले च वेदिका कुर्यात्पद्मोपपीठमेव वा॥ फलकादिभूषणं वापि ऋजुदण्डमथापि वा। मूले च चतुरश्रं स्याष्टांशं वा सुवृत्तकम्॥ ऊर्ध्वे चोक्तवच्चाग्रे चामूलाग्रक्षयं क्रमात्। युक्त्योपर्युक्तवन्माने कुर्यादूर्ध्वे तु दण्डकम्॥ (मानसारम् 50, 29-48)

इति विश्वकर्मप्रणीते विश्वकर्मवास्तुशास्त्रे पोतिकालक्षणकथनं नाम एकोनषष्टितमोऽध्यायः ॥ 59 ॥

इस प्रकार विश्वकर्माप्रणीत विश्वकर्मवास्तुशास्त्र में पोतिका लक्षण कथन नामक उनसठवाँ अध्याय पूर्ण हुआ।



अथ चत्वरलक्षणकथनं नाम

षष्टितमोऽध्यायः ॥ 60 ॥

अथास्मिन् षष्टितमेऽध्याये सकलविधगृहादिनिर्माणकल्पनीयचत्वरलक्षणमुदाहरति —

ग्राम्ये नागरिके वापि निर्माणे बहुरूपके।
दैविके मानवे वापि नानामानविभाजिते ॥ 1 ॥
प्रासादन्यायशालासु शालास्वन्यास्वपि क्वचित्।
चत्वरस्थापनं सर्वप्राणिनां सुखदायकम् ॥ 2 ॥

(इस साठवें अध्याय में चत्वर के लक्षणों का वर्णन किया जा रहा है) ग्रामों में या नगरों के बहुत प्रकार के निर्माणों जो चाहे दैविक हो अथवा मानवीय, वहाँ नाना प्रकारेण मान-नापों में विभाजित प्रासादों, न्यायशाला और अन्य शालाओं में भी कहीं-कहीं चत्वरों (चौराहों पर चौक) की स्थापना करना सभी प्राणियों के लिए सुखदायक होता है।

किञ्चैतादृशचत्वरस्थापनेन किंवा प्रयोजनमिति, तत्फलं ध्वनिना प्रतिपादयति-

वास्तुपूरुषनेत्रं तदाहुश्शिल्पविशारदाः।
तस्मात्तत्कल्पयेच्छिल्पी यथामानं यथास्थलम् ॥ 3 ॥
वास्थलाख्यं केवलं वा कल्पनं तद्द्विधा मतम्।

इनको शिल्पविशारदों ने वास्तुपुरुष के नेत्र कहा है। इसलिए शिल्पीगण इनको उचित मान के और यथावश्यक स्थान पर ही परिकल्पित करे। ये चत्वर दो प्रकार

के कल्पित किए जाते हैं— 1. वार्स्थल नाम वाले और 2. केवल नाम वाले। (इनमें प्रथम चत्वर सूर्य की धूप, चन्द्रमा की चाँदनी और वृष्टि-वर्षण की दृष्टि से खुले होते हैं। दूसरे केवल चत्वर पूर्वोक्त रीति से रँगमहलों की कल्पना सहित चौकोर मण्डपों आदि की रचना वाले होते हैं)।

अपि च तादृशचत्वरकल्पनस्य वैशाल्यादिप्रमाणं कियद्वति चेत्तदाह—

समसूत्रं पार्श्वसूत्रं [१]कल्पसूत्रमथापि वा ॥ 4 ॥
प्रयोज्य स्थापयेच्छिल्पी कल्पनार्हक्ष्माक्रियम्।

इनके नियोजन के लिए समसूत्र अथवा पार्श्वसूत्र या फिर कल्पसूत्र विधि काम में ली जाए। शिल्पी को चत्वर की स्थापना के लिए उपलब्ध पृथ्वी के सम्बन्ध में इसी अनुसार विचार करना चाहिए।

क्वचिद्ग्रामगृहादिषु भूपालप्रासादादिप्रदेशेषु वा दशदण्डाधिकवैशाल्यशालिन्याः चत्वरभागभूमेर्यदि लाभस्तदा किं कर्तव्यमिति चेत्तद्विवृणोति —

एकं द्विकं त्रिकं वापि नानासङ्ख्यं क्वचित्स्थले ॥ 5 ॥
द्विहस्तं सार्धहस्तं वा हस्तं वापि तदर्धकम्।
अङ्गणान्निम्नकं तस्य कल्पयेत्सर्वकल्पने ॥ 6 ॥
प्रणालीसंयुतं प्रायः संवृतास्यं प्रकल्पयेत्।

चत्वर कहीं पर एक, कहीं दो, कहीं तीन तो कहीं-कहीं पर अधिक संख्या में भी बनाए जा सकते हैं। इनके लिए वहाँ पर दो हाथ, डेढ़ हाथ, एक हाथ या आधा हाथ प्रमाण से निम्नाँगण (ढालू क्षेत्र) परिकल्पित किए जाने चाहिए। इस प्रकार ये चारों ही ओर जल की निकासी के लिए प्रणाली सहित कल्पित किए जाए।



---

१. मतान्तररीत्याऽस्य चत्वरस्थानस्य लक्षणमाह— कल्पसूत्रमथापि वेति। अस्य विशदार्थो यथा- तत्र तत्र गृहादिकल्पनेषु यजमानविभवादिना वा ऐच्छिकेन वा स्थललाभादिना वा क्वचिन्नगरादिषु कल्पितभवनान्तर्गतनानाविधक्षुद्रगृहनिर्माण- प्रमाणानुगुण्येन वा चत्वरकरणं करणीयमित्यर्थः फलति।

अपराजितकार ने हट्टमार्ग के साथ ही पूर्व, दक्षिण-उत्तर में इनके निर्माण का निर्देश किया है— पूर्व याम्योत्तरे शस्तं हट्टमार्गादिचत्वरम्। (अपराजितपृच्छा 72, 47)

किञ्चैवं प्रकारेण पार्श्वभागस्थितं वाऽङ्गणतलात् चत्वरस्य निम्नप्रमाणं, तत्र च क्वचिद्भागे स्थापनीयप्रणालीसंस्थापनं चोक्त्वाऽद्य तादृशचत्वरं परितः कल्पनीय क्रममाह —

परितश्शालकं वापि कूटं वाऽङ्गणकल्पनम्॥ 7॥
स्तम्भभित्त्यादिसूत्रेण विरुद्धं कल्पनं मिथः।
योजयेत्सममानं वा मध्यवेशाङ्गणं क्वचित्॥ 8॥

उनके एक ओर शाला भवन अथवा कूट या फिर आँगन को परिकल्पित किया जाना चाहिए। स्तम्भों और भित्ति आदि के सूत्र सीध से विरुद्ध बनाना मिथ है अर्थात् उसे क्षति पहुँचाना है। अतः इनको सममान में बनाया जाना चाहिए। कहीं-कहीं मध्य भाग में आँगन निवेशित किया जा सकता है।

वार्स्थले कल्पने नानारूपे भागविराजिते।
करपट्टिकयोपेतं शृङ्खलान्वितमेव वा॥ 9॥
फलकावृतभागं वा सरन्ध्रं वा क्वचिन्मतम्।

वार्स्थल प्रकार के चत्वरों की कल्पना नाना रूपों के भागों में होती है जिनको करपट्टिका युक्त और शृंखला युक्त हो सकती है। किसी-किसी का मत है कि फलक से आवृत, छायादार हो या जालीदार फलक भी हो सकते हैं।

अङ्गणस्तम्भसंयुक्तमथवा स्तम्भकल्पनम्॥ 10॥
स्तम्भनेत्रं द्वारनेत्रं मुखनेत्रं क्रमान्नयेत्।
केवलं ग्रामनिर्माणेष्विदमाहुर्मनीषिणः॥ 11॥

इसके अतिरिक्त चत्वर अंगण-स्तम्भों से युक्त हो अथवा वहाँ स्तम्भों को भी कल्पित किया जा सकता है। स्तम्भनेत्र, द्वारनेत्र, मुखनेत्र क्रम से बनाए, ऐसे केवल जाति के चत्वर को ग्राम में कल्पित किया जाना चाहिए, ऐसा मनीषियों ने कहा है।

शावलोर्ध्वगभागाद्वा भौमस्योर्ध्वतलादपि।
नानावरणिकस्थानाज्जलपातं प्रकल्पयेत्॥ 12॥

शावल (एक विशिष्ट तलगृहीय निर्मिति) के ऊपरी भाग या भवन में ऊर्ध्वतल सहित अनेक आवरणक स्थलों, छतों से जलगिरने के स्थान— इस प्रकार तीन चत्वर के प्रान्तभाग के ऊपरी भवन पर एक, दो या तीन सलिल पातस्थान परिकल्पित करना चाहिए।

तत्र सुधेष्टिकाचिक्कणादिमसृणस्थानादिकं **कार्यमाह** —

पाते घनं शिलं वापि तन्मयं वा सुधेष्टकम्।
मुखसोपानसंयुक्तं मुखपट्टादिभूषितम्॥ 13 ॥

उक्त प्रणालों से गिरने वाली जलधारा के नीचे का स्थान सघन शिला अथवा चूना-इष्टिका से पक्का बनाना चाहिए। उनके अग्रभाग मुख सोपान आदि से युक्त हों तथा मुखपट्टादि से विभूषित हो।

प्रान्तभागे शिला स्थाप्या साधिष्ठानाऽथ केवला।
मध्यवेदीकल्पनं वा प्रान्ते वा तत्प्रकल्पनम्॥ 14 ॥

केवल वर्ग के चत्वरों के किनारों के भागों में शिलाओं की स्थापना करे। उनके लिए अधिष्ठान भी बनाए तथा चत्वर के मध्य वेदी बनाए या उसके प्रान्तभाग पर बनाए।

एक-द्वि-त्र्यादिनिर्माणयोग्यं सर्वत्र कारयेत्।
कल्पनङ्कल्पयेद्युक्त्या वीथीमानप्रमाणकम्॥ 15 ॥

उक्त रचनाएँ एक, दो, तीन आदि जैसी उचित हो, वैसी सर्वत्र बनानी चाहिए। इस प्रकार यथा परिकल्पना और यथा युक्ति वीथीमान को ध्यान में रखते हुए चत्वरों का निर्माण करना चाहिए।

गेहव्यासार्धभागं वा तदर्धं वा तदर्धकम्।
मध्यभागस्थलोपेतं तिर्यग्भागस्थलान्वितम्॥ 16 ॥

गृह के व्यास के आधे भाग का अथवा इसका भी आधा और आधे का भी आधा मध्यभाग स्थल बनाए। वहाँ तिर्यक् भागस्थल भी रखे।

क्षुद्रचत्वरनिर्माण भौमयोग्यं प्रकल्पयेत्।
द्वारकल्पस्तम्भकल्पभित्तिकल्पादिहीनकम्॥ 17 ॥

लघु चत्वर बनाना हो तो उसे उक्त प्रमाण से तल, भूमि के योग्य बनाना चाहिए। इसके लिए आवश्यक द्वार कल्पित करे, स्तम्भ कल्पित करे और भित्ति भी कल्पित करे, यह लघु निर्मिति अपेक्षाकृत हीन हो।

कूपकल्पविहीनञ्च समसूत्रप्रसारकम्।
न्यूनातिरेकहीनञ्च कल्पयेत्स्थलमानवित्॥ 18 ॥

इसी प्रकार यदि कूप कल्पना से रहित समसूत्र चौक बनाए। स्थलमान के

विज्ञ शिल्पीगण को इसके लिए न्यूनाधिकता नहीं रखनी चाहिए।

तत्र मध्यतलेषु नानालताकुसुमपत्रादिरचना कार्यमाह —

दशभागादष्टभागं षड्भागश्चतुरंशकम्।
लतापुष्पादिचित्राढ्यं श्लक्ष्णभूतलभासुरम्॥ 19॥

मध्यतल में सामान्यतया दस भाग, आठ भाग, छह भाग और चार अंश, इस क्रम से दीर्घ से न्यून चत्वरों के उत्तरोत्तर हीन होते भाग के मान से लता, पुष्पादि का अलंकरण करे और भूतल के मान को चिकनाई वाला बनाए।

स्तम्भान्धारिकयुक्तं वा पटल्यादियुतं क्वचित्।
स्थापयेत्कल्पनान्ते वा चत्वरस्य प्रकल्पनम्॥ 20॥

इसी प्रकार वहाँ स्तम्भ, अन्धारिका अथवा कहीं-कहीं पटल्यादि का भी विधान किया जा सकता है। इस प्रकार निर्माण-स्थापत्य से चत्वर को परिकल्पित करना चाहिए।

इति विश्वकर्मप्रणीते विश्वकर्मवास्तुशास्त्रे चत्वरलक्षणकथनं नाम षष्टितमोऽध्यायः ॥60॥

इस प्रकार विश्वकर्माप्रणीत विश्वकर्मवास्तुशास्त्र में चत्वर लक्षण कथन नामक साठवाँ अध्याय पूर्ण हुआ।



अथ सन्धिबन्धकथनं नाम

एकषष्टितमोऽध्यायः॥ 61॥

एतावता प्रबन्धेन प्रतिपादितानां नानारूपाणां शिलालोहदार्विष्टिकादिकल्पितगृह-भवनमण्टपस्तम्भगोपुरकवाटगवाक्षपीठ शिबिकादीनां सन्धिबन्धनलक्षण-कथनात्मकमेकषष्टितमाध्यायमारभते —

सन्धिबन्धस्तु सर्वत्र कल्पदार्ढ्याय कल्पते।
तद्विना विफलं कर्म सुखञ्च न भवेद्ध्रुवम्॥ 1॥

(इस अध्याय में भवनों के निर्माण में चयकार्य एवं काष्ठ के प्रयोग के लिए

सन्धि, संयोजन की विधि को स्पष्ट किया जा रहा है) भवनादि के निर्माण के समय यह निश्चित समझना चाहिए कि यथा स्थान सन्धिबन्ध को बहुत दृढ़ता के साथ करना चाहिए।[१] यदि ऐसा नहीं हो सका तो सारे ही कार्य विफल हो जाएँगे और किए गए कार्य से कोई सुख नहीं मिलेगा, यह अटल सत्य है।

तस्मात्तद्योजयेद्युक्त्या स्थपत्याज्ञासुवर्तिनः।
ऊर्ध्वमानमधोमानं पार्श्वमानं प्रकल्पयेत्॥ 2॥

इसलिए स्थपति की आज्ञा को शिरोधार्य कर अनुयायी तक्षकादि को चाहिए कि वह सन्धिबन्ध को बहुत सावचेती के साथ करे। इसके लिए तीन प्रकार मान का सदैव ध्यान रखना चाहिए— 1. ऊर्ध्वमान (ऊँचाई का मान), 2. अधोमान (नीचाई का मान) एवं 3. पार्श्वमान (आजू-बाजू का मान)।

अत्र सर्वविधसन्धिकल्पनानां द्रव्ययोजनादिक्रममाह —

शिलैव योज्या शैलेषु चेष्टिकास्विष्टिका सुधा।
दारुकार्येषु लोहादिः दृढसन्धाय निश्चितः॥ 3॥

यह सामान्य नियम है कि यदि प्रस्तर-सन्धि करनी हो तो वह प्रस्तर के साथ ही करे। ईंटों के साथ ईंटों को जोड़े। इन कार्यों के लिए चूने का उपयोग करना चाहिए। इसी प्रकार यदि लकड़ियों को परस्पर जोड़ना हो तो लोहे की कीलों को ठोक कर सन्धि को दृढ़ करना चाहिए।[२]

---

१. मानसारकार का मत है कि गृहों में काष्ठ के संयोजन को सन्धिकर्म कहा जाता है। काष्ठ के लिए कहा है कि वृक्ष का मूल सुदृढ़ एवं आगे का भाग बल रहित होता है, ऐसे में ज्ञानी को मूल की ओर के काष्ठ का उपयोग करना चाहिए। ऐसे ही काष्ठ का सूत्रधार को संग्रह करना उचित है। सन्धि के लिए प्रयोजनीय काष्ठ वक्र, भग्न व छिद्रित नहीं होना चाहिए— हर्म्याणां दारुसंयोगः सन्धिकर्म उदीरितम्॥ वृक्षमूले बलं युक्तं वृक्षाग्रे बलहीनकम्। तस्मात्तु बन्धयेत्सर्व दारुसम्मूलात् शूलतः सुधीः॥ उक्तवद्दारु संग्राह्य योज्यं हि तक्षकेण तु। न वक्रं च न भिन्नं च न सुषिरं दारु सर्वशः॥ (मान. 17, 1-2)

इसी तरह ईशानशिवगुरुदेव मिश्र का मत है— द्रव्याणामपि दारूणां बलयामादिसिद्धये॥ स्थितानां शायितानां च सन्धिकर्म निगद्यते। बाह्यं चाभ्यन्तरं पार्श्वेऽप्यधस्ताच्च तथोपरि॥ अन्यत्रापि च यत्रेष्टं सन्दध्यादुचितं यथा। सर्वदारूणि पूर्वाग्रमुत्तराग्रं च योजयेत्॥ शुभदं विपरीताग्रमशुभायेह कल्पते। (ईशानशिव. क्रिया. उत्तर. 33, 73-76)

२. मयमतम् में आया है कि सन्धि हमेशा एक ही जाति की होनी चाहिए। इसके लिए पाषाण, ईंट और काष्ठ को सघन या मजबूत रखना चाहिए— सन्धिकर्म प्रशस्तं स्यात् सजातीयैर्वरद्रुमैः॥ (मय. 17, 2)

तस्माद्युक्त्या यथामानं यथायोगं प्रकल्पयेत्।
टङ्कादिश्लक्ष्णिते योज्यमन्यथा विफलं भवेत्॥ 4॥

अतएव इस कार्य के लिए जैसा मान हो, वैसी ही युक्ति का प्रयोग करते हुए यथायोग सन्धिबन्ध करना चाहिए। काष्ठ के लिए टँकी आदि औजारों का प्रयोग करते हुए छिद्रादि करे और मुलायम भाग तैयार करके ही संयोजन करे अन्यथा सन्धिकर्म विफल हो जाता है।

तत्र काष्ठार्थे कीलसंयोजनमाह —

अङ्गुलाद्दशकं$_{10}$ वापि नवकं$_{9}$त्वष्टकन्तु$_{8}$ वा।
स्थलक्रमात्कीलमानं योजनीयं विचक्षणैः॥ 5॥
नातिरन्ध्रं नातिहीनं न च व्यक्तिकरं मतम्।
दारुकार्येषु सर्वेषु क्रियाशैली प्रकीर्तिता॥ 6॥

लकड़ी के सन्धि-संयोजन के लिए यह ज्ञातव्य है कि दस, नौ या आठ अंगुल प्रमाण की स्थल के अनुसार कील लेकर शिल्पी को सन्धिकर्म करना चाहिए। सन्धि के लिए न तो बड़ा छिद्र करना चाहिए न ही छोटा, कभी पूरा छिद्र भी नहीं करे। जैसा जहाँ पर आवश्यक हो, वैसा ही छिद्र बनाकर लकड़ी के लिए सन्धिक्रिया करने का निर्देश है।

इष्टिकादीनां संयोजनमाह —

व्यत्यासक्रमतो योज्या इष्टिकादिप्रकल्पने।
सुधालेपो मध्यभागे दार्ढ्याय परिकल्पते॥ 7॥

ईंटों से दीवार तैयार करनी हो तो उनको व्यत्यासक्रम (दो ईंटों पर क्रमशः एक ईंट के क्रम से) से चूने के लेप के साथ संयोजित करे। इनके मध्य भाग को भी चूने से ही दृढ़ करना चाहिए।

सिन्दूरमेलनं वापि शिलाचूर्णादिपिष्टिका।
वज्रबन्धोऽथवा कार्यस्सेतुदुर्गादिषु स्थिरः॥ 8॥

मजबूती के लिए जो मसाला बनाया जाए, उसमें सिन्दूर (गैरिक) मिलाए या शिलाचूर्ण (रेती), पिष्टिका (मुलायम, पिसा हुआ चूना) मिलाकर वज्रलेप बनाकर प्रयोग करना चाहिए। किसी सेतु-पुलिया, दुर्ग आदि के चिर-स्थायित्व के लिए इस वज्रलेप[१] का प्रयोग अच्छा माना गया है।

---

१. वज्रलेप के सम्बन्ध में विष्णुधर्मोत्तरपुराण में आया है कि प्रयत्नपूर्वक बिल्वफल, कैंथ के

दारुसंयोजनार्थे कीलप्रयोगमाह —

दारुमेलनकं वापि लोहकीलस्य मेलनम्।
द्वाराणामपि कुड्यानां गवाक्षाणाञ्च मेलने॥ 9॥
स्तम्भमेलनके वापि तूलदार्वादिमेलने।
सोपानमेलनेष्वेवमधिष्ठानादिमेलने॥ 10॥

कच्चे फल, आम्र और इसी प्रकार शाल्मली के पुष्प, सल्लकी के बीज, धन्वन या धामन पेड़ की छाल और वचा का रस समान मात्रा में लिया जाना चाहिए। उक्त सामग्री से आठ गुना पानी लें और उसे उसमें डालकर तब तक उबालें जब तक कि वह कम होकर अष्टमांश रह जाए। इसके बाद इसमें सल्लकी का विन्यास, बकुल की गुग्गुल, भल्लाटक, बिल्व, कुन्दरु, सर्ज और अतसी को मिलाकर अच्छी प्रकार उबालें तो वज्रलेप तैयार होगा। दूसरे प्रकार के वज्रलेप के लिए लाख, कुन्दरु, गृह के धूम्र के जाले, कैंथ एवं बिल्व का गूदा या लुगदी, नागफल, बला, मधूक, किञ्जाप, मदन, मञ्जिष्ठा, आमलक और सर्ज को पूर्वानुसार पानी में उबालकर (दूसरे प्रकार का) वज्रलेप तैयार किया जा सकता है। अन्य प्रकार का वज्रलेप वृषभ एवं भैंस के सींग, बकरी का चर्म एवं भैंस व गाय का चर्म एवं कैंथ तथा नीम के रस को मिलाएँ और पूर्वानुसार विधि से (तृतीय प्रकार का) वज्रलेप तैयार करें। धातु से तैयार होने वाले वज्रलेप के लिए आठ भाग नाग या टिन, दो भाग काँस्य और एक भाग पीतल को लें और इनको साथ पिघलाने से इसे तैयार करें। इसी प्रकार जब कलि-चूने को पानी से तरकरके बुझाया जाए तब गव्यादि के चर्म, खर, रोमादि भी उसके साथ मिलाएँ तो यह अन्य प्रकार का वज्रलेप तैयार हो जाता है। जब राजाओं के लिए पाषाणों से गृहों का निर्माण (उद्धार) किया जा रहा हो, तब उक्त वज्रलेपों में से किसी एक का प्रयोग करें। इसी प्रकार यदि पक्की ईंटों का गृह बनाया जा रहा हो तब भी श्रेष्ठ व्यक्ति को स्थायित्व के लिए इनमें से किसी एक को सम्यक् रूप से प्रयोग करना चाहिए ताकि सन्धियाँ या जोड़ सुदृढ़तर हो जाए। वज्रलेप सौ वर्षों तक स्थायी रहता है। इसी प्रकार वज्रलेप हजार, अयुत एवं अर्बुद संख्यक वर्षों तक भी स्थायी रह सकते हैं— बिल्वकांश्च कपित्थांश्च आम्रान्संहृत्य यत्नतः। शाल्मलीनां तथा पुष्पं सल्लकीबीजमेव च॥ धन्वनश्च तथा कल्कं वचां च मनुजेश्वर। एतेषां समवेतानां समानानां नृपोत्तम॥ तोयमष्ट गुणं क्काथमष्टभागावशेषितम्। ततस्तत्र क्षिपेद् द्रव्यं शृणु तच्च समासतः॥ सल्लकीनां तु विन्यासं बकुलस्य च गुग्गुलम्। भल्लातकानि बिल्वानि कुन्दुरुं सर्जमेव च। अतसीं च सुतप्तोऽयं वज्रलेपः प्रकीर्तितः॥ लाक्षां च कुन्दुरुं चैव गृहधूमं तथैव च। कपित्थबिल्वमध्यानि तथा नागफलं नृप॥ बलां च मधुकं चैव किंजापं मदनं तथा। मञ्जिष्ठामल्लके सर्जं वज्रलेपः प्रकीर्तितः॥ विषाणानि गवां राजन्महिषाणां तथैव च। अजानां च तथा चर्म माहिष्यं गव्यमेव च। रसनिम्बकपित्थास्तु वज्रलेप प्रकीर्तितः॥ अष्टौ भागास्तु नागस्य कांस्यभागद्वयं तथा। रीतिभागं च कथितो वज्रलेपस्तथैव च॥ सुधापक्कस्ततः क्लिन्नो गव्यचर्म समन्वितः। खररोमयुता राजन्वज्रलेपस्तथैव च॥ तेषामेकैकसंयुक्ताः कार्याः शैलगृहा नृप। पक्केष्टगताश्चैव स्थायिनो मनुजोत्तम॥ वज्रलेपयुता ह्येते भवन्त्यपि दृढास्तथा। तिष्ठन्ति सुमहाराज संवत्सरशतान्यपि॥ सहस्राणि च धर्मज्ञ चायुतान्यर्बुदानि च। (विष्णुधर्मोत्तर. 3, 92, 1-13)

सन्धिक्रिया प्रकर्तव्या युक्त्या दार्ढ्याय शिल्पिभिः।

यदि लकड़ी के जोड़ों का प्रयोजन हो तो पृथक्-पृथक् खण्डों को लोहे की कीलों को लगाकर संयोजित करना चाहिए। प्रायः द्वार, भित्ति, गवाक्ष, स्तम्भों के खण्डों के संयोजन, कपड़े के लकड़ी से संयोजन और सोपान के अधिष्ठान के साथ संयोजन करना हो तो इस सन्धिक्रिया का प्रयोगकर शिल्पी को उसे युक्तिपूर्वक दृढ़ करना चाहिए।

सन्धिबन्धकल्पनावश्यकताह —

प्राकाराणां गोपुराणां दुर्गाणामपि कल्पने॥ 11॥
परिखाकल्पनेष्वेवं वापी-कूपादिकल्पने।
भूमिकाकल्पनेष्वेवं पट्टिकादिप्रकल्पने॥ 12॥
सन्धिक्रिया कल्पयोगात्कालयोगात्क्वचित्स्थिरा।

परकोटों के लिए अथवा गोपुरों की रचना, दुर्ग एवं परिखा की रचना के समय अथवा वापी-कूप और विविध मंजिलों सहित नाना पट्टिकाओं को परिकल्पित करने के लिए सन्धिक्रिया को करना चाहिए। इसके लिए ऋतुकाल को भी देखा जाना चाहिए और तद्नुसार ही उनकी स्थिरता, दृढ़ता को जानना चाहिए।

तथाकल्पने क्वचिन्निर्माणेषु करनिम्नाख्यादिसन्धिबन्धक्रमाह —

करनिम्नं भूमिनिम्नं कुम्भनिम्नं क्वचिन्मतम्॥ 13॥
खड्गनिम्नं महानिम्नं निम्नं नानाविधं क्वचित्।
कल्पनार्हं प्रकर्तव्यं शैलदार्विष्टिकास्वपि॥ 14॥

इन सन्धियों को करनिम्न, भूमिनिम्न और कहीं-कहीं कुम्भनिम्न, खड्गनिम्न, महानिम्न और कदचित् नाना प्रकारेण निम्न— इन विधियों से शिला, काष्ठादि के लिए प्रयुक्त करना चाहिए।

भित्तिप्रवेशनं वापि शिलायाञ्च प्रवेशनम्।
लोहपट्टप्रवेशं वा दारुकार्यस्य दैर्घ्यकम्॥ 15॥
रथेषु शकटेष्वेवं यानेषु शिबिकासु च।
डोलास्वन्येषु निर्माणेष्वेवं कीलप्रयोजनम्॥ 16॥

भित्तिप्रवेशन (दीवारगतद्वार) या शिला के द्वार, लोहादि पट्टों से बने द्वार एवं काष्ठ से बने द्वार-कार्य की दीर्घता अथवा लम्बाई में और रथ, छकड़ा, वाहन,

शिबिका–पालकी, डोला–म्याना आदि के निर्माण में कील का प्रयोग होता है।[१]

तथा चान्यदप्याह —

वर्णसंयोगतो वापि तक्षणाच्छलक्ष्णकार्यतः।
तत्स्थलं कारयेद्गुह्यं घनकल्पनभासुरम्॥ 17 ॥

इनमें एकाधिक रँगों का संयोजन और तक्षण कार्य कुशलता से करते हुए सम्बद्ध स्थलों पर गुह्य व ठोस कार्य किया जाना चाहिए अर्थात् जहाँ पर सन्धिबन्ध किया जाए, वह कार्य दिखाई नहीं दे, इसके लिए रंगों का प्रयोग करना चाहिए और उसे सघन रूप से गोपनीय कर देना चाहिए।

नानाभौमक्रियास्वेवं मण्टपादिक्रियास्वपि।
नावाङ्मुखा नोर्ध्वमुखा दृष्टिदोषविवर्जिता।
युक्त्या सन्धिक्रिया योज्या यथामानं यथाबलम्॥ 18 ॥

किसी इमारत में नाना भूमियों की क्रिया में और मण्डपों की रचना में संयोजन कभी न तो निम्नमुख हो और न ही कभी ऊर्ध्वमुख हो। इस प्रकार दृष्टिदोष से बचाना चाहिए।[२] सन्धिक्रिया का योजन करते समय जैसा मान हो, वैसा ही कार्य करना चाहिए।

---

१. कील लगाने की विधि मनुष्यालयचन्द्रिका में दी गई है। संयोजन के लिए कील को इस प्रकार से लगाया जाए कि वे कूट की मध्यरेखा पर लगें और समस्त गृहों व द्वार के मध्य में आ जाए। कीलों की रचना में यह ज्ञातव्य है कि वे बीच से एक यव प्रमाण गमन वाली हों। संयोजन करते समय युक्तिपूर्वक लुपा को पङ्क्तिबद्ध करते हुए उनके मध्य में कील को लगाएँ। इस प्रसङ्ग में लुपाएँ सम संख्या (2, 4, 6...) में होनी चाहिए जबकि कीलों को विषम संख्या (1, 3, 5...) के क्रम से लगाना चाहिए— कीलास्ते कूटसूत्रेष्वखिलनिलयमध्येऽपि च द्वारमध्ये कर्तव्यास्ते समस्ता यवमितगतिभिः सूत्रतोऽतीतमध्याः। युक्त्या पङ्क्तिं लुपानां सममपि परिकल्प्याथ मध्ये त तासां कार्याः कीलास्त्वयुग्माः खलु सकललुपायुग्मसङ्ख्या विधेयाः॥ (मनुष्यालय. 5, 38)

२. कीलवेध के लिए शिल्पग्रन्थों में आया है— अन्योन्यसन्धिवेधेऽपि कीलवेधं विशेषतः। मृत्युदं समसन्धिं च वर्जयेन्नरसद्मनि॥ (वास्तुविद्या 8, 24)

मयमतम् में कहा गया है कि युक्तियों को ध्यान में रखते हुए मनुष्यों के गृहों और देवालयों में खण्डों, द्रव्यों का सन्धान किया जाना चाहिए। यदि युक्तिसम्मत सन्धि कार्य होगा तो वह सम्पदाकारक और युक्ति के विपरीत संयोजन होगा तो समस्त सम्पतियों का क्षय करने वाला ही सिद्ध होगा। शिल्पियों में उत्तम, श्रेष्ठ शिल्पी को परामर्श देते हुए ग्रन्थकार कहता है कि कील ठोकने और सन्धि के लिए छिद्र छोटा ही सही लेकिन गहरा बनाना चाहिए। कील या खूँटी को काष्ठ, शिला अथवा गजदन्त से बनाया जाना चाहिए। दल्ला या खाँचा परिपक्व ईंट का

इति विश्वकर्मप्रणीते विश्वकर्मवास्तुशास्त्रे सन्धिबन्धलक्षणकथनं नाम एकषष्टितमोऽध्यायः ॥ 61 ॥

इस प्रकार विश्वकर्माप्रणीत विश्वकर्मवास्तुशास्त्र में सन्धिबन्ध लक्षण कथन नामक इकसठवाँ अध्याय पूर्ण हुआ।



अथ सर्वविधावरणलक्षणकथनं नाम

द्विषष्टितमोऽध्यायः ॥ 62 ॥

अथ सर्वविधकल्पनानामावरणलक्षणकथनात्मकं द्विषष्टितमाध्यायमारभते, तत्रादौ आवरणस्थापनप्रयोजनमाह —

यथा वस्त्रेण शोभादिः प्रकृतीनां प्रजायते।
तथावरणकेनैव निर्माणस्य महत्फलम् ॥ 1 ॥
आय-व्ययसमायुक्तं तदावरणमुत्तमम्।

(यह बासठवाँ अध्याय भवनों के लिए सभी प्रकार के आच्छादन, पटाव के लक्षणों के सम्बन्ध में है, इनकी उपयोगिता के साथ ग्रन्थकार विषय प्रवर्तन करता है) जिस प्रकार से वस्त्रों के प्रयोग से प्रकृतिप्रदत्त वस्तुओं की शोभा में अभिवृद्धि होती है, वैसे ही अनेक आवरणों से निर्माण, वास्तुभवन का महत्फल होता है अर्थात् जिस भवन पर आवरण नहीं होता, उसकी विफलता ही होती है। आवरण को गृह पिण्ड के आय-व्यय को समान जानकर कल्पित करना उत्तम होता है।

बनाना जाए और ईंटों के तल को चूना आदि के पलस्तर से चिकना, समतल कर दिया जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त यहाँ कोई निर्देश-सङ्केत जो नहीं दिया जा सका हो तो उनको पूर्व में कहे गए विवरण के अनुसार ही विचार कर आचरण में लाएँ और मन को सन्तुष्टि देने वाला सन्धि कार्य करना चाहिए— एवं युक्त्या द्रव्यसन्धानयोगं प्रोक्तं नृणां तैतिलानां निवासे। युक्त्या युक्तं सम्पदामास्पदं तद् युक्त्यायुक्तं सर्वसम्पत्क्षयं स्यात्॥ छिद्रं स्वल्पतरं विधेयमधुना दीर्घान्वितच्छेदनं स्थूलं काष्ठशिलेभदन्तमुदितं निम्नं हि पक्वेष्टकम्। पक्वं निर्गमनं सुधाभिरनिशं कुर्यात् तनुत्वं यथा पूर्वं मानसमुन्नयेत् तदपरं शिल्प्युत्तमः शातधीः ॥ (मयमतम् 17, 61-62)

तादृशकल्पनोपरिभागेष्वाच्छादनीयं स्थापनीयम् —

मठे वा मण्डपे वापि गृहे वा भवनेऽपि वा ॥ 2 ॥
शालासु वा गोपुरेषु नानानिर्माणभूमिषु ।
दुर्गाणां कल्पने वापि प्राकारादिप्रकल्पने ॥ 3 ॥
दैवेषु कल्पनेष्वेवं शैलमाच्छादनं मतम् ।
कल्पनार्हं प्रकर्तव्यं घनमाच्छादनं शुभम् ॥ 4 ॥

कहीं भी मठों के लिए, मण्डप के लिए, गृह या भवनों के लिए, शाला या गोपुर अथवा नाना निर्मितियों के ऊर्ध्व तलों, दुर्गों अथवा परकोटों और देवप्रासादों के लिए शैल अथवा पाषाण के आच्छादन या पटाव करने चाहिए। अतः बड़ी सुन्दर परिकल्पना पूर्वक वहाँ ऐसे सघन आच्छादन को करना शुभ होता है।

किञ्चैतादृशाच्छादनस्थापनन्तु त्रिविधं भवति —

शैल शावलकं मिश्रं योजयेत्कल्पनार्हकम् ।
पर्णाद्यावरणं योज्यमुटजादिषु कीर्तितम् ॥ 5 ॥

यह ज्ञातव्य है कि तीन प्रकार के आच्छादन होते हैं— 1. शैलावरण, 2. शावलकावरण और 3. मिश्रितावरण। इसके अतिरिक्त पर्ण-पत्तों के आवरण को घास-पूस की झोंपड़ियों के लिए कहा गया है।

नवीकुर्याद्गृहपतिः कृत्तिकास्थे दिवाकरे ।
दीपारोपं प्रकुर्वीत चित्रादींश्च यथाक्रमम् ॥ 6 ॥
देवप्रसादात्सुखभाङ्मोदते भुवि नित्यशः ।

सूर्य की जब कृत्तिका नक्षत्र में स्थिति हो (प्रायः कृत्तिका का पहला चरण चैत्र में होता है जबकि दूसरे अन्य चरण वैशाख में होंगे, ऐसे में वैशाख उचित है), तब गृहस्वामी इस आच्छान, छत का नवीकरण करे। इस अवसर पर परम्परानुसार प्रदीपन करना चाहिए और चित्रादि को सजाना चाहिए। इससे देवकृपा से उक्त वास्तुभूमि पर नित्य सुख और आमोद रहता है।

किञ्च पूर्वोक्तेषु विविधावरणेषु शिलाशावलकमिश्रकाख्येषु कुत्र वा कल्पनीय-भागे किं किं स्थापनीयमिति चेत्तद्दिशयति —

त्रिविधं तत्प्रकर्तव्यं निम्नं सौधं करण्डकम् ॥ 7 ॥
ग्राम्येषु निम्नकं कार्यं सौधं नागरिके मतम् ।

वक्रेष्टिकाभिरथवा मिश्रद्रव्यैः क्वचित्क्रमात्॥ 8॥

आच्छादन के लिए तीन प्रकार निम्न, सौध एवं करण्डक के रूप जानने चाहिए। ग्रामों के प्रसंग में निम्न आच्छान विधि को अपनाए। नगरों में सौध विधि और किसी-किसी क्रम में वक्र इष्टि अथवा मिश्र द्रव्यों को लिया जाना चाहिए।

स्पष्टार्थ चक्र

निम्नावरण	कहाँ प्रयोजनीय
शावल निम्नावरण —	ग्रामों के गृहों के लिए
शिलामय आवरण —	विभिन्न देवालयों के लिए
करण्डक, मिश्रद्रव्य —	गोशाला, अश्वशाला, हस्तिशाला के लिए

यथा च सलिलस्त्रावः प्रपतेदन्तरे गृहे।
रेखासलिलकाण्डं वा तथा युक्तिवशान्नयेत्॥ 9॥

अन्तगृह से जैसे पानी बहाव होता हो, उसके लिए रेखासलिलकाण्ड (उत्तरोत्तर निम्न होती जलप्रवाह मार्ग सहित) की रचना करे और उसे युक्तिपूर्वक निवेशित किया जाना चाहिए।

नात्युन्नतं नातिनीचमविरुद्धं प्रकल्पयेत्।
क्रमान्निरन्तरं क्लृसमन्तर्वेशादिवर्जितम्॥ 10॥

इनको न तो अधिक ऊँचा बनाए न ही अधिक अर्थात् अविरुद्ध या खुला हुआ ही कल्पित करे ताकि क्रम से निरन्तर प्रवाह हो और अन्दर के भाग में रुके नहीं।

मध्यरन्ध्रविहीनञ्च चिरकालाय कल्पते।
क्रियायोगात्कालयोगाद्गोसन्धिकसमन्वितम्॥ 11॥

इनको मध्य में किसी भी प्रकार के छिद्र से रहित बनाए ताकि वे चिरकाल रह सके। कारीगरी से यह रचना ऐसी हो कि लम्बे समय तक अक्षुण्ण रह सके। यह गोसन्धि सहित हो।

स्थलमानवशात्कार्यमाह —

आच्छादनं प्रकर्तव्यं स्थलमानवशात्स्थिरम्।
ककशाच्छादनं वापि फलकाच्छादनं क्वचित्॥ 12॥

आच्छादन को भू-स्थल के मान के अनुसार ही कल्पित कर स्थिर किया

जाना चाहिए। इसमें कहीं-कहीं ककशाच्छादन विधि और कहीं-कहीं फलकाच्छादन विधि का प्रयोग भी किया जा सकता है।

लोहपत्राच्छादनं वा नानाचित्रमनोहरम्।
स्थलयोगात्प्रकर्तव्यं तैतले मानवेऽपि च॥ 13॥

इसी प्रकार कहीं-कहीं लोहपत्राच्छादन विधि से भी छत को कल्पित किया जा सकता है। उसमें नाना प्रकार के मनोहर चित्रों को बनाया जाना चाहिए। इस प्रकार स्थान की उपलब्धता के अनुसार मानव आदि के गृहों पर आच्छादन किया जाना चाहिए।

पार्श्वकल्पनसंयुक्तं क्वचित्कीलान्वितन्तु वा।
वातायनादियोग्यं तद्वारादिस्थलयोग्यकम्॥ 14॥

इनको आजू-बाजू के भागों से युक्त करे और कहीं-कहीं इसके लिए कीलों का प्रयोग करते हुए वातायन, झरोखे और द्वारादि को भी संयोजित किया जा सकता है।

भित्तिरक्षणयोग्यञ्च कल्परक्षणयोग्यकम्।
कल्पयेत्सन्धिसंयुक्तं नानापर्वादिसन्धितम्॥ 15॥

आच्छादन को इस प्रकार से निवेशित किया जाए कि वे भित्ति की रक्षा के योग्य हों और पिण्ड-घेरा स्थान की भी रक्षा हो। इसके लिए सन्धि का प्रयोग करते हुए नाना पर्वादि को भी संयोजित किया जाना चाहिए।

नानाङ्गणयुतं वापि स्रावस्थलसमन्वितम्।
शावलकान्निश्चलांश्च स्थाप्येन्नेत्रमण्डितान्॥ 16॥

आच्छादन को नाना आँगनों से युक्त करे और उसे प्रवाह मार्ग सहित बनाए। इसमें नालियों को निश्चल बनाए और नेत्र नालदों से मण्डित किया जाए।

अन्यदप्याह —

ग्रन्थितं कीलितं वापि भौमस्थानादिषु क्वचित्।
आधाराधेयमानेन कल्पनं सर्वयोग्यकम्॥ 17॥

आच्छादनों को गूँथे हुए अथवा कीलों से ठोके जाकर भवन की छत या ऊपरी मंजिल पर आधार और आधेय मान को कल्पित करते हुए जहाँ जैसा योग्य हो, वहाँ वैसा लगाया जाना चाहिए।

भित्तिमानं प्रकर्तव्यं घट्टनोद्धट्टनक्षमम्।
कलशस्थानघट्टं वा योजनीयं यथाक्रमम्॥ 18॥

भित्तिमान को घट्टन-अघट्टन का विचार कर कल्पित करे और कलशस्थान बनाए। इसके बाद ही उसे यथाक्रम संयोजित किया जाना चाहिए।

इति विश्वकर्मप्रणीते विश्वकर्मवास्तुशास्त्रे सर्वविधावरणलक्षणकथनं नाम द्विषष्टितमोऽध्यायः॥ 62॥

इस प्रकार विश्वकर्माप्रणीत विश्वकर्मवास्तुशास्त्र में सर्वविधावरण लक्षण कथन नामक बासठवाँ अध्याय पूर्ण हुआ।



अथ लुपालक्षणकथनं नाम

त्रिषष्टितमोऽध्यायः॥ 63॥

अथ दृश्येषु कल्पनेषु स्थापनीयलुपालक्षणकथनात्मकं त्रिषष्टितमाध्यायमारभते-

कथिता शिल्पशास्त्रज्ञैर्लुपा क्षुद्रक्रियापटी।
शिला-लोह-सुधा-दारुखण्डैर्योज्या विशेषतः॥ 1॥

(इस तिरसठवें अध्याय में अलंकरण योग्य विशेष पट्टिका लुपा के लक्षण कहे जा रहे हैं) शिल्पशास्त्र के ज्ञानियों ने लुपा[१] को छोटी कारीगरी युक्त पटिया

---

१. एतावता प्रबन्धेन प्रतिपादितरीत्या नानाविधानां साच्छादनानां गृहभवनादिकल्पनानां वेदिकासु, द्वारपार्श्वभागेषु स्तम्भकन्धरमौलिप्रस्तरादिभागेषु, क्वचिद्वलभीगोपानसीमाप्रान्तभागेषु च समक्रमतो योजनीयवियोजनीयचित्रविशेष-पट्टिकायाः लुपाख्या क्षुद्रक्रियापट्टिकाख्या च भवतीति शिल्पसमयप्रसिद्धिः।

वास्तुविद्या में कहा गया है कि लुपा उत्तरपट्टिका में सन्धि मानार्थ एक विशेष काष्ठ-फलक है जिसे तिर्यक् पट्टिका, कील के साथ युक्तकर शिल्पीगण गृह पर छाद्यादि के लिए काम में लेते हैं। यह उत्तरपट्टिका में चूलिका पर्यन्त ग्राह्य है, उतना ही इसका विस्तार किया जाना चाहिए— उत्तरस्यानुरूपेण तासां तारमुदीरितम्॥ (10, 1) मान्यता यह है कि लुपा को लोष्टादि प्रस्तार तक लिया जाता है। लुपा के दो प्रकार हैं- प्रकृति लुपा और विकृति लुपा। वंश नीव्रान्त तक जो ऋजु होती है, वह प्रकृति लुपा ऋजुमञ्ज्ञा नाम से जानी जाती है और गृह के कोण से आगे विस्तार लिए होती है व विकृतिलुपा कोटि, उपकोटि नाम से जानी जाती है।

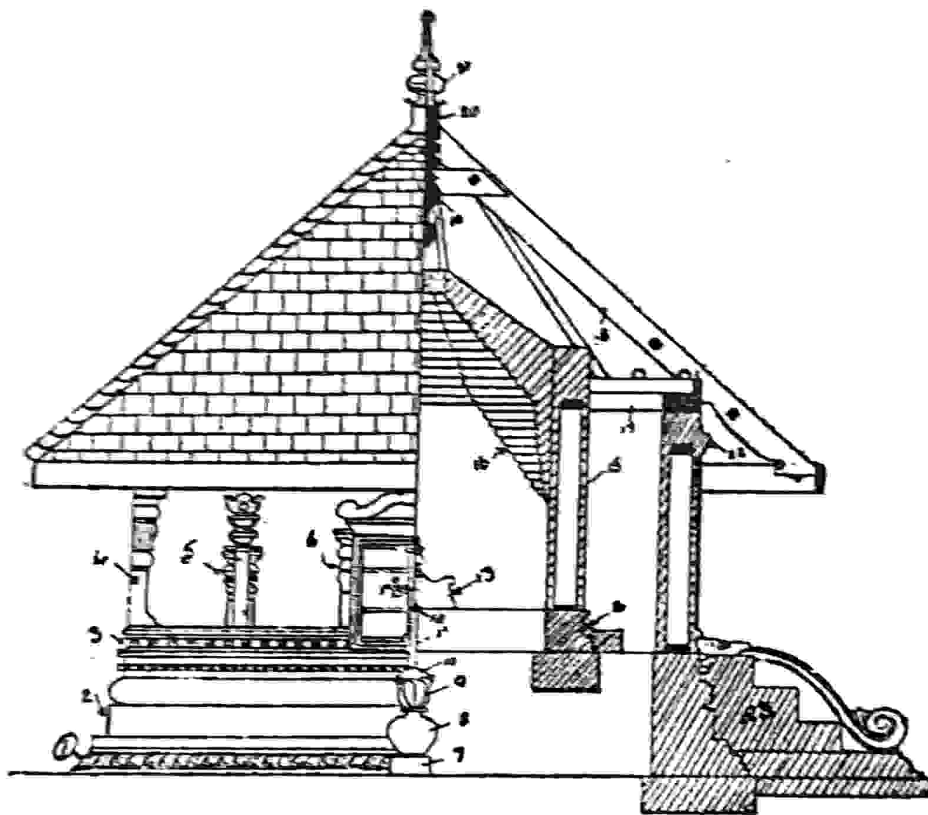
कहा है, यह शिला, लोहादि धातुओं, चूना और लकड़ी के खण्डों को विशेष रूप से जोड़कर तैयार की जाती है।

तस्मात्ताद्दशलुपाकल्पनस्य स्वरूपविशेषलक्षणादिकमाह —

कीलपिण्डयुता प्रायः कल्पपिण्डान्विताऽथवा।
द्व्यङ्गुला त्र्यङ्गुला वापि चतुरङ्गुलभागपि॥ 2॥
पञ्चषट्सप्ताङ्गुला वा किष्कुमानप्रमाणतः।
एकहस्ता द्विहस्तान्ता लुपा सा कथिता क्रमात्॥ 3॥

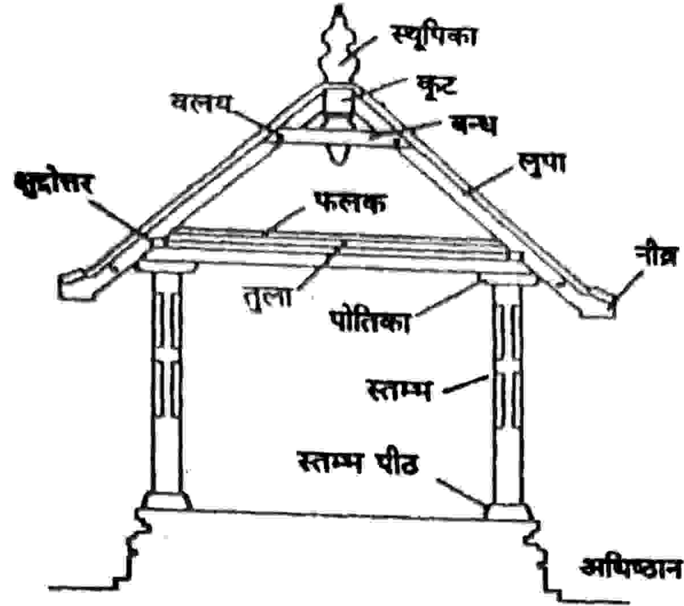
ये लुपाएँ प्रायः कीलों से बने पिण्डों से युक्त अथवा कल्पपिण्डों से बनती है और दो अंगुल, तीन, चार, पाँच, छह, सात अंगुल मान से अथवा किष्कुमान के प्रमाण से या फिर एक हाथ, दो हाथ तक के प्रमाण से क्रमशः कल्पित होती है।[1]

लुपा क्षुद्राक्रियापदी इत्यादि रचनादिनाम्।



१. शिल्परत्नम् में आया है कि उत्तर के विस्तार के समान, पादहीन अथवा उत्तर विस्तार से चतुर्थांशहीन, या उससे अष्टांश अधिक, पादाधिक या चतुर्थांश अधिक, अर्ध या पौन अधिक, विस्तारार्ध अधिक या उत्तर विस्तार से अर्धांशाधिक- इन सात प्रकारों से प्रकृतिलुपा का व्यास अथवा विस्तार कल्पित किया जाना चाहिए— तत्समं पादहीनं वा वस्वंशोनाधिकेन वा। पादाधिकं वा वस्वंशत्रितयाधिकमेव वा॥ विस्तारार्धाधिकं वा स्याद् व्यासमेवं प्रकीर्तितम्। (तत्रैवोद्धृत)

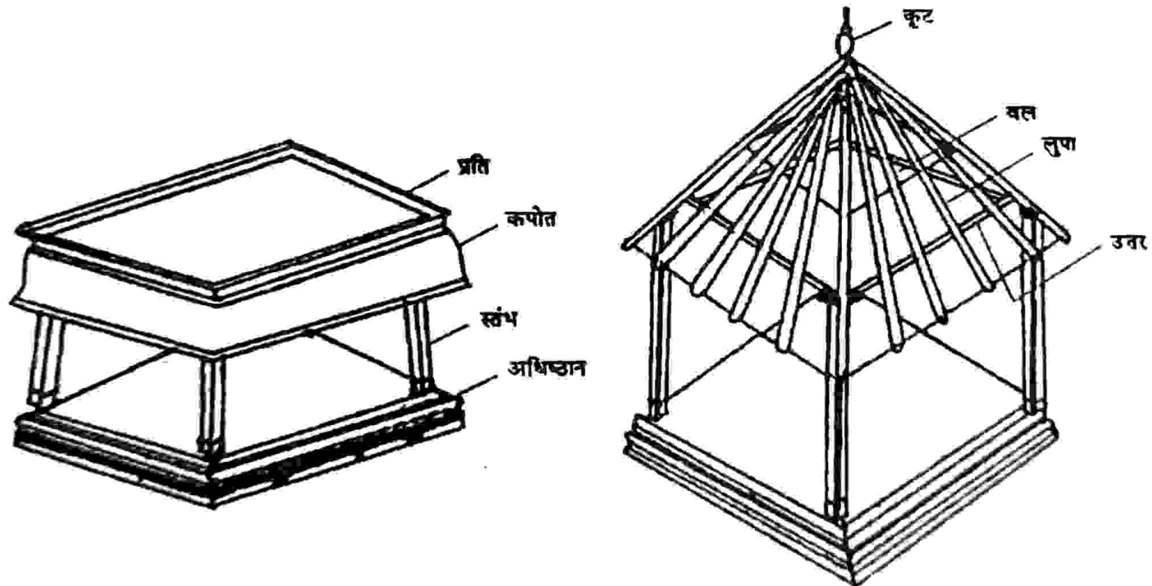
भवन और उसके आपाद अवयव



मुष्टिबन्धन (fist-moulding)

तुला (beam)

भवन में कूट, वल, लुपा, उत्तर एवं शिखर योग्य प्रति, कपोत, स्तम्भ व अधिष्ठान



किञ्चैतादृशवैशाल्यसहितायां लुपापट्टिकाक्रियायामाह —

गन्धर्वमुखयुक्ता वा लतापुष्पक्रियान्विता।
समक्रिया दोषहीना सर्वतोभागभाङ्मुखे॥ 4॥

इन लुपाओं को चित्रित किया जाना चाहिए। इनको सुन्दर बनाने के लिए गन्धर्व मुख वाली, लता-पुष्प या बेलबूटों वाली और समान क्रिया से सर्वभाग में दोष रहित चौमुखी भी बनाए।

चतुर्भागस्थिता वापि क्वचित्प्रासादभूमिषु।
क्षुद्रपट्टयुता वापि जलपट्टान्विता क्वचित्॥ 5 ॥

ये एक या चार भाग की बनाए, कहीं-कहीं मन्दिरों की भूमि पर छोटे-छोटे पट्टों से युक्त एवं कहीं-कहीं जलपट्टों से युक्त बनाए।

वारकान्तयुता वापि युक्ता मकरतोरणैः।
मुख्यरेखाकवचिता महानासान्विता क्वचित्॥ 6 ॥

वे वारकान्तयुता या सुन्दर युवतियों के चित्रों से युक्त, कहीं मकर के चित्रों से युक्त तोरण वाली, कहीं मुख्य रेखांकन वाली तो कहीं महानासा वाली हो सकती हैं।

तोरणैर्जालकैर्नीडैः क्षुद्रकोणैश्च संयुता।
सुधालेपितका वापि फलकाघटिताथवा॥ 7 ॥

इसी प्रकार तोरणों में, जालियों में नीड़ों में या भीतर के विश्राम स्थलों में, छोटे कोणों में, चूने के लेप से बनी हुई अथवा फलकों-पट्टियों से घड़ी हुई हो सकती है।

नानाप्रमाणलसिता योजनीया क्रियार्हका।
क्षुद्रावरणमानेन क्वचिद्योज्या लुपा मता॥ 8 ॥

इस प्रकार इनको तरह-तरह के नाप की क्रिया की आवश्यकतानुसार बनाया जा सकता है। गृह में छोटे आवरण या छत के नाप के अनुरूप लुपा को कहीं-कहीं जोड़ना चाहिए, ऐसी मान्यता है।

किञ्च विमाने शिखरप्रान्तेऽपि क्वचिदद्वयाख्यायते —

विमाने शिखरप्रान्ते मण्टपान्ते वराटके।
गोपुरद्वारवलभीप्रान्ते वा पादकान्तके॥ 9 ॥
द्वारचित्रप्रतोल्यां वा चूलीहर्म्यप्रतोलिषु।
सभाशिखरभागान्ते गृहद्वारान्तिके तथा॥ 10 ॥
वेदिकाप्रान्तभागे वा पीठाद्यन्तस्थले तथा।

शालाद्वारोपरिप्रान्ते भौमप्रान्ते तथैव च ॥ 11 ॥
खलूरिकाप्रान्तभागे वीथिकाप्रान्तभागिके ।
स्थूपिकाकल्पने वापि वलभीकल्पने तथा ॥ 12 ॥
सेतुनेत्रप्रान्तेभागे गोपानस्यादिके स्थले ।
आयव्ययसमोपेता नानामानप्रकल्पने ॥ 13 ॥

(लुपाओं का संयोजन कहाँ हो सकता है, इस सम्बन्ध में ज्ञातव्य है कि) मन्दिरों के शिखर प्रान्त में, मण्डपों के शीर्षान्त पर, वराटक नामक स्तम्भों के प्रस्तरान्त भाग में, गोपुरों, द्वारों, वलभी (लकड़ी की ढलवा छत) के किनारों पर अथवा पायों पर, द्वारचित्र के रूप में, प्रतोलियों पर, चूली, हवेली की प्रतोलिका पर, सभा भवनों के शिखरों के भागान्त पर, गृह द्वारों के अन्त में, वेदिका के प्रान्तभाग पर, पीठादि के अन्त में, शालाओं के द्वारों के उपरिप्रान्त में, मंजिलों के आखिरी छोर पर, खलूरिका (प्रहरी के खड़े होने की छतरी) में या वीथिका के प्रान्तभाग में, स्थूपिका की रचना करनी हो अथवा वलभी (ढालू छत) बनाने में, बाँधने के किनारे के भाग में या गोपान आदि स्थान हो, वहाँ पर आय-व्यय को समान रूप से गणित कर नाना प्रमाणयुक्त लुपाओं का संयोजन किया जा सकता है।

अन्यदप्याह —

द्विमुखा त्रिमुखा वापि तक्षणाद्वर्धनादपि ।
संयोज्या च वियोज्या च संयोज्या दैवकल्पने ।
मानवे कल्पने वापि दारिका शिल्पिभिः क्रमात् ॥ 14 ॥

दो मुखी, तीन मुखी अथवा तक्षणकर्ताओं द्वारा वृद्धिकृत मुखादि सहित कल्पित लुपाओं को संयोजित और वियोजित करे। देवमन्दिरों की रचना में इनको संयोजित करे। मानव भवनों में काष्ठ शिल्पी को लुपा को यथामान, यथाक्रम योजित करना चाहिए।

इति विश्वकर्मप्रणीते विश्वकर्मवास्तुशास्त्रे लुपालक्षणकथनं नाम त्रिषष्टितमोऽध्यायः ॥63 ॥

इस प्रकार विश्वकर्माप्रणीत विश्वकर्मवास्तुशास्त्र में लुपा लक्षण कथन नामक तिरसठवाँ अध्याय पूर्ण हुआ।



अथ सकलविधस्तम्भलक्षणकथनं नाम

चतुष्षष्टितमोऽध्यायः ॥ 64 ॥

अथास्मिंश्चतुष्षष्टितमेऽध्याये सकलविधस्तम्भानां स्वरूपलक्षणादिकं प्रतिपादयितुमादौ तादृशस्तम्भस्थापनावश्यकतां तत्फलादिकञ्च प्रतिजानीते —

निर्माणस्य यथा भूमिराधारसम्प्रकीर्तितः।
तथा तस्याधारमाहुः पादं शिल्पविशारदाः ॥ 1 ॥

(अब सभी प्रकार के स्तम्भों के स्वरूप-लक्षण कहे जाते हैं) किसी भी वास्तु निर्माण के लिए जैसी भूमि का आधार होता है, वैसे ही शिल्प विशारदों ने पादों या स्तम्भों को भवन का आधार कहा है।

सौकर्यञ्च सुखं शोभालाभः पादप्रकल्पनात्।
तस्मात्तत्कल्पयेच्छिल्पी शिलालोहद्रुमेष्टकैः ॥ 2 ॥
खातपीठविभागेन द्विविधं तदुदाहृतम्।

यह ज्ञातव्य है कि स्तम्भों की रचना सहजता के लिए, सुख के लिए शोभा और लाभ के लिए की जाती है। अतएव शिल्पी को स्तम्भ की रचना यथावश्यकता पाषाण, लोहादि धातु, लकड़ी और इष्टिका से करनी चाहिए। ये स्तम्भ खात व पीठ के विभाग के अनुसार दो प्रकार के कहे गए हैं।

विशेष : सामान्य परम्परानुसार नदी पर पुलिया, जलाशय पर सेतु, तालाब, दुर्ग, परिघ, देवालय, मण्डप, मानवगृह आदि के निर्माण कार्य में यथारीति निर्माणाधार के रूप में स्तम्भों की स्थापना की जाती है। ये स्तम्भ दो प्रकार के होते हैं— 1. खातस्तम्भ एवं 2. पीठस्तम्भ।

एवं रूपेण स्तम्भानांसर्वविधनिर्माणस्थापनयोग्यानां द्वादशविधा जातिरुक्ता ज्ञेया-

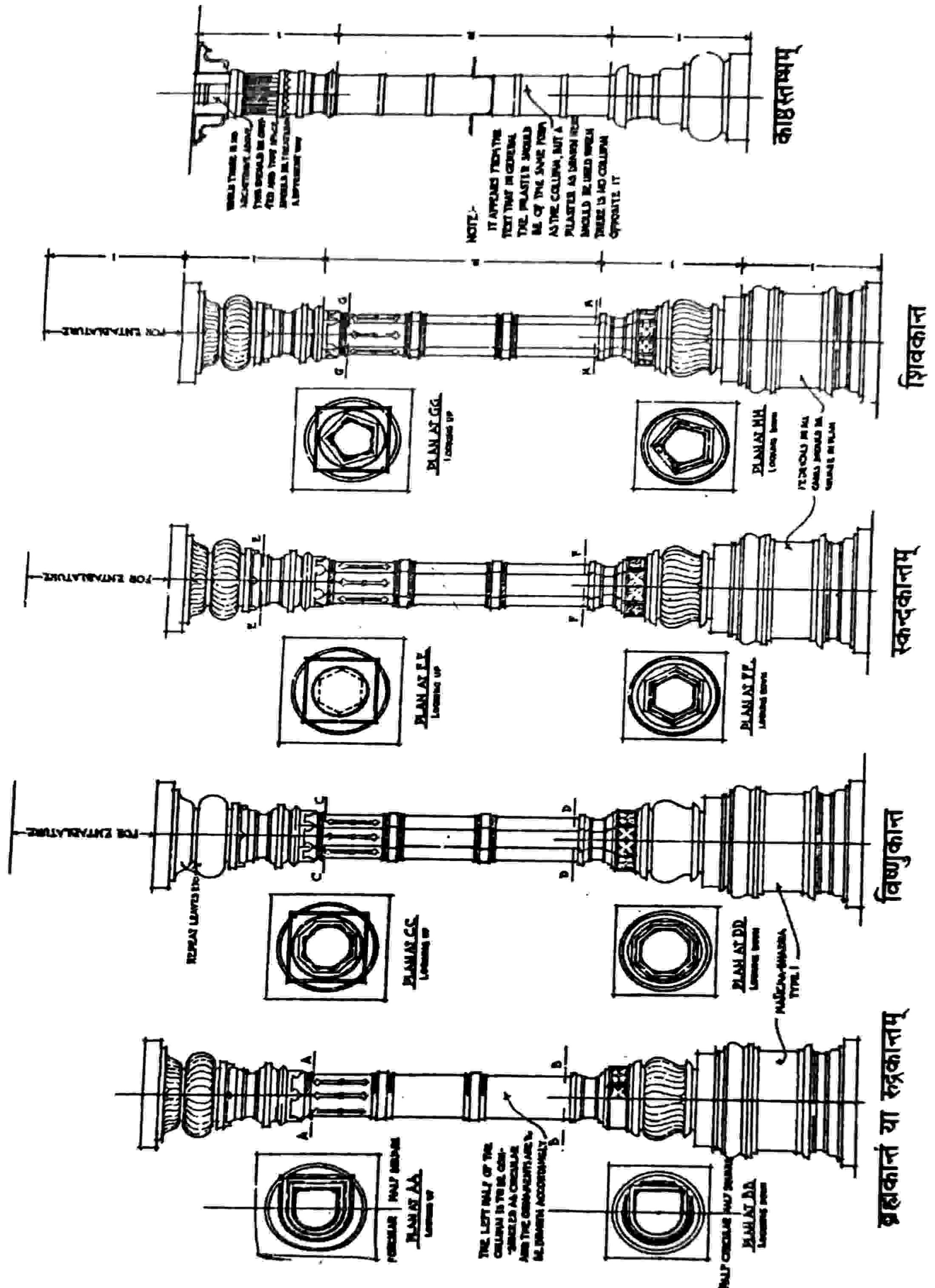
देवकान्त ब्रह्मकान्तमिन्द्रकान्तमथापि वा ॥ 3 ॥
विष्णुकान्त स्कन्दकान्तं सोमकान्तमिति क्रमात्।
वर्तुलं चतुरश्रञ्च षडश्रन्त्वष्टपट्टिकम् ॥ 4 ॥
द्वादशाश्रं षोडशाश्रं पादकल्पं विदुर्बुधाः।
पुरः पश्चात्सर्वतो वा कल्पस्तम्भप्रकल्पनम् ॥ 5 ॥

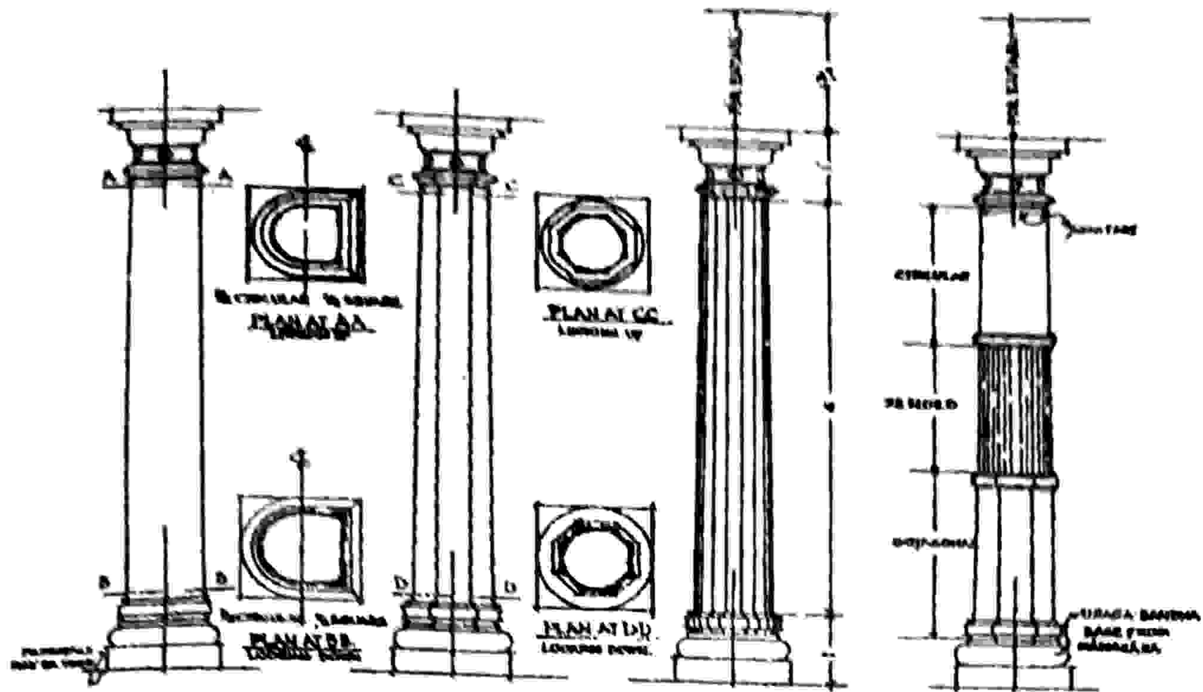
विविध प्रकार के स्तम्भों[१] में क्रमशः 1. देवकान्त, 2. ब्रह्मकान्त, 3. इन्द्रकान्त, 4. विष्णुकान्त, 5. स्कन्दकान्त और 6. सोमकान्त— ये आदि क्रम से क्रमशः वर्तुलाकार, चतुरस्र, छहभुजी, अष्टभुजी, द्वादशभुजी और सोलहभुजी स्तम्भ विद्वानों ने कहे हैं। इनको वास्तु में आगे-पीछे और सब ही ओर किया जा सकता है।

स्पष्टार्थ चक्र

क्रम	आकार	स्तम्भ नाम
1.	वर्तुल	देवकान्त स्तम्भ
2.	चतुरश्र	ब्रह्मकान्त स्तम्भ
3.	षडश्र	इन्द्रकान्त स्तम्भ
4.	अष्टाश्र	विष्णुकान्त स्तम्भ
5.	द्वादशाश्र	स्कन्दकान्त स्तम्भ
6.	षोडशाश्र	सोमकान्त स्तम्भ

१. मानसार में कहा गया है— चतुरश्रं ब्रह्मकान्तं स्यादष्टाश्रं विष्णुकान्तकम्॥ षोडशाश्रं तु वृत्तं वा रुद्रकान्तमिति स्मृतम्। पञ्चाश्रं शिवकान्तं स्यात्षडश्रं स्कन्दकान्तकम्॥ मूलादि चाग्रपर्यन्तमेवमाकारमीरितम्। एवमाकारपादानां मूले वेदाश्रमेव च॥ मूलं मध्यं चाग्र च चतुरश्रमथापि वा। अग्रतारसममग्रे तत्कण्ठमाननमग्रमन्तकम्॥ तत्समं मध्यमाग्रान्तं मध्यमाश्रं समाश्रकम्। मध्यमाग्रस्य द्वयोः पादमग्रस्य समान्तकम्॥ शेषं तत्पादमूले तु चतुरश्राकृतिं न्यसेत्। चित्रकण्ठमिति प्रोक्तं तत् सर्वालये भवेत्॥ (मानसार 15, 10-15)


काष्ठस्तम्भम्
शिवकान्त
स्कन्दकान्तम्
विष्णुकान्त
ब्रह्मकान्तं या रुद्रकान्तम्
FOR ENTABLATURE
PLAN AT GG
PLAN AT HH
PLAN AT F.F.
PLAN AT CC
PLAN AT DD
PLAN AT AA
PLAN AT BB
NOTE:-



रुचकं या वृत्तम् वज्रम् द्विवज्र प्रलिनिकां

युग्मद्वियुग्मसङ्कीर्णोपस्तम्भादिप्रकल्पनम्।
सुप्रतीकान्तकं सूर्यकान्तं ब्राह्मणकान्तकम्॥ 6 ॥
कैलासमेरुकं कान्तं तथा नन्दीशकान्तकम्।
इति द्वादशभेदेन स्तम्भानां कल्पनं मतम्॥ 7 ॥

इसी प्रकार युग्म या जोड़ी वाले, दो-दो की जोड़ी वाले, संकीर्ण या मिले-जुले उपस्तम्भादि की रचना में क्रमशः 7. सुप्रतीकान्त, 8. सूर्यकान्त, 9. ब्राह्मणकान्त, 10. कैलासकान्त, 11. मेरुकान्त और 12. नन्दिकान्त को परिकल्पित किया जा सकता है। इस प्रकार ये बारह प्रकार के भेदानुसार स्तम्भ परिकल्पित होते हैं।

स्पष्टार्थ चक्र

क्रम	आकार	स्तम्भ नाम
7.	आगे एक ही उपस्तम्भ	सुप्रतिकान्त स्तम्भ
8.	आगे, सव्य-अपसव्य	सूर्यकान्त स्तम्भ
9.	मध्य, चतुर्दिक्	ब्राह्मणकान्त स्तम्भ
10.	दो-दो रूप में स्थापन	कैलासकान्त स्तम्भ

11.	युग्म रूप में दो-दो	मेरुकान्त स्तम्भ
12.	दो स्तम्भ चतुष्कादि शृंखला	नन्दिकान्त स्तम्भ

तथा च कल्पनभागादीनामाह, किञ्चात्र प्रतिपादितस्तम्भेषूपस्तम्भकल्पने कोऽपि नियमोऽवधार्यः —

विभजेन्मानविच्छिल्पी योजयेत्स्थलयोग्यकम्।
द्विभागं वा त्रिभागं वा चतुर्भागमथापि वा॥ 8॥
पञ्चभागञ्च षडभागं सप्तभागं क्वचित्स्थले।
अष्टभागक्रमात्सर्वमुत्सेधं सूत्रमानिते॥ 9॥

मान-प्रमाण के जानकार शिल्पीगण इन स्तम्भों के प्रमाणों का यथावश्यकता विभाजन करके स्थल के योग्य जहाँ ठीक समझें, वहाँ कल्पित करे। उनको दो भाग, तीन भाग, चार भाग, पाँच भाग, छह भाग, सात भाग और कतिपय स्थल पर आठ भागों में भी क्रमानुसार विभाजित किया जाकर सभी की ऊँचाई का सूत्रमान निर्धारित किया जाना चाहिए।

तत्रापि कोऽपि शिल्पकार्यक्रमो यथा —

जन्मनिक्षेपपद्मादिकल्पनं कल्पयेत्क्रमात्।
मूले मध्ये मौलिभागे पट्टं वाः योजयेत्क्रमात्॥ 10॥

इस प्रकार इन स्तम्भों के लिए जन्म भाग, निक्षेप, पद्मादि भागों को क्रमशः परिकल्पित करना चाहिए। इसी प्रकार इनमें क्रमशः 1. मूल, 2. मध्य एवं 3. शिखर भाग को भी क्रम से संयोजित करे।

पिण्डितायं कराग्रं वा तक्षयेद्वा क्वचित्स्थले।
कमलं रेखिकां कर्णनालं मध्यतलं तथा॥ 11॥

इनमें कहीं-कहीं कुल क्षेत्र की अपेक्षा एक हाथ आगे तक तक्षण कार्य करना चाहिए और इसमें मध्यतल में कमलों की पंक्तियाँ, कर्णनाल बनाए।

व्रतेरुपरि पद्मञ्च चित्रखण्डं कपोतिकम्।
गजवाजनमुख्यञ्च यथामानं प्रकल्पयेत्॥ 12॥

इसी प्रकार व्रत भाग के ऊपर पद्म एवं कपोतिका पर चित्रखण्ड कल्पित करे। इसमें गज और अश्वों के मुखादि भी यथामान परिकल्पित करने चाहिए।

तादृशाङ्गणतलेषु चक्रवाकचित्रादीनां कल्पनाह —

चक्रवाकस्वरूपं वा हंसरूपमथापि वा।
शारिकाशुकरूपं वा नानादेवस्वरूपकम्॥ 13॥
चित्रतोरणरूपं वा लताकुसुमरूपकम्।
व्यालेभसिंहमकरगजाश्वादिस्वरूपकम्॥ 14॥
भागेषु पट्टिकाभागेष्वन्यद्यच्च मनोहरम्।
कल्पनं तत्प्रकर्तव्यं नानाटङ्कक्रियावटैः॥ 15॥

इसी प्रकार स्तम्भों पर चकवा-चकवी या हंस-हंसिनियों को उत्कीर्ण करे। सारिका-शुक का मूर्त्यांकन अथवा नाना देव स्वरूपों को भी बनाए। चित्र तोरण रूप या लता-कुसुम रूपों, व्याल, इभ, सिंह, मकर, गज, अश्वादि के चित्रों से मुख्य भाग या पट्टिका भागों को मनोहर बनाना चाहिए। इसके अतिरिक्त स्तम्भ पर विविधनानेक खुदाई का कार्य भी किया जा सकता है।

किञ्चैतादृशस्तम्भस्थापने क्वचित्तत्र तत्र कल्पितानेकाङ्गणप्रान्तभागेषु रचनाह —

प्रान्तरेखासमायुक्तं चित्रपट्टयुतं क्वचित्।
पीठिकां बोधिकां कुम्भं मौलिभागक्रियावटम्॥ 16॥
नानाचित्रसमायुक्तं चित्रपोतकसंयुतम्।
कल्पनं कल्पयेद्युक्त्या क्षेपयेत्तक्षयेत्क्वचित्॥ 17॥

कहीं-कहीं केवल प्रान्तरेखायुत (आऊटलाइन मात्र में) तथा कही-कहीं पूर्ण चित्रपट्ट का भास्कर्य (रिलिफ) रूप हो। स्तम्भ की पीठिका, बोधिका, कुम्भ एवं शिखर भाग में उत्कीर्णनपूर्वक नाना प्रकार के चित्रों की रचना करे। चित्रपोतक से संयुत करें। इसके लिए यथावश्यकता तक्षण युक्ति का प्रयोग करते हुए चित्रों को आकार देने का प्रयत्न करना चाहिए।

उपपादप्रमाणेन पञ्चषाङ्गुलमानतः।
किष्कुहस्तप्रमाणेन चैकहस्तप्रमाणतः॥ 18॥
पृथक् तक्षणपद्मञ्च सोपपीठपदक्रियाम्।
मूलमौलितले योज्यं मध्यकार्यं पृथङ्मतम्॥ 19॥

उपपाद प्रमाण के अनुसार पाँच, छह अंगुल के मान से अथवा किष्कु व हस्त मान के अनुसार एक हाथ के प्रमाण से अलग से तक्षण करे और पद्म उपपीठपद

का कार्य मूल एवं शिखर के लिए करे। इसमें मध्य का कार्य पृथक् मत से करना चाहिए।

नोपपादो दारुकल्पे प्रशस्तः परिकीर्तितः।
समक्रियं न्यूनहीनं कोणाध्वधिककल्पनम् ॥ 20 ॥
समक्रियं वा सर्वत्र यथाशोभं प्रकल्पयेत्।

लकड़ी के स्तम्भ का प्रयोग करना हो तो उपपाद नहीं बनाए, यही प्रशस्त कहा गया है। इसमें समान कार्य हो, न्यूनता नहीं रखे एवं कोणों पर अधिक रचनांकन होना चाहिए। इस सम्पूर्ण कार्य में सर्वत्र समरूपता का प्रयोग ही जिससे सुन्दर दिखाई दे, वैसा करना चाहिए।

सार्वदेशिकभेदेन शैलीभेदेन वा पुनः ॥ 21 ॥
शिल्पतक्षणभेदेन नानाद्रव्यविनिर्मितः।
स्तम्भकल्पस्सोपपीठः कथितश्शास्त्रपारगैः ॥ 22 ॥

इस कार्य में तीन मत ज्ञातव्य है— 1. देशानुसार भेद, 2. शैलीगत भेद एवं 3. शिल्पतक्षणगत भेद। इनको दृष्टिगत रखते हुए नाना प्रकार के द्रव्यों से स्तम्भों की रचना करे और उसमें उपपीठ को भी कल्पित करे, ऐसा शिल्पशास्त्र के विद्वानों का कथन है।

एतावता प्रबन्धेन संक्षेपतो विविधग्राम-नगरादिवास्तुस्थानेषु कल्पनीयगृहभवन प्रासाद-देवालय-नानाशालाद्यनेककल्पनार्हस्तम्भानां स्वरूपलक्षणजात्यादिकं प्रतिपाद्याधुना तादृशस्तम्भार्हवृक्षान् निर्दिशति —

पुँवृक्षस्तिकश्शालः श्रीपर्णश्चन्दनश्शमी।
पादयोग्याश्चित्रयोग्याः सारवन्तश्च ये द्रुमाः ॥ 23 ॥

स्तम्भों के निर्माण के लिए पुरुषवृक्ष ही सर्वथा उचित है। इनमें तिलक, शाल, श्रीपर्णी, चन्दन और शमी जैसे सारवान[१] या सघन काष्ठ वाले वृक्ष विशेष रूप से मूर्त्यांकन के लिए भी सम्मत कहे गए हैं।

वक्रव्रणेन हीना ये वायूपप्लववर्जिताः।

---

१. तथा च विष्णुसंहितायाम्— अन्तस्सारं बहिस्सारं निस्सारं सर्वसारकम् ॥ चतुर्धा स्थावरं तेषामसारं न गृहाग्रतः। कट्यादि बहिधार्यं गृहपृष्ठान्तपक्षतः ॥ सर्वसारं तु सर्वत्र चित्रादि परिकीर्तितम्। अन्तस्सारं तथा विद्याद् बहिस्सारमसावत् ॥ (12, 23-25)

अग्निदाहविहीना ये श्मशानावासवर्जिताः ॥ 24 ॥
देवालयविदूरा ये वल्मीकावासवर्जिताः ।
दोषहीना ये तरवस्सारवन्तो महीरुहः ॥ 25 ॥

इसमें भी टेढ़े-मेढ़े वृक्ष, व्रणीकृत या खड्डे-खोचर वाले और वायु अथवा अतिवृष्टि के कारण गिरे हुए वृक्ष वर्जित है। स्तम्भ के लिए वृक्ष अग्नि से जले हुए नहीं हों। श्मशान के वृक्ष भी वर्जित हैं। देवालयों से दूर खड़े वृक्ष हो सकते हैं किन्तु वल्मीक या दीमक लगे वृक्ष वर्जित हैं। ऐसे दोष रहित वृक्ष ही सारवान या सघन एवं उपयोगी हो सकते हैं।

गवाक्षद्वारडोलासु तिर्यक्पट्टादि केचन।
फलकास्वपि पर्यङ्ककार्येष्वासनकर्मणि ॥ 26 ॥
कवाटादिक्रियाजालेष्वपि योज्याः प्रकीर्तिताः ।

ऐसे दोष रहित वृक्षों की लकड़ी ही गवाक्ष-वातायन, द्वार-दरवाजा व खिड़की, डोला-म्याना व पालकियों सहित तिर्यक्पट्ट, फलक, पलँग-मचली, आसन-बाजोट, पीठा, किंवाड़, जालियाँ आदि के निर्माण कार्य में उपयोगी कहे गए हैं।

सौवर्णं राजतं ताम्रं पैत्तलं वा क्वचित्स्थले ॥ 27 ॥
पट्टिकं योजयेद्युक्त्या द्रुमपाटप्रमाणवित्।
चित्रसङ्कलनं शस्तमन्यकल्पेषु कीर्तितम् ॥ 28 ॥

इन पर कहीं-कहीं सुवर्ण, चाँदी, ताँबा, पीतल के पत्तरों को भी कहीं-कहीं लकड़ी के पटियों के प्रमाण के अनुसार उचित युक्ति से जोड़े अथवा जड़े जा सकते हैं। प्रमाणविद् इन पर अलंकरण के लिए चित्र उत्कीर्ण करने हैं, ऐसा प्रशस्त कहा गया है।

समसूत्रं समतलं समभित्त्यादिकल्पनम्।
प्रस्तरोत्तरवेशार्थं बहिरन्तःक्रियान्वितम् ॥ 29 ॥

इस चित्रांकन के लिए समसूत्र, समतल भित्तिकादि को परिकल्पित किया जाना चाहिए। इसी प्रकार प्रस्तर के उत्तर वेशन के लिए बाहर, अन्दर का कार्य भी सम्पादित किया जाना चाहिए।

वलीकोत्तरतूलादियुग्ममावरणादिकम्।
तलपट्टिकया युक्तं मुखपट्टयुतन्तु वा ॥ 30 ॥

वलीका के उत्तर के लिए तूलादि या वस्त्रादि के दो आवरण करे और तलपट्टिका से युक्त या मुखपट्टिका से भी इसे संयुक्त किया जा सकता है।

व्यालेभमुखयुक्तं वा यक्षाननयुतन्तु वा।
नानाचित्रवलीताङ्गं शुकहंसादिरेखिकम्॥ 31॥

इसी प्रकार यहाँ व्याल, हाथी के मुखों की रचना की जा सकती है। यक्षों के मुखादि भी उत्कीर्ण हो सकते हैं। इस प्रकार से नाना चित्रावलियों के अंगों एवं शुक, हंसादि की रेखाओं से युक्त बनाना चाहिए।

युग्मक्रियं दोषहीनं क्वचिदेकक्रियन्तु वा।
सुधालेपनकं वापि श्लक्ष्णकं वा क्वचित्स्थले॥ 32॥

इसमें कहीं युग्मक्रिया का निर्दोषतया आश्रय लिया जाए और कहीं पर एकक्रिया या समानतः पद्धति का प्रयोग किया जाना चाहिए। यदि आवश्यक हो तो चूने का लेपन भी किया जा सकता है और कहीं घिसकर मुलायम बनाया जा सकता है।

यथाविभतः कार्यं स्तम्भकल्पनमीरितम्।
शुभकालेऽलङ्कृतानां पादानां स्थापनं शुभम्॥ 33॥

इस प्रकार जितना सम्पत्ति-सामर्थ्य हो, वैसा ही स्तम्भों का रचना कार्य किया जाना चाहिए। शुभकाल में इन पर अलंकरण और इनकी स्थापना शुभदायक होती है।

स्थपतिब्राह्मणानाञ्च तोषणं माननं गवाम्।
कन्यकागीतिकं चापि शुभदं परिकीर्तितम्॥ 34॥

इस शुभकाल में कार्य सम्पादन के अवसर पर स्थपति और ब्राह्मणों को सन्तुष्ट किया जाना चाहिए। उनको यथेष्ट सम्मान और गाय आदि प्रदान करे। कुमारिकाओं के मुख से से गीत, स्वस्तिवाचन आदि भी इस अवसर पर शुभद कहा गया है।

इति विश्वकर्मप्रणीते विश्वकर्मवास्तुशास्त्रे सकलविधस्तम्भलक्षणकथनं नाम चतुष्षष्टितमोऽध्यायः॥ 64॥

इस प्रकार विश्वकर्माप्रणीत विश्वकर्मवास्तुशास्त्र में सकलविध स्तम्भ लक्षण कथन नामक चौंसठवाँ अध्याय पूर्ण हुआ।



अथ धान्यगृहलक्षणकथनं नाम

पञ्चषष्टितमोऽध्यायः ॥ 65 ॥

अथ धान्यशालालक्षणकथनात्मकं पञ्चषष्टितमाध्यायमुपक्रमते —

देवानां भूमिपालनां ब्राह्मणानां विशेषतः ।
वैश्यानां सर्ववर्णानां धान्यशाला शुभप्रदा ॥ 1 ॥
तस्मात्तां सर्वयत्नेन स्थापयेलक्षणान्विताम् ।

(इस पैंसठवें अध्याय में अनाज आदि के भण्डारण के लिए धान्यशाला के लक्षण कहे जा रहे हैं) देवालयों के लिए, राजाओं, ब्राह्मणों और वैश्यों सहित सभी वर्ण वाले लोगों के लिए धान्यशाला का होना शुभकारक माना गया है। अतः सभी को शुभ लक्षणों से युक्त धान्यशाला का निर्माण करना चाहिए।

ततस्तादृशधान्यशालास्थापनस्थलानि निर्दिशति शास्त्रकारः —

देवागारेषु वायव्यामैशान्यां वा विशेषतः ॥ 2 ॥
भूपालभवनै स्थाप्या कौबेर्यां सालकान्तरे ।
शोषे वाथ मृग रोगे शालान्ते मानवे क्वचित् ॥ 3 ॥

देवालयों में धान्यशाला को विशेषकर वायव्य या ईशान कोण में बनाया जाना चाहिए। राजमहलों में उत्तर दिशा में भवन की सालकान्तर या दीवार के निकट ही स्थापित किया जाए। अन्य मानवों के गृहों में वास्तु पदन्यास के अनुसार शोष या मृग अथवा रोग के पद में शालान्त में बनाया जाना अपेक्षित है।

चत्वराद्वितयान्ते वा क्वचिदन्तर्बहिर्मता ।
चतुरश्रं व्यासयुतं कल्पनं क्षेमदं नृणाम् ॥ 4 ॥

इसी प्रकार दो चौकों के अन्त में और कहीं अन्दर तो कहीं बाहर भी धान्यशाला को कल्पित किया जा सकता है। इनको चौकोर या गोलाई में व्यास युक्त बनाना लोगों के लिए हितकारी होता है।

पूर्वाननमुदग्वक्त्रमथवा पश्चिमाननम् ।
कवाटानां द्वयं प्रायश्चतुष्कं क्वचिदीरितम् ॥ 5 ॥

इनको पूर्वाभिमुख या उत्तराभिमुख या फिर पश्चिमाभिमुख बनाए। इनके लिए

दो किंवाड़ वाला द्वार हो। धान्यशाला में कहीं-कहीं चार किंवाड़ों की व्यवस्था भी की जा सकती है।

भिन्नप्रमाणभेदेन क्वचित्षट्कं तथाष्टकम्।
अधःपट्टसमोपेतं घनपट्टाभूषितम्॥ 6॥

कहीं भिन्न प्रमाण के भेदानुसार, कहीं छह तो कहीं आठ पहलू वाली द्वार रचना भी हो सकती है। इनको अधःपट्ट से युक्त करे और घनपट्ट से विभूषित किया जाना चाहिए।

गोरूपं देवतारूपं कौबेरं रूपमेव वा।
धान्यदेवीरूपयुक्तं तत्कल्पनमुदीरितम्॥ 7॥

धान्यशाला को गाय के रूप में, देवता के रूप में या कुबेर के रूप में कल्पित किया जाए। इसी प्रकार धान्यदेवी के रूप में भी परिकल्पित करने की रीति है।

स्थलान्तरदेशान्तरशैल्यन्तररीतिश्चाविष्कृता ज्ञेया —

द्वारद्वययुतं वापि द्वारत्रययुतं क्वचित्।
प्रतिक्रमादूर्ध्वभागं क्वचिद्भूमेरधस्स्थितम्॥ 8॥

भण्डारों को दो द्वार वाला या कदाचित तीन द्वार वाला भी बनाया जा सकता है। इनको प्रतिक्रम से ऊर्ध्व भाग और कहीं-कहीं अधोभाग के द्वार सहित भी बनाया जा सकता है।

सोपानसहितं वापि सौधशावलकान्वितम्।
कूटकल्पनयुक्तं वा शालाकल्पनरूपकम्॥ 9॥

यदि ऊँचाई वाली धान्यशाला हो तो उसको सीढ़ियों सहित या फिर सौध, शावलान्वित करना चाहिए। इसी प्रकार कूट परिकल्पित करे या फिर शाला का नियोजन किया जा सकता है।

स्थलार्हं विभवार्हं वा सदीपस्थानकं मतम्।
दृढभूलम्बनोपेतं शिलाकुड्यान्वितन्तु वा।
धान्यशालाकल्पनं तत्कल्पयेद्वा सपादकम्॥ 10॥

धान्यशाला को जैसा स्थान उपलब्ध हो और जैसा धन-सामर्थ्य के अनुसार बनाए। वहाँ पर उजाले के लिए दीपक का स्थान रखना चाहिए। इसे दृढ़भूलम्ब

सहित करे। धान्यशाला के लिए पाषाण से मजबूत दीवार बनाए। इसको स्तम्भों से युक्त भी बनाया जा सकता है।

इति विश्वकर्मप्रणीते विश्वकर्मवास्तुशास्त्रे धान्यशालालक्षणकथनं नाम पञ्चषष्टितमोऽध्यायः ॥ 65 ॥

इस प्रकार विश्वकर्माप्रणीत विश्वकर्मवास्तुशास्त्र में धान्यशाला लक्षण कथन नामक पैंसठवाँ अध्याय पूर्ण हुआ।



अथ गोशालालक्षणकथनं नाम

षट्षष्टितमोऽध्यायः ॥ 66 ॥

अथ गोशालालक्षणकथनात्मकं षट्षष्टितमाध्यायमुपक्रमते —

देवानाञ्च पितृणां च गोसेवाऽऽनन्दकारिणी।
गोभिस्स्वर्गफलं विन्दन्मोदते दिवि मानवः ॥ 1 ॥
गोभिरेव सुखं पुंसां जायते नात्र संशयः।
तस्मात्स्थपतिभिस्स्थाप्या गोशाला शुभवास्तुके ॥ 2 ॥

(प्रस्तुत अध्याय में गोशाला के लक्षण कहे जा रहे हैं) गोसेवा देवताओं और पितरों को आनन्द प्रदान करने वाली है। गायों से ही देवता और मानव स्वर्ग का फल प्राप्त करते और भोगते हैं। गायों से मनुष्यों को सुख सुलभ होता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। इसलिए स्थपतियों को गोशाला[१] के शुभ वास्तु की स्थापना करनी चाहिए।

---

१. कई ग्रन्थों में इच्छित रूप से भी गायों की शाला का प्रबन्धन करने का वर्णन आया है। वराहमिहिर का मत है कि पशुधन (के लिए गोष्ठ या गोठां, खिड़क) एवं श्रमण के आवास-विहार, धान्य के कोठार, आयुधागार, अग्निशाला एवं रतिगृह को प्रमाण रहित अर्थात् इच्छा के अनुसार बनवाया जा सकता है तथापि शास्त्रवेत्ता सौ हाथ से अधिक ऊँचाई को ठीक नहीं मानते हैं— पश्वाश्रमिणाममितं धान्यायुधवह्निरतिगृहाणां च। नेच्छन्ति शास्त्रकारा हस्तशतादुच्छ्रितं परतः ॥ (बृहत्संहिता 53, 16) पशूनां चतुष्पदानां आश्रमिणां प्रव्राजकानां, च

तस्माच्छुभवर्धनीनां तासां गवां गोष्ठं वा शालां कुत्र वा स्थले स्थापयेदित्वाकांक्षायां तदर्हस्थलानि निर्दिशति —

चतुर्थभागसीमान्ते निष्कुटाराममध्यमे।
शोषे वा भृङ्गराजे वा पञ्चाद्भागस्थलेऽथवा॥ 3॥

सीमान्त पर चौथे भाग में और निष्कुट, बगीचों के मध्य में, शोष, भृंगराज के पद या उसके पाँचवें भाग में गोशाला को स्थापित किया जाना चाहिए।

कल्पनेन समायुक्तं वियुक्तं वाऽथ कल्पयेत्।
गोशाला मण्टपाकारा पार्श्वाङ्गणसमन्विता॥ 4॥

गोशाला को समायुक्त कल्पित करे या वियुक्त भी परिकल्पित कर सकते हैं। उसको मण्डपाकार में पार्श्व या आसपास के आँगनों से समन्वित बनाना चाहिए।

कूटाकारा क्वचित्कार्या सपादा वा विपादका।
सार्कप्रभा सावरणा हेमन्तादौ सुखप्रदा॥ 5॥

इनको कूटाकार या क्वचित रूप से स्तम्भों सहित या स्तम्भों से हीन भी बनाई जा सकती है किन्तु उचित उजाले वाली (सूर्य की धूप से बचने के लिए) उचित छत का प्रबन्ध हो और हेमन्त आदि छहों ऋतुओं में सुखप्रद होनी चाहिए।

समसूत्रसमायुक्ता महाद्वारक्रियान्विता।
सुषीरभागद्वारा वा मुखकल्पयुता क्वचित्॥ 6॥

ये समसूत्र में बनाई जानी चाहिए और महाद्वारों वाली कल्पित हो। इन पर सुषीर भाग के द्वार अथवा छिद्रों वाले किंवाड़ों के द्वार हों अथवा खुले मुख की बनाई जानी चाहिए।

सोपानद्वययुक्ता वा त्रिसोपाना क्वचिन्मता।
नानाङ्गणविभक्ता वा नानारज्जुस्थलान्विता॥ 7॥
पलालपट्टिकोपेता मुखवेदिकया युता।

अमितं अपरिमितं यथेष्टपरिमितं गृहस्य। तथा धान्यगृहस्य धान्यानि यत्र स्थाप्यन्ते, आयुधगृहस्यायुधानि यत्र स्थाप्यन्ते, वह्निगृहस्य चाग्निशालायाः, रतिगृहस्य क्रीडावेश्मनः, एषाममितमपरिमितं प्रमाणम्। शास्त्रकारा वास्तुज्ञानविदो हस्तशतात्परतः उच्छ्रितं नेच्छन्ति, हस्तशतादूर्ध्वमुच्छ्रितं गृहं न कार्यम्। 'वास्तुनि यो विस्तारः स एव चोच्छ्रायनिश्चयः शुभदः' (श्लोक 8) इत्यस्यायमपवादः। तथा च गर्गः— शतहस्तोच्छ्रितं कार्यं चतुःशालगृहं बुधैः। अपि तत्त्वेकशालं तु शुभदं तत्प्रकीर्तितम्॥ (सविवृत्ति बृहत्संहितायां भट्ट उत्पलोद्धृतम्)

ये द्वय सोपानयुक्त अथवा दो सीढ़ियों वाली और किसी के मत से तीन सीढ़ियों वाली बनाई जाए। उसमें नाना आँगनों का विभाजन किया जाए और विविधानेक रज्जुस्थल बने हुए हों। वहाँ गायों के चरने के लिए घासपट्टिका[१] की रचना की जानी चाहिए और मुखवेदिका भी बनाए।

किञ्चैतादृशगोशालाया भूमितलं दृढीकृत्यमाह —

पञ्चकट्यसमोपेता नातिश्लक्ष्णा न कर्कशा॥ 8॥
चिक्कणैरिष्टिकाखण्डैः पाषाणैर्वा क्वचित्स्थली।
भूमिका कल्पनीयाऽत्र गोशालायां विशेषतः॥ 9॥

वेदिकादि रचनाओं के साथ-साथ पञ्चकट्य स्थान या पच्चीस गायों को बान्धने का स्थल भी बनाया जाना चाहिए। यह स्थान न तो अधिक चिकना हो, न ही कर्कश होना चाहिए। गोशाला की भूमि चिक्कण, ईंटों के टुकड़ों, पाषाण आदि के मिश्रण से विशेष रूप से खुरा बनाकर तैयार की जानी चाहिए।[२]

मध्यचत्वरयुक्ता वा चत्वरानेकमण्डिता।
कल्पनीया विशालान्तर्भागिका रेखणान्विता॥ 10॥

इनको बीच में चत्वर युक्त बनाए अथवा उसे अनेक चत्वरों से मण्डित भी किया जा सकता है। इसी प्रकार उसके विशाल क्षेत्र के अन्तर्भाग को रेखायुक्त कर सजाया जाना चाहिए।

---

१. काश्यपीयकृषिसूक्ति में कहा गया है कि गोशाला, खिड़क को घास, ताजा शस्य (रिजका, मेथी), पूस, जल से परिपूर्ण मङ्गल पात्र या कुण्ड से युक्त करना चाहिए। यह समस्त कार्य शुभ मुहूर्त में ही करना चाहिए— घासैः शस्यैः पलालैश्च जलपात्रैश्च मङ्गलैः। पूरयेदथ तंदेशं गोष्ठे शुभमुहूर्तके॥ (काश्यपीयकृषिसूक्ति 5, 256)

२. यदि कृषक कृषि आदान या संसाधन सङ्ग्रहण की प्रक्रिया में उद्धत हुआ हो तो उसे सर्वप्रथम गोष्ठ या गोठाँ, गायों के स्थान को गोबर आदि से लीपना चाहिए। गायों के उक्त स्थान की लिपाई-पुताई के बाद कृषक को चाहिए कि वह वहाँ पर गन्ध, पुष्पादि से अलङ्करण करें। तिन्दुक या तेंदुपत्ता, तिनिश, सर्जक या सारदारु के काष्ठ से बने गायों के बाँधने के खूँटे-तूलक, गायों के लिए प्रयुक्त होने वाली शृङ्खला आदि को गन्ध, कुङ्कुम, पुष्पादि से सजाएँ। इस सब तैयारी के उपरान्त, बुद्धिमान को चाहिए कि वह उस स्थान की प्रदक्षिणा करें और शुभ लक्षणों से सम्पन्न गायों को वहाँ पर प्रवेश करवाएँ— गोष्ठं गोस्थानकं वापि गोमयालेपनक्रियम्॥ गन्धपुष्पाद्यलङ्कारभासुरं च विशेषतः। तिन्दुकैस्तिनिशैर्वापि सर्जकैः सारदारुकैः॥ गोबन्धतूलकं कृत्वा शृङ्खलाद्यैरथापि वा। अलङ्कृत्य तु तं देशं गन्धकुङ्कुमपुष्पकैः॥ प्रदक्षिणं वा कृत्वा तत्स्थले गाश्चारयेत् बुधः। शुभलक्षणसंयुक्ताः धेनूः सञ्चारयेदिह॥ (तत्रैव 6, 251-254)

अथ गोशालाप्रमाणमाह —

वाजिशालाप्रमाणा वा क्वचित्कार्या नृपालये।
मुखाङ्गणसमोपेता मुखनासादिभूषिता ॥ 11 ॥

गोशाला को अश्वशाला के प्रमाण के बराबर ही कहीं राजभवन में बनाना चाहिए। ये मुखाँगन से युक्त हों और मुखनासादि से अलंकृत की जानी चाहिए।

कण्डूपट्टिकयोपेता क्वचित्कार्या प्रकल्पना।
नातिनिम्नोन्नतस्था च न कण्टकमहीरुहा ॥ 12 ॥

इसके अतिरिक्त गोशाला में कदाचित गायों को खुजलाने के लिए कण्डू-पट्टिका (खड़ी रघड़पट्टी) भी बनानी चाहिए। यह कण्डूपट्टिका न तो अधिक नीची हो न हो अधिक ऊँची और उस पर पेड़ों के काँटे भी नहीं होने चाहिए।

न जलस्रावकण्ठा च गोशाला शुभदा मता।
मुखे वा द्वारपट्टे वा गोदेव्याकारकल्पनम् ॥ 13 ॥

जहाँ पर जल का बहाव नहीं होता हो अर्थात् जहाँ बहता हुआ पानी जमा नहीं होता हो, वहाँ पर गोशाला को बनाना शुभदायक होता है। गोशाला के मुख्य दरवाजे पर द्वारपट्ट पर गोदेवी का आकारद चित्र बनाया जाना चाहिए।

वंशशाला शावलका सौधकल्पयुतान्तु वा।
सुकल्पनं गवा क्षेमकारणं परिकीर्तितम् ॥ 14 ॥

गोशाला को बाँस-बल्लियों से, शावलक अथवा सौध (पक्की, चूना-पाषाण निर्मित) के रूप में भी बनाया जा सकता है किन्तु उनकी रचना बहुत सुन्दर ढँग से की जाए तो गायें कल्याणकारिणी सिद्ध होती है।

इति विश्वकर्मप्रणीते विश्वकर्मवास्तुशास्त्रे गोशालालक्षणकथनं नाम षट्षष्टितमोऽध्यायः ॥ 66 ॥

इस प्रकार विश्वकर्माप्रणीत विश्वकर्मवास्तुशास्त्र में गोशाला लक्षण कथन नामक छियासठवाँ अध्याय पूर्ण हुआ।



अथ ग्रामपुरद्वारलक्षणकथनं नाम

सप्तषष्टितमोऽध्यायः ॥ 67 ॥

अधुना ग्रामनगरमुखद्वारभागे कल्पनीयकल्पनलक्षणकथनात्मकं सप्तषष्टितमाध्यायमारभते —

ग्रामाणामपि सर्वेषां दुर्गाणाञ्च पुरामपि।
मुखद्वारं व्यक्तरूपं यथामानं प्रकल्पयेत्॥ 1 ॥

(अब सड़सठवें अध्याय में ग्राम, नगर के मुखद्वार के लक्षणों को कहा जा रहा है) मण्डकादि सभी प्रकार के ग्राम हो या दुर्ग अथवा भद्रकादि नगर-पुर हों, उनके मुखद्वार व्यक्तरूप से (दूर से ही पथिकों को दिखाई दे सके) निर्धारित मान के अनुसार कल्पित किए जाने चाहिए।

केन वा प्रकारेणैतादृशग्रामनगरमुखद्वारं सुव्यक्तं कल्पनीयमिति चेदाह —

गोपुरस्थापनाद्वापि महामण्टकल्पनात्।
महास्तम्भस्थापनाद्वा महावृक्षप्रवर्धनात्॥ 2 ॥

ये मुखद्वार कैसे सुव्यक्त हों, इसके लिए आवश्यक है कि उनके आगे गोपुर की स्थापना की जाए अथवा महामण्डप को बनाया जाए। वहाँ महास्तम्भ भी बनाया जा सकता है और वर्धनशील महावृक्ष भी लगाया जा सकता है।

अट्टापथस्थापनाद्वा घण्टास्थानप्रकल्पनात्।
तटाकसहितं वापि सन्निकृष्टमहीरुहम्॥ 3 ॥
जलाशययुतं वापि नदीह्रदसमन्वितम्।

वहाँ पर अट्टापथ नामक पथ स्तम्भ (ईंटों व चूने से) बनाया जा सकता है। इसी प्रकार वहाँ घण्टास्थान (समय सूचनार्थ घण्टाघर) भी स्थापित करे। उसके आसपास तालाब और उसके आसपास सघन वृक्षावली होनी चाहिए। इसी प्रकार वहाँ पेयजल के लिए जलाशय के रूप में बावड़ी, नदी, सोता (चश्मा) भी होना चाहिए।

किञ्चात्र मुखद्वारस्थले नानास्थानानि स्थापयेत् —

सुरक्षितं योधगणैर्भटैर्वा भृत्यकैरपि॥ 4 ॥

सायुधन्तु पुरद्वारं रक्षणीयं विशेषतः।

मुख द्वारों पर सदा ही योद्धागणों, भटों और सेवकों को सायुध नियुक्त किया जाना चाहिए। विशेषकर इस प्रकार से पुर के द्वार को रक्षित रखना चाहिए।

एकं द्वयं त्रयं वापि चतुष्कं मेलनं भुवः ॥ 5 ॥
विहारस्थानकोपेतं दर्शनस्थानकं तथा।

वहाँ पर एक, दो, तीन या चार मिलन स्थल (जहाँ अन्य क्षेत्रों से आने वाले महापथों का मिलन होता है) बनाए जाने चाहिए। साथ ही वहाँ विहार स्थलों का निवेश और दर्शनीय स्थानों की स्थापना की जानी चाहिए।

महापणश्रेणियुतं भूरिद्रव्यैर्युतं क्वचित् ॥ 6 ॥
वार्षिकं मासिकं स्थानं पाक्षिकं वा क्वचिन्मतम्।
लोह-दारु-शिला-वेणुक्रयस्थानादिसंयुतम् ॥ 7 ॥

इसी प्रकार वहाँ महापण व्यापार की श्रेणियों वाली दुकाने होनी चाहिए जो तरह-तरह के अच्छे द्रव्यों, सामानों से भरी हुई हों। इसके अतिरिक्त वहाँ पर वार्षिक रूप से, मासिक रूप से या पाक्षिक रूप से दुकानों की व्यवस्था भी की जानी चाहिए। विशेष रूप से लोहा, काष्ठ, शिला, बाँस आदि के विपणन स्थल हो या मण्डी लगती हो।

तद्दूरभागकोणेषु चण्डालानामपि क्वचित्।
पुलिन्दानां किरातानां मांसविक्रयिणामपि ॥ 8 ॥
नीचानामपि दिक्कोणे स्थानं भूमिवशान्नयेत्।
स्थलयोग्यं खलस्थानं क्वचित्तत्रैव कल्पयेत् ॥ 9 ॥

द्वार के दूरभाग में कोने पर कहीं-कहीं चाण्डालों, पुलिन्दों, किरातों और माँस विक्रेताओं को स्थान आबंटित किया जा सकता है। निम्नवर्गीय समुदायों को भी दिशा के कोणों पर भूमि देकर बसाया जाना चाहिए। उपलब्ध भूमि के अनुसार वहाँ खलस्थान (द्वार के समीप ही चावल, चणक, गेहूँ आदि समीकरण के लिए) भी बनाया जा सकता है।

नृत्तस्थलयुतं वापि लोहकार्यालयान्वितम्।
मुखद्वारं कल्पनीयं सुखदं शिल्पिभिः क्रमात् ॥ 10 ॥

इसके अतिरिक्त मुखद्वार को नृत्तस्थल से युक्त करे या लोहकार्यालय सहित बनाए। इस प्रकार शिल्पी नगर के मुखद्वार को सुखद कल्पित करे।

इति विश्वकर्मप्रणीते विश्वकर्मवास्तुशास्त्रे ग्रामपुरद्वारलक्षणकथनं नाम सप्तषष्टितमोऽध्यायः ॥ 67 ॥

इस प्रकार विश्वकर्माप्रणीत विश्वकर्मवास्तुशास्त्र में ग्राम-पुर द्वार लक्षण कथन नामक सड़सठवाँ अध्याय पूर्ण हुआ।



अथ मार्गलक्षणकथनमार्गशालालक्षणकथनात्मकौ

अष्टषष्टितमैकोनसप्ततितमाध्यायौ कुलकरूपौ ॥ 68–69 ॥

अथ मार्गलक्षणमार्गशालालक्षणकथनात्मकौ अष्टषष्टितमैकोनसप्ततितमाध्यायौ कुलकरूपौ प्रतिजानीते —

दुर्गमार्गः स्थापनीयः स्थलमानवशात्क्वचित्।
पञ्चदण्डप्रमाणेन हीनस्तु न सुखप्रदः ॥ 1 ॥

(अब मार्ग के लक्षण कहे जा रहे हैं, मार्ग विभिन्न प्रकार के बनाए जाते हैं) दुर्ग के लिए मार्ग उसके स्थल मार्ग के अनुसार ही बनाया जाना चाहिए। यह अधिकतम पाँच राजदण्ड के प्रमाण से बनाए, इससे न्यून मार्ग सुखप्रद नहीं होता है।

गिरिदुर्गसरण्यान्तु किञ्चिन्न्यूनप्रमाणकम्।
कल्पन पङ्क्तिसंयुक्तं विश्रान्तिस्थलकान्वितम् ॥ 2 ॥

ये मार्ग पर्वतदुर्ग के, सारण के हों तो उपर्युक्त प्रमाण से कुछ न्यून हो सकते हैं। इनके साथ-साथ पंक्तिवार विश्रान्तिस्थल भी कल्पित किए जाने चाहिए।

क्वचित्करग्रहोपेतं नुन्नसत्वं सभूरुहम्।
क्वचित्सानुपुरद्वारायनमानं प्रकल्पेत् ॥ 3 ॥

कहीं-कहीं इन पहाड़ी मार्गों के किनारे पर मनुष्यों के बचाव के लिए हाथ को सहारा दे सके, ऐसे हत्थेदार रचनाएँ भी पेड़ों की लकड़ियों से बनी हों (इनको पेड़ो के साथ भी बनाया जा सकता है)। कहीं पर सानुपुर (पर्वत सानुभाग निर्मित नगर) के द्वार की विशालता को नगर मार्ग की विशालता के अनुरूप कल्पित करना चाहिए।

किञ्च पूर्वप्रतिपादितरीत्या वीथीमार्गलक्षणकथनप्रतिपादितरीत्या ग्राममार्गनगर-मार्गमहामार्गादिषु एतन्माननयनमपि सतां सम्मतमिति मतभेदेन प्रमाणमुक्तं बोध्यम् —

प्रतोलीमानगणनाद्द्विगुणं त्रिगुणं तु वा।
कुल्यासेतुयुतं वापि महासेतुयुतं क्वचित्॥ 4॥

वहाँ पर प्रतोली (ग्राम वीथ्यादि) की विशालता दोगुनी या तिगुनी हो। मार्ग में यदि कोई कुल्या (नहर, वितरिका) पड़ती हो तो उस पर पुलिया एवं बृहद् नदी आदि हो तो महासेतु (बड़ी पुलिया) बनाई जानी चाहिए।

किञ्चास्य मार्गस्य पक्षयोरुभयोरपि निस्सारणार्हौ कुल्यां क्वचिन्महाकुल्याञ्च खातयित्वा तस्यास्तस्य मार्गस्य च पार्श्वतटं शिलाखण्डघटनादिना दृढकल्पनं विधाय च —

पक्षयोस्सलिलस्त्रावो घनकल्पनमेदुरः।
महाबलगतिस्स्थाप्या दूरे दूस्तरेऽपि वा॥ 5॥

इस प्रकार उभयपार्श्व में (दोनों ही आजू-बाजू) कुल्यादि रचना से वर्षाकाल में भी पानी का बहाव आसानी से हो सकेगा। अतएव इसे सघन एवं बहुत सुदृढ़ता पूर्वक दूर तक बनाया जाना चाहिए।

नदीमेलनकल्पो वा चाब्धिमेलनकल्पनम्।
मध्योन्नतिः पार्श्वनिम्नं घनकल्पनसंयुतम्॥ 6॥
शिलाखण्डैः कुम्भिखण्डैर्घनैर्मेदुरकल्पनम्।
गजपादैरश्वपादैर्मर्दितं च दृढीकृतम॥ 7॥

इसी प्रकार नदियों के सङ्गम स्थल पर अथवा समुद्रों के मिलन स्थल पर हो तो वहाँ पर ऐसा मार्ग रचित किया जाए कि वह मध्य में उभरा हुआ हो किन्तु दोनों ही ओर से नीचा हो। इसको सघन बनाया जाए। इसके लिए शिलाखण्डों,

बृहद्तम पाषाण खण्डों का (मिट्टी, मसाला सहित) प्रयोग किया जाना चाहिए। इसकी चुनाई करते समय स्थल को गज और घोड़ों के पाँवों से मर्दित कर इसे सुदृढ़ करना चाहिए।

जलनेत्रयुतं वापि स्थलनेत्रयुतन्तु वा।
कल्पनं विविधाकारं कण्ठालस्थलसंयुतम्॥ 8॥

इसी प्रकार वर्षा जल के बहाव के लिए मार्गों के दोनों ही ओर जलनेत्र (भुँगल या पाईप) या स्थलनेत्र (पक्के प्रवाह मार्ग) बनाए जाए (जिसमें शिला में जलप्रवाह के लिए छिद्र बने हो)। इसके साथ ही विविध प्रकार के कण्ठाल स्थल[1] (बैठकियाँ या भार रखने के स्थान जो एक हाथ प्रमाण से ऊँचे हों) बनाए जाने चाहिए। (ये शिला या ईंटों से बनाए। इनके साथ कहीं-कहीं सीढ़ियाँ भी बनाए)।

तत्र रोपणीयवृक्षनामानि —

बकुलस्तिनिशोऽश्वत्थो वटश्च ककुभादयः।
वर्धयेत्तान्विशेषेण छायावृक्षाश्च ये मताः॥ 9॥
पक्षयोरुभयोरेवं विश्रान्तिस्थानकेषु च।

इस मार्ग पर बकुल, तिनिश, अश्वत्थ, वट, कुकुभ आदि निरन्तर वृद्धिशील रहने वाले छायादार वृक्षों का रोपण कर उनकी बढ़वार करने का यत्न करे ताकि ये वृक्ष वहाँ पर दोनों ही ओर छाया बनाए रखें और इस छाया तले कण्ठालों या विश्रान्ति स्थानों पर पथिकों को रुकने में सहयोग मिले।

एवमेतादृशमार्गतले क्वचिद्विश्रान्तिस्थानस्थलेषु कुटिकामुखाख्यरक्षकावासस्थानेषु च किञ्चिद्वैशाल्याधिक्यं कार्यमिति लक्षणवाक्यार्थः अपि चैतादृशरक्षकावास-स्थानकल्पनलक्षणादिकन्तु उत्तराध्याये प्रतिपादयिष्यते —

कूटिकामुखभागेषु मार्गमेलनकेषु च॥ 10॥
वैशाल्यं द्विगुणं स्थाप्यं कल्पनं तत्र सम्मतम्।

इन पर कहीं-कहीं, मार्गों के मिलन स्थलों पर पथ-रक्षार्थ कुटिकामुख नामक रक्षकों के आवास स्थान (चौकियाँ) बनानी चाहिए। निर्माण में इनकी विशालता दोगुनी करनी चाहिए जो कि रचना सम्मत हो।

---

१. तथा च टीकायाम्— कण्ठालकल्पनं नाम मानवादिभिर्मौलितलधारितभारावरोहण-योग्यमेकदण्डोन्नतिक घनशिला- घटनमित्यर्थः।

किञ्चैव मार्गभागेषु नगरान्नगरान्तरदूरज्ञानार्थमेकघटिकाकालगमनार्हेयं शिला यथा प्रमाण स्थापयेत् —

मार्गलक्ष्मशिलोपेतं स्थानलक्ष्मशिलं क्वचित्॥ 11 ॥

नदीह्रदतले वापि महीधरतलेऽथवा।

क्वचित्स्थलवशान्मानं कारयेद्दृढकल्पनम्॥ 12 ॥

मार्ग में दूरी का संकेत देने के लिए चिह्नित शिलाओं (पथ दूरी पट्ट, माईल स्टोन) लगाए जाने चाहिए। इन पर मार्ग कहाँ से कहाँ तक जाता हो, उसका उल्लेख हो और वह कौनसा स्थान है, उनका नामोल्लेख भी किया जाना चाहिए। (ये शिलाएँ मार्ग पर एक घड़ी पर्यन्त गमन, तीन घड़ी पर्यन्त गमन का संकेत देने वाली भी हो सकती है) ऐसे चिह्नित पट्ट नदी, ह्रद के तले या पर्वत के तले पर और कहीं उक्त स्थल के परिचय के लिए भी दृढ़ रूप से स्थापित किए जाने चाहिए।

क्वचित्स्थलवशान्निम्नुन्नतं च प्रकल्पयेत्।

सेतुमार्गप्रान्तपक्षकल्पनं घनशैलकम्॥ 13 ॥

इसी प्रकार ये किसी स्थान की ऊँचाई, नीचाई के सूचनार्थ भी लगाए जा सकते हैं। यदि सेतुमार्ग पर स्थापित किए जाने हो तो प्रान्त पक्ष पर उनको सघन शिलाओं से बनाना चाहिए।

किञ्चैतादृश दृढपादप्रसरणविभक्तमाह —

पादप्रसर्पणाद्वापि महापादप्रसर्पणात्।

पङ्क्तिक्रमस्पर्शनीया सलिलस्थलकल्पनम्॥ 14 ॥

नदी, ह्रद जैसे जलस्रोतों से जल ग्रहण करने के लिए सुविधाप्रद पादप्रसर्पण (पगथिया) एवं महापादप्रसर्पण (बड़े पगथिया या घाट के सोपान) बनाए जो कि पंक्तिवार और पकड़ने की सुविधा सहित होने चाहिए।

अगाधस्थलमार्गेषु योधस्थानयुतं क्वचित्।

तिर्यङ्मार्गेऽथवा शाखामार्गेष्वपि करग्रहम्॥ 15 ॥

शृङ्खलाकलनं वापि भित्तिकल्पनमेव वा।

कलशस्थापनैर्युक्तं स्थलयुक्तप्रकल्पनम्॥ 16 ॥

यदि कहीं अगाध जलमार्ग हो तो वहाँ पर निरीक्षण-निर्देशकर्ताओं के लिए योधस्थान (प्रहरी आवास) बनाने चाहिए। यदि वहाँ तिरछे मार्ग या शाखा मार्ग हो

तो वहाँ पकड़कर चलने के लिए हत्थों जैसी सुविधा हो और इसके लिए वहाँ साँकल लगाए अथवा लघु भित्ति का निर्माण करना चाहिए। ये कलश स्थापना सहित उचित स्थान वाली होनी चाहिए।

अन्यदप्याह —

क्वचिदङ्गणकोपेतं बहिरन्तुस्तु वा पुरः।
मध्ये मण्टपसंयुक्तमथवा वर्त्म कारयेत्॥ 17॥

यदि पुर में कहीं भीतर और बाहर आँगन की रचना हो तो उसके लिए मध्य में मण्डप की रचना करे अथवा वर्त्म (पगडण्डी, सड़क) की रचना की जानी चाहिए।

पार्श्वारामयुतं कार्यं क्वचिद्वर्त्म महायनम्।
युक्त्याऽन्यत्कल्पयेच्छिल्पी प्राणिनां सुखदायकम्॥ 18॥

इनके पार्श्वभाग में बाग-बगीचे बनाए अथवा कहीं पर महामार्ग की रचना भी की जा सकती है। इसी प्रकार शिल्पी को अन्यान्य युक्तियों का प्रयोग कर प्राणियों के सुख के निमित्त मार्ग का नियोजन करना चाहिए।

इति विश्वकर्मप्रणीते विश्वकर्मवास्तुशास्त्रे मार्गलक्षणमार्गशालालक्षण कथनात्मकौ अष्टषष्टितमैकोनसप्ततितमाध्यायौ कुलकरूपौ॥ 68-69॥



अथ मार्गविश्रान्तिस्थलकल्पनलक्षणकथनं नाम

सप्ततितमोऽध्यायः॥ 70॥

अथ मार्गविश्रान्तिस्थलनिर्माणलक्षणकथनात्मकं सप्ततितमाध्यायं प्रतिजानीते —

सर्वत्र मार्गभागेषु कल्पनं भयनोदकम्।
सायुधानां भटानाञ्च स्थितिर्धैर्यप्रदायिनी॥ 1॥

(इस सत्तरवें अध्याय में मार्ग में विश्रान्तिस्थल के लक्षणों का वर्णन किया जा रहा है) सर्वत्र मार्गों को भयरहित बनाने के लिए यदि आयुधों से सन्नद्ध योद्धाओं

को चौकियाँ बनाकर नियुक्त किया जाता है तो उस मार्ग पर आने-आने वालों को धैर्य मिलता है, वे निर्भय होकर विचरण करते हैं।

किञ्च तेषां पथिकानां धैर्यप्रदश्च —

तस्मात्तत्कल्पयेच्छिल्पी क्रोशमात्रस्थलादिषु।
श्रान्तानां पथिकानाञ्च विश्रान्तिस्थानकैर्युतम्॥ 2॥

शिल्पी को किसी भी मार्ग में कोस-कोस के अन्तराल पर थके हुए राहगीरों के विश्राम के लिए विश्रान्तिस्थलों का निर्माण-नियोजन करना चाहिए।

तादृशस्थानेषु क्वचित्समीपे वाऽध्वगमनादिना श्रान्तपथिकविश्रान्तिस्थानाख्यं मण्डपादि कल्पनाह —

दृढमण्टपकल्पं वा दृढकूटप्रकल्पनम्।
दण्डिकाकल्पनं वापि नानासनसमन्वितम्॥ 3॥

इस उद्देश्य से रास्तों पर सुदृढ़ मण्डपों या सुदृढ़ कूट (कक्ष) का नियोजन करना चाहिए ताकि थके हुए पथिकों को विश्राम मिल सके। इसी प्रकार किसी दूर के गाम के क्षुद्र मार्ग के मध्यभाग में वहाँ दण्डिकाकल्प नामक दीर्घ आँगन का निर्माण भी किया जा सकता है या फिर वहाँ अनेकानेक आसनों का निर्माण किया जा सकता है।

त्रिभूमिगोपुरं वापि पञ्चभूगोपुरन्तु वा।
सप्तभूगोपुरं वापि पृथुस्तम्भयुतन्तु वा॥ 4॥
योजयेत्कल्पविच्छिल्पी दृढं सुव्यक्तकल्पनम्।

इसी प्रकार वहाँ पर (भूमिलम्बनपूर्वक) तीन मंजिले या पाँच मंजिले या फिर सात मंजिले गोपुरों की रचना की जानी चाहिए। इनको कदाचित मोटाई वाले स्तम्भों से युक्त भी किया जा सकता है। परिकल्पनाकार शिल्पी को चाहिए कि वह इन गोपुर रचनाओं को सुदृढ़ और सुव्यक्त बनाए।

देवगन्धर्वभूपालचित्रभासुरकुड्यकम्॥ 5॥
नानाङ्गणसमोपेतं नानापङ्क्तिविराजितम्।
मध्यचत्वरयुक्तं वा सविमानतलं क्वचित्॥ 6॥

इन गोपुरों को देवता, गन्धर्व के चित्रों से बनाए और उनकी दीवारों को नल-नहुषादि राजाओं के दर्शनीय चित्रों से सज्जित किया जाना चाहिए। वे नाना प्रकार

के आँगनों की रचना वाले और विविधानेक पंक्तियाँ से शोभायमान हो। उनके मध्य में चत्वर कल्पित किए जाएँ या वे एकाधिक विमान तल वाले हों।

तस्मादेतादृशविश्रान्तिस्थानकल्पनस्य सव्यभागे वाऽपसव्यभागे वा क्वचिदुभय-पार्श्वयोश्च घनशिलाभिः कण्ठालस्थापनमवश्यं कार्यमाह —

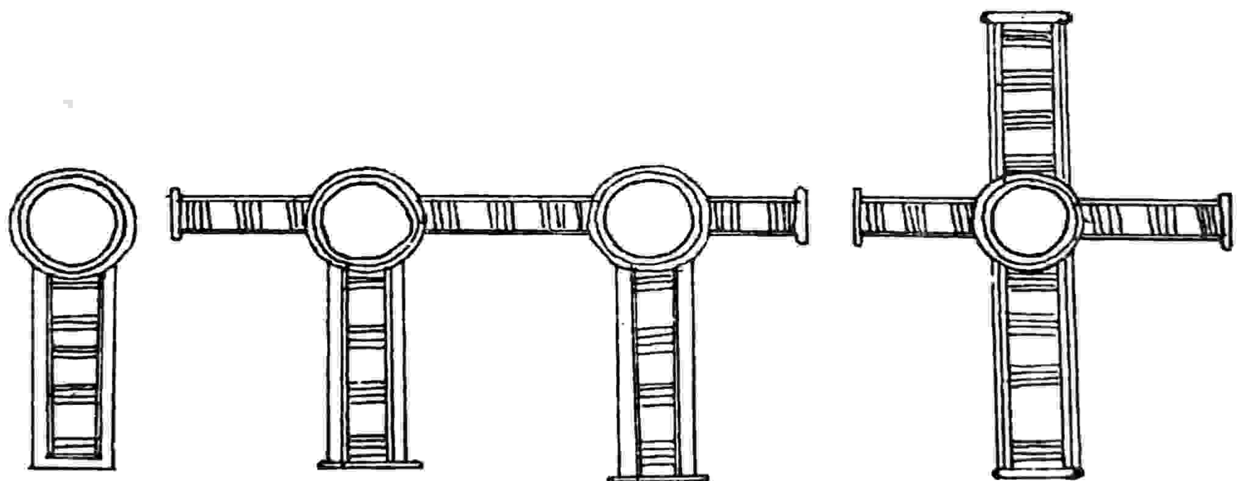
सव्य सव्येतरे भागे कण्ठालस्थापनं वरम्।

वहाँ पर सव्य-अपसव्य अर्थात् दायें-बायें भाग में घनशिला से कण्ठाल स्थान कल्पित किए जाने चाहिए (ताकि भारवाही पथिकों को भार उतारकर आराम करने में सुभीता हो)।

वटोऽश्वत्थो नारिकेलः पनसस्सहकारकः ॥ 7 ॥
वर्धनीयाः कुन्दलताः पूगनारङ्गभूर्जगाः।
पुन्नागश्चापि नागाश्च निष्कुटार्हाः क्वचित्स्थले ॥ 8 ॥
जलाशयः पल्वलश्च कर्तव्यः पृथुवारकः।

वहाँ पर छायादार बरगद, पीपल, नारियल, पनस, सहकारक वृक्षों का रोपणकर उनकी बढ़वार का प्रयास करे। साथ ही शोभावर्धक कुन्दलता, सुपाड़ी, नारँगी, भूर्ज, पुन्नाग, नाग जैसे कुंजों के योग्य लता, फलदार वनस्पतियों को भी कहीं-कहीं लगाना चाहिए। इसी प्रकार वहाँ जलाशय, पल्वल (छोटे तालाब, जोहड़) आदि भी पर्याप्त जलराशि वाले बनाने चाहिए।

नाना जलस्त्रोतं (एकमुखी, द्वि-त्रि-चतुर्मुखी वापी)



तत्र चान्यस्थानमवश्यं कल्पनीयाह —

वाहस्थानं वृषस्थानमन्तिके कारयेद्बुधः ॥ 9 ॥

क्वचित्तु मदिरागेहं प्राणिनां सुखदायकम्।
तृणस्थानमथान्यच्च कल्पयेत्क्रोशमात्रके॥ 10॥

मार्ग में वृक्षों के तले सार्थवाहों, भार ले जाने वाले लोगों की सुविधा के लिए वाहस्थान (गुड्स डिपो) हों। समझदारों को मार्ग के किनारों पर वृषस्थान (जहाँ बैलगाड़ियों के बैलों को छोड़कर रखा जा सके) बनाने चाहिए। इसी प्रकार मार्ग में ही मदिरालय भी लोगों के लिए बनाए जा सकते हैं। कोस-कोस पर छकड़ों के वाहक पशुओं के लिए घासघर (वर्तमान में वाहनों के लिए फ्यूल स्टेशन) भी बनाए जाने चाहिए।

तत्र योधस्थानं कल्पननिर्देशमाह —

पूर्वा-परगृहद्वारयोधस्थानं प्रकल्पेत्।
द्वारालङ्करणं कार्यमन्यच्च शुभदर्शनम्॥ 11॥

वहाँ पर निगरानी के लिए पहरेदारों के लिए ऐसे कक्ष भी बनाए जाए जिनके आगे-पीछे खुले हुए द्वार हों ताकि पहरेदार मार्ग पर दृष्टि रख सकें। इन भवनों के द्वारों को सुन्दरता के लिए अलंकृत किया जाना चाहिए। वे शोभाजनक दिखाई दें, इसके लिए अन्य कार्य भी किया जा सकता है।

अपि चात्र समुचित स्थानेषु चत्वरस्थापनतलमध्यभागे क्वचिच्चतुवर्गाख्यचतुर-ङ्गणमार्गस्थापनं निर्देशाह —

चतुर्वर्गप्रदीपाढ्यं पञ्चगेहसमन्वितम्।
तोरणैश्चित्रैर्युक्तं मार्गद्वारप्रकल्पनम्।
स्थापयेत्कल्पनं युक्त्या प्राणिनां सुखदायकम्॥ 12॥

इसी प्रकार वहाँ चत्वर या चौक के बीच चतुर्वर्ग चतुरंगण मार्ग नियोजित करना चाहिए और उसके मध्य में पञ्चगेह (पाँच कक्ष) स्थापित करे और उनको प्रदीप्त रखने का प्रयत्न हो। मार्ग के द्वार को नाना प्रकार के चित्रों वाले तोरणों से युक्त करना चाहिए। उपसंहारतः पथिकों को सुख मिले, इस ध्येय को दृष्टिगत रखते हुए मार्ग में विश्रान्ति-स्थल का नियोजन करना चाहिए।

इति विश्वकर्मप्रणीते विश्वकर्मवास्तुशास्त्रे मार्गविश्रान्ति-स्थलकल्पनलक्षणकथनं नाम सप्ततितमोऽध्यायः॥ 70॥

इस प्रकार विश्वकर्माप्रणीत विश्वकर्मवास्तुशास्त्र में मार्ग विश्रान्ति स्थल परिकल्पन लक्षण कथन नामक सत्तरवाँ अध्याय पूर्ण हुआ।

अथ विशेषभौमलक्षणकथनं नाम

एकसप्ततितमोऽध्यायः ॥ 71 ॥

अथ विशेषभौमलक्षणकथनात्मकमेकसप्ततितमाध्यायमारभते, तत्राद्यस्य मेरु-भवनस्य लक्षणम् –

विशेषभौमनिर्माणं क्वचित्कार्यं शुभे स्थले।
मेरु-मन्दर-कैलाश-त्रिविष्टप-वनाख्यकम्॥ 1 ॥

(इस इकत्तरवें अध्याय में विशेषभौम के लक्षणों का वर्णन किया जा रहा है) राजधानी जैसे बड़े नगरों में राजाओं के महलों के मध्य भाग में, शुभस्थल पर विशेष-भौम (विशिष्ट भूमिका युक्त गृह) का निर्माण करना चाहिए। इनकी पाँच कोटियाँ कही गई हैं— 1. मेरुभवन, 2. मन्दरभौम, 3. कैलासभौम, 4. त्रिविष्टपभौम और 5. वनभौम।

एकत्र कल्पयेद्वापि स्थलभेदेन वा पुनः।
राज्ञां मङ्गलदायीति कीर्तितं तन्महर्षिभिः॥ 2 ॥

इनको एकत्र रूप में अथवा स्थलभेद के अनुसार भी बनाया जा सकता है। इनसे राजाओं का मंगल, कल्याण होता है, ऐसा इनके लिए महर्षियों ने कहा है।

तस्माच्छुभसमयेषु राज्ञां विशेषतो मङ्गलकारिणीमेतादृशभौमपञ्चक कल्पन-निर्मिति कथं वा कल्पयेदित्याकांक्षायां सङ्ग्रहेण तन्मानादिकमाह—

दक्षिणोत्तरसूत्रान्तं सममानमथापि वा।
योजयेन्मेरुभवनं मानं मध्यस्थकूटके॥ 3 ॥

इनमें प्रथम मेरुभवन की रचना में दक्षिण से उत्तर तक ऋजुतः समसूत्र प्रसारित किया जाता है। इसमें सममान लिया जाता है, विषम मान नहीं। मेरुभवन के मध्यस्थ भाग में कूट या उन्नत भवन बनाए।

चत्वराणाञ्चतुष्कञ्च चतुश्शाला च कोणके।
पञ्चभौमं सप्तभौमं शिखरावलिभासुरम्॥ 4 ॥
मध्ये मेरुसमं कल्पं कारयेन्मेरुहर्म्यके।

इसमें चार चत्वरों, चौकों के कोणों पर चार शालभवनों का निर्माण किया

जाए जो पाँच मंजिलों या सात मंजिलों सहित शिखरावली सहित सुन्दर बनाया जाना चाहिए। इनके मध्य में मेरु के समान निर्मिति बनाकर मेरुभवन बनाना चाहिए।

अथ द्वितीयस्य मन्दरभवनस्य लक्षणम् —

प्राचीसूत्रसमप्रान्ता तस्य मानमिहोदितम्॥ 5॥
भानुसङ्ख्य$_{12}$समाकारप्राच्यादिषु यथाक्रमम्।
चतुर्भागावसाने च चतुश्शाला मनोहराः॥ 6॥

(अब दूसरे मन्दर भवन के लक्षण कहते हैं) पूर्वोक्त कोटि के अन्तर्गत मन्दर भवन के लिए प्राचीसूत्र, समान प्रान्ततः मान का ग्रहण करे। बारह की संख्या में समान आकार वाले पूर्वादि क्रम से (तीन-तीन), चारों ही कोनों पर चतुश्शालाओं की मनोहर रचना की जानी चाहिए।

बृहच्छिखा शिखापालिश्शिखरावलिभासुरः।
मध्ये मन्दरसङ्काशः प्रासादस्सुमनोहरः॥ 7॥
सर्वालङ्कारसंयुक्त मन्दरं भवनं मतम्।

इनको बृहत् शिखा एवं शिखापाली सहित शिखर का सौन्दर्य बढ़ाना चाहिए। इनके मध्य में मन्दर के जैसी प्रतीति देने वाला सुन्दर प्रासाद बनाए जो कि समस्त अलंकरणों सहित होगा। इस प्रकार से बनने वाला मन्दर भवन होता है।

अथ तृतीयस्य कैलासभवनस्य लक्षणम् —

उदक्सूत्रेण संयुक्तं कैलासभवनं मतम्॥ 8॥
दिशास्वष्टस्वष्टशालाकल्पनं मध्यमन्दिरम्।
उपशालाङ्गणैर्युक्तं नवभौमञ्च कल्पयेत्॥ 9॥

(अब तीसरे कैलाश भवन के लक्षण कहे जाते हैं) कैलास भवन उत्तरसूत्र से युक्त कहा गया है अर्थात् यह उत्तर की ओर सीध में कल्पित होता है। इसके लिए आठों ही दिशाओं (पूर्व, आग्नेय, दक्षिण, नैर्ऋत्य, पश्चिम, वायव्य, उत्तर और ईशान) में अष्टशालाएँ बनवाए और मध्य में प्रासाद को बनाया जाए। इसको उपशाला, आँगन सहित एवं नौ तल तक बनाना चाहिए।

चतुर्द्वारसमेतं वा प्रासादतलपङ्क्तिकम्।
मध्यचत्वरयुक्तं वा दण्डपञ्चकमानितम्॥ 10॥

महातलाङ्गणोपेतं क्रमान्न्यूनप्रमाणकम्।

इसको चार द्वारों से संयोजित करें और प्रासाद तल पंक्तियों वाला बनाए। इसके मध्य में चत्वर, चौक की रचना हो। पाँच दण्ड प्रमाण का महातल, आँगन हो सकता है और यह किंचित् न्यून प्रमाण का भी हो सकता है।

पूर्वशालाकल्पनं वा पूर्वमण्डपकल्पनम्॥ 11॥
भित्त्यन्तवेदिकोपेतं कल्पयेत्सुमनोहरम्।

इसमें पूर्वशाला को कल्पित किया जाए, कदाचित पूर्वमण्डप भी बनाया जा सकता है। भित्तिका के अन्त में वेदिका बनाए जो कि बहुत मनोहर होनी चाहिए।

अथ चतुर्थस्य त्रिविष्टपभवनस्य लक्षणम् —

सकण्ठमर्दलाकारं त्रिविष्टपमुदीरितम्॥ 12॥
चतुर्दण्डकशालानां चतुष्केनान्वितं पुरः।

(अब पद्मक, सर्वतोभद्र राजधान्यादि नगरों के लिए उचित चौथे त्रिविष्टप भवन के लक्षण कहे जा रहे हैं, यह पूर्वस्मरित रेखासूत्र से कल्पित होता है) विशेष भौम में त्रिविष्टप भवन को सकण्ठ, मृदङ्ग के आकार का बनाया जाता है। चार राजदण्ड लम्बाई-चौड़ाई की शाला के प्रमाण को लें जो आगे चतुष्क या चौक-चौकड़ी वाली होगी।

पश्चादङ्गणसंयुक्तं तत्पश्चादपि शालकम्॥ 13॥
तन्मानकं हीनकं वा यथायोग्यं प्रयोजयेत्।
मध्यभागे चत्वरं वा नवरङ्गप्रकल्पनम्॥ 14॥

उपर्युक्त चतुष्क के पश्चात आँगन से संयुक्त और उसके बाद शाला सहित होगा। इसका मान मुख्य शाला से हीन होगा या जैसा यथायोग्य लगे, वैसा रखा जा सकता है। इसके मध्यभाग में चत्वर अथवा नवरँग भवन की रचना होती है।

मध्यकल्पो महाकायः पूर्वाङ्गणसमन्वितः।
नवभिस्सौधकैर्युक्तो द्वात्रिंशद्द्वारभासुरः$_{32}$॥ 15॥

इसके अतिरिक्त इसको मध्य से बृहत्काय भी कल्पित किया जा सकता है, आगे के भाग को आँगन वाला भी किया जा सकता है किन्तु यह नौ भवनों सहित बनता है और इसमें कुल बत्तीस सुन्दर द्वारों को परिकल्पित किया जाता है।

मण्टपत्रयसंयुक्तद्वारवेदिप्रकल्पनम्।
सर्वालङ्कारसंयुक्त कल्पयेच्चित्रभासुरम्॥ 16 ॥

त्रिविष्टप भवन के लिए तीन मण्डपों को बनाया जाता है, द्वार एवं वेदी को परिकल्पित किया जाता है और इनको समस्त अलंकरणों से युक्त करने के लिए सुन्दर चित्रावली का उत्कीर्णन किया जाता है।

अथ पञ्चमस्य वनभवनस्य लक्षणम् —

महाङ्गणचतुष्केण चतुर्द्वारेण मण्डितम्।
अन्तस्सालद्वयं वापि सालत्रयमथापि वा॥ 17 ॥

(अब पाँचवें वनभवन के लक्षण कहे जाते हैं) विशेष भौम के अन्तर्गत वनभवन को विशाल आँगनों की चौकड़ियों के साथ ही चार द्वारों से मण्डित किया जाता है। इसमें दो अन्त:पटशालाएँ अथवा तीन पटशालाएँ बनाई जाती हैं।

नानाभवनकोपेतमेक-द्वि-त्रितलान्वितम्।
तदन्तरुन्नतं कल्पं कल्पयेद्रवि$_{12}$भूमिकम्॥ 18 ॥

इस वनभवन नामक विशेष भौम को अनेक भवनों सहित एक, दो, तीन तलों वाला बनाया जा सकता है। ये अन्त में उन्नत होते कल्पि किए जाते हैं। इनको बारह भूमियों तक बनाया जा सकता है।

रवि$_{12}$शालासमोपेतं नानाङ्गणसमुज्ज्वलम्।
नानाभवनसम्भक्तं मध्यभागसभातलम्॥ 19 ॥

इसमें बारह शालगृहों की रचना करते हुए उनके साथ ही साथ अनेक आँगनों को रखा जाता है। इसी विधि से आवश्यक अनेक भवनों को योजित करते हुए मध्य भाग में सभा स्थल का निवेश किया जाता है।

मण्डपाकारमथवा दूरतश्चत्वारावृतम्।
चतुरश्रव्यासयुतवास्तुस्थलसमन्वितम्॥ 20 ॥

इसी प्रकार इस निर्मिति को मण्डपाकार अथवा दूर-दूर तक चौकों से आवृत किया जा सकता है। यह विशिष्ट भवन रचना चौकोर, व्यासयुत वास्तुस्थल वाली कही जाती है।

विशेषभौमनिर्माणे युक्त्यैवं कल्पनं नयेत्।
पूर्वकल्पनसंयुक्तं नवभौममुदीरितम्॥ 21 ॥

उपर्युक्त विशेषभौम के निर्माण में नियमोचित युक्तियों का सदैव ध्यान रखना चाहिए। इनमें पूर्वभवन या पुरोभाग को नौ भूमिका सहित करने की रीति है।

इति विश्वकर्मप्रणीते विश्वकर्मवास्तुशास्त्रे विशेषभौम-लक्षणकथनं नाम एकसप्ततितमोऽध्यायः ॥ 71 ॥

इस प्रकार विश्वकर्माप्रणीत विश्वकर्मवास्तुशास्त्र में विशेष तल लक्षण कथन नामक इकहत्तरवाँ अध्याय पूर्ण हुआ।



अथ देवप्रासादलक्षणकथनं नाम

द्विसप्ततितमोऽध्यायः ॥ 72 ॥

अथास्मिन्द्विसप्ततितमेऽध्याये सर्वेषामपि मानवानां निःश्रेयसादिसकलविध-श्रेयस्सङ्कलनहेतुभूतस्य देवालयस्य लक्षणं तत्कल्पनस्थापनक्रमं च सङ्क्षेपेण प्रतिपादयति —

तैतलायतनं प्रायश्शुभदं सर्वदिङ्मुखम्।
वैष्णवं सर्वतोवक्त्रं शैवं गेहन्तु दक्षिणम्॥ 1 ॥
वैधात्रमन्यदेवानां गेहं सर्वमुखं शुभम्।

(अब बहत्तरवें अध्याय में देववास्तु वर्णन के क्रम में देवालयों के लक्षणों का वर्णन किया जा रहा है) तैतलायतन अर्थात् हरि-हर-ब्रह्मादि देवताओं के आयतन (मन्दिर) जिनमें उनकी प्रतिमाएँ प्रतिष्ठापित की गई हों, वे ग्राम में हो या नगर में, प्रायः सभी दिशाओं में उनका मुख होना शुभ कहा गया है। इनमें वैष्णव मन्दिरों का द्वार सर्वतोमुखी हो सकता है किन्तु शिवालय का द्वार दक्षिणाभिमुख होना चाहिए। विधाता या ब्रह्मालय सहित अन्य सभी देवताओं के मन्दिर सभी दिशाओं में द्वार वाले हों तो भी शुभ होते हैं।

महीधरादिस्थानेषु न पृष्ठस्थापनं शुभम्॥ 2 ॥
वास्तुमानवशात्सर्वं स्थापयेद्दीक्षितो नृपः।

पहाड़ी प्रदेश हों तो उनके पृष्ठतल में अथवा दो पहाड़ियों के मध्य में इन देवालयों की स्थापना शुभ नहीं मानी गई है। राजा को चाहिए कि वह (जिस सम्प्रदाय में दीक्षित हों, उस इष्ट देवता के लिए) देवालय का निर्माण और स्थापना वास्तु के नियमानुसार ही करे।

एवं क्वचिन्महानगरादिषु पृथक्कल्पनस्य देवीसदनस्य पूर्वोक्तस्य देवालयस्य च लक्षणान्तराणि सङ्ग्रहेण निरूपयति —

गोपुरद्वारसंयुक्तं प्राकारवृतवास्तुकम्॥ 3॥
बहिरन्तस्तु वा स्थाप्यस्तटाकस्साङ्गणो मतः।
जलमण्टपयुक्तो वा विमानशिखरोज्ज्वलः॥ 4॥

इन देवालयों के लिए गोपुर सहित द्वारों की रचना करनी चाहिए। मन्दिर को चतुर्दिक परकोटा (एक या दो या अधिक वृत्त) से आवृत्त किया जाना चाहिए। देवालय के बाहर की ओर अथवा परिसर के भीतर तालाब और उसके साथ आँगन को भी नियोजित किया जाना चाहिए। वहाँ जलमण्डप बने हुए हों अथवा उज्ज्वल शिखर वाले विमान होने चाहिए।

बलिपीठसमायुक्तमष्टदेवपदान्वितम्।
ध्वजपीठपुरोभागे पार्श्वयोर्मण्टपा मताः॥ 5॥

वहाँ बलिपीठ या नैवेद्य के लिए पीठिका हों एवं इष्टदेवता के पदचिह्नों वाली पीठिका भी हो। इसी प्रकार वहाँ पर सम्मुख, आगे की ओर ध्वजपीठ हो एवं आजू-बाजू में नाना मण्डप बनाए जाने चाहिए। (ये सोलह, बीस, बत्तीस स्तम्भों वाले हो सकते हैं)।

तत्र देवीनां भवनपरिकल्पननिर्देशमाह—

देवीनां भवनैर्युक्तं भक्तानाञ्च गृहैर्युतम्।
पूर्वमण्टपसंयुक्तगर्भगेहेन भासुरम्॥ 6॥

यदि देवियों के मन्दिर बनाए जाएँ तो वहाँ भक्तों के लिए गृहों का निर्माण किया जाना चाहिए। वे पूर्व मण्डप से युक्त हों और गर्भगृह की रचना बहुत सुन्दर हो।

सर्वत्र समसूत्राणां द्वाराणां स्थापनं मतम्।
कवाटयुग्मकलनं शुभदञ्चात्र कीर्तितम्॥ 7॥

सर्वत्र द्वारों को समसूत्र में ही स्थापित किए जाने चाहिए। देवालयों के लिए किंवाड़ दो पल्ले वाले हो तो शुभप्रद कहे जाते हैं।

तत्र कोणानुसारेण नाना शालाकल्पनाह —

आग्नेय्यां पाकशाला स्यात्कूपचत्वरसंयुता।
नैर्ऋत्यां वाहनस्थानं वायव्यां वस्त्रगेहकम्॥ 8॥
ऐशान्यां धान्यभवनं मध्यस्थाने महागृहम्।
कल्पनं मण्डपानां वा तन्नयेत्सालकक्रमात्॥ 9॥

मन्दिरों के लिए पाकशाला को आग्नेय कोण में बनाए। वहीं पर कूप, चत्वर को भी नियोजित करना चाहिए। नैर्ऋत्य कोण में रथादि वाहनों का स्थान बनाए और वायव्य कोण में अंगवस्त्राभरण के लिए गृह बनाए। इसी प्रकार ईशान कोण में धान्य भवन और मध्य स्थान में महागृह या बड़े आँगन वाला गृह होना चाहिए। इन पर मण्डप की रचना हो और सालक (कक्षादि) नियमानुसार क्रमशः कल्पित किए जाने चाहिए।

हस्तिशाला-वाजिशाला-गोशालाभिस्समन्वितम्।
स्नानालङ्करणस्थानं विहारस्थानकानि च॥ 10॥

इसी प्रकार वहाँ पर गजशाला, अश्वशाला, गोशाला भी बनाई जानी चाहिए। वहाँ स्नान और अलंकरण सहित विहार के लिए स्थान को भी कल्पित किया जाए।

आस्थानमण्टपो वापि चतुःस्तम्भादिभूषितः।
डोलाशयनशाला च गर्भगेहान्तरे मता॥ 11॥

वहाँ आस्थान मण्डप को चार स्तम्भों से युक्त बनाया जा सकता है। इसी तरह डोला-हिण्डोला स्थल एवं शयनशाला गर्भगृहान्तर पर नियोजित करने का विधान है।

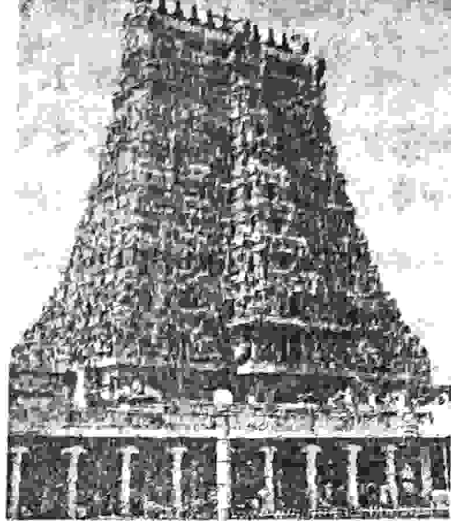
प्रदक्षिणतलसेवाप्राप्तिस्थलानि कल्पनमाह —

प्रदक्षिणतलस्थानं सेवाप्राप्तिस्थलानि च।
सव्ये वा पुरतो भागे वाहनारोहमण्डपः॥ 12॥

देवालयों के लिए प्रदक्षिणा करने के लिए तल स्थान हो, सेवाप्राप्ति का स्थल भी होना चाहिए। दायें बाजू अथवा आगे की ओर रथादि वाहन पर आरूढ़ होने के लिए मण्डप बनाया जाए।

दक्षिणे मित्रभागे वा भूधरे वा पुरःस्थले।
मुखवीथ्यां माठवीथ्यां वाहनारोहणस्थलम्॥ 13॥

मन्दिर के दक्षिण भाग में या वास्तुपदानुसार मित्र या भूधर के पद पर या फिर आगे की ओर मुख्य वीथी, माठ वीथी या मठ मार्ग एवं उनके साथ ही वाहन पर आरोहण का स्थल होने चाहिए।



अन्यदप्याह —

नानाशालासमायुक्तं नानाकल्पनभूषितम्।
नानागोपानसीयुक्तं नानागोपुरकल्पनम्॥ 14॥

इस प्रकार देवालयों को नाना प्रकार की शालाओं से युक्त करना चाहिए, वहाँ निर्माण के लिए विविधानेक परिकल्पनाएँ हों। नाना गोपानसी सहित विविधि गोपुरों की रचना की जानी चाहिए।

सचित्रशिखरै रम्यं दृढकल्पं प्रकल्पयेत्।
न मण्डलस्थानयुतं न न्यूनं नापि चाधिकम्।
दोषहीनं गुणोपेतं कल्पयेच्छिल्पवित्तमः॥ 15॥

इन गोपुरों के शिखरों को नाना मांगलिक मूर्तियों से मण्डित और दृढ़तर कल्पित किया जाना चाहिए। वे मण्डलस्थान वाले नहीं हो और न ही उनमें मान प्रमाण को न्यूनाधिक रखना चाहिए। शिल्पविशारद को देवालयों को सदा ही दोष से रहित और गुणों से युक्त बनाने का प्रयत्न करना चाहिए।

इति विश्वकर्मप्रणीते विश्वकर्मवास्तुशास्त्रे देवप्रासादलक्षणकथनं नाम द्विसप्ततितमोऽध्यायः॥ 72॥

इस प्रकार विश्वकर्माप्रणीत विश्वकर्मवास्तुशास्त्र में देवप्रासाद लक्षण कथन नामक बहत्तरवाँ अध्याय पूर्ण हुआ।

अथ गर्भगृहलक्षणकथनं नाम

त्रिसप्ततितमोऽध्यायः ॥ 73 ॥

अथास्मिंस्त्रिसप्ततितमाध्याये पूर्वाध्यायप्रतिपादितस्य देवालयकल्पनस्यालङ्कार-भूतं गर्भगृहं कुत्र वा स्थले कथं वा स्थाप्यमिति चेत्तल्लक्षणानि विवृणोति —

हरेर्हरस्य धातुर्वा तद्देवीनामनेकधा।
आधारासनसंयुक्तं स्थानं गर्भगृहं मतम्॥ 1 ॥

(पूर्व अध्याय में वर्णित देवालयों के वर्णन के क्रम में इस तिहत्तरवें अध्याय में गर्भगृह के लक्षण कहे जा रहे हैं) किसी भी मन्दिर में विष्णु, शिव एवं ब्रह्मा सहित उनकी देवियों के मूर्तियों के आधार एवं आसन वाले स्थान को गर्भगृह कहा जाता है।

विशेष : प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा के लिए आधार व आसन के साथ ही दक्षिण भारत में मन्दिरों में मूलाधार यन्त्र के रूप में पट्टबीजाक्षरयन्त्र की स्थापना भी की जाती है। उत्तर में भी कहीं-कहीं इस प्रकार की स्थापना देवीमन्दिरों और ग्रहालयों में देखने में आती है।

समनेत्रं समद्वारं द्वारपञ्चकभासुरम्।
द्वारत्रयसमायुक्तं ग्राम्यमाहुर्मनीषिणः ॥ 2 ॥

इसके समनेत्र या एक ही सीध में समानतः द्वार बनाए जाए जो बड़े ही सुन्दर और पाँच की संख्या में हो सकते हैं। गर्भगृह तीन द्वार से भी समायुक्त हो सकते हैं, मनीषियों ने इनको ग्राम्य या ग्राम्य के लिए कहा है।

विशेष : इस प्रकार से पहले परकोटे का द्वार, दूसरे एवं तीसरे परकोटे या मध्य के मण्डप का द्वार, इन तीनों को तिर्यक् सूत्र प्रमाणानुसार समद्वार आलय के मध्य स्थान में स्थापित किया जाता है। इन तीनों द्वारों के साथ ही नागरादि विशाल देवालयों में दो द्वार बनाकर कुल पाँच द्वार होते हैं।

द्वारपालान्वितं तस्य पार्श्वस्थानं प्रकल्पयेत्।
दण्डद्वयव्यासमानमथवा हीनमानकम्॥ 3 ॥

इन द्वारों (में से प्रथम द्वार) पर द्वारपालों के स्वरूप को वाम एवं दक्षिण बाजू

अर्थात् दोनों ही पार्श्व में शाखों पर बनाए। इन द्वारों की ऊँचाई दो राजदण्ड व्यासमान से रखी जाए अथवा इससे कुछ कम प्रमाण की हो सकती है।

किञ्च गर्भगेहस्यास्य वैशाल्यन्तु दण्डप्रमाणमाह —

तन्मानद्विगुणं वापि तन्मानत्रिगुणं तु वा।
गर्भगेहस्य दैर्घ्यन्तु कल्पयेच्छिल्पवित्तमः ॥ 4 ॥

शिल्प विद्या विशारद को उपर्युक्त मान प्रमाण से दोगुनी या फिर तिगुनी तक गर्भगृह की लम्बाई (दैर्घ्य) कल्पित करनी चाहिए।

अन्तःप्रदक्षिणोपेतमथवा तेन हीनकम्।
पार्श्वयोर्वा पृष्ठभागे गोमुखस्थानकं मतम् ॥ 5 ॥

गर्भगृह को अन्तःप्रदक्षिणा सहित बनाया जाए। इसे प्रदक्षिणपथ विहीन भी बनाया जा सकता है। इनके पार्श्व में या पृष्ठभाग में गोमुख स्थान या प्रणाल बनाया जाना चाहिए।

तत्र कुड्योत्सेधप्रमाणमाह —

द्विदण्डं वा त्रिदण्डं वा कुड्योत्सेधमथाधिकम्।
द्वारान्तरे वेदिका वा क्षुद्रदेहल्पथापि वा ॥ 6 ॥

इसके लिए दो राजदण्ड अथवा तीन राजदण्ड के प्रमाण से भित्तिका की ऊँचाई रखनी चाहिए। यह प्रमाण इससे अधिक भी हो सकता है। द्वारान्तर पर वेदिका या लघु देहली पथ भी बनाना चाहिए।

इत्यमनन्तराधिष्ठानादीनां कल्पनमाह —

नानापौषसमायुक्ता मुखतोरणमण्डिता।
देवस्थानं वेदिकाढ्यं तदधिष्ठानकं मतम् ॥ 7 ॥

इनको तरह-तरह के पौष नामक दीपस्थानों युक्त मुख तोरण सहित बनाए अर्थात् आगे के भाग के तोरण से गर्भगृह सज्जित हो। देवस्थान पर जो वेदिका निर्मित की जाती है, उसे अधिष्ठान भी कहा जाता है।

तस्मात्त्रिप्रक्रमेणात्र पूर्वभागः प्रकीर्तितः।
प्रतिद्वारतलं द्वारपालस्थानमथापि वा ॥ 8 ॥
अन्तर्निम्नं बहिःपृष्ठे कूर्माकारमथापि वा।
नानाधिष्ठानोपपीठसंयुतं मूलभूमिकम् ॥ 9 ॥

इसके निम्नक्रम में गर्भगृह का पूर्वभाग हो अर्थात् इसके आगे के भाग को ढालू बनाया जाए और प्रत्येक द्वार तल भाग पर द्वारपाल का स्थान हो। इसके अतिरिक्त बाहर का पृष्ठभाग अन्तर्निम्न हो या कूर्माकार की तरह भी उभरा हुआ रखा जा सकता है। इस प्रकार से मूल भूमि को नाना देव अधिष्ठान, पीठयुक्त करे।

अथ गर्भन्यास निर्देशमाह —

गर्भन्यासेन संयुक्तं यन्त्रपट्टेन चान्वितम्।
सर्वेषामापि देवानां देवीनामेवमाचरेत्॥ 10॥

यह ज्ञातव्य है कि गर्भगृह गर्भन्यास से सम्बद्ध यन्त्रपट्टों से युक्त समस्त देवी-देवताओं के लिए बनाए जाने चाहिए।

नानाङ्गणविभक्ताङ्गबहिरङ्गणकल्पितम्।
तत्र स्थाप्यं शुभे काले देवानां बेरजालकम्॥ 11॥

इनके लिए नाना आँगन विभागों और बाहरी आँगन कल्पित किए जाने चाहिए। शुभकाल को देखकर वहाँ (निर्धारित भागानुसम्मत) देवी-देवताओं के बेरों (मूर्तियों) का समूह मंगलवादन के बीच स्थापित किया जाना चाहिए।

तत्र बेराणां नयनोन्मीलनकार्यमाह —

नयनोन्मीलनं प्रायश्चात्र कार्यमुदाहृतम्।
कर्पूरचन्दनरसैः सेचयेद्वासयेदपि॥ 12॥

स्थापना के साथ ही शुभकाल देखकर इन प्रतिमाओं का नयनोन्मीलन[1] संस्कार कार्य (नयन मोक्षण या आँखें खोलना) किया जाना चाहिए। इसके लिए कर्पूर, चन्दन से मिश्रण से उनका अभिषिंचन करते हुए सुगन्धित आलेपन करना चाहिए।

---

१. मानसार में देवताओं, देवियों व भक्तों के नयनोन्मीलन या नेत्रमोक्षण का वर्णन पूरे 58 श्लोकों में हुआ है। नयन तराशने का अर्थ नयन को दृष्टि देकर अन्धकार का विनाश करना है। जैसे सूर्योदय होने से सर्वत्र प्रकाश प्रसारित हो जाता है, वैसे ही नेत्र के उदित होने का आशय समझना चाहिए। यदि नेत्र नहीं खोले गए तो आन्तरिक व बाह्य ज्योति एवं अर्थनाश में संशय नहीं है, इसलिए नयनोन्मीलन कार्य आवश्यक कहा जाता है— किं सृजेन्नयनोन्मेषमन्धकारानुपत्तये। उदिते तु सहस्रांशौ यथा गच्छति समन्ततः॥ तथैवमस्तमानादि लोचनस्य जनस्य च। अन्तर्बहिश्च रागस्तु चार्थनाशं न संशयः॥ अकृत्वा नयनोन्मोक्षं चक्षु रोगो भवेद् ध्रुवम्। तस्मात्तु नयनोन्मोक्षलक्षणं वक्ष्यतेऽधुना॥ (मानसारम् 70, 4-6)

गर्भगेहस्य भागनामानि —

दैवब्राह्मविभेदेन तत्स्थानं द्विविधं मतम्।
तत्र पूर्वस्थले भद्रमण्टपं कारयेन्नृपः ॥ 13 ॥
तत्पूर्वमण्टपं वापि प्रभाष्टमुखकेलिकम्।

गर्भगृह के 1. दैव एवं 2. ब्राह्म भेद से दो प्रकार के भागस्थान बताए गए हैं (गर्भगृह का पूर्वभाग ब्रह्मभाग होता है और देववेदिका या स्थापन का स्थल दैवस्थान कहा जाता है) इनके पूर्वस्थल या आगे के भाग में राजा को भद्रमण्डल बनवाना चाहिए। वहाँ पर पूर्व मण्डप या प्रभाष्टमुखकेलिक बनाए।

एवमत्र स्थापितां भद्रमण्डपतत्पूर्णमण्डपकल्पनानां लक्षणान्याह—

चतुःस्तम्भसमेतं वा स्तम्भाष्टकसमुज्ज्वलम् ॥ 14 ॥
षोडशस्तम्भयुक्तं वा महती शालका मता।
चित्रस्तम्भसमोपेता वलभीतोरणोज्ज्वला ॥ 15 ॥

उक्त ग्रामकृत गर्भगृह के मण्डप को चार स्तम्भों से युक्त बनाए अथवा आठ उज्ज्वल स्तम्भों वाला बनाए। इसे सोलह स्तम्भों से युक्त भी बनाया जा सकता है या फिर वहाँ महाशाला बनाया जाना भी विविध सम्मत है। इसमें अनेक स्तम्भ होंगे जो जिनको चित्रित करना चाहिए और वलभी एवं तोरण को सौन्दर्ययुक्त करे।

गर्भगेहमुखद्वारयुक्तकल्पनमुत्तमम्।
जङ्गमास्थानवाहादिमण्टपादीन्प्रकल्पयेत् ॥ 16 ॥
संयुक्ता वा वियुक्ता वा द्वारान्ते स्तम्भपार्श्वका।

गर्भगृह को मुखद्वार युक्त बनाया जाना उत्तम होता है। उसमें जंगम प्रतिमाओं (संक्रान्ति आदि के अवसर पर सारदारु से निर्मित जो प्रतिमाएँ स्थापित की जाती है) और उनके उत्सवादि के लिए आरोहणार्थ वाहनादि के लिए मण्डपादि की रचना भी की जानी चाहिए। उक्त मण्डप जुड़वाँ भी हो सकते हैं और अलग-अलग भी किन्तु इनको द्वार के अन्त एवं स्तम्भों के बाजू में इनको बनाया जा सकता है।

किञ्चास्मिन्पूर्वमण्डपादिस्थाने क्वचिल्लोहकृतदीपदेवीस्थापनमाह —

दीपदेव्यस्स्थापनीया नानालङ्कारभूषिताः ॥ 17 ॥
अथवा दीपकीलादींस्तोरणे विन्यसेत्क्रमात्।

स्तम्भपञ्जरयुक्तं वा क्षुद्रद्वारयुतं क्वचित् ॥ 18 ॥

वहाँ पर दीप देवियों का स्वरूप स्थापित किया जाए जो कि नाना अलंकारों से विभूषित हो। इनके अतिरिक्त वहाँ दीप-पात्र शृंखलाओं सहित तोरणों का सव्यादि क्रम से विन्यास किया जाना चाहिए। इनको कहीं स्तम्भों के साथ तो कहीं पंजरों के साथ बनाए। कहीं पर लघुद्वार के साथ भी संयोजित किया जा सकता है।

विशेष : आशय यह है कि देवालयों के गर्भगृह को प्रकाशित करने के लिए दीपस्तम्भ, दीपदण्ड, दीपतोरण, दीपमालिका, दीपकीलादि की स्थापना की जानी चाहिए। ऐसा भगवत्कृपावर्धक माना जाता है।

अन्यदप्याह —

दण्डं यवनिकाक्रान्तं डोलास्थानञ्च कल्पयेत्।
मुखवेदीसमायुक्तं नैवेद्यासनसंयुतम्।
युक्त्या प्रकल्पयेद्गर्भगेहमेवं प्रमाणवित् ॥ 19 ॥

गर्भगृह में अलंकरण मण्डप के साथ ही यवनिका-दण्ड (परदे लगाने की खूँटियाँ), हिण्डोलना, झूला, सुखपाल आदि का स्थान भी परिकल्पित किया जाना चाहिए। मुखवेदी सहित वहाँ नैवेद्य निवेदित करने के लिए उचित आसन का नियोजन भी हो। इस प्रकार उचित युक्तियों के साथ शिल्पप्रमाणों को देवालयों के लिए गर्भगृह की रचना की जानी चाहिए।

इति विश्वकर्मप्रणीते विश्वकर्मवास्तुशास्त्रे गर्भगृहलक्षणकथनं नाम त्रिसप्ततितमोऽध्यायः ॥ 73 ॥

इस प्रकार विश्वकर्माप्रणीत विश्वकर्मवास्तुशास्त्र में गर्भगृह लक्षण कथन नामक तिहत्तरवाँ अध्याय पूर्ण हुआ।



अथ शतस्तम्भमण्डपलक्षणकथनं नाम

चतुःसप्ततितमोऽध्यायः ॥ 74 ॥

अथास्मिन् चतुस्सप्ततितमेऽध्याये महावैशाल्यवति देवालये तदधिनेतुवार्षिक महोत्सवादिनिर्वर्तनाय कल्पनस्य शतस्तम्भमण्डपस्य निर्माणस्य लक्षणं प्रसङ्गान्मण्डपान्तराणां लक्षणञ्च प्रतिपादयति —

निर्माणं मण्डपानान्तु बहुरूपं स्थलार्हकम्।
कारयेन्मानविच्छिल्पी देवागारे विशेषतः ॥ 1 ॥

(इस अध्याय में बड़े देवालयों में वार्षिक महोत्सवों के सम्पादन आदि के लिए निर्माण योग्य मण्डपों के लक्षणादि का प्रतिपादन किया जा रहा है) वास्तु के लिए उपलब्ध स्थल के अनुसार कई प्रकार के मण्डपों का निर्माण होता है। प्रमाणविद् शिल्पी को देवालयों में ऐसे मण्डपों का विशेष रूप से निर्माण करना चाहिए।

तस्माद्देवालयप्रमाणनिर्माणादिस्थानेष्ववश्यं कल्पनीयानां तेषां मण्डपानां कानिचिन्नामान्याह —

अभिषेकाय देवानामलङ्काराय च क्वचित्।
जननार्थं क्वचिद्देव्या विवाहाय क्वचिन्मतम् ॥ 2 ॥
भट्टारकनृपानुज्ञाचोदितो मानभेदवित्।
देवानामपि देवीनां नित्यनैमित्तिकोत्सवाः ॥ 3 ॥

देवालयों के सन्दर्भ में ये मण्डप देवताओं के अभिषेक, उनके अलंकरण, प्राकट्य अथवा किसी देवी के विवाह में पूजा के निमित्त भी परिकल्पित किए जाते हैं। अतएव राजा की आज्ञानुसार सर्वमानविद् भट्टारक पुरोहित को देवताओं और देवियों के लिए 1. नित्योत्सव और 2. नैमित्तिकोत्सवों के लिए मण्डपों का नियोजन करे।

विशेष : ग्रन्थ के टीकाकार ने इस निर्देश के विश्लेषण में निम्न चौबीस प्रकार के मण्डपों का नामोल्लेख किया है— 1. अभिषेक मण्डप, 2. अलंकार मण्डप, 3. याग मण्डप, 4. विवाह मण्डप, 5. आस्थान मण्डप, 6. वसन्त मण्डप, 7. ग्रीष्म मण्डप, 8. वार्षिक मण्डप, 9. कार्तिक मण्डप, 10. विहार मण्डप, 11. जप

मण्डप, 12. अध्ययन मण्डप, 13. वाहन मण्डप, 14. प्रणयकलह मण्डप, 15. प्लवोत्सव मण्डप, 16. दमनिकोत्सव मण्डप, 17. डोला मण्डप, 18. शयन मण्डप, 19. मासोत्सव मण्डप, 20. पक्षोत्सव मण्डप, 21. संवत्सरोत्सव मण्डप, 22. नित्योत्सव मण्डप, 23. नैमित्तिकोत्सव मण्डप एवं 24. आखेट मण्डप।

तदर्थे निर्देशवाक्यानि —

यथा सुलभसाध्यास्स्युस्तथा मण्डपकल्पनम्।
कारयेन्मतिमान्युक्त्या सर्वं तत्स्थलयोग्यकम्॥ 4॥

उपर्युक्त मण्डपों के लिए जब और जो भी सुलभ साधन हो, उसी के अनुसार मण्डप को परिकल्पित करे और उपलब्ध (देवालय परिसर के प्राकार, बहिर्प्रदेश, निकटवीथी, माठवीथी, स्थलान्तर की भूमि आदि) स्थानादि पर विचार करते हुए यथेष्ट युक्ति से उनकी रचना करनी चाहिए।

अधुना स्थलविभवानुगुणं कल्पनीयानामेतेषां मण्डपानां स्तम्भयोजनक्रमाह —

चतुःपादयुतं$_{4}$ वापि क्वचिदष्ट$_{8}$पदान्वितम्।
दशपादयुतं$_{10}$ वापि द्वादशाङ्घ्रि$_{12}$समन्वितम्॥ 5॥
षोडशस्तम्भयुक्तं$_{16}$ वा स्तम्भविंशति$_{20}$संयुतम्।
चतुर्विंशति$_{24}$पादाढ्यमष्टाविंशति$_{28}$पादकम्॥ 6॥
द्वात्रिंशत्स्तम्भयुक्तं$_{32}$ वा चत्वारिंशत्पदं$_{40}$ तथा।
पञ्चाशत्स्तम्भसंयुक्तं$_{50}$ द्विपञ्चाशत्पदं$_{52}$ क्वचित्॥ 7॥
चतुष्षष्टि$_{64}$पदोपेतमशीति$_{80}$स्तम्भभासुरम्।
शतस्तम्भयुतं$_{100}$ वापि मण्डपं बहुरूपकम्॥ 8॥

देवालयों में स्थल और अपने सम्पत्ति सामर्थ्य के अनुसार चार स्तम्भों वाला मण्डप या आठ स्तम्भों वाला अथवा दस या फिर बारह स्तम्भों वाला मण्डप बनाए। इसी प्रकार सोलह स्तम्भों वाला, बीस, चौबीस या अट्ठाईस स्तम्भों वाला मण्डप बनाए। बत्तीस स्तम्भों वाला, चालीस, पचास या बावन स्तम्भों वाला मण्डप बनाए। यथाशक्ति चौंसठ, अस्सी अथवा सौ स्तम्भों वाला मण्डप भी बहुत रूपों से बनाया जा सकता है।

तदर्थे नानारचनाञ्च स्थानानुरूपेणस्थापननिर्देशमाह —

स्तम्भस्थापनकार्यार्हपूर्वाङ्गणसमन्वितम्।

शिलाभिरेव देवानां यतीनाञ्च मठक्रिया॥ 9॥

लोहैर्द्रव्यान्तरैर्भूपमण्डपं स्थापयेत्क्रमात्।

यह ज्ञातव्य है कि स्तम्भों की स्थापना के कार्य के लिए उनके आगे के भाग में आँगन योजित होना चाहिए। यदि देवालयों, यतियों के आश्रमों और मठों का प्रयोजन हो तो पाषाण के स्तम्भ लगवाने चाहिए। लोहादि धातु-द्रव्यों का प्रयोग राजाओं के लिए स्थापित मण्डपों में किया जाए।

जपमण्डपकं वाऽपि वेदाध्ययनमण्डपम्॥ 10॥

अधिष्ठानयुतं प्रायश्चिरकालाय कल्पते।

सोपपीठस्तम्भपालिं चित्रालङ्करणान्वितम्॥ 11॥

इसके अतिरिक्त जपमण्डप अथवा वेदाध्यापन मण्डप के निर्माण का प्रयोजन हो तो उनके चिरकाल स्थायित्व के लिए अधिष्ठान की रचना करनी चाहिए। इसी प्रकार उनको उपपीठ, स्तम्भपाली सहित बनाएँ और चित्र सहित अलंकरणों से युक्त करे।

विशेष : ऐसी मान्यता है कि न्यायशाला, गजशाला, अश्वशाला, वैद्यशाला आदि के लिए प्रस्तर स्तम्भों का प्रयोग किया जाना चाहिए किन्तु क्षत्रियों व अन्यों के विहार के लिए ये उचित नहीं हैं। उनके लिए विहार मण्डपों को लोहकृत स्तम्भों या खोखले स्तम्भों या फिर चन्दन, तेन्दू आदि वृक्षों के खण्डों से बनाना चाहिए।

तत्र चान्य कल्पनञ्च करणीयमाह —

मुखाङ्गणसमोपेतं पार्श्वाङ्गणसमन्वितम्।

चतुरङ्गणयुक्तं वा सवारं वा विवारकम्॥ 12॥

इन मण्डपों के मुख या आगे एवं बाजू के भाग में आँगन की रचना की जानी चाहिए। उनको चतुर्दिक आँगन सहित भी बनाया जा सकता है अर्थात् उनके चारों ही ओर का परिसर खुला रखा जा सकता है। ये आवरण सहित और आवरण रहित भी बनाए जा सकते हैं।

समरेखादृष्टिहीनं समोत्तुङ्गविशालकम्।

वाजिवक्त्रेण संयुक्तं गजवक्त्रान्वितं क्वचित्॥ 13॥

यालीमुखसमोपेतं पार्श्वचक्रसमन्वितम्।

इसी प्रकार इन मण्डपों में स्तम्भों को समरेखीय संयोजित करते हुए तिर्यक् प्रसार जैसे दृष्टिदोषादि से रहित रखे और उनमें समान रूप से ऊँचाई और व विशालता वाले स्तरों पर अश्वमुखों का उत्कीर्णन करे या गजमुखों की रचना करे। उन्हें यालीरूप तक्षण (सिंह से कहीं अधिक बलवान गजरिपु) और पार्श्व में चक्रादि की रचना की सुन्दरता से युक्त करे[1]।

मण्डपानां सोपानस्थापनमाह —

सोपानसंयुतं वापि कल्पयेत्सुमनोहरम् ॥ 14 ॥

इन मण्डपों को सीढ़ियों से युक्त करें (मण्डप में सीढ़ियाँ पूर्वभाग या पार्श्वभाग या फिर सर्वदिशीय सोपान बनाए जा सकते हैं)। इस प्रकार से उनको नानाविध सुन्दर बनाना चाहिए।

मुखप्रस्तरयुक्तं वा ऊर्ध्वप्रस्तरणान्वितम्।
वलभीकल्पनं चोर्ध्वे वरणञ्च यथाक्रमम् ॥ 15 ॥

उनके आगे की ओर पत्थरों का प्रयोग करे और ऊर्ध्वभाग में भी प्रस्तर का प्रयोग करते हुए वलभी और उस पर वरण को यथाक्रम (चूना, वज्रलेप का प्रयोग करते हुए) संयोजित किया जाना चाहिए।

तत्र तत्जातिद्रव्यैरेव कार्यमाह —

एकद्रव्यसमायुक्तं विमानशिखरोज्ज्वलम्।
भित्तिकोष्ठसमायुक्तं कर्णनासादिमण्डितम् ॥ 16 ॥
युक्त्या कल्पान्तरयुतं स्थापयेन्मण्डपं दृढम्।
शङ्करस्य हरेर्वापि धातुर्देवीगणस्य च ॥ 17 ॥

यह नियम सर्वदा ज्ञातव्य है कि मण्डपों का निर्माण एक ही द्रव्य से किया जाना चाहिए। (यदि पाषाण का प्रयोग करना हो तो पूरा मण्डप पाषाण से ही बनाए, धातु से बनाना हो तो पूरा ही धातु से बनाए और काष्ठ से बनाना हो तो पूरी रचना काष्ठ से ही करे)। इन पर विमानवत् उज्ज्वल शिखर कल्पित करे। इसके साथ ही भित्ति, कोष्ठक, कर्णनासादि भी कल्पित करे। इन सभी रचनाओं में उचित युक्ति का प्रयोग करते हुए मण्डप को दृढ़तर बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। इस

---

१. विशेष द्रष्टव्य—सिंहादप्याधिकबलाढ्यो गजरिपुः कश्चिन्मृगविशेषो यालीति नामान्तरभाक्प्रसिद्धः। (विश्वकर्मा वास्तुशास्त्रम् 84, 15)

प्रकार के लक्षणान्वित मण्डप भगवान् शिव के लिए, विष्णु या विधाता और देवियों के लिए बनते हैं।

तस्मादस्य शतस्तम्भमण्डपस्य वार्षिकोत्सवसेवनाद्युचितस्य लक्षणमाह —

क्वचिन्मण्डपकल्पस्तु शतस्तम्भसमन्वितः।
स्थाप्यः पञ्चविधो युक्त्या पूर्वाङ्गणयुतोऽपि वा॥ 18॥

(उक्त वर्णन के साथ ही यह सदैव ज्ञातव्य है कि वार्षिकोत्सवादि के लिए) कोई-कोई मण्डप सम्पूर्णतः सौ स्तम्भों से युक्त बनाए जाते हैं। युक्तितः इनको पाँच प्रकार से बनाया जाता हैं और इनके पूर्व में आँगन को रखा जाता है।

अथ शतस्तम्भमण्डपनिर्माणस्याद्यस्य सूर्यकान्ताख्यस्य लक्षणमाह —

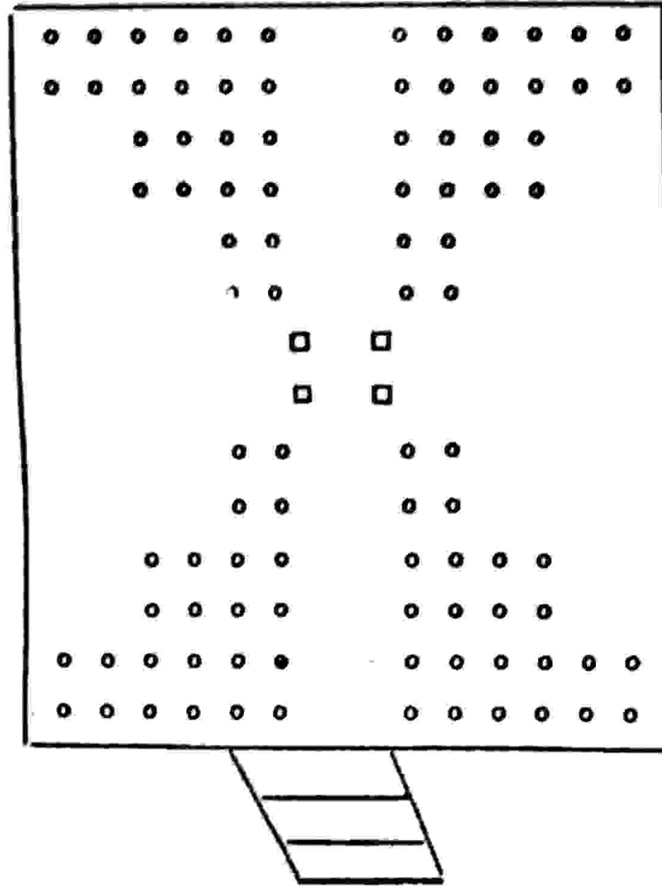
आद्यस्तु सूर्यकान्तस्यात्सूर्यसङ्ख्यापदावलिः$_{12}$।
रेखाद्वयं पूर्वभागे तथा पश्चिमभागिके॥ 19॥
तन्मध्ये षोडशपदं सव्ये सव्येतरेऽपि च।
तन्मध्यस्थानभागे च षोडशस्तम्भकल्पनम्॥ 20॥

(सौ स्तम्भों वाले पाँच प्रकार के मण्डप में पहले सूर्यकान्त नामक मण्डप का वर्णन किया जा रहा है) सूर्यकान्त नामक पहले मण्डप में बारह-बारह की संख्या में स्तम्भों का नियोजन होता है। इनका नियोजन इस प्रकार से होता है कि दो रेखा आगे के भाग में और दो रेखा पीछे के भाग में होती है। उनके बीच सोलह स्तम्भों का दायें और बायें और उसके मध्य में भी सोलह स्तम्भों का निवेश होता है।

तदन्तस्तु चतुष्पादस्थानं तद्दैवतं मतम्।
सर्वत्र देवभागस्तु तुङ्गो वाऽधिष्ठितोऽपि वा॥ 21॥
अयुग्मपङ्क्तिसंयुक्तो नानाचित्रमनोहरः।

इनके अन्त में चार स्तम्भ उक्त देवता के माने गए हैं। इसमें सर्वत्र देवभाग के स्तम्भों को ऊँचा बनाया जाना चाहिए अथवा अधिष्ठान वाले भी बनाए जा सकते हैं। इनको अयुग्मपंक्ति अर्थात् विषमतः लगाए और स्तम्भों को नाना चित्र रचनावलियों से युक्त करे।

सूर्यकान्तशतस्तम्भमण्डपः॥

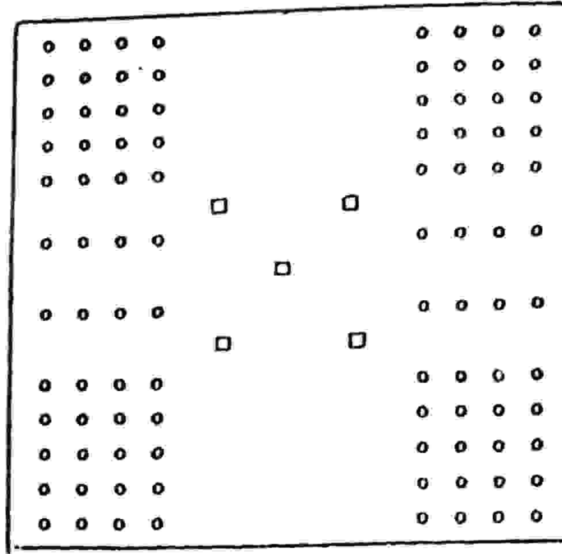


अथ चन्द्रकान्तशतस्तम्भमण्डपलक्षणम् —

द्वितीयश्चन्द्रकान्तस्स्यात्सव्यसव्येतरात्मकम्॥ 22 ॥
भागं विभज्य वेदेन षण्णवत्यङ्घ्रिकल्पनम्।
मध्ये वेदपदस्थानं तद्दैवतमुदीरितम्॥ 23 ॥

पूर्वोक्त पाँच प्रकार के शतस्तम्भीय मण्डप में दूसरे चन्द्रकान्त मण्डप को बायें व दायें भागों में विभाजित कर चार या छह स्तम्भों का न्यास करे। इसके मध्य में चार स्तम्भ उक्त देवता के नाम पर कल्पित किए जाते हैं।

चन्द्रकान्तशतस्तम्भमण्डपः॥

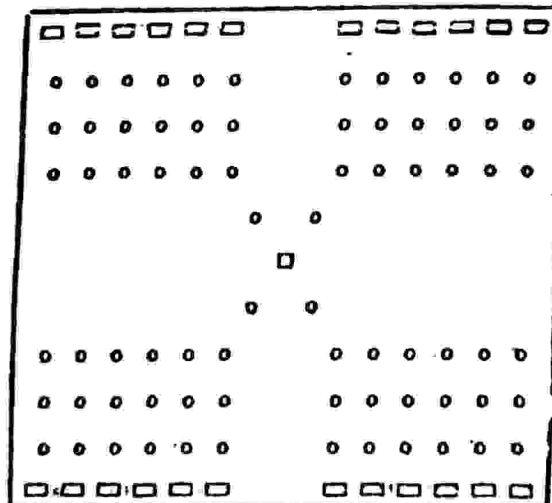


अथ इन्द्रकान्तशतस्तम्भमण्डपलक्षणम् —

तृतीयश्चेन्द्रकान्तस्स्यात्पार्श्वेष्षट्प्रमाणकम्।
स्तम्भकल्पनमत्रोक्तं वसुपङ्क्तीः प्रकल्पयेत्॥ 24॥
मध्ये वेदपदस्थानं तद्दैवतमुदीरितम्।

शतस्तम्भीय मण्डप में तीसरे प्रकार इन्द्रकान्त मण्डप के लिए पार्श्व भाग में छह स्तम्भों का निवेश किया जाता है। इनको आठ पंक्तियों की रचना के रूप में स्थापित किया जाता है। मध्य में उक्त देवता के पद के रूप में चार स्तम्भों का न्यास होता है।

३. इन्द्रकान्तशतस्तम्भमण्डपः॥



अथ गन्धर्वकान्तशतस्तम्भमण्डपलक्षणम् —

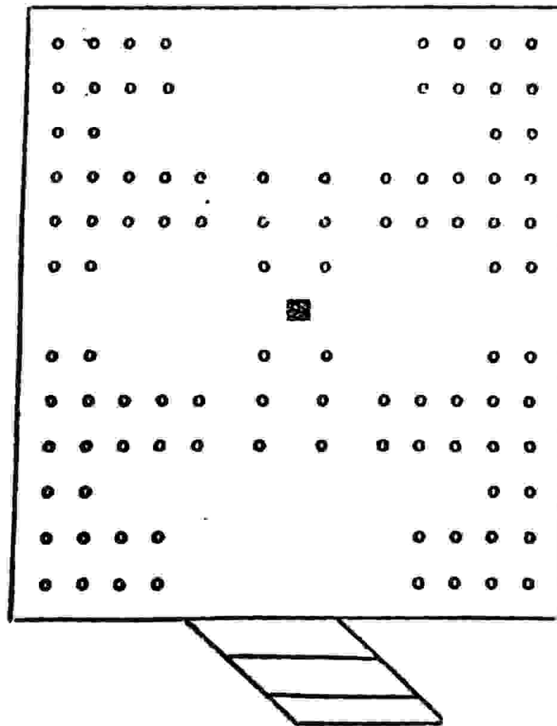
चतुर्थो गन्धर्वकान्तश्चतुष्कोणे चतुःक्रमम् ॥ 25 ॥
स्तम्भषोडशकं स्थाप्यं तदन्तश्च यथामतम् ।

चौथे गन्धर्वकान्त संज्ञक शतस्तम्भीय मण्डप के चारों ही कोनों पर चार-चार के क्रम से (आगे-पीछे चार-चार के क्रम से कुल आठ) स्तम्भ होते हैं। इसके बाद यथामत सोलह स्तम्भ स्थापित होते हैं।

पूर्वपृष्ठपदोपेतनागपादप्रकल्पनम् ॥ 26 ॥
तत्सङ्ख्याकं तदन्तश्च चतुःपङ्क्तिक्रमात्पदम् ।
तदन्तर्वेदपादन्तु दैवस्थानमुदाहृतम् ॥ 27 ॥

पूर्वपृष्ठ पद के अनुसार नाग या आठ स्तम्भ कल्पित होते हैं। इस संख्या के बाद, अन्त में चार पंक्तियों के क्रम में स्तम्भ स्थापित होंगे और इसके अन्दर की ओर चार स्तम्भ होंगे जिसे देव स्थान कहा गया है।

४. गन्धर्वकान्तशतस्तम्भमण्डपः॥



अथ ब्रह्मकान्तशतस्तम्भमण्डपलक्षणम् —

पञ्चमो ब्रह्मकान्तस्यान्मुखपादेऽष्टपादकम् ।
पृष्ठे च तत्क्रमात्स्तम्भस्थापनं चात्र गण्यते ॥ 28 ॥

उक्त शतस्तम्भीय मण्डपों के अन्तर्गत पाँचवाँ ब्रह्मकान्त मण्डप होता है। इसके मुख या आगे के भाग में आठ स्तम्भ नियोजित होते हैं और उसके पीछे भी इसी क्रम से स्तम्भों की स्थापना की जाती है।

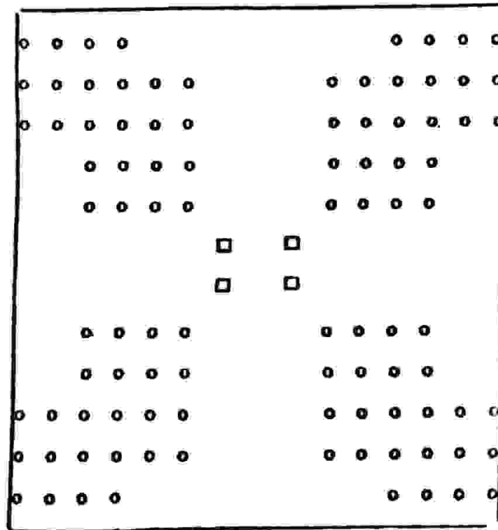
तदङ्गणस्थापनमाहुश्शिल्पशास्त्रविशारदाः।
ततष्षट्स्तम्भविन्यासद्वयं स्थाप्यन्तु पार्श्वयोः ॥ 29 ॥

इस मण्डप में आँगणों का स्थान भी पण्डितों द्वारा कहा गया है। इसमें पार्श्व में छह-छह स्तम्भ के दो विन्यास क्रम होंगे।

पृष्ठे चैवं स्थापनीयं मध्ये द्वात्रिंश$_{32}$दङ्घ्रिकम्।
तन्मध्ये वेदपादन्तु तद्दैवतमुदाहृतम् ॥ 30 ॥

इसी प्रकार पीछे की ओर भी स्थापित करें और मध्य में बत्तीस स्तम्भ निवेशित करे। इनके मध्य के क्षेत्र में देवपदानुसार चार स्तम्भों का नियोजन होता है।

५. ब्रह्मकान्तशतस्तम्भमण्डपः॥



एवं स्तम्भानां मिथो वर्धनादिहीनं नानाविधवितानतोरणचित्राद्यलंकृतं मण्डप-निर्माणं स्थापयेत् —

अन्त्यकल्पनेतत्तु विषमस्थानकं मतम्।
आद्यं समं कल्पमाहुश्शास्त्रज्ञा वेदपारगाः ॥ 31 ॥

इन मण्डपों के सन्दर्भ में शास्त्रविदों और वेदवेत्ताओं ने अन्त की रचना में विषम स्थानक स्तम्भों की स्थापना के लिए कहा है जबकि प्रारम्भिक रचना सम

स्थानक स्तम्भ वाली होती है।

समरेखा दृष्टिहीनं मनोहारिप्रकल्पनम्।
स्तम्भानां मुखभागेषु पूर्वोत्तरपदस्थली।। 32 ।।

ये समरेखीय हों, दृष्टिदोषादि से रहित और बहुत सुन्दर ढँग से कल्पित किए जाने चाहिए। स्तम्भों के मुखभाग या आगे के भाग में पूर्वोत्तर के स्तम्भों की स्थली हो।

यथाविभवतः स्थाप्या नानालङ्कारमण्डिता।
स्थापनीया विशेषेण देवानां प्रीतिदायिनी ।। 33 ।।

जैसा सम्पदा-सामर्थ्य हो, उतना ही इन मण्डपों में विविधानेक अलंकरण करते हुए विशेष रूप से देवताओं की प्रीति के निमित्त स्थापित किया जाना चाहिए।

इति विश्वकर्मप्रणीते विश्वकर्मवास्तुशास्त्रे शतस्तम्भमण्डपलक्षणकथनं नाम चतुस्सप्ततितमोऽध्यायः ।। 74 ।।

इस प्रकार विश्वकर्माप्रणीत विश्वकर्मवास्तुशास्त्र में शतस्तम्भ मण्डप लक्षण कथन नामक चौहत्तरवाँ अध्याय पूर्ण हुआ।



अथ विमानलक्षणकथनं नाम

पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः ।। 75 ।।

अथास्मिन् पञ्चसप्ततितमेऽध्याये नानाविमानलक्षणं प्रतिपादयति —

सर्वेषामपि देवानां देवीनामपि सेविनाम्।
गर्भगेहस्य मौलौ यत्कल्पनं रक्षणार्थकम् ।। 1 ।।
तद्विमानमिति प्राहुश्शिल्पशास्त्रविशारदाः।

(इस अध्याय में विमान या प्रासाद निर्माण के लक्षण कहे जा रहे हैं) सभी देवताओं, देवियों और सभी सेव्य स्वरूपों के लिए गर्भगृह पर रक्षा के लिए शिखर की रचना होती है, शास्त्रविशारदों ने इसी को विमान नाम से कहा है।

प्रतिलोमक्रियां तत्र स्थापयेच्छिल्पकोविदः ॥ 2 ॥
तत्कल्पनकलं (समं) कृत्स्नं विमानाधिष्ठितं मतम्।

शिल्प के विद्वान को चाहिए कि वह इसको प्रतिलोम क्रिया के साथ स्थापित करे अर्थात् गर्भगृह के प्रमाण के अनुसार अधिष्ठान एवं तद्नुसार ही उसकी ऊँचाई हो, इस ऊँचाई के अनुसार ही विमान परिकल्पित हो। उसकी रचना करने के लिए कुशल समस्वरूप विमान-अधिष्ठान कहा गया है।

एवं गर्भगृहस्थापनाकारमाह —

मण्डलञ्चतुरश्रं वा व्यासाधिक्यं क्वचिन्मतम् ॥ 3 ॥
गजपृष्ठाकारवद्वा चापाकारं क्वचिन्मतम्।

प्रासाद के लिए गर्भगृह मण्डलाकार या चौकोर हो सकता है। किसी का मत है कि उसमें व्यास की अधिकता रखी जा सकती है। इसके अतिरिक्त गजपृष्ठाकार या किसी के मतानुसार धनुषाकार भी गर्भगृह कल्पित हो सकता है। (उक्त आकार के अनुसार ही जैसी शैली हो, गर्भगृह की भित्ति की रचना कर उसके ऊपर की रचना हो और नीचे के भाग पर अधिष्ठान बनाया जाना चाहिए)।

तस्मादस्य विमानकल्पनस्यौन्नत्यं कियत्प्रमाणमिति चेतद्विवृणोति —

आधारमानद्विगुणं त्रिगुणं वा चतुर्गुणम् ॥ 4 ॥
औन्नत्यं कल्पयेत्तस्य मुखवर्धनसंयुतम्।
अधिष्ठान-स्तम्भ-कर्ण-प्रस्तराख्य-विभागभाक् ॥ 5 ॥

उक्त रचना में विमान कहीं आधार के मान-प्रमाण की अपेक्षा दोगुने, तिगुने या चौगुने प्रमाण से भी बनते हैं। उनका मुखवर्धन अर्थात् अग्रभाग वृद्धि सहित होता है जो अधिष्ठान, स्तम्भ, कर्ण, प्रस्तर नामक विभागों सहित कल्पित किया जाता हैं।

चतुर्भागौन्नत्यकल्प्यं पूरयेत्खण्डनक्रमात्।
शैलं सौधं लोहमयं विमानं दृढसन्धिकम् ॥ 6 ॥
तक्षयेद्वर्धयेन्मानक्रमतष्टङ्कभेदनैः।

इनको अधिष्ठान की चार भाग की ऊँचाई रखते हुए रचे और खण्डों से पूरित करके क्रमशः बनाना चाहिए। इसके लिए यथास्थान पाषाणों, चूना, लोहादि धातु का प्रयोग करते हुए विमान को दृढ़ सन्धियुक्त करना चाहिए। इनको टाँकी आदि से उत्तरोत्तर तक्षित-भेदित किया जाना चाहिए।

तस्मादेवं शिल्पिभिर्युक्त्यादिभिरेव प्रायशो निर्मापणीयस्य विमानकल्पनस्य कानिचन निर्माणलक्षणानि तेषां प्रमाणान्यपि विवृणोति —

चतुर्भागं नयेद्भूमौ पादुका तत्प्रमाणका ॥ 7 ॥
एकेन कम्पनिर्माणमेकहस्तद्विहस्तकम् ।
ऊर्ध्वस्तम्भप्रमाणन्तु कल्पनान्तरभेदतः ॥ 8 ॥

विमान के लिए निर्मित होने वाले अधिष्ठान के ऊर्ध्वभाग जिसे पादुका चित्रस्थान कहा जाता है, को नियमतः चार भाग की आधारभूमि सहित बनाए। इस पादुका स्थान के ऊपर एक भाग का कम्पतल बनाए। इस पर स्तम्भ को एक हाथ ऊँचा अथवा दो हाथ ऊँचा बनाए। अन्य भेद[1] से भी इसकी ऊँचाई का प्रमाण कल्पित हो सकता है।

तत्र शैल्यनुगुणं कल्पनं यथाक्रमं प्रकल्पनामाह —

उपपीठं कल्पयेद्वा प्रान्तपट्टिकया युतम् ।
द्वाभ्यामेकेन वा तत्र उपानत्स्थानमीरितम् ॥ 9 ॥

उस पर उपपीठ को परिकल्पित करे अथवा उसे प्रान्तपट्टिका सहित भी कल्पित किया जा सकता है। इसके साथ दो अथवा एक भाग से उपान स्थान रखा जाना चाहिए।

चतुर्भागेन पद्मन्तु मुखपत्रसमन्वितम् ।
कम्पमेकेन कर्तव्यं पार्श्वनेत्रं द्विभागिकम् ॥ 10 ॥

अन्य रचनाओं में चार भाग का पद्म बनाए। इसे मुखपत्र से समन्वित किया जाना चाहिए। एक भाग का कम्प बनाए जबकि दो भाग से पार्श्वनेत्र को रचा जाना चाहिए।

पञ्चभागेन कुमुदमेकेनोर्ध्वतलं मतम् ।
द्विभागेन महापट्टमग्रपट्टं त्रिभागतः ॥ 11 ॥

इस पर पुनः पाँच भाग का कुमुद बनाए और एक भाग का तल कल्पित करे। दो भाग से महापट्ट एवं तीन भाग से अग्रपट्ट की रचना करे।

---

१. तथा च टीकायाम्— किञ्चैवं कल्पनान्तरं तस्य स्तम्भस्य मौलिभागे एकभागेन वा भागद्वयेन वा पादुकान्तरकल्पनं कार्यम्। किञ्च तदुपरि चतुर्भागेन पद्मकल्पनं मुखवक्त्ररेखासहितं निर्मापयित्वा तदुपरि पुनरप्येकेन भागेनोर्ध्वं कम्पतलकल्पनं भागद्वयेन पार्श्वनेत्रस्थानं तदुपरि भागपञ्चकेन कुमुदकल्पनं तदुपर्येकेन भागेनोर्ध्वतलं तदुपरि त्रिभागेन महापट्टकल्पनम्।

वेदिका नागबन्धश्च पादश्च कमलं घटः।

पञ्चभागश्च षड्भागस्सप्तभागोऽथवा भवेत्॥ 12॥

इसके अतिरिक्त वेदिका, नागबन्ध, पाद, कमल एवं कलश— ये क्रमशः पाँच भाग, छह भाग अथवा सात भाग के होते हैं।

फलकाबोधिकाभागो द्विभागश्च कपोतकः।

प्रस्तरश्चाष्टभागेन कथितो बहुवक्त्रकः॥ 13॥

इसके साथ ही फलका, बोधिका को एक-एक भाग से और कपोत को दो भाग से बनाए। प्रस्तर को आठ भाग से बहुमुखी बनाने को कहा गया है।

ग्रीवा तु दशभागेन चतुरश्राकृतिर्भवेत्।

मण्डलाकृतिरग्या तु पट्टिका च द्विभागिका॥ 14॥

इसमें ग्रीवा की रचना को दस भाग से बनाए। यह चौकोर आकार की होती है। उसके आगे मण्डलाकृति या गोलाकार होगी। इसकी पट्टिका दो भाग वाली होगी।

कलशस्थापनार्थं अधःकीलसंयोजनं दृढकार्यनिर्देशमाह —

नानामुखसमोपेतं मौलिभागयुतन्तु वा।

स्थूपिप्रकल्पनं तत्र लोहजं दृढसन्धिकम्॥ 15॥

इसमें मौलिभाग या शिखर अनेक मुखों वाला और एक भाग से होगा। वहाँ पर स्तूपी की रचना की जानी चाहिए। यह लोहे की पाउवों से दृढ़तापूर्वक सन्धि में बनी होगी।

प्रस्तरान्ते मध्यभागे त्रिमूर्तिस्थानकैर्युतम्।

पृथग्बेरस्थलं वापि पौषस्थानमथापि वा॥ 16॥

देवानामपि देवीनां दासानां गर्भगेहके।

विमान में प्रस्तर के अन्त में मध्यभाग को त्रिमूर्तिस्थान से युक्त किया जाना चाहिए। मूर्ति के लिए पृथक् से स्थल भी रखा जा सकता है अथवा पौषाकृतिस्थल भी बनाया जा सकता है। इसके साथ ही गर्भगृह में देवताओं, देवियों और दासानुचरों के स्वरूपों को संयोजित करना चाहिए। (प्रतिमान्तिक स्थल फलकातल पर उक्त देवताओं के वाहनों के चिह्नभूत नन्दीकेश्वर, गरुड़, हंस, मयूरादि मूर्तियों को स्थापित किया जा सकता है)।

कलिङ्गं द्राविडं शौरसेनिकं कौसलन्तथा ॥ 17 ॥
विमानकल्पनं कार्यं कुम्भपञ्जरसंयुतम्।
बोधिकाजालकैर्युक्तं द्वारपालाश्रितन्तु वा ॥ 18 ॥

उक्त विधि से विमान या प्रासाद का निर्माण कलिंग व द्राविड़ शैली में किया जा सकता है। अन्य शौरसेनिक एवं कौसल शैलियों में विमान को परिकल्पित करते समय वहाँ कुम्भ एवं पञ्जर को भी बनाए। विमान में बोधिका, जालिका सहित द्वारपाल को भी उसके आश्रित बनाना चाहिए।

अन्यदप्याह —

रन्ध्रहीनं मध्यकल्पमवाग्वक्त्रादिवर्जितम्।
देवरूपसमोपेतं कल्पयेच्चित्रभूषितम् ॥ 19 ॥

जो भी विमान बनाए जाए, उनको रन्ध्रदोषादि से वर्जित रखना चाहिए। मध्यकल्प को वाक् एवं मुखादि से वर्जित बनाना चाहिए। वहाँ पर देवताओं के स्वरूपों को नाना चित्रों (मूर्तियों) से विभूषित करे।

कर्णकूटक्रियोपेतं कीलकुम्भयुतं क्वचित्।
सौवर्णं राजतं ताम्रं कवचञ्च क्वचिन्मतम् ॥ 20 ॥

ये कर्णकूट सहित बनाए जाए। कदाचित इनको कील-कुम्भ युक्त बनाना चाहिए। ये (कलशस्तूपीपर्यन्त) सोना, चाँदी, ताँबा पट्टिओं सहित किसी के मतानुसार कवच से युक्त भी होते हैं। (इस प्रकार दोषहीन विमान के लक्षण जानने चाहिए)।

इति विश्वकर्मप्रणीते विश्वकर्मवास्तुशास्त्रे विमानलक्षणकथनं नाम पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः ॥ 75 ॥

इस प्रकार विश्वकर्माप्रणीत विश्वकर्मवास्तुशास्त्र में विमान लक्षण कथन नामक पचहत्तरवाँ अध्याय पूर्ण हुआ।



अथ प्राकारलक्षणकथनं नाम

षट्सप्ततितमोऽध्यायः ॥ 76 ॥

अथास्मिन् षट्सप्ततितमेऽध्याये देवप्रासादभूपालप्रासादादिकल्पनस्य यत्प्राकार-भित्तिनिर्माणं क्रियते तल्लक्षणमत्र विवृणोति शास्त्रकारः —

प्राकारकल्पनं कल्परक्षकं प्रथमं मतम्।
सैन्यवेशो द्वितीयन्तु तृतीयन्त्वर्गलादिकम् ॥ 1 ॥

(इस छिहत्तरवें अध्याय में देवालय, नृपालय आदि के लिए प्राकार, परकोटा निर्माण के लक्षण कहे जा रहे हैं) प्राकार के निर्माण से कल्प, मन्दिर, राजप्रासादादि रचनाओं की रक्षा करना प्रथम कार्य है। सेना के आवास की रक्षा दूसरा कार्य है जबकि तृतीय रक्षण कार्य अर्गलादि का है।

विशेष : आशय यह है कि दुर्ग, प्रासादादि के लिए विविध प्रकार के परकोटे कल्पित किए जाते हैं। मुख्यतः ये तीन प्राकार हैं, प्रथम, द्वितीय व तृतीय प्राकार। राजमहलों के लिए प्रथम प्राकार के अन्त में रक्षार्थ सेना का निवेश किया जाता है और वहीं पर सैन्योपयोगी अश्व, गजादि सहित आयुधधारी सैनिकों को तैनात किया जाता है। इसी प्रकार द्वितीय व तृतीय प्राकार राजकीय कर ग्रहण, द्रव्यस्थापन शाला, भाण्डागार, शालादि के लिए मजबूत अर्गलादि की स्थापना सहित होती है।

पृथक्कल्पाक्रियोपेतं कार्याय परिकल्पते।
दुर्गेषु राजधान्याञ्च नगरेषु विशेषतः ॥ 2 ॥

इन सबकी पृथक्-पृथक् रचना क्रिया-परिकल्पना दुर्ग और राजधानी सहित नगरों के लिए विशेष रूप से होती है।

एवं भूपपददेवपदप्रयोगमाह —

दैवं भौपमिति प्रोक्तं द्विविधं तत्प्रकल्पयेत्।
स्थलकल्पनयोग्यं तत्कल्पयेद् दृढसन्धिकम् ॥ 3 ॥

ये प्राकार दो तरह से कल्पित किए जाते हैं— 1. देवपद प्राकार एवं 2. भूपपद प्राकार। इनको स्थल के अनुसार ही कल्पित किया जाता है और (नींवादि से लेकर भित्ति के उठने तक) तदर्थ दृढ़तर सन्धि-संयोजन कार्य किया जाता है।

तस्मादेवं द्विविधमपि प्राकारनिर्माणमाह —

प्रतिलोमानुलोमाभ्यां मानं तस्य द्विधा भवेत्।

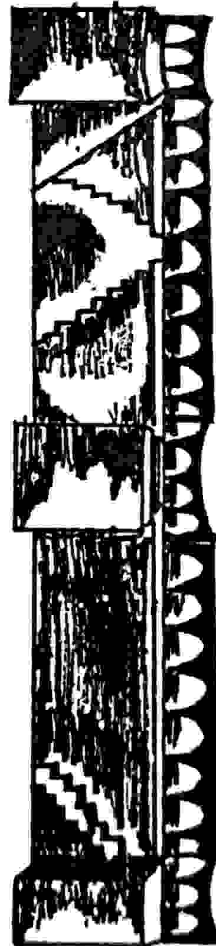
इस चय-संयोजन के भी दो मान-प्रमाण हैं— 1. प्रतिलोम पक्ष एवं 2. अनुलोम पक्ष। (प्रतिलोम पक्ष से आशय स्थल की कल्पना के अनुसार ही स्थापना से है जबकि अनुलोम पक्ष में प्राकार की उन्नति के अनुरूप अन्तस्स्थल को कल्पित करना होता है)।

पादपादप्रमाणेन वर्धयेन्नृपमन्दिरे॥ 4॥

दैवऽधिकं प्रमाणं वा तत्समं वा क्वचिन्मतम्।

यदि राजा के महल का सन्दर्भ हो तो प्राकार को एक चौथाई, एक चौथाई प्रमाण से बढ़ाना चाहिए और देवालय के लिए प्राकार कल्पित करनी हो तो कुछ अधिक या कुछ के मत से, पूर्वोक्त मान के बराबर रखी जा सकती है।

विशेष : राजमहलों में प्रथम प्राकार को बारह हाथ ऊँचा करने का नियम है, यदि द्वितीय प्राकार बनाए तो वह पन्द्रह हाथ मान से ऊँची होगी और प्रकारान्तर से इसे एक चौथाई अधिक भी रखा जा सकता है। इसी प्रकार तृतीय प्राकार का उदय प्रमाण अठारह हाथ बताया गया है और प्रकारान्तर से इसे चौथाई प्रमाण अधिक भी रखा सकता है। देवालय के सम्बन्ध में भी यही विचार है।



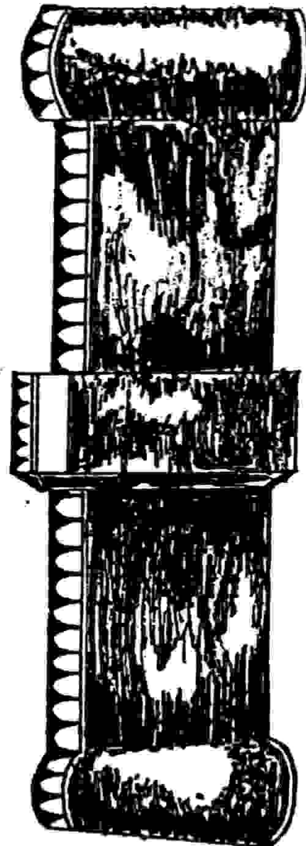
अथ प्राकारनिर्माणस्य स्थापनस्वरूपमाह —

दुर्गेषु कूपसंयुक्तं त्रुटनस्थानकान्वितम्॥ 5॥
क्षुद्रमण्डलयुक्तं वा स्थलमानवशान्नयेत्।
मध्याङ्गुलिसमायुक्तं पिञ्छवर्धनसंयुतम्॥ 6॥

(प्राकार को किन-किन रचनाओं के साथ बनाया जाए, इस सन्दर्भ में नियम कहा जा रहा है) यदि दुर्ग के लिए प्राकार का निर्माण अपेक्षित हो तो कूप की रचना हो, उनको त्रुटन नामक स्थान से युक्त करे। उसे क्षुद्र मण्डल से युक्त करे अथवा स्थल मान के अनुसार ही नियम का ध्यान रखे। वहाँ अपने हाथ की मध्यमा अँगुली के बराबर पिच्छिका का प्रमाण बढ़ाया जा सकता है।

मस्तकेष्वपि वेष्टाकं पौषं नलिकसंयुतम्।
एवं भूपालभवनमन्दिरावरणस्थलम्॥ 7॥

इसी प्रकार प्राकार के शीर्ष पर पौष सहित वेष्टिकस्थान को परिकल्पित किया जाना चाहिए। पौषस्थान पर शत्रुदलों के निवारण के लिए नालिका (तोप या बन्दूक) आदि आयुधों की स्थापना की जानी चाहिए। इस प्रकार से राजमहल, मन्दिर आदि के लिए परकोटा बनाना चाहिए।



तत्रान्याह नियमोऽवश्यमनुष्ठेयः —

आदौ वृद्धियुतं प्रायः क्रमाद्धीनं प्रकल्पयेत्।
प्राकारकल्पनेष्वेवं दैविकेषु तथा मतम्॥ 8॥

देवालयों के लिए प्राकार के सन्दर्भ में यह मत भी अनुकरणीय है कि प्रारम्भ में वे वृद्धियुक्त हों और बाद में उत्तरोत्तर हीन होती जाए।

चतुरश्रं व्यासहीनं दैविकं सम्प्रकल्पयेत्।
मण्डलं वरणस्थानं शुभदं नृपमन्दिरे॥ 9॥

देवालयों के लिए ऐसी रचनाओं को चतुरस्त्र किन्तु व्यासहीन कल्पित किया जाता है। राजमहलों के लिए मण्डल एवं वरणस्थान शुभदायक होते हैं।

पर्वते वा भूमिभागे कल्पने विविधे मतम्।
समद्वारयुतं वापि विषमस्थानवेशकम्॥ 10॥

पर्वतीय क्षेत्र एवं भूमि भाग के लिए प्राकार निर्माण के सिद्धान्त पृथक्-पृथक् होते हैं। वहाँ पर समद्वार सहित या विषम स्थान सहित निवेशित होती है।

किञ्चैव कल्पितानां देवप्रासादप्राकारकुड्यानामुपरिभागे कार्यमाह —

समसूत्रप्रमाणेन पादहीनादिभेदतः।
हरेर्हरस्य धातुर्वा तत्तच्चिह्नं प्रयोजयेत्॥ 11॥

इसी प्रकार देवालयों के लिए प्राकार का निर्माण किया जाए तो वे समसूत्र प्रमाण से अथवा एक चौथाई प्रमाण की कम ऊँचाई के भेद से कल्पित होती हैं। इनके साथ ईशानादि कोणों से कतिपय तलों पर विष्णु, शिव एवं ब्रह्मादि के देवालयों के होने पर उनके अपने-अपने लाञ्छन-चिह्न (विष्णु-गरुड, शिव-वृष, विधाता-हंस) स्थापित किए जाते हैं। (यदि राजमहलों के लिए प्राकार कल्पित हों तो जयप्रद खड्ग, ध्वज, पटादि कल्पित होंगे)।

कोणेषु मध्यतालेषु पार्श्वे प्राकारकल्पने।
सुधालेपितकैर्वज्रयोजनैस्तक्षणैरपि॥ 12॥

प्राकार की रचना करते समय उसके कोणों पर, मध्य भाग में एवं आजू-बाजू में चूने का पलस्तर या वज्रलेप चढ़ाकर दृढ़ता दें, यथावश्यकता वहाँ पर घड़ाई भी की जानी चाहिए।

मिथोबन्धनसंयुक्तं शैलमैष्टिककल्पनम्।

भूमिलम्बनसंयुक्तपार्श्वोपान्ततलक्रियम्।
स्थापयेन्मतिमान्युक्त्या रक्षाप्राकारकल्पनम्॥ 13॥

इसी प्रकार प्राकार को मिथोबन्धन से युक्त करे। इसके लिए पाषाण, ईंटों का प्रयोग किया जाना चाहिए। ये भित्तियाँ भूमिलम्ब (सूत-सावल) में कल्पित हों और पार्श्व एवं उपान्त तक सीधी होनी चाहिए। इस प्रकार ज्ञानी शिल्पी को युक्तिपूर्वक रक्षा-प्राकार का निर्माण, नियोजन करना चाहिए।

इति विश्वकर्मप्रणीते विश्वकर्मवास्तुशास्त्रे प्राकारलक्षणकथनं नाम षट्सप्ततितमोऽध्यायः॥ 76॥

इस प्रकार विश्वकर्माप्रणीत विश्वकर्मवास्तुशास्त्र में प्राकार लक्षण कथन नामक छिहत्तरवाँ अध्याय पूर्ण हुआ।



अथोपपीठलक्षणकथनं नाम

सप्तसप्ततितमोऽध्यायः॥ 77॥

अथास्मिन् सप्तसप्ततितमेऽध्याये उपपीठलक्षणमाह —

उपपीठक्रियायोगः शोभारक्षणवर्धकः।
तस्मात्तत्कल्पनं शस्तं निर्माणे बहुरूपके॥ 1॥

(इस सतहत्तरवें अध्याय में देवालय आदि में उपपीठ के लक्षणों का वर्णन किया जा रहा है) उपपीठ की रचना वस्तुतः निर्मिति की रक्षा एवं शोभावर्धक होती है। इसीलिए इसका निर्माण प्रशस्त होता है और इसको बहुविध बनाया जाता है।

स्थलभेदात्क्रियाभेदादधिष्ठास्य चोर्ध्वके।
अधस्ताद्वा यथाशोभं तन्निर्माणं प्रयोजयेत्॥ 2॥

इनको स्थल के भेद के अनुसार एवं आवश्यक क्रिया के भेदानुरूप अधिष्ठान के ऊपर या नीचे, जैसा शोभाजनक हो वैसा निर्माण में प्रयोजित करना चाहिए।

तस्य बहुविधप्रकारमाह —

तदुत्तमं मध्यमं वाऽधमं कल्पनमीरितम्।
तोरणादिविभेदेन क्वचिद्बहुविधं मतम्॥ 3॥

इस उपपीठ के भी तीन प्रकार हैं— 1. उत्तम उपपीठ, 2. मध्यम उपपीठ एवं 3. अधम उपपीठ। ये तोरणादि के विविध भेदों से भी कदाचित बहुत प्रकार की हो सकती हैं।

किञ्च पूर्वोक्ताभिः सप्तविधनिर्माणशैलीभिर्निर्मितानां गृहभवनहर्म्यप्रासादशाला-मण्डपादीनां निर्माणेष्वपि सकलेषु योजयितुं योग्यस्यास्योपपीठकल्पनस्य जाति क्रममाह —

प्रतिभद्रं वाजिभद्रं मञ्चभद्रन्तु शैलजम्।

उक्त भेदानुसार ही तीन उपपीठें क्रमशः 1. प्रतिभद्र जाति की उपपीठ, 2. वाजिभद्र जाति की उपपीठ एवं 3. मञ्चभद्र जाति की उपपीठ शिलामय (स्तम्भ, ध्वजस्तम्भ आदि पाषाण वाली रचनाओं में संयोजित की जाती) है।

सूर्यभद्रं चन्द्रभद्रं दारुकार्ये प्रयोजयेत्॥ 4॥

इसी प्रकार 1. सूर्यभद्र जाति की उपपीठ एवं 2. चन्द्रभद्र जाति की उपपीठ लकड़ी की (पटियों, खण्डों से बनाए जाने वाले फलक, द्वार, गवाक्ष, शिबिका, डोला, पर्यङ्क आदि में प्रयुक्त होती) है।

गन्धर्वभद्रं देवेशभद्रं लोहक्रियार्हकम्।
सप्तस्वपि च शैलीषु योज्यमेतत्प्रकीर्तितम्॥ 5॥

(ताँबा, पीतल, चाँदी, सोना आदि सकलविध) लोह-धातुओं से सम्बन्धित कार्यों के प्रसंग में 1. गन्धर्व जाति की उपपीठ एवं 2. वासव जाति की उपपीठ परिकल्पित होती है। ये सात प्रकार की उपपीठें शैली व उत्तम, मध्यम एवं अधमादि रूप में योजित की जाती है।

अधिष्ठानोपपीठाभ्यां हीनं यत्तु प्रकल्पनम्।
तन्निन्द्यमपि चाल्पायुर्निश्शोभमिति भाषितम्॥ 6॥
तस्मात्तत्कल्पयेच्छिल्पी शास्त्रज्ञो मानवित्क्रमात्।

अधिष्ठान व उपपीठ की रचना को हीन बनाना, निन्दनीय, अल्पायुकारक एवं अशोभनीय कहा गया है। इसलिए शास्त्रविद्, मानविद् शिल्पी इनको निर्धारित प्रमाण से ही बनाए।

तत्र अधःपट्टादीनां कल्पनमाह —

अधःपट्टं च कम्पश्च पादुकां वाजनं तथा ॥ 7 ॥
कपोतं पञ्जरं कम्पमालिङ्गं कम्पमेव च।
मसूरकं कुम्भभद्रं क्षेपणं पट्टिकामपि ॥ 8 ॥
ग्रीवाञ्च प्रस्तरं कण्ठं नालमालिङ्गमेव च।
गलञ्च पञ्जरं कूटं कर्णकूटं च कुम्भकम् ॥ 9 ॥
बोधिकामूर्ध्वपट्टञ्च प्रस्तरासनमेव च।
नलिकास्थापनञ्चापि तत्तत्कल्पनयोग्यकम् ॥ 10 ॥

उपपीठ के लिए अधःपट्ट, कम्प, पादुका, वाजन, कपोत, पञ्जर, कम्पमालिंग, कम्प, मसूरक, कुम्भभद्र, क्षेपण, पट्टिका, ग्रीवा, प्रस्तर, कण्ठ, नालमालिंग, गल, पञ्जर, कूट, कर्णकूट, कुम्भ, बोधिका, ऊर्ध्वपट्ट, प्रस्तर, आसन ये रचनाएँ की जाती हैं। उक्तस्थान के लिए नालिका स्थापन भी परिकल्पित किया जा सकता है। (इनको कदाचित एक अँगुल मान या किष्कु मान से, स्थलान्तर पर भाग मान से प्रयोजित किया जाता है)।

यालं पादञ्च कूटञ्च कान्तं कुमुदपट्टिकम्।
कोष्ठपादं चित्रपादं कोष्ठवक्त्रमिति क्रमात् ॥ 11 ॥

इसी प्रकार याल, पाद, कूट, कान्त, कुमुदपट्टिका, कोष्ठपाद, चित्रपाद, कोष्ठवक्त्र आदि भी क्रमशः बनाए जाते हैं।

अधिष्ठाने च यत्प्रोक्तं सङ्कीर्णं तद्युतं भवेत्।
चतुरश्रं वर्तुलं वा व्यासहीनमपि क्वचित् ॥ 12 ॥

अधिष्ठान में जैसा कहा गया है, उसके अनुसार ही संकीर्ण स्वरूप होगा। यह स्वरूप चौकोर, गोलाकार या कहीं-कहीं व्यासहीन भी हो सकता है।

लताभेदं चित्रभेदं मुखभेदञ्च योजयेत्।
तोरणाकृतिकं वापि क्षुद्रबिन्दुस्थलं तथा ॥ 13 ॥

इनमें लताभेद, चित्रभेद, मुखभेदादि को योजित किया जा सकता है अथवा उनमें तोरणाकृतियाँ या फिर लघु बिन्दुवाले स्थल भी बनाए जा सकते हैं।

वेदिकान्ते द्वारभागे कवाटे च गवाक्षके।
तूलप्रस्तरभागेषु स्तम्भभागेषु तोरणे ॥ 14 ॥

पर्यङ्कशिबिकाडोलाकार्येष्वपि मनोहरा।

इनकी रचना वेदिका के अन्त में, द्वार के भाग में, किंवाड़ और गवाक्ष में, तूल- प्रस्तर भाग में, स्तम्भ के भाग में तोरण में और पलँगों, पालकी, डोला आदि कार्यों में भी मनोहर रूप से की जानी चाहिए।

अन्यदप्याह —

शैल्येषा सम्प्रयोज्यैव भागन्यूनाधिकक्रमात्॥ 15॥
अङ्गुलक्रममानेन किष्कुमानेन वा क्वचित्।
भागमानेन वा तस्य प्रमाणं कल्पयेत्क्रमात्॥ 16॥

यदि पाषाण से रचना की जानी हो तो इन रचनाओं को न्यूनाधिक भाग के साथ क्रमशः कल्पित किया जा सकता है। इनकी रचना (शिबिका, डोला, गवाक्ष, फलक, काष्ठ स्तम्भ, काष्ठखण्ड, द्वार आदि लकड़ी के कार्य में) अँगुल क्रम मान से या फिर किष्कु क्रम मान से (चत्वर के समीप स्थापित आँगन, शाला, तूल प्रस्तारादि स्थापनार्थ) या भाग के मान-प्रमाण से (स्तम्भ व सकलविध अधोभाग में स्थापित उपपीठ के लिए) की जा सकती है किन्तु इनका प्रयोग क्रमशः किया जाना अपेक्षित है।

पट्टादीनां वर्धनञ्च तक्षणञ्च क्रमान्नयेत्।
खण्डहीनमदृश्यं वा श्लक्ष्णितं रन्ध्रहीनकम्॥
युक्त्या प्रकल्पयेच्छिल्पी यथाशोभं यथाबलम्॥ 17॥

इनमें पट्ट इत्यादि की रूपाभिवृद्धि के लिए निर्धारित रूप में बढ़ईगीरी या तक्षण कार्य करना चाहिए। ये खण्ड से हीन नहीं दिखाई दें, पर्याप्त रूप से घिसी हुई हो और इनको छिद्रादि से रहित करना चाहिए। शिल्पी को उपपीठ को उचित युक्ति के साथ जिस प्रकार से सुन्दर दिखाई दे, वैसे ही बनाना चाहिए।

इति विश्वकर्मप्रणीते विश्वकर्मवास्तुशास्त्रे उपपीठलक्षणकथनं नाम सप्तसप्ततितमोऽध्यायः॥ 77॥

इस प्रकार विश्वकर्माप्रणीत विश्वकर्मवास्तुशास्त्र में उपपीठ लक्षण कथन नामक सतत्तरवाँ अध्याय पूर्ण हुआ।



अथ सकलविधदेवपीठलक्षणकथनं नाम

अष्टसप्ततितमोऽध्यायः ॥ 78 ॥

अथास्मिन्नष्टसप्ततितमेऽध्याये सकलविधदेवपीठलक्षणमुपपादयति —

शालायां स्थानके वापि कार्यज्ञैर्मानवेदिभिः।
निर्मितानाञ्च देवानामधस्तात्पादपीठकम् ॥ 1 ॥
संयुक्तं वा वियुक्तं वा कल्पयेच्छिल्पवित्तमः।

(इस अठहत्तरवें अध्याय में समस्त प्रकार की देवपीठों के लक्षणों का वर्णन किया जा रहा है) भवनों या अन्य किसी स्थान पर शिल्पकार्य प्रमाणविज्ञ को देवताओं की मूर्तियों के नीचे पादपीठ को बनाना चाहिए। शिल्पविद इनको मूर्तियों के साथ ही जुड़ी हुई अथवा पृथक् भी बना सकते हैं। (ये पादारविन्दयुगल के नीचे के भाग में शोभा, प्रतिमा की रक्षा के लिए आसन स्वरूप होती हैं)।

आसीनस्य शयानस्य देवदेवस्य शार्ङ्गिणः ॥ 2 ॥
पद्मपीठं शेषपीठं कुमुदं पीठमेव वा।
सोमपीठं भद्रपीठं मूलबेरार्हकं मतम् ॥ 3 ॥
लिङ्गानामपि चाधस्ताल्लिङ्गपीठं सगोमुखम्।

देवों के देव भगवान् विष्णु के आसनस्थ रूप और शयनस्थ रूप के लिए मूल मूर्ति स्वरूप के अनुसार 1. पद्मपीठ, 2. शेषपीठ, 3. कुमुदपीठ, 4. सोमपीठ एवं 5. भद्रपीठ बनाई जाती है। इसी प्रकार शिवलिंग के नीचे लिंगपीठ (जलहरी) गोमुख सहित कल्पित होती है।

तस्मादेवं प्रतिपादितं विष्णुबेरासनं शिवबेरासनं सर्वमपि दशविधं कथितम्। यथा —

तालमानवशात्सर्वबेराणां पीठयोजनम् ॥ 4 ॥
मण्डलञ्चतुरश्रं दीर्घाकारमथापि वा।
षोडशाश्रं$_{16}$ द्वादशाश्रं$_{12}$ वस्वश्रञ्च$_{8}$ षडश्रकम्$_{6}$ ॥ 5 ॥
अर्धचन्द्रं त्रिकोणं वा चापाकारं क्वचिन्मतम्।
पीठप्रमाणमादिष्टमेवं दशविधं$_{10}$ क्रमात् ॥ 6 ॥

इन सभी देवपीठों का निर्माण मूर्ति के ताल-मान[1] के आधार पर ही किया जाता है। ये दस प्रकार से बनती हैं, यथा— 1. मण्डलपीठ, 2. चौकोर पीठ, 3.

---

१. ताल-मान के लिए विशेष रूप से आत्रेयतिलक या तालमानप्रमाण, मत्स्यपुराण, देवतामूर्तिप्रकरण, वास्तुमञ्जरी, रूपमण्डनम्, मयमतम्, काश्यपशिल्पम्, मानसारम् एवं अगस्त्यीय सकलाधिकार देखने चाहिए।

तथा च काश्यपमतमाह : *अवयवप्रमाणमाह* — द्वादशाङ्गुलकं$_{12}$ वक्त्रं ललाटं चतुरङ्गुलम्$_{4}$। नासा ग्रीवा तु कर्तव्या तुल्या चैतत्प्रमाणतः॥ शङ्खान्तरं ललाटस्य ज्ञेयमष्टाङ्गुलं$_{8}$ पृथु। हनुद्वयं$_{2}$ तु चिबुकमङ्गुलद्वितयं$_{2}$ स्मृतम्॥ चतुरङ्गुलिकौ$_{4}$ कर्णौ भ्रुवावेव तथा स्मृते। द्व्यङ्गुलौ$_{2}$ पृथुलौ कर्णौ भ्रूमध्यं तत्प्रमाणतः॥ (सविवृत्तिबृहत्संहितायां प्रतिमाऽध्यायोद्धृत)

अर्थात् - देवार्चाओं में बारह अङ्गुल का मुख मान रखें जिसमें ललाट को चार अङ्गुल रखें और नासिका एवं ग्रीवा को भी उसी प्रमाण अर्थात् चार-चार अङ्गुल से बनाएँ। शङ्खान्तराल, कनपट्टी के रूप में ललाट की चौड़ाई को आठ अङ्गुल मान से रखें और हनु तथा चिबुक का विस्तार दो-दो अङ्गुलमान रखना चाहिए। इसी प्रकार कानों की भ्रू के बाद चार अङ्गुल लम्बाई के प्रमाण से बनाएँ और उनकी चौड़ाई दो-दो अङ्गुल मान रखें, भ्रूमध्य प्रमाण भी इसी के अनुसार रखना चाहिए।

नेत्रान्तरेकर्ण कुर्यात् अधरमानञ्च — कर्णनेत्रान्तरं कुर्यात् तत्सार्धं चतुरङ्गुलम्$_{4}$। अधरोऽङ्गुलमानं$_{1}$ तु तदर्धेनोत्तरं स्मृतम्॥ चतुरङ्गुलकं$_{4}$ वक्त्रं नासाग्रं द्व्यङ्गुलं$_{2}$ स्मृतम्। नेत्रे द्व्यङ्गुलके$_{2}$ दीर्घे तत्त्रिभागेन$_{111}$ तारकः॥ दृक्तारा पञ्चमांशेन$_{5}$ दूषिकाङ्गुलसम्मिता$_{1}$। द्व्यङ्गुलं$_{2}$ चाक्षिपुटकं तथा नासापुटौ स्मृतौ॥ (तत्रैव)

अर्थात् - नेत्र के प्रान्तभाग से भ्रू के समानान्तर कानों को रखना चाहिए और उन्हें चार अङ्गुल बनाना चाहिए। अधर का मान एक अङ्गुल और ऊपर का मान उसका आधा अङ्गुल रखना रखें। चार अङ्गुल दैर्घ्य वाला मुख बनाएँ जिस पर दो अङ्गुल विस्तार से नासिका का अग्रभाग रखें। इसी प्रकार दो अङ्गुलमान की आँखें और इस मान का तीसरा भाग नेत्रों में तारों का रखें। आँखों में दृक्तारा (नेत्र एवं तारा के मध्यवर्ती भाग) नेत्र के पाँचवें अंश के तुल्य रखना चाहिए और नेत्र के अन्त में एक अङ्गुल दूषिका अथवा करवीरक बनाना चाहिए। अक्षपुटक दो अङ्गुल मान से तथा उसी के अनुसार दोनों नासिकाओं के पुट बनाना चाहिए अर्थात् वे भी दो-दो अङ्गुल रखने चाहिए।

कर्णस्रोतगोच्छाकेशरेखिकाप्रमाणमाह—कर्णस्रोतोऽङ्गुलमितं सुकुमारं तथैव च। गोच्छा चाङ्गुलिका$_{1}$कार्या तत्समा केशरेखिका॥ द्व्यङ्गुलौ$_{2}$तु स्मृतौ शङ्खावायतौ चतुरङ्गुलौ$_{4}$। चतुर्दशाङ्गुलः$_{14}$शीर्षो द्वात्रिंशत्$_{32}$परिणाहतः॥ एकविंशत्$_{21}$स्मृता ग्रीवा विस्तारात् स्याद्दशाङ्गुला$_{10}$। कण्ठाच्च हृदयं नाभी मेढ्रं तद्द्वादशाङ्गुलम्$_{12}$॥ (तत्रैव)

अर्थात् - कान के छेद एकाङ्गुल और सुकुमारक अर्थात् कान के छेद के पास का उन्नत मार्ग को भी उसी मान से बनाएँ। गोच्छा का विस्तार अङ्गुल और उसकी के समान केशरेखा बनानी चाहिए। कनपट्टी का आयत या विस्तार दो और चार अङ्गुल मान से रखना चाहिए। इसी प्रकार बत्तीस अङ्गुल लम्बा और चौदह अङ्गुल चौड़ा सिर रखना चाहिए। ग्रीवा का विस्तार

दीर्घाकार पीठ, 4. सोलह कोणीय पीठ, 5. बारहकोणीय पीठ, 6. आठ कोणीय पाठ, 7. छह कोणीय पीठ, 8. अर्धचन्द्रकार पीठ, 9. त्रिकोणाकार पीठ एवं कहीं-

---

दस अङ्गुल एवं लम्बाई इक्कीस अङ्गुल बताई गई है। कण्ठ के अधोभाग से हृदय पर्यंत, हृदय से नाभि और नाभि के मध्य ये मेढ़ तक के मध्य बारह अङ्गुल का अन्तराल रखना चाहिए।

ऊरूजङ्घापदादीनां प्रमाणमाह — ऊरू जङ्घे चतुर्विंशा जानुनी चतुरङ्गुले$_4$। द्वादशाङ्गुलिकौ$_{12}$ पादौ विस्तारात् तु षडङ्गुलौ$_6$॥ गुल्फादधोभागगतं चतुरङ्गुलमुन्नतम्$_4$। अङ्गुष्ठं त्र्यङ्गुलं, दीर्घं पञ्चैव$_5$ परिणाहतः॥ शेषाः पादानुसारेण परिमाणं प्रकल्पयेत्। जङ्घाग्रे परिधिर्ज्ञेयो ह्यङ्गुलानि चतुर्दश$_{14}$॥ (तत्रैव)

अर्थात् - ऊरु या घुटनों के ऊपर का हिस्सा और जङ्घा को चौबीस-चौबीस अङ्गुल रखना चाहिए। जानु या घुटनों को चार अङ्गुल रखें। पाँव बारह अङ्गुल लम्बे हों तथा उनकी चौड़ाई छह अङ्गुल रखें। गुल्फाओं को अधो भाग में चार अङ्गुल ऊँचा रखें। तीन अङ्गुल लम्बा अङ्गूठा और उसी के अनुसार पास की प्रदेशिनी अङ्गुली रखें। (पाँचों अङ्गुलियों में दैर्घ्य किञ्चित कम करते जाना चाहिए)। शेष अङ्गुलियों आदि का पैर के अनुसार ही परिमाण रखना चाहिए। जङ्घा के आगे की परिधि या मोटाई को चौदह अङ्गुल रखनी चाहिए।

ऊरुनाभिवेधादीनां प्रमाणमाह — ऊरू तद्द्विगुणौ$_2$ प्रोक्तौ कटिस्तत्त्रिगुणा$_3$ स्मृता। अङ्गुलं$_1$ तु भवेन्नाभी वेध गाम्भीर्ययोरपि॥ नाभीमध्ये परीणाहश्चत्वारिंशद्द्विसंयुतः$_{42}$। षोडश$_{16}$ स्तनयोर्मध्यं कक्ष्ये ऊर्ध्वं षडङ्गुले$_6$॥ अष्टाङ्गुलौ$_8$ स्मृतौ स्कन्धौ बाहू विंशच्चतुर्युतौ$_{20}$। बाहू मूले षोडश$_{16}$ स्याद्धस्ताग्रे द्वादश$_{12}$ स्मृताः॥ (तत्रैव)

अर्थात् - ऊरु को द्विगुण तथा कटि या कमर को उसकी तीन गुणा रखें। नाभि का विस्तार एवं वेध एक-एक अङ्गुल रखें। नाभि स्थान की मोटाई बयालीस अङ्गुल रखनी चाहिए और दोनों स्तनों का अन्तराल सोलह अङ्गुल रखें। इसी प्रकार दोनों ही स्तनों के ऊपर पार्श्व में छह-छह अङ्गुल के कक्ष्य या कोख रखने चाहिए। ग्रीवा से लेकर दोनों ही स्कन्धो की लम्बाई आठ अङ्गुल और चतुर्बाहुयुति (दोनों बाहु व दोनों प्रबाहु) बीस अङ्गुल रखें। बाहुमूल की मोटाई सोलह तथा आगे प्रकोष्ठ की मोटाई बारह अङ्गुल रखना चाहिए।

करतलमानप्रमाणमाह — षडङ्गुलं$_6$ हस्ततलं सप्त$_7$ दैर्घ्येण च स्मृतम्। पञ्चाङ्गुला$_5$ भवेद् मध्या तर्जन्यार्धाङ्गुलोनिता॥ अनामिका च तत्तुल्या कनिष्ठा चाङ्गुलोनिता। सुरूपास्ताश्च कर्तव्या द्विपर्वाङ्गुष्ठिका$_2$ स्मृता॥ त्रिपर्वाङ्गुलयः$_3$ शेषा नखाः पर्वार्धविस्तृताः। देशवेषयुतान् हस्तान् सौम्यरूपांश्च कारयेत्॥ स्वरूपा लक्षणोपेता प्रतिमा वृद्धिदा भवेत्। (तत्रैवोद्धृत)

अर्थात् - करतल या हथेली की चौड़ाई छह अङ्गुल व लम्बाई सात अङ्गुल रखनी चाहिए। अङ्गुलियों में मध्यमा को पाँच अङ्गुल व तर्जनी को उससे आधा अङ्गुल कम रखी जानी चाहिए। इसी प्रकार अनामिका को उसके बराबर व कनिष्ठा को उससे अङ्गुल भर कम रखनी चाहिए। दोनों ही अङ्गुष्ठ को सुन्दर बनाना चाहिए और उनमें दो-दो पर्व रखने चाहिए। शेष चारों अङ्गुलियों में तीन-तीन पर्व बनाएँ और अपने-अपने पर्व के अनुसार आधे प्रमाण से नखों का परिमाण रखें। इस प्रकार हाथों को देशानुसार ही नानाविभूषणादि से सौम्य बनाना चाहिए। इस प्रकार प्रतिमा के लक्षण कहे गए हैं, इनका पालन कर बनाई गई प्रतिमा व चित्र वृद्धि प्रदान करते हैं।

कहीं 10. धनुषाकार पीठ भी बनाई जाती है। इस प्रकार ये दस प्रकार की पीठों के प्रकार क्रमश कहे गए हैं।

त्रिभङ्गः प्रतिमा



किञ्चैव स्थापनीयानामेतेषां दशविधानामपि पीठानामासानां वौन्नत्यप्रमाणन्तु योज्य नियमाः —

षडङ्गुलं वैकहस्तं द्विहस्तं वा प्रकीर्तितम्।
देवानामपि देवीनां वेदिकायुक्तमेव वा॥ 7॥
जन्म पद्मं कपोते वा पञ्जरे रेखिका क्रमात्।
क्षुद्रोपपीठमानेन योजयेत्पीठमासनम्॥ 8॥

ये पीठें छह अँगुल प्रमाण से, एक हाथ या दो हाथ प्रमाण से कही गई हैं। ये

देवता और देवियों के लिए वेदिका युक्त कही गई है। इसमें जन्म, पद्म, कपोत, पञ्जर, रेखिका क्रमशः होते हैं। क्षुद्र उपपीठ के मान से पीठासन का योजन करना चाहिए।

प्रणालीसंयुक्तं वापि कोणरन्ध्रसमन्वितम्।
ऊर्ध्वकर्णसमायुक्तं वज्रलेपेन बन्धितम्॥ 9॥

इन देवपीठों को प्रणाली से युक्त या फिर कोण पर छिद्र सहित बनाया जा सकता है। ऊर्ध्वकर्ण से युक्त करते हुए इनको वज्रलेप से आबद्ध करना चाहिए।

आधारसूत्रसंयुक्तं बीजाक्षरयुतन्तथा।
श्लक्ष्णितं टङ्कवेशेन मेलयेत्तु दिने बुधः॥ 10॥

इनको आधारसूत्र के साथ ही आसनजालपूर्वक देवता-मातृका के बीजाक्षरों से युक्त करना चाहिए। शिल्पी को इनकी सूक्ष्म टाँकी से घड़ाई करनी चाहिए और किसी शुभ दिन मूर्तियों से मेलित करना चाहिए।

इति विश्वकर्मप्रणीते विश्वकर्मवास्तुशास्त्रे सकलविधदेवपीठलक्षणकथनं नाम अष्टसप्ततितमोऽध्यायः॥ 78॥

इस प्रकार विश्वकर्माप्रणीत विश्वकर्मवास्तुशास्त्र में सकलविध देव पीठ लक्षण कथन नामक अठहत्तरवाँ अध्याय पूर्ण हुआ।



अथ सकलबेरलक्षणकथनं नाम

एकोनाशीतितमोऽध्यायः॥ 79॥

अथास्मिन्नेकोनाशीतितमेऽध्याये सर्वक्षेमनिदानभूतानां हरिहरादि देवबिम्बानां लक्षणान्युपदिशति —

हरिर्हरश्च धाता च दिक्पाला वासवादिमाः।
नवग्रहस्वरूपा ये ये चान्ये विबुधा मताः॥ 1॥
ज्योतिस्स्वरूपा ये प्रोक्तास्तद्देव्यो याश्च कीर्तिताः।

(इस उनासीवें अध्याय में सभी देवी-देवताओं की मूर्तियों के लक्षणों को कहा जा रहा है) भगवान् विष्णु, भगवान् शिव, भगवान् ब्रह्मा, इन्द्रादि सहित (इन्द्र, अग्नि, यम, निर्ऋति, वरुण, पवन, धनेश एवं ईशान) दिक्पाल, नवग्रह स्वरूप (सूर्य, चन्द्र, शुक्र, केतु, बुध, मंगल, राहु, गुरु, शनि) व जो-जो भी विद्वानों के मतानुसार अन्यान्य (विष्वक्सेन, सनक, सनन्दनादि दिव्य सुर) देवता हैं, उनको ज्योतिस्वरूप कहा गया है। इसी प्रकार उनकी देवियों (लक्ष्मी, गौरी, शारदा, छाया, स्वाहादि) को भी ज्योतिस्वरूप बताया गया है।

गरुत्मान्नन्दिदेवेशो देववाहाश्च ये मताः ॥ 2 ॥
देवायुधस्वरूपा ये द्वारपा ये च कीर्तिताः ।
शास्त्रप्रवर्तका देवा ये चान्ये मुनिपुङ्गवाः ॥ 3 ॥

इसी प्रकार गरुड, नन्दिकेश्वर, हंस आदि जो देवताओं के ईश्वरों के वाहन कहे गए हैं, जो देवताओं के आयुध स्वरूप हैं और जो द्वारपाल कहे गए हैं, जो शास्त्रों, गोत्रों के प्रवर्तक (नारद, काश्यप, अत्रि, भृगु, कुत्स, वसिष्ठ, गौतमादि) और अन्य मुनिपुंगव माने गए हैं (उनकी प्रतिमाओं को बनाया जाना चाहिए)।

तस्मादेतेषां बेरनिर्माणं केन वा द्रव्येण कल्पयेदित्याकांक्षायां तदर्हद्रव्यजाति-क्रममाह —

शिलादिभिर्द्रव्यजालैरेतेषां रूपकल्पनम्।
बेरं चित्रमिदं प्रोक्तं भक्तानां भक्तिवर्धकम्॥ 4 ॥

पाषाणादि द्रव्यों से इनका जो रूप-कल्पन किया जा सकता है, वह बेर (मूर्ति), चित्र (प्रतिमा, छवि) नाम से कहा जाता है। यह भक्तानुयायियों के लिए भक्तिवर्धक कहा जाता है।

रत्नं सुवर्णं रजतं प्रवालं दन्तदारुकम्।
शिला च लोहो बेराणां द्रव्यमाहुर्मुनीश्वराः ॥ 5 ॥

प्रतिमाओं को कई द्रव्यों से बनाया जा सकता है, यथा— नवरत्न, सुवर्ण, चाँदी, प्रवाल, हाथीदांत, काष्ठ, शिला और लोहादि धातु, ऐसा मुनीश्वरों का मत है।

पीतशुक्लादिजालन्तु चित्रद्रव्यमुदाहृतम्।
द्रव्यैरेतैर्दोषहीनैश्शिल्पी निर्माणकोविदः ॥ 6 ॥

इनके (आलेखन, खाका तैयार करने हेतु) चित्र द्रव्यों में पीला, सफेद

(हरित, कृष्ण, नीला) रँग प्रयोजनीय होते हैं। ये दोषहीन द्रव्य माने गए हैं, इनके उपयोग को शिल्पी, निर्माणविद् जानते हैं।

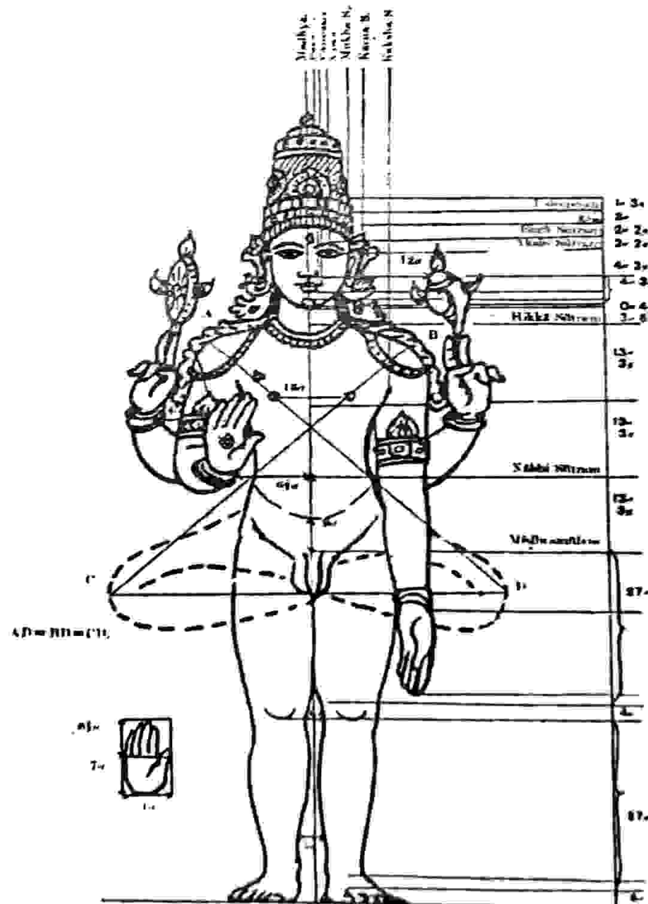
तस्मादेवं बेरनिर्माणकार्याणां नानादक्षतानि कथितम् —

क्रियासूत्रप्रमाणज्ञस्तालज्ञष्टङ्कर्मवित्।
दोषहीनं गुणोपेतं देवरूपं प्रकल्पयेत्॥ 7॥

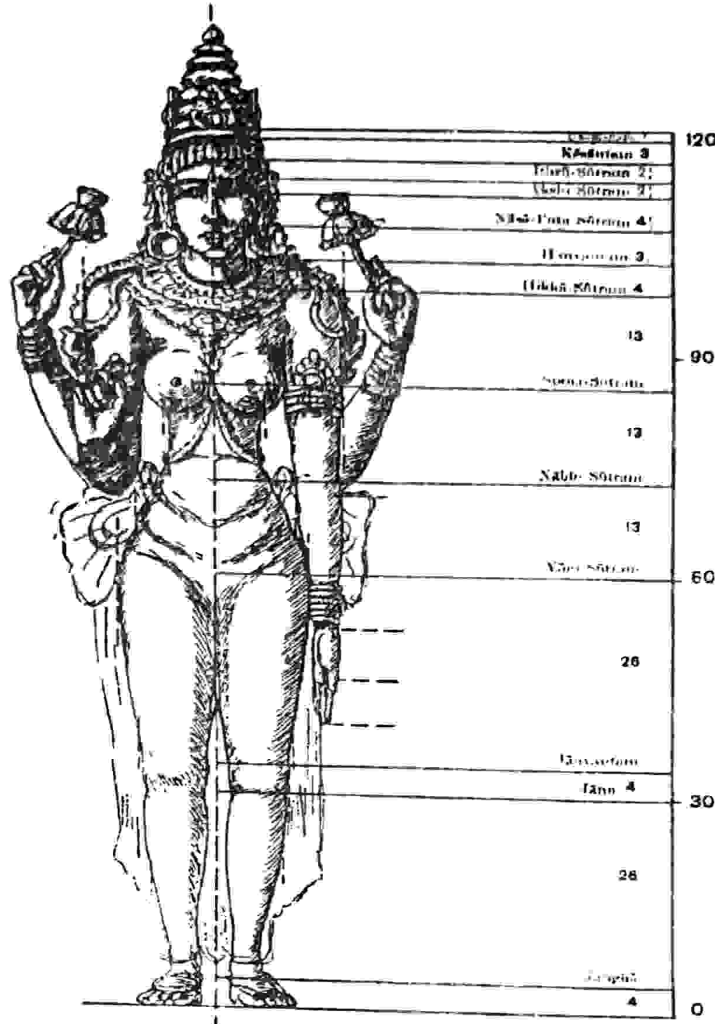
प्रतिमा निर्माण के लिए आवश्यक क्रियासूत्रविज्ञ, मान-प्रमाण का विशेषज्ञ, तालों का जानकार और टँकणकार्य में दक्ष (घड़ाई करने में कुशल) व्यक्ति ही प्रतिमा बनाए और एकदम दोषहीन, समस्त गुणों से युक्त देवस्वरूप का निर्माण करे।

विशेष : मूर्ति-चित्र निर्माण के लिए कारीगर को प्रमाण, तौल, लम्बसूत्र, पार्श्वसूत्र, तिर्यक्सूत्र, प्रमाण, आलेखन आदि की जानकारी होनी चाहिए। उक्त विषय काश्यपशिल्पम्, तन्त्रसमुच्चय, मयशास्त्र, सकलाधिकारम् सहित कपितय आगमों में विस्तार से वर्णित है।

उत्तमदशतालानुसारेण विष्णु प्रतिमा।



मध्यमदशतालेन देवी प्रतिमा।



तत्र परीक्षणञ्च काष्ठशिलाहरणार्थवनसम्प्रेषणमाह —

आदौ परीक्षयेच्छिल्पी शकुनं सुमुहूर्तके।
दिवाकरे च विमले शुद्धवासा व्रजेद्वनम्॥ 8॥

मूर्ति के लिए सर्वप्रथम शिल्पी को चाहिए कि वह शकुन की परीक्षा करे और शुभ मुहूर्त देखें। शुभ दिवस को चुने और विमल, स्वच्छ वस्त्रादि धारण कर वन में गमन करे।

वनस्पतिं पर्वतं वा पूजयेदायुधादिकम्।
द्रव्यं परीक्ष्य क्रमशः खण्डभेदाहरेद्बुधः॥ 9॥

वहाँ पर काष्ठ की प्रतिमा बनानी हो तो वनस्पति और पाषाण की प्रतिमा बनानी हो तो पर्वत की पूजा करें और वृक्ष कटाई एवं पाषाण तोड़ने के लिए आवश्यक कुल्हाड़ा, हथौड़ा, साबल, टाँकी आदि का भी पूजन करे। इसके साथ

ही ज्ञानीजन द्रव्य के अच्छे-बुरे का परीक्षण करने के बाद उनके टुकड़े करें। इसके बाद उनको ले जाना चाहिए।

तत्र खण्डकरणसूत्ररेखाञ्च योजनमाह —

स्थापयेच्च महावेद्यां शालायां वा विशेषतः।
तद्द्रव्यं खण्डयेदादौ सूत्ररेखाञ्च योजयेत्॥ 10॥

इसके बाद, इन शिला या काष्ठखण्डों को निर्माण कार्यशाला या महावेदी पर रखना चाहिए। वहाँ पर पुनः उक्त शिला या काष्ठ के पुनः आवश्यक खण्ड कर लेने चाहिए। इसके उपरान्त उक्त खण्ड पर सूत्ररेखाओं का विन्यास करना चाहिए अर्थात् मूर्ति के लिए आवश्यक खाका खींचे।

इत्यमनन्तराङ्गादीनार्थ मानादिकल्पनमाह —

अङ्गुलं तालमानं वा किष्कुमानं क्वचिन्नयेत्।
हस्तमानं क्वचिन्नेय बेरे चित्रे च कर्मणि॥ 11॥

प्रतिमा के लिए सूत्ररेखा विन्यास के प्रसंग में शिल्पी को आवश्यक अँगुलमान, तालमान अथवा किष्कुमान या फिर बड़ी प्रतिमा या चित्र बनाना हो तो हस्तमान का प्रयोग करना चाहिए।

क्रमान्मुखादिरूपन्तु योज्यं सौष्ठववेदिभिः।
मुखबाहूरुपादादीन्स्फुटरूपं प्रकल्पयेत्॥ 12॥

उक्त मान निर्धारण कर अंगादि के विज्ञ क्रमशः प्रतिमा के लिए मुखादि सहित रूप को योजित करना चाहिए और मुख, बाहू आदि रूपों को उभारने का प्रयत्न करना चाहिए।

लम्बसूत्रं पार्श्वसूत्रं तिर्यक्सूत्रं तथा नयेत्।
तत्तदङ्गक्रियाकारी सावधानो रहःस्थले॥ 13॥

प्रतिमा के रूपांकन के लिए आवश्यक लम्बसूत्र, पार्श्वसूत्र, तिर्यक्सूत्र का नियमतः उपयोग करना चाहिए और जिस अंग के लिए जो सूत्र ग्राह्य हो, उसका सावधानी के साथ प्रयोग करना चाहिए।

तक्षणैर्वर्धनैर्योगैर्द्रव्ययोग्यस्वरूपकम्।
अङ्गसौष्ठवसंयुक्तं बेरं सर्वशुभप्रदम्॥ 14॥

इसके बाद ही उक्त द्रव्य खण्ड के तक्षण, वर्धन का कार्य करते हुए योग्य

स्वरूप को आकारवान करना चाहिए। प्रतिमा में नाना अंगों का सौष्ठव सहित उभरांकन करना सदैव शुभप्रदायक होता है।

तथा च बेरप्रमाणमौन्नत्यादिके तालप्रमाणमाह —

कुर्याद्द्वादशतालेन वीरदेवप्रकल्पनम्।
दशतालेन मानेन सौम्यदेवप्रकल्पनम्॥ 15॥

शिल्पी के लिए यह स्मरणीय है कि सदैव वीर देवताओं की प्रतिमाएँ बनानी हों तो उनको बारह ताल प्रमाण से कल्पित करना चाहिए। सौम्य देवताओं की प्रतिमाओं के लिए दस ताल का प्रयोग निर्दिष्ट है।

विशेष : वीर देवताओं में वीरभद्र, रघुनाथ, कार्तिकेय आदि वीररस प्रधान देवताओं की गणना होती है। ये प्रतिमाएँ सामान्यतया बारह ताल प्रमाण से कल्पित होती है। इसी प्रकार शान्तरस, भक्तिरस एवं सत्व प्रधान देवताओं पशुपति, गौरीकान्त, नारायण, माधव, गोविन्द, रँगनाथ आदि देवताओं की मूर्तियों को दस ताल से बनाना चाहिए।

नवा-ष्ट-सप्त-षट्तालैरन्यान्देवान्प्रकल्पयेत्।
यथाविभवतस्सर्वदेवानां कल्पनं मतम्॥ 16॥

इनके अतिरिक्त अन्य देवताओं की प्रतिमाएँ नवताल, अष्टताल एवं षटताल मान से कल्पित की जानी चाहिए। यही नहीं, जैसा सम्पदा सामर्थ्य हो, वैसे सभी देवताओं की मूर्तियाँ बनानी चाहिए।

अथ ग्रामपुरादियोग्यबेरश्चफलमाह —

पुरयोग्यं हर्म्ययोग्यं गृहयोग्यं प्रकल्पयेत्।
तद्बेरस्थापनं मोक्षैश्वर्यारोग्यसुखप्रदम्॥ 17॥
तस्मात्तत्कल्पयेच्छिल्पी दोषहीनं गुणान्वितम्।

(इन प्रतिमाओं के निर्माणावसर पर यह भी ध्यान रखना चाहिए कि वे कहाँ के लिए उपयोगी है) सामान्यतया पुर में स्थापना के योग्य, प्रासाद में पूजा के योग्य और गृह में पूजा की दृष्टि से उपयोगी प्रतिमाएँ बनती हैं। जो प्रतिमा जिसके योग्य हो, वहीं पर स्थापित करने से वे मोक्ष, ऐश्वर्य, आरोग्य और सुख प्रदान करती है। इसलिए स्थानादि की आवश्यकता को ध्यान में रखकर ही शिल्पी को दोष से हीन और गुणों से युक्त प्रतिमा का निर्माण, नियोजन करना चाहिए।

तत्र नानालङ्करणादीनामाह —

करण्डमुकुटोपेतं शीर्षकैरपि वेष्टकम् ॥ 18 ॥
किरीटैश्च जटाजालैर्यथारूपं प्रकल्पयेत् ।
ललाटभ्रूनेत्रनासाधरगण्डस्थलानि च ॥ 19 ॥
कर्णकण्ठभुजानालवक्षोनाभिस्थलानि च ।
जङ्घोरुपादस्थानानि स्थानान्यन्यानि चाङ्गके ॥ 20 ॥
तद्रेखाजालयुक्तानि तत्प्रमाणयुतानि च ।

देव प्रतिमाओं को उनके शीर्ष पर आवश्यक करण्ड, मुकुट से वेष्टित किया जाना चाहिए। उनको किरीट, जटाजाल इत्यादि सहित उचित रूप से बनाए और ललाट, भ्रू, नेत्र, नासिका, अधर, गण्डस्थल, कर्ण, कण्ठ, भुजा, नाल, वक्ष, नाभिस्थल, जंघा, उरु, चरणों और अन्य अंगों खींचे गए रेखासूत्र (खाके) के अनुसार बनाए। इसमें आवश्यक प्रमाणों का पालन किया जाना चाहिए।

तालप्रमाणोर्ध्वमानक्रमात्सर्वं प्रकल्पयेत् ॥ 21 ॥
नानाभरणसंयुक्तमन्तर्वाससमुज्ज्वलम् ।

इसी प्रकार प्रतिमा को निर्दिष्ट ताल प्रमाण, ऊर्ध्वमान आदि समस्त निर्देशों का ध्यान रखते हुए बनाना चाहिए। तद्नुसार ही नाना आभरणों (विष्णु मूर्ति में किरीट, कौस्तुभ, श्रीवत्स, वनमाला, चक्रादि) से युक्त करे। तदर्थ आवश्यक उज्ज्वल अन्तर्वस्त्रों को भी प्रतिमा पर (पारदर्शी रूप में) उभारा जाना चाहिए।

इत्यमनन्तर बेरस्य हस्तायुधकल्पनमाह —

द्विहस्तं वा चतुर्हस्तं षट्करन्त्वष्टहस्तकम् ॥ 22 ॥
कल्पयेद्द्वादशकरं नानायुधसमन्वितम् ।

देव प्रतिमाओं को द्विभुजी, चतुर्भुजी, षट्भुजी, अष्टभुजी और द्वादशभुजी बनाया जा सकता है और उन हाथों में आवश्यक आयुध धारण करवाए जाने चाहिए।

अथ देवस्य हस्तमुद्रादीनामाह —

नानामुद्रासमायुक्तकरं वा सम्प्रकल्पयेत् ॥ 23 ॥
अथाञ्जलिपुटोपेतं भक्तरूपं सपीठकम् ।
यज्ञसूत्रसमायुक्तं कण्ठतन्तुसमुज्ज्वलम् ॥ 24 ॥

देवमूर्ति को नाना मुद्राओं में बनाया जा सकता है। उनके हाथों को विविध मुद्राओं (और आयुध) सहित बनाया जा सकता है। वे अंजलिबद्ध या करबद्ध मुद्रा में भी हो सकती है। भक्तरूप में उनको पीठ सहित बनाए। इसी प्रकार यज्ञसूत्र से युक्त बनाए और गले में कण्ठी, माला आदि भी बनाए।

अथ बेरस्यासनादीनामाह —

आधारासनसंयुक्तं प्रसन्नमुखमण्डलम्।
आसीनं वा शयानं वा तिष्ठन्तं वा यथाक्रमम्॥ 25॥
तत्तद्वाहयुतं वापि लोहबेरं क्वचिन्मतम्।

मूर्तियों को आधार पर आसन सहित और प्रसन्न मुख मण्डल सहित बनाना चाहिए। वे यथाक्रम 1. आसनस्थ, 2. शयनस्थ या फिर 3. खड़ी हुई हो सकती है। ये प्रतिमाएँ अपने-अपने वाहन सहित बनती है। किसी-किसी का मत है कि प्रतिमाओं के लिए वाहन को लोहादि का बनाए अथवा वाहन को लोहादि की प्रतिमा में ही बनाए।

अथ नयनोन्मीलनविधानमाह —

कारयित्वा यथाशोभं सुमुहूर्ते सुलग्नके॥ 26॥
नयनोन्मीलनं कुर्याद्भट्टार्यो दीक्षितोऽपि वा।
नानादानानि विप्रेभ्यो वेदज्ञेभ्यो विशेषतः।
पुरवीथीप्रवेशश्च सर्वक्षेमकरो भवेत्॥ 27॥

इन प्रतिमाओं के लिए शोभनीय, सुमुहूर्त और सुलग्न में नयनोन्मीलन[१] का विधान किया जाना चाहिए। इस कृत्य में स्थपतिवर, भट्टारक, दीक्षित आदि उपस्थिति हों और उन्हें तथा विप्रों, वेद वागीशों को नाना प्रकार का दान-सम्मान

---

१. तथा च सात्वतसंहितायाम् — संस्मरन् परमं ज्योतिरीषनेत्रे तु चोल्लिखेत्। तन्मन्त्रितेन शस्त्रेण शिल्पी स्नातोऽवलोकितः॥ यथावत् प्रकटीकुर्याद् विधिदृष्टेन कर्मणा। वारुणं पाठयेत् साम सह चान्द्रेण सामगान्॥ ततः पात्रद्वये कृत्वा तैजसे मधुसर्पिषी। वौषडन्तेन मूलेन सम्पूर्य जुहुयात् ततः॥ मुञ्चन्तममृतौघं तु हृदाद्यन्तेन सेचयेत्। तन्मूर्ध्नि शशिबिम्बं तु ध्यायेत् ताडनशान्तये॥ सदक्षिणं शलाकाद्यं दद्याच्छिल्पिजनाय च। गोदानमाचरेत् पश्चाद् गुरोराराधकस्ततः॥ यथाशक्ति तथान्येषां मूर्तिपानां च दक्षिणाः। दत्त्वा समाचरेत् पश्चाद् दाहं साप्यायनं तु वै॥ आमूर्ध्नो द्वादशार्णं तु मूर्त्यर्थं पूर्ववन्न्येत्। व्यासिससमायुक्ते संस्कृते प्रोक्षणादिना॥ पीठेऽवतार्य संवेष्ट्य वासोभ्यां चाप्यधार्ध्वतः॥ (सात्वतसंहिता 25, 101-108 तुलनीय- ईश्वरसंहिता 18, 207-210 एवं पाद्मसंहिता 15, 330-333)

दिया जाना चाहिए। इसके बाद ही प्रतिमा को स्थापना के लिए पुरवीथी या नगर की गलियों में घूमाते हुए ले जाना चाहिए। यह कृत्य सभी के लिए कल्याणप्रद होता है।

इति विश्वकर्मप्रणीते विश्वकर्मवास्तुशास्त्रे सकलबेरलक्षणकथनं नाम एकोनाशीतितमोऽध्याय॥ 79॥

इस प्रकार विश्वकर्माप्रणीत विश्वकर्मवास्तुशास्त्र में समस्त मूर्ति लक्षण कथन उनावीवाँ अध्याय पूर्ण हुआ।



अथ शिवबेराणां भेदक्रमकथनं नाम

अशीतितमोऽध्यायः॥ 80॥

अथास्मिन्नशीतितमेऽध्याये सकलविधशिवबेराणां भेदलक्षणक्रममुपपादयति —

कैलासाधिपतिश्शम्भुर्लोकानुग्रहकाम्यया।
भक्तैस्सम्प्रार्थितः पूर्वं वनमध्ये नदीतटे॥ 1॥
भूधरस्य तटे मौलौ वृक्षमूले शुभस्थले।
स्वां मूर्तिं देवदेवेशो दिव्यां प्रादर्शयच्छुभाम्॥ 2॥

(इस अस्सीवें अध्याय में भगवान् शिव की नाना प्रकार की मूर्तियों का वर्णन किया गया है) पूर्वकाल में भक्तों ने भगवान् कैलासाधिपति शम्भु का अनुग्रह प्राप्त करने की कामना को लेकर वन के मध्य में, नदी के तट पर, पहाड़ी कन्दरा, शिखर और वृक्ष के मूल सहित शुभ स्थलों में प्रार्थना की थी। इस पर इन सभी स्थलों पर देवदेवेश शिव ने अपने दिव्य स्वरूप को प्रकट किया था।

मानवीं तनुमाश्रित्य क्वचिल्लिङ्गीमनेकधा।
भूलोके देवदेवस्य तस्य वैभवमुत्तमम्॥ 3॥
ज्ञात्वा हर्षेण मुनयः प्रणेमुश्च सहस्रशः।

(समय-समय पर) शिव कहीं मानवीय स्वरूप में तो कहीं लिंग स्वरूप में अनेकविध चिह्नों सहित थे। भूलोक में देवदेवेश शिव के इस उत्तम स्वरूप वैभव को जानकर मुनिगण हर्षित हुए और उनको हजारों बार प्रणाम किया।

देवाश्च मुदिता आसन्ब्राह्मणा वेदपारगाः ॥ 4 ॥
अभिषेकैः पूजनैश्च नैवेद्यैर्विविधैरपि।
सत्कृत्य च महादेवं प्रापुश्च परमां मुदम् ॥ 5 ॥

इसी क्रम में देवगण मुदित होकर वेदपारग ब्राह्मणों के समीप आए। शिव सन्निधि को पाकर विप्रों ने उनका अभिषेक, पूजन किया और नानाविध नैवेद्य निवेदित कर सत्कार किया और महादेव को पाकर बहुत ही प्रसन्न हुए।

तत्प्रसादवशात्सर्वं जगत्स्थावरजङ्गमम्।
निराबाधञ्च निष्पीडं परमानन्द भागभूत् ॥ 6 ॥
तस्मात्तद्दिव्यमूर्तीस्तु स्थापयेल्लक्षणान्वितः।

उस प्रसाद के वश समस्त जगत के स्थावर, जंगम जीव निराबाध, निष्पीड़ अर्थात् सभी बाधाओं के पार एवं कष्टों से मुक्त हो गए और परमानन्द को प्राप्त करने वाले हुए। इसलिए ऐसे शिव की दिव्य मूर्ति को उचित लक्षणों सहित बनाकर स्थापित करना चाहिए।

तथा च ग्रामनगरादिवास्तुस्थलेषु देवालयनिर्माणकारयिता वा देवबेरप्रतिष्ठापयिता वा स्वस्ववाञ्छानुगुणं तत्तत्क्षेत्रमाहात्म्यप्रतिपादितपरमेश्वरमूर्त्यवतारानुगुणं —

नटेशबेरं कैरातं चन्द्रशेखरमेव वा ॥ 7 ॥
मृत्युञ्जयं पशुपतिं चण्डेशं गजमर्दनम्।
जटाधरमुमाकान्तं सोमास्कन्दञ्च भैरवम् ॥ 8 ॥
दक्षिणामूर्तिबेरं वा कैलासाधिपतिं शुभम्।
वृषारूढं हरिहरं लिङ्गरूपमनेकधा ॥ 9 ॥
त्रिपुरान्तकरूपं वा क्षेत्रनाथमनेकधा।

(भगवान् शिव के रूपों में प्रमुख रूप हैं) 1. नटेशमूर्ति, 2. किरातमूर्ति, 3. चन्द्रशेखरमूर्ति, 4. मृत्युञ्जयमूर्ति, 5. पशुपतिमूर्ति, 6. चण्डेशमूर्ति, 7. गजहामूर्ति, 8. जटाधरमूर्ति, 9. उमाकान्तमूर्ति, 10. सोमास्कन्दमूर्ति, 11. भैरवमूर्ति, 12. दक्षिणामूर्ति, 13. वृषारूढ़मूर्ति, 14. अनेकलिंगस्वरूप हरिहरमूर्ति,

15.त्रिपुरान्तकमूर्ति एवं 16. नाना रूपों में क्षेत्रनाथ की मूर्ति।[१] (शिव की ये मूर्तियाँ नवताल, दशताल, द्वादशताल प्रमाण सहित यथाक्रम व यथा सम्पदा सामर्थ्य बनानी चाहिए)।

तत्र वाहनायुधकल्पनमाह —

कार्तिकेयं गणाध्यक्षं तत्तद्वाहसमन्वितम्॥ 10॥

शूलपाशसृणीकुन्तमुसलाद्यायुधोज्ज्वलम्।

तद्देव्यालिङ्गिततनुं कल्पयेच्छिल्पवित्तमः॥ 11॥

भगवान् शिव की इन प्रतिमाओं को कार्तिकेय[२], गणपति[३] और उनके वाहन वृषभ सहित बनानी चाहिए। इसी प्रकार उनके आयुध त्रिशूल, पाश, सृणी-अंकुश,

---

१. मयमतम् में शिव की सोलह प्रतिमाओं के नाम एवं लक्षण आए हैं। एक प्रकार से यह शिवलीला का प्रकटीकरण है। नियमानुसार शिव के इन रूपों का क्रम यह है— 1. सुखासन, 2. विवाह, 3. उमा सहित स्कन्द (सोमास्कन्द), 4. वृषारूढ़, 5. (त्रि)पुरारि, 6. नृत्त, 7. चन्द्रशेखर, 8. अर्द्धनारी, 9. विष्णवर्ध (हरिहर), 10. चण्डेशानुग्रह, 11. कामारी, 12. कालनाश, 13. दक्षिणामूर्ति, 14. भिक्षाटन, 15. मुखलिङ्ग तथा 16. लिङ्गसम्भूत— (षोडशप्रतिमानामं वक्ष्यते विधिनाधुना।) सुखासनं विवाहं चाप्युमास्कन्दं परं तथा॥ वृषारूढं पुरारिं च नृत्तं वै चन्द्रशेखरम्। अर्धनारिं च विष्णवर्धं चण्डेशानुग्रहं परम्॥ कामारिं कालनाशं च दक्षिणामूर्तिकं तथा। भिक्षाटनं मुखलिङ्गं लिङ्गसम्भूतरूपकम्॥ (मय. 36, 43-45)

दीप्तागम में इनको संख्यानुसार नामित किया गया है— प्रथमं सुखासनं प्रोक्तं वैवाह्यं च द्वितीयकम्॥ तृतीयमुमया युक्तं वृषारूढं चतुर्थकम्। पञ्चमं त्रिपुरघ्नं च नृत्तरूपं च षष्ठकम्॥ चन्द्रशेखरमेवोक्तं सप्तमं तु विधीयते। अष्टमं चार्धनारी च नवमं हरिरर्धकम्॥ चण्डेश्वरप्रसादं तु दशमं परिकीर्तितम्। कामार्येकादशं प्रोक्तं द्वादशं कालनाशनम्॥ त्रयोदशं दक्षिणामूर्तिं भिक्षाटनमतः परम्। सदाशिवं पञ्चदशं लिङ्गोद्भवं च षोडश॥ (दीप्तागम पटल 16, 119-123)

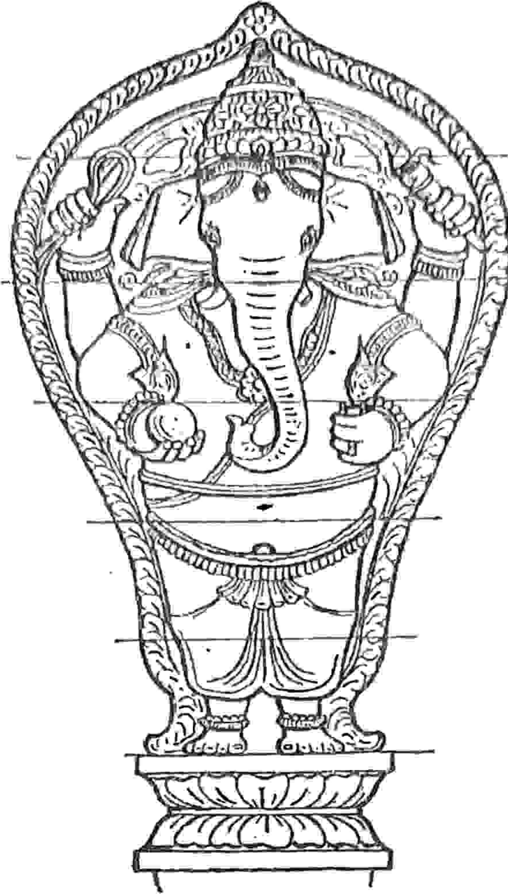
सकलाधिकार में परमशिवमूर्तिभेद इस प्रकार आए हैं— सोमास्कन्देश्वरं सेन्दुशेखरं वृषवाहनम्। नटेश्वरं तथा गङ्गाधरं च त्रिपुरान्तकम्। कल्याणसुन्दरश्चार्धनारिं पाशुपतं तथा। कङ्कालं केशवार्धं च भिक्षाटनमतः परम्॥ चण्डेशानुग्रहं दक्षिणेशं कालविनाशनम्। लिङ्गोद्भवं च मूर्तीनां भेदः षोडशधा भवेत्॥ (सकलाधिकारम् 6-8)

२. मयमतम् में कार्तिकेय का स्वरूप इस प्रकार आया है— (सर्वाभ-)रणसंयुक्तं षण्मुखं कुङ्कुमच्छविम्। देव्यो गजा च वल्ली च पीतश्यामनिभे कृते॥ सर्वाभरणसंयुक्ते वामेऽवामे प्रयोजयेत्। ग्रामादिवस्तुमध्ये च चतुर्दिक्षु प्रशस्यते॥ वीथ्यग्रे वीथिमध्ये वा ऐशान्यामपि वर्धयेत्। भोगार्थं पश्चिमे (न्यस्य) मोक्षार्थं मध्यमेऽस्य तु॥ (मय. 36, 119-121)ह्य

३. वहीं पर गणेश की मूर्ति के लक्षणों का वर्णन इस प्रकार हुआ है— गजाननस्त्वेकदन्तः समस्थस्तु त्रिलोचनः। रक्तवर्णश्चतुर्बाहुर्भूतरूपो महोदरः॥ नागयज्ञोपवीतस्तु घनपिण्डोरुजानुकः। पद्मासनोपरिष्टात् तु वामाङ्घ्रिशयितं (तथा)॥ दक्षिणं कुञ्चितं पादं वामावर्ताङ्गुलीयकम्।

कुन्त, मुसल आदि आयुधों सहित स्पष्टतः लक्षित करें। उनकी देवी पार्वती को काया से आलिंगित रूप में भी शिल्पविशारद को कल्पित करना चाहिए।

गणाध्यक्ष प्रतिमा।



मूलोत्सवक्रमाद्बेरनिर्माणं यत्र संयुतम्।
भक्तांश्च देवदेवस्य कल्पयेत्साञ्जलीनपि॥ 12॥

शिवालय में मूललिंग सहित उत्सवलिंग को भी कल्पित करके रखना चाहिए। शिव के उपासकों, भक्तों को भी देवदेवेश के सान्निध्य में करबद्ध रूप में बनाना चाहिए।[1]

स्वदन्तमङ्कुशं कुर्याद् दक्षिणे (वै) करद्वये॥ वामद्वयेऽक्षमालां च लड्डुकं च प्रदायेत्। करण्डिकाभ मौल्यङ्गो हाराद्याभरणान्वितः॥ एवं गणाधिपः प्रोक्तः स्थितो वा पद्मपीठके। नृते च षड्चतुर्बाहु (सकेतु-)राखुवाहनः॥ (तत्रैव 36, 122-126)

१. सकलाधिकार में अगस्त्य का मत है कि देव प्रतिमाएँ अचल एवं चल दो प्रकार की होती है और ये तरु, मणि, शिला-सुधा, विविध लौह, मृण, उत्तम शर्करा से तैयार की जा सकती है— तदचल च चलं द्विविधं वपुः सुधर(तरु)सन्मणिधातुशिलासुधा।

इति विश्वकर्मप्रणीते विश्वकर्मवास्तुशास्त्रे शिवबेराणां भेदलक्षणक्रमकथनं नाम अशीतितमोऽध्यायः ॥ 80 ॥

इस प्रकार विश्वकर्माप्रणीत विश्वकर्मवास्तुशास्त्र में शिव मूर्तिभेद लक्षण क्रम कथन नामक अस्सीवाँ अध्याय पूर्ण हुआ।



अथ विष्णुबेराणां भेदक्रमकथनं नाम

एकाशीतितमोऽध्यायः ॥ 81 ॥

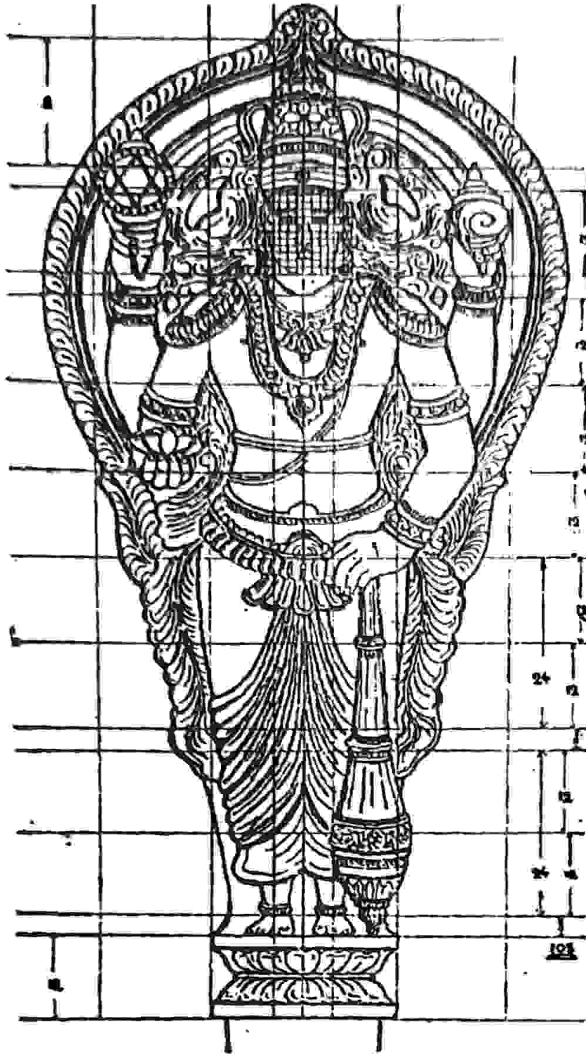
अथास्मिन्नेकाशीतितमेऽध्याये सकलविधविष्णुबेराणां लक्षणभेदक्रमुपपादयति–

वैकुण्ठलोकाधिपतिर्लोकरक्षणतत्परः ।
श्रीमान्विष्णुरचिन्त्यात्मा योगिभाव्योऽतिरञ्जनः ॥ 1 ॥

(इस इक्यासीवें अध्याय में भगवान् विष्णु की प्रतिमाओं का भेदक्रम सहित वर्णन किया जा रहा है) वैकुण्ठ लोकाधिपति भगवान् विष्णु समस्त लोकों के रक्षा में तत्पर हैं। विष्णु श्रीपति हैं और अचिन्त्यात्मा हैं। वे योगिभाव्य अतिरंजक या योगियों को भावभूमि पर आनन्द प्रदान करने वाले हैं।

विविधलोहमृदुत्तमशर्करा विरचितं स्वयमष्टविधं भवेत्॥ पार्थिवं शार्करं सौधं बेरं स्थावरमिष्यते। चलाचलं शिलादारुधातुजं रत्नलोहजौ। चलमेव प्रयुञ्जीयादाभासं धातुजं भवेत्॥ (सकलाधिकारम् 2-3)

विष्णु प्रतिमा।



बहुधाऽऽविरभूद्भूमौ पूर्वं मायातनुः प्रभुः।
तस्मात्तद्बेरनिर्माणं स्थापनं पूजनं शुभम्॥ 2 ॥

पूर्वकाल (कृतयुग, त्रैता, द्वापर और कलियुग में) भगवान् विष्णु ने इस भूमि पर कई आविर्भूत होकर मायारूपी तन को धारण किया है। अतएव इन भगवान विष्णु की प्रतिमा[1] बनाकर उसकी स्थापना और पूजन करना शुभ होता है।

---

१. मयमतम् में विष्णु की मूर्ति के सम्बन्ध में कहा गया है कि विष्णु की प्रतिमा को किरीट मुकुट, केयूर, कटकादि अलंकरणों से युक्त करें और चतुर्भुज बनाए। विष्णु के दो हाथ सृष्टिक्रम से वरद और अभय मुद्रा में हों तथा दो में शङ्ख और चक्र धारण करवाए जाएं। विष्णु की प्रतिमा को स्थानक अथवा आसनस्थ बनाया जाए तथा उनके बाँयीं ओर अवनि या पृथ्वी तथा दाँयीं ओर रमा को उत्कीर्ण किया जाना चाहिए। अच्युतप्रभु विष्णु को

तस्मात्तदिदं विष्णुबेरस्वरूपञ्च नामानि —

मत्स्यकूर्मादिरूपं वा वैकुण्ठभवनाधिपम्।
नारायणं केशवं वा गोविन्दं माधवं तथा॥ 3॥
लक्ष्मीकान्तं मधुरिपुं तत्वप्रदमथापि वा।
प्रसन्नं श्रीधरं वापि हृषीकेशं परं पतिम्॥ 4॥
पद्मनामं क्षेत्रनाथं दामोदरमथापि वा।

(अवतारानुसार भगवान् विष्णु के मूर्तिस्वरूपों में निम्न प्रमुख हैं) 1. मत्स्यमूर्ति, 2. कूर्ममूर्ति, 3. वैकुण्ठभवनाधिपतिमूर्ति, 4. नारायणमूर्ति, 5. केशवमूर्ति, 6. गोविन्दमूर्ति, 7. माधवमूर्ति, 8. लक्ष्मीकान्तमूर्ति, 9. मधुसूदनमूर्ति, 10. तत्त्वोपदेशव्यग्रदेवमूर्ति, 11. प्रसन्नदेवमूर्ति, 12. श्रीधरमूर्ति, 13. हृषिकेशमूर्ति, 14. पद्मनाभ, 15. क्षेत्रनाथ और 16. दामोदरमूर्ति।

तत्र मुद्रायुधञ्च कल्पनमाह—

वरदाभयहस्तं वा शार्ङ्गहस्तमथापि वा॥ 5॥
पञ्चायुधकरं वापि शेषशायिन वा।
भक्तिप्रियं भीतिहरं नानारूपं प्रकल्पयेत्॥ 6॥

उक्त क्रम में भगवान् विष्णु की मूर्ति को वरद, अभय मुद्राओं सहित शार्ङ्गपाणि बनाए अथवा पञ्चायुधों[१] को धारण करवाए। उनको शेषशायी[१] रूप में

सिंहासनारूढ़ अथवा कमलासन पर उत्कीर्ण किया जाना चाहिए। वे श्याम वर्ण हैं। ग्रामादि में प्रासाद मध्य में, आठों दिशाओं में विष्णु प्रतिमा की स्थापना प्रशस्त होती है। विष्णु की प्रतिमा में विष्णु के साथ श्रीलक्ष्मी और भूमि की प्रतिमा को कमलाक्षी बनाना चाहिए। इन प्रतिमाओं की स्थापना और उत्कीर्णन में मुमुक्षुजनों को उदारतापूर्वक दक्षता का परिचय देना चाहिए। इस प्रतिमा के साथ ही ध्वज एवं वाहन गरुड़ को भी बनाना चाहिए — विष्णु किरीट-मुकुट-केयूर-कटकान्वितः। भूषितः कटिसूत्राद्यैः पीत वासश्चतुर्भुजः॥ वरदाभयहस्तश्च शङ्खचक्रधरः शुचिः। आसीनो वा स्थितो वाऽपि वामेऽवामेऽवनी रमा॥ पीठस्थो वाम्बुजस्थो वा श्यामवर्णोऽच्युतः प्रभुः। ग्रामादिवस्तुमध्ये च दिक्ष्वष्टासु प्रशस्यते॥ श्रीलक्ष्मी भूमिसोद्भासी वक्ष्यते कमलेक्षणः। एकबेरं मुमुक्षूणां स्थापनीयं विचक्षणैः॥ ध्वजं च वाहनं चापि गरुडः समुदीरितः। (मय. 36, 8-12)

१. मयमतम् का निर्देश है कि विष्णु के आयुधों में शंख, चक्र, गदा, शार्ङ्गधनुष व खड्ग को अपने (पुरुष, मूल) रूप में बनाया जाना चाहिए। शंख पुरुष को श्वेत वर्ण, चक्र पुरुष को रक्त वर्ण पुरुष, गदा को स्वर्णाभ स्त्री रूप में, शार्ङ्ग को श्याम पुरुष तथा खड्ग को काली स्त्री के रूप में उत्कीर्ण किया जाना चाहिए। उसे सर्वभूषणों से भूषित करें। इनको वाम भाग से क्रमशः खड़े

भी बनाया जा सकता है। वे भक्तिप्रिय हैं, भय निवारक हैं अतः नाना रूपों (मूल एवं उत्सवार्चा) में भी उनको कल्पित किया जा सकता है।

देवीगणसमोपेतमलङ्कारासनस्थितम्।
क्षेत्रदेवैर्मुनीन्द्रैर्वा संयुतं शान्तरूपकम्॥ 7॥

विष्णु को देवीगणों (लक्ष्मी, भूमिदेवी) के साथ नाना अलंकारों और आसन पर स्थित बनाया जाना चाहिए। इसके साथ ही क्षेत्रदेवों, मुनीन्द्रों को शान्त स्वरूप में कल्पित किया जाना चाहिए।

इति विश्वकर्मप्रणीते विश्वकर्मवास्तुशास्त्रे विष्णुबेराणां भेदलक्षणक्रमकथनं नाम एकाशीतितमोऽध्यायः॥ 81॥

इस प्रकार विश्वकर्माप्रणीत विश्वकर्मवास्तुशास्त्र में विष्णु मूर्ति भेद लक्षण क्रम कथन नामक इक्यासीवाँ अध्याय पूर्ण हुआ।



करें और दाएं हाथों में सायुध करें। इन सभी आयुध-शरीरों को बहुवर्णाम्बर से अलंकृत करें और सबके सिर पर अपने आयुध बनाएं। इसी प्रतिमा में मधु-कैटभ को रोषमुद्रा में पार्श्व में उत्कीर्ण किया जाना चाहिए— शङ्खचक्रगदा शार्ङ्गखड्गाः सकलरूपिणः॥ शङ्खास्त्रेशः सितो भूतश्चक्रो रक्तनिभः पुमान्। गदा स्त्री हेमसंकाशा शार्ङ्गः कृष्णपुमानभवेत्॥ खड्गा श्यामलवर्णा स्त्री सर्वभूषणभूषिता। वामस्था सूचयो वामे दक्षे चोद्यतपाणयः॥ नानावर्णाम्बराः सर्वे स्वमूर्ध्नि न्यस्तहेतयः। मधुकैटभकौ (पार्श्वे) स्थापितव्यौ (च) रोषितौ॥ (मय. 36, 30-33)

१. मयमतम् में शेषशायी स्वरूप इस प्रकार वर्णित है— सुप्तरूपं तु कर्तव्यानन्तरूपतल्पके। त्रिमेखलसमायुक्ते पञ्चसप्तफणान्विते॥ पूर्वस्मिन्दक्षिणे वाऽपि शिरोयुग् द्विभुजः प्रभुः। दक्षिणस्थो दण्डभुजः शिरोधरभुजोऽथवा॥ सपुष्पो वामहस्ते तु योगनिद्रासुभद्रकः। सितपीताञ्जनश्यामसन्निभस्तु चतुर्युगे॥ कृतादिषु क्रमेणैव पूर्ववद् भूषणादिकम्। नाभिजन्माम्बुजे धाताप्यासीनस्तु समाहितः॥ श्रीभूमी पुष्पहस्ते च स्थापितव्ये शिरोङ्घ्रिके। शयनं वामपादं तु श्रियो भूम्यास्तु दक्षिणे॥ (तत्रैव 36, 25-29)

अथ लक्ष्मीगौर्यादिबेरलक्षणकथनं नाम

द्व्यशीतितमोऽध्यायः ॥ 82 ॥

अथास्मिन्द्व्यशीतितमेऽध्याये ग्रामकृतपुरकृतनगरकृतालयस्थानेषु स्थापनीयानां सर्वासामपि गौरीलक्ष्म्यादिदेवीबेराणां स्थापनक्रममुपादयति—

देवालयेषु सर्वेषु देवीनां स्थापनं शुभम्।
शक्तीनाञ्च सयन्त्राणां पूजनं वेदपारगैः ॥ 1 ॥
भट्टारकैर्दीक्षितैर्वा सर्वक्षेमकरं भवेत्।
तस्मात्प्रकल्पयेच्छिल्पी देवीनां बेरमुत्तमम् ॥ 2 ॥

(इस बयासीवें अध्याय में प्रधान देवियों की मूर्तियों के लक्षण कहे जा रहे हैं, इनकी मूर्तियाँ ग्राम, पुर, नगरादि के देवालयों में प्रतिष्ठेय होती है) सभी देवालयों में देवियों की स्थापना शुभप्रद होती है। वेदपारग पण्डितों द्वारा इन शक्तियों का (बीजाक्षर, रेखान्यास पूर्वक) यन्त्रों सहित पूजन किया जाता है। ऐसा करना भट्टारकों और दीक्षितों सहित सभी के लिए कल्याणकारी होता है। इसलिए शिल्पी को चाहिए कि वह देवियों के उत्तम मूर्ति-स्वरूपों की रचना करे।

अथ शिवदेव्यादीनां बेरभेदक्रममाह —

तपस्वन्तीमपर्णा वा गौरीमीशेन संयुताम्।
नानासुरप्रमथिनीं भक्तरक्षाप्रदान्तु वा ॥ 3 ॥
कालीं करालीमथवा भैरवीं विविधायुधाम्।

तपस्विनी देवी अपर्णा या गौरी देवी को शिव के साथ बनाया जाना चाहिए। इसी प्रकार नाना असुरों का मान मर्दन करने वाली और भक्तों की रक्षाकर अभय कर देने वाली देवियों में काली[1], कराली अथवा भैरवी को विविधानेक आयुधों (डमरु, शूल, घण्टा, कमल, पाश, अंकुशादि) सहित बनाया जाना चाहिए।

---

१. महाभागवत में कहा गया है कि वे रक्तवस्त्र को धारण करने वाली, तीन भयङ्कर नेत्रों से सुशोभित, चार भुजाओं और विकराल दन्तावली तथा प्रलयकालीन मेघों की आभा वाली है। वे मणिसिंहासन पर आरूढ़ एवं सिंह, प्रेत और कमल पर विराजित हैं— ध्यायतां परमेशानीं कामाख्यां कालिका पराम्। रक्तवस्त्रपरीधानां घोरनेत्र त्रयोज्ज्वलाम्॥ चतुर्भुजां भीमदंष्ट्रां युगान्तजलदद्युतिम्। मणिसिंहासने न्यस्तां सिंहप्रेताम्बुज स्थिताम्। (महाभागवत 77, 5-6)

तत्तत्क्षेत्राधीश्वरीं वा स्थापयेद्विविधासने ॥ 4 ॥
दुर्गां द्वारान्तिके वापि पुरमध्येऽथवा क्वचित् ।
ग्रामस्य वा बहिर्देशे ग्रामदेवीं च कल्पयेत् ॥ 5 ॥
रक्षाकरीं वा जननीमालये स्थापयेत्क्वचित् ।

इसी प्रकार जो जिस क्षेत्र की अधीश्वरी मातृका हो, उसे विविध प्रकार के आसनों पर विराजित किया जाना चाहिए। जैसे दुर्गा[१] दुर्ग की अधीश्वरी है, उसे दुर्ग के द्वार पर अथवा पुर के मध्य में भी (सव्यभाग क्रम से लघु देवालय बनाकर) स्थापित किया जा सकता है। ग्राम में या उसके बाहर ग्रामदेवी की स्थापना की जानी चाहिए। रक्षाकरी देवी को कदाचित जन्मदात्री माताओं के प्रसवकक्षों में स्थापित किया जाना चाहिए।

अथ विष्णुदेवीबेरभेदक्रममाह —

एवं पद्मां पद्महस्तां मुरमर्दनदेविकाम् ॥ 6 ॥
नारायणीं वा कल्याणीं प्रजारक्षणतत्पराम् ।
सर्वक्षेमङ्करीं लक्ष्मीं महिषीं माधवस्य च ॥ 7 ॥
नानायन्त्रसमोपेतां नानालङ्कारमण्डिताम् ।
भद्रपीठस्थितां वापि क्षेत्रपीठस्थितान्तु वा ॥ 8 ॥

वैष्णवी देवी[२] को वैष्णव तीर्थ, मन्दिरों में पद्मा, पद्मा, मुरमर्दनदेविका के रूप में स्थापित किया जाता है। नारायणी या कल्याणी देवी प्रजा की रक्षा के लिए तत्पर

---

१. वास्तुमञ्जरी में दुर्गा की मूर्ति के लिए कहा गया है—दुर्गा सिंहासनस्यामा शराशिखेटकाय। धृक् बाण चक्रशङ्खचापान्वितामरकत प्रभा॥ दुर्गालङ्कार शोभाढ्या सिंहारूढा त्रिलोचना। वराङ्कुशपाशफले पद्मावत्य हि शेखरा॥ पद्मासना रक्तवर्णाकुर्कुटारगवाहना। पार्वती भूषणैर्युक्ताश्यामाङ्गी सिंहवाहना॥ (वास्तुमञ्जरी 3, 70-72)

२. महालक्ष्मी की प्रतिमा का विधान मय ने इस प्रकार बताया है कि लक्ष्मी को पद्मासन पर अवस्थित करें और दो भुजी और कञ्चन जैसी आभावाली बनाकर उज्ज्वल स्वर्णाभरणों के साथ ही मकराकृति वाले कुण्डल व शङ्खाकार मण्डल (कुण्डल) से युक्त करें। लक्ष्मी की प्रतिमा को सुयौवना, सुरम्य अङ्गकान्ति वाली, कुञ्चित केश राशि के साथ ही भ्रमित भौहों से युक्त करें। लक्ष्मी का मुख मण्डल गोलाकार हों, वे कर्णपूर धारण करती हैं। वे कमल नयना हैं। लक्ष्मी के ओष्ठ रक्तवर्ण, उन्नत कपोल हैं। वक्ष पर पर वे कञ्चुक धारण करती हैं। इस प्रतिमा को शिरप्रदेश से क्रमशः शङ्ख, चक्र और सीमान्त में पङ्कज से मण्डित किया जाना चाहिए। उनके दक्षिण हाथों में पद्म और वाम हाथ में श्रीफल धारण करवाया जाना चाहिए। सुन्दर वक्ष प्रदेश एवं उन्नत श्रोणी को उज्ज्वल वस्त्रों से अलंकृत करें। वे मेखला, कटिसूत्रादि

कही गई है। जो सभी का भला करने वाली क्षेमङ्करी, लक्ष्मी जो भगवान् माधव की महारानी हैं, उनको नाना प्रकार के यन्त्रों से युक्त करके और नाना अलंकारों से विभूषित कर भद्रपीठ पर या क्षेत्रपीठ पर स्थिति दी जानी चाहिए।

स्थापयेन्नाथपार्श्वे वा पृथग्वा मण्डपान्तरे।
अथवा तामिमां देवीं पृथग्गर्भगृहे क्वचित्॥ 9॥

इनकी स्थापना इनके स्वामी, पति के पार्श्व में ही की जानी चाहिए अथवा उनको पृथक् से किसी मण्डप में या फिर अलग से कल्पित गर्भगृह में भी स्थापित किया जा सकता है।

बेरं स्थापनविधिमाह—

स्थापयेत्प्राङ्मुखां प्रायश्शिल्पी शिल्पविदां वरः।
तत्तद्देवीं लक्षणाढ्यां भक्तानां मङ्गलप्रदाम्॥ 10॥

श्रेष्ठ शिल्पी को चाहिए कि वह देवी को सदा पूर्वाभिमुख ही स्थापित करे और आवश्यक, निर्दिष्ट लक्षणों से भरपूर ही कल्पित करे। इससे वे भक्तों के लिए मंगलप्रद सिद्ध होती हैं।

शारदां लोकजननीं पृथग्वा सम्प्रकल्पयेत्।

सर्वाभरणों से नित्य युक्त रहती हैं। इसी प्रकार उनकी केश राशि करण्ड मुकुट में गुप्त हों, वे कमलासन पर विराजमान हों। उनके उभय पार्श्व में चामरधारिणियाँ बनाई जानी चाहिए। इस प्रतिमा में दोनों ओर गज अपनी शूण्ड से जलधारा बरसाते हुए लक्ष्मी का अभिषेक करते हुए दृष्टिगोचर करवाने चाहिए। गृहार्चना योग्य लक्ष्मी की प्रतिमा को चारभुजाओं वाली बनाएँ। इस प्रतिमा के नीचे के दोनों ही हाथ क्रमशः वरद और अभय मुद्रा में बनाएँ तथा ऊपरी हाथों में अरुण वर्ण का कमल धारण करवाएँ। उन्हें सर्वाभरणों से सम्पन्न करने के साथ ही तप्त स्वर्ण के समान आभा वाली बनाएँ। गृह में लक्ष्मी की प्रतिमा को पर्यङ्कबन्ध (पीठ) पर आसीन करें। यह श्वेत पद्मासन जैसा हों। लक्ष्मी का यह रूप और इस प्रकार की स्थापना किए जाने से कर्ता को अभिप्सित फल की प्राप्ति होती है—लक्ष्मीः पद्मासनासीना द्विभुजा काञ्चनप्रभा॥ हेमरत्नोज्ज्वलं नक्रकुण्डलं शङ्ख (?-मण्डलम्,कुण्डलम्)। सुयौवना सुरम्याङ्गा कुञ्चितभ्रूसविभ्रमा॥ आमण्डलमुखी कर्णपूरपद्मेक्षणान्विता। रक्तोष्ठी पीनगण्डा च कञ्चुकच्छादनस्तनी॥ शिरसो मण्डनं शङ्खचक्रसीमान्त पङ्कजम्। पद्मं स्याद् दक्षिणे हस्ते वामे श्रीफलमिष्यते॥ सुमध्य विपुलश्रोणिर्शोभनाम्बरवेष्टिता। मेखला कटिसूत्रं च सर्वाभरणभूषिता॥ करण्डकाभमौल्यङ्गा चासीना कमलासना। चामरव्यग्रहस्ते च तत्पार्श्वे तु स्त्रियावुभे॥ स्नपन्तौ कुम्भहस्तौ हस्तिनौ च प्रदर्शयेत्। अथ गेहार्चनायोग्या चतुर्बाहुसमन्विता॥ वरदाभयहस्तं च सारुणाब्जसमप्रभा। सर्वाभरणसम्पन्नां तप्तहेमोज्ज्वलप्रभाम्॥ पर्यङ्कबन्धमासीनां श्वेतपद्मासनाञ्चिताम्। ईदृशीं कारयेल्लक्ष्मीमभीप्सितफलप्रदाम्॥ (तत्रैव 36, 247-255)

क्वचित्तु देवगन्धर्वसुन्दरीगणसेविताम्॥ 11॥

लोकजननी शारदा देवी को पृथक् ही कल्पित और स्थापित किया जा सकता है। कहीं-कहीं पर उनको देव, गन्धर्व सुन्दरियों से सेवित भी बनाया जा सकता है।

प्रदक्षिणस्थलोपेतं विहारगृहमण्डपम्।
विमानशिखरोपेतं नानालङ्कारमण्डितम्॥
डोलामण्डपसंयुक्तं पृथग्गेहं प्रकल्पयेत्॥ 12॥

देवियों को सदा ही परिक्रमा पथ से युक्त विहार गृह, मण्डपों में स्थापित करे। उनके लिए विमानों को शिखर सहित, नाना अलंकारों से विभूषित बनाए। डोला-मण्डप से संयुक्त पृथक् से गृह भी कल्पित किया जा सकता है।

इति विश्वकर्मप्रणीते विश्वकर्मवास्तुशास्त्रे लक्ष्मीगौर्यादिबेरलक्षणकथनं नाम द्व्यशीतितमोऽध्यायः॥ 82॥

इस प्रकार विश्वकर्माप्रणीत विश्वकर्मवास्तुशास्त्र में लक्ष्मी गौरी आदि मूर्ति लक्षण कथन नामक बयासीवाँ अध्याय पूर्ण हुआ।



अथ भक्तबेरस्थापनक्रमकथनं नाम

त्र्यशीतितमोऽध्यायः॥ 83॥

एवं सकलविधदेवबेरदेवीबेरमुपपाद्यास्मिन् त्र्यशीतितमेऽध्याये तादृशदेवपादारविन्दभक्तिभाजां भक्तोत्तमानां लक्षणं निरूपयति —

भक्तबेरस्थापनञ्च शुभदं परिकीर्तितम्।
देवालयेषु सर्वेषु भक्तानां भक्तिवर्धकम्॥ 1॥

(इस तियासीवें अध्याय में देवालयों में भक्तों की मूर्तियों की स्थापना के क्रम में कहा जा रहा है) मन्दिरों में देवताओं के भक्तों, आराधकों (गरुड, हनुमान, नन्दीश, सनक, सनन्दन आदि) की मूर्तियों की स्थापना करना शुभ फलप्रद कहा

गया है। सभी देवालयों में भक्तगणों की स्थापना करने से भक्तजनों की भक्ति में अभिवृद्धि होती है।

तस्मादेतेषां भक्तानां बेरस्थापनस्थलन्तु पूर्वोक्तस्य देवगर्भगृहस्यान्त्याद्वारस्य पुरोभागे स्थापन निर्देशमाह —

वेदिकाधिष्ठितं वापि पृथङ्मण्डपसंयुतम्।
पृथक्शालासमोपेतं भक्तानां स्थापनं शुभम्॥ 2॥

इनको देवालयों में वेदिका पर अधिष्ठित करे अथवा पृथक् मण्डप बनाकर भी स्थापित किया जा सकता है। यथासुविधा पृथक् शाला बनाकर भी भक्तों की मूर्तियों की स्थापना करना शुभ होता है।

विष्णुमन्दिरेषु शिवमन्दिरेषु स्थापनकल्पनमाह —

गरुडं नन्दिकेशं वा योगिनं वा मुनीन्द्रकम्।
दिव्यसूरिगणं वापि पावमानिमथापि वा॥ 3॥
मण्डपस्य पुरोभागे प्राकारे वा प्रकल्पयेत्।
भक्तध्वजाद्यावरणं द्वाराणान्तु न दोषकृत॥ 4॥

पक्षीराज गरुड, शिवभक्त नन्दिकेश, योगीगण, मुनीन्द्र, दिव्य सूरिगण अथवा पावमानि-हनुमान की स्थापना के लिए यह निर्दिष्ट है कि मण्डप के आगे के भाग में उनके लिए प्राकार, परकोटा बनाए। ग्राम का हो या नगर का देवालय, सर्वत्र द्वार के आगे मध्यसूत्र स्थान पर बलीपीठ स्थापन एवं ध्वजस्तम्भ स्थापन सहित भक्त की प्रतिमा की स्थापना दोषरहित मानी गई है।

पूर्वमण्डपयुक्तं वा पुष्पमण्डपसंयुतम्।
तत्स्थानं कल्पयेच्छिल्पी तदायुधतलं मतम्॥ 5॥

इसके साथ ही देवालय का पूर्वमण्डप हो अथवा पुष्पमण्डप हो, शिल्पी को वहाँ पर उनके आयुध तल को कल्पित किया जाना चाहिए। (जैसे शिव के मन्दिर में त्रिशूल-डमरू, विष्णु के मन्दिर शंख, चक्रादि एवं देवी के मन्दिर में शूल आदि की स्थापना होती है)।

वास्तुशास्त्रप्रणेतारं दिव्यं विश्वकर्माणं घनशिलाबेररूपं स्थापनमाह —

तत्पुरोभागके द्वारभागे वा स्तम्भभित्तिके।
त्वष्टारं शास्त्रकर्तारं विश्वकर्माणमादिमम्॥ 6॥

उसके आगे के भाग में, द्वार वाले भाग में अथवा स्तम्भ और भिति में त्वष्टा, शास्त्रकर्ता विश्वकर्माण में आदिम हैं (की सिर पर किरीट सहित घनशिला निर्मित सांजलिबद्ध प्रतिमा स्थापित होगी)।

अन्यदप्याह —

निर्मापितारं राजानं दीक्षितं वा पुरोधसम्।
दण्डिनं स्वगुरुं वापि वेदशास्त्रार्थकोविदम्॥ 7॥
क्षुद्रपीठसमायुक्तं जपमालालसद्गलम्।

इसी प्रकार जो राजाओं के निर्मापितार हैं अथवा जिन्होंने पुरोहितों की दीक्षा दी है, उनकी और दण्डिस्वामियों, स्वगुरु और वेदशास्त्रार्थ के पारंगत, प्रसिद्ध पण्डितों की बेरों को क्षुद्रपीठ से युक्त करे। उनको गले में जपमाला सहित बनाए।

लसद्वेष्टनयुक्तं वा पृथक्कल्पनसंयुतम्।
बद्धाञ्जलिपुटं भक्त्या स्थापयेत्क्षेमसिद्धये॥ 8॥

भक्तों की मूर्तियों को सिर पर वेष्टनयुक्त (पगड़ी सहित) अथवा पृथक् रचना सहित स्थापित करे। (नियमतः राजा व राज्य से सम्बद्ध जनों की मूर्तियों के सिर पर पगड़ी-वेष्टन हो, भट्टाचार्य आदि के सिर पर शेषपट दुकूलपट्ट वस्त्रादि का वेष्टन होगा)। इन भक्तों को करबद्धमुद्रा में कल्याण की सिद्धि के लिए स्थापित करना चाहिए।

इति विश्वकर्मप्रणीते विश्वकर्मवास्तुशास्त्रे भक्तबेरस्थापनक्रमकथनं नाम त्र्यशीतितमोऽध्यायः॥ 83॥

इस प्रकार विश्वकर्माप्रणीत विश्वकर्मवास्तुशास्त्र में भक्तबेर स्थापन क्रम कथन नामक तियासीवाँ अध्याय पूर्ण हुआ।



अथ कल्पवृक्षादिवाहनलक्षणक्रमकथनं नाम

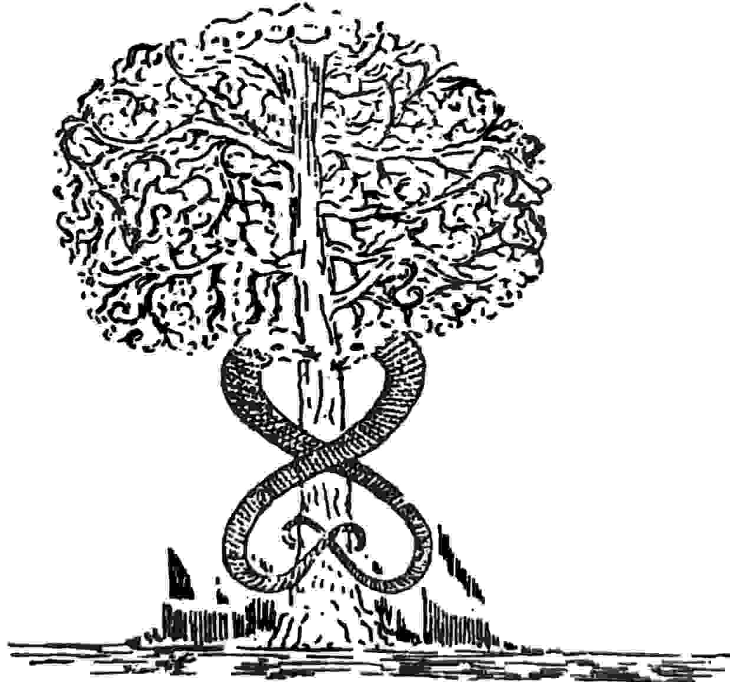
चतुरशीतितमोऽध्यायः ॥ 84 ॥

एतावता प्रबन्धेन नानारूपाणां कल्पनीयानां सर्वेषामपि देवबेराणां, देवीबेराणां भक्तगणानाञ्चान्येषां बेराणां निर्माणक्रममुपदिश्य तेषां बेराणां च उत्सवसमयारोपणार्हाणां कल्पवृक्षाद्यनेकविधवाहनानां निर्माणक्रमं अस्मिंश्चतुरशीतितमेऽध्याये क्रमेण प्रतिपादयति —

सर्वेषामपि देवानां देवीनाञ्च विशेषतः ।
अभिषेकैश्च नैवेद्यैर्या प्रीतिस्संप्रजायते ॥ 1 ॥
ततोऽधिका भवेत्प्रीतिः वाहनारोपणाद् ध्रुवम् ।
तस्मात्तद्विविधं कार्यं शिल्पिभिर्मानवेदिभिः ।

(इस चौरासीवें अध्याय में कल्पवृक्ष, देवताओं के वाहन सहित शिबिका आदि के लक्षण कहे जा रहे हैं) सभी देवताओं और मुख्यतः समस्त देवियों में अभिषेक और नैवेद्य के प्रति प्रीति होती है। इससे भी अधिक उनकी प्रीति वाहन, आरोहण में ध्रुव होती है। इसलिए प्रमाणविद शिल्पीगण को चाहिए कि वह इनकी विविध प्रकारेण रचना करे।

कल्पद्रुम



चन्दनैस्सारवृक्षैर्वा लोहपट्टावृतैस्तथा ॥ 2 ॥
तत्कल्पनमिहादिष्टं शास्त्रज्ञैर्मुनिपुङ्गवैः ।

इन वाहनों की चन्दन, सारवृक्ष अथवा लोह पट्ट से आवृत करते हुए रचना करे अर्थात् चन्दनादि काष्ठ निर्मित स्वरूपों पर धातु के पतरों को जड़कर वाहन, आरोहण बनाए। शास्त्रविद मुनिपुंगवों ने इनकी रचना के आदेश दिए हैं।

तत्र कल्पवृक्ष कल्प्यः —

उत्तमः कल्पवृक्षस्तु छायामण्डपसंयुतः ॥ 3 ॥
चतुरश्रं मण्डलं वा दीर्घाकारमथापि वा ।
किष्कुहस्तप्रमाणेन तस्याधिष्ठानमुच्यते ॥ 4 ॥

इनमें उत्तम कल्पवृक्ष कहा गया है जिसे छायामण्डप से संयुक्त करना चाहिए। यह मण्डप चौकोर, मण्डलाकार अथवा दीर्घाकार या लम्बाई युक्त होना चाहिए। इसको किष्कु, हस्त प्रमाण से कल्पित करे अर्थात् कुहनी तक के हाथ का नाप लिया जा सकता है। यह अधिष्ठान के लिए कहा गया है।

चतुस्स्तम्भसमेतं वा स्तम्भाष्टकसमुज्ज्वलम् ।
वलभीप्रस्तरयुतमण्डपाकारवन्मतम् ॥ 5 ॥

इसके चार स्तम्भ हो अथवा आठ स्तम्भ भी हो सकते हैं। इन्हीं से वलभी, प्रस्तर युक्त मण्डपाकार की रचना की जानी चाहिए।

नानाचित्रावलीयुक्तं विमानशिखरान्वितम् ।
देवपीठसमायुक्तं यथाशोभं प्रकल्पयेत् ॥ 6 ॥

इसमें तरह-तरह की चित्रावली अर्थात् मूर्तियों की पङ्क्तियुक्त रचना हो। प्रासाद की तरह मण्डप पर शिखर बना हो। इसमें देवपीठ बनाए जिसे बड़ी शोभा, सौन्दर्ययुक्त रचा जाना चाहिए।[१]

---

१. मानसारम् में कल्पवृक्ष का विधान आया है, देवताओं और चक्रवर्ती राजाओं के लिए इसका प्रयोग किया जाता रहा है — देवानां चक्रवर्त्यादिभूपालनां च योग्यकम्। कल्पवृक्षादिदेस्तारं मानं लक्षणमुच्यते॥ तोरणोदयपादं तु पादार्धाधिकोदयम्। एवं वृक्षस्य तुङ्गानि चासनस्योपरि न्यसेत्॥ आसनायाममध्ये तु तोरणस्योपरि न्यसेत्। षट्सप्ताष्टाङ्गुलं वापि मानदेहाङ्गुलेन वा॥ कल्पवृक्षस्य मूले तु विशालं परिकीर्तितम्। तत्तदेकाङ्गुलार्धहीनं वृक्षस्याग्रविशालकम्॥ वृक्षपादमिति प्रोक्तं पत्रवल्ल्यादिभूषितम्। अथवा ऋज्वङ्गं तं कुर्यान्मूलादग्रविशालकम्॥ भुजङ्गेनावृतं पादं मूर्ध्नि पञ्चफणान्वितम्। उल्लासनफणं सर्वं स्फुज्जिह्वेक्षणान्वितम्॥

अथ सिंहवाहनस्य लक्षणमाह —

सिंहः करालवदनस्सटापटलशोभितः।
उत्तिष्ठन्यतमानो वा तथोच्छ्रायितवालधिः॥ 7॥

(देवी वाहन के रूप में) कराल वदन या भयंकर मुखवाला सिंह स्कन्ध पर सटाश्रेणी सहित पटल पर शोभायमान होना चाहिए। इसे ऐसा बनाए मानो उठकर

षट्सप्ताष्टनवाङ्गुलानि दशमेकादशाङ्गुलम्। द्वादशाङ्गुलमेवं वा सैकार्काङ्गुलमेव वा॥ चतुर्दशाङ्गुलान्तं स्यान्नवभेदफणान्वितम्। तत्समं मध्यविस्तारं किञ्चिद्धीनाग्रविस्तृतम्॥ तदर्ध मूलविस्तारं पुच्छाग्राङ्गुलकं ततः। आमूलाग्रं क्षयं कुर्याद्युक्त्या च सर्वरूपकम्॥ वक्त्रं व्यालान्तरं भावे शेषं युक्त्या प्रयोजयेत्। तदूर्ध्वे वृक्षशाखाश्च नवपङ्क्ती शाखयुक्॥ एकादश च शाखाश्च त्रयोविंशच्च संख्यया। तन्नवविधं प्रोक्तं कन्यसादि त्रयं त्रयम्॥ नरेन्द्रस्याधिराजस्य सार्वभौमस्य योजयेत्। नवशाखां समारभ्य द्विद्विशाखाविवर्धनात्॥ पञ्चविंशतिशाखान्तं देवानां नवधा भवेत्। एकादशाङ्गुललमारभ्य द्विद्वाङ्गुलविवर्धनात्॥ नवविंशाङ्गुलान्तं स्यात्कन्यसादित्रयं त्रयम्। शाखायामं नवं प्रोक्तं भूपतीनां च संमतम्॥ त्रयोदशाङ्गुलमारभ्य द्विद्वाङ्गुलविवर्धनात्। एकत्रिंशाङ्गुलान्तं स्यात्कन्यसादुत्तमान्तकम्॥ एवं नवविधं प्रोक्तमायामं देवे प्रयोजयेत्। त्रिचतुष्पञ्चषट्सप्ताष्टनन्ददशाङ्गुलम्॥ एकादशाङ्गुलान्तं स्यात्कन्यसादीनि पूर्ववत्। शाखाविशालता प्रोक्ता भूपानां च यथाक्रमम्॥ पञ्चाङ्गुलं समारभ्य चैकैकाङ्गुलवर्धनात्। त्रयोदशाङ्गुलान्तं स्यात्तथा शाखाविशालता॥ एवं नवविधं प्रोक्तं देवतानां च योग्यकम्। तत्समं चार्धमेवं वा तच्छाखाबहलं भवेत्॥ पादग्रोपरि शाखायाः सर्वमूलं तु योजयेत्। वृक्षमूलविशालं स्यात्समं द्वार्धाङ्गुलाधिकम्॥ त्रिपादाधिकमेवं तत्तत्समाधिकमेव वा। शाखामूलविशालं स्याद्युक्त्या तत्रैव योजयेत्॥ शालामूले तु शाखानां मूलवल्ल्यादिपत्रयुक्। महावल्लीचूलनं स्याच्छिन्नवल्ल्यादि पार्श्वयोः॥ चक्राकारं यथाशाखा भ्रमचूलनमण्डनम्। पत्रपुष्पाग्रचूलं स्यात्समग्रं चाग्रवल्लिका॥ एकानेकस्य शाखानां चान्तराले सपुष्पकैः। पत्रैर्मूलादिवल्लीभिश्च वल्लीमूलं च वल्लिके॥ बहुवल्ल्यादिपत्रैश्च पुष्पैश्च फलकैरपि। कुर्यात्तु पत्रशाखायां फलहीनवनानि च॥ बालवल्ल्यादिपत्रैश्च सुरपुष्पसूनुकाकृतम्। सर्वेषामपि वल्लीच श्यामवर्णनिभं भवेत्॥ वल्ल्यग्रं तु सर्वेषां रक्तवर्णेन शोभितम्। सर्वेषां पत्रविह्नं स्याद्धेमवर्णेन शोभितम्॥ पत्राग्रं क्षुद्रवल्ल्या च सर्व श्यामनिभं भवेत्। भ्रमरैरभिसंयुक्तं सर्वशाखानिकेतने॥ नानापत्रैश्च पुष्पैश्च नानावल्लीभिश्च संयुतम्। नानारत्नैश्च दामभिश्च नानापक्षिभिरामयेत्॥ नापि वानरै च नानादेवीभिरामयेत्। सिद्धविद्याधरादिभिः शाखैः शाखान्तरालकैः॥ अन्तर्बहिश्च सर्वेषां सर्वत्र परिकल्पयेत्। वृक्षमूलादिग्रान्तं च युक्त्या पत्रादिशोभितम्॥ सर्वाङ्गे क्षुद्रपर्व स्यात्पत्रवल्ल्यादिनिर्गमम्। शालामूलस्य पर्वणि मौलिमुण्डं च योजयेत्॥ पत्रवल्लीभिश्चाग्रैश्च भ्रमशीर्षादिसंयुतम्। भ्रमराकृति सर्वत्र पत्रवल्ल्यादिभिस्तथा॥ एवं तु कल्पवृक्षस्याच्छ युक्त्या प्रयोजयेत्॥ मुक्तप्रयाङ्गस्याथ मण्डपमध्यदेशे सिंहासन मकरचिह्नतोरणार्थम्। कल्पद्रुमस्तु पुरतो बहिरङ्गणं स्यात् चक्रेश्वरस्तु परिरभ्य विराजते स्म॥ सम्पूर्णचन्द्रवदनामहाराजपुत्रा राजाङ्गनानगरवारविलासिनीभिः। विद्वद्भिरन्यैरपि वन्दिकुमारमुख्यैः संसेव्यमान चरणाम्बुरुहैस्तैः राजभिः॥ (मानसार 48, 1-37)

आक्रमण का यत्न कर रहा हो। इसकी वालधि या पूंछ ऊपर की ओर उठी हुई बनानी चाहिए।

नागेन्द्रसहितो वापि केवलं वा गृहस्थितः।
कल्पनीयो देवयोग्यो मस्तकान्तासनान्वितः॥ 8॥

सिंह को नागेन्द्र हाथी के साथ बनाए अथवा केवल उसको अपने गृह में स्थित भी कल्पित किया जा सकता है। उसको देवता के आरोहण योग्य मस्तक के अन्त तक आसन-झूल के आसन वाला बनाना चाहिए।

अथ हंसमयूरवाहनयोर्लक्षणमाह —

हंसो मयूरवर्यश्च सुमनोहरपक्षकः।
शुभनेत्रादिसंयुक्तो मुखस्थदलपत्रकः॥ 9॥
उत्तिष्ठन् वा शयानो वा देवपीठसमन्वितः।

इसी प्रकार (ब्रह्मा एवं कार्तिकेय के लिए क्रमशः) हंस एवं मयूर को सुन्दर पंखों वाला बनाए। उनके नेत्र अति मनोहर हो और वे मुख में दलपत्रक लिए हुए हों। वे उठे हुए अथवा शयनावस्था में हो सकते हैं किन्तु उन पर देवपीठ को कल्पित करना चाहिए।

अथ सूर्यप्रभाचन्द्रप्रभाख्ययोर्वाहनर्लक्षणमाह —

पुष्पवन्मण्डलं नानामरीचिपटलान्वितः॥ 10॥
तुरङ्गैरन्वितं वापि रहितं वा प्रकल्पयेत्।
निषण्णमण्डले मध्ये देवपीठप्रकल्पनम्॥ 11॥

(सूर्यदेव के सम्बन्ध में निर्देश है कि) पुष्पों के समान मण्डल बनाए जिसमें तरह-तरह की मरीचि-किरणों के पटल हों। उनको अश्वों से युक्त या अश्वों से रहित भी कल्पित किया जा सकता है। निषण्ण मण्डल के बीच इस देवपीठ को बनाया जाय अर्थात् आसनों के मण्डल के मध्य देवपीठ को कल्पित किया जाना चाहिए।

अथ गरुडवाहनस्य लक्षणमाह —

गरुडः पक्षयुगलस्तिष्ठन्नासीनरूपकः।
भुजङ्गभूषः पृथुलकायः कार्यो मनोहरः॥ 12॥

(विष्णु वाहन) गरुड को दोनों पंखों को विस्फारित और खड़े या आसनस्थ

रूप में बनाया जाना चाहिए। गरुड के आभूषण भुजंग के होंगे। वह पृथुल या मोटे शरीर वाला होगा। उसे मनोहराकृति में बनाना चाहिए।

अथ शेषवाहनलक्षणमाह —

नागः फणावलियुतो मण्डलायितकायकः।
फणातपत्रच्छायायां देवपीठं प्रकल्पयेत्॥ 13॥

(अनन्तशायी विष्णु के लिए) शेषनाग को अपने मुख पर फणावलीयुक्त बनाया जाना चाहिए। उसकी शेष काया को मण्डलायित या कुण्डलीवत् हो। फणों की छाया में ही देवपीठ की रचना की जानी चाहिए।

अथ हनूमाद्वाहननिर्माणक्रममाह —

पावमानिर्दाशरथिपादपङ्कजधृङ्मतः।

पवनपुत्र हनुमान को दाशरथी श्रीराम के चरणकमलों में (पाँव दबाते हुए बनाना) विराजित करना चाहिए। (उनका मुख वानर का हो व पास में गदा हो)।

अनेनैव प्रकारेण नन्दिवाहनमपि —

नन्दी च भगवान्गौरीकान्तपादाब्जधारकः॥ 14॥

नन्दी को भगवान गौरीशंकर के चरणकमलों को धारण किए हुए बनाना चाहिए।

अथ मूषकवाहनलक्षणमाह —

मूषकश्च गणाध्यक्षधारकश्चोर्ध्वपत्रकः।

गणाध्यक्ष गणपति के लिए मूषक वाहन बनाए जो ऊर्ध्व पत्रक धारण किए हुए होना चाहिए।

अथ यालीवाहनलक्षणमाह —

याली गजगणाकर्षव्यग्रतुण्डो बलान्वितः॥ 15॥
स्थूलकायश्चोर्ध्ववालः क्रुध्यन्नेत्रयुगान्वितः।
कल्पनीयो देवतार्हो ....।

इसी प्रकार गजरिपु याली[1] (ड्रेगन) की भी रचना करे। इसे बलपूर्वक हाथियों

---

१. तथा च टीकायाम् — सर्वत्र लोकेऽरण्यतलवासिषु गजतुरगादिषु सिंह एव बलीयान्। अत एव तस्य मृगेन्द्र इति नाम प्रसिद्धम्। तस्मात्तादृशसिंहादप्याधिकबलाढ्यो गजरिपुः कश्चिन्मृगविशेषो

को अपनी ओर खींचा हुआ कल्पित करे। स्थूलकाय और उस पर ऊर्ध्व केश हों। उसके दोनों ही नेत्र क्रोध बरसाते दिखाई दें, ऐसा कल्पित किया जाना चाहिए। उसके स्कन्धों पर देवता के योग्य स्थापनार्थ स्थल भी हो।

अथ गजवाहनलक्षणमाह —

.... वारणश्च तथा पृथक् ॥ 16 ॥
आसीनस्त्वथवा तिष्ठन्निक्षुदण्डकरान्वितः।
कद्दयुपेतशुण्डो वा भीतिहीनो मुदाऽन्वितः ॥ 17 ॥
कल्पनीयो देवयोग्यो मस्तकान्तासनान्वितः।

इसी प्रकार पृथक् से (कुबेर, इन्द्रादि के लिए) गज को बनाना चाहिए। गज आसीन या खड़ा हुआ हो सकता है। उसको इक्षुदण्ड (ईख) खाते हुए बनाए अथवा कदली का डण्ठल लिए हुए। वह भय रहित एवं प्रसन्नताधारी हो। ऐसे गज पर देवता के विराजित होने के लिए उसके मस्तकान्त से आसन (अम्बाड़ी, हौदा[१]) बनाया जाना चाहिए।

अथ शिबिकालक्षणमाह —

शिबिकां मानवैर्धार्यां पेटिकाकार संयुताम् ॥ 18 ॥
अथ पार्श्वावरणकैर्हीना वेण्वादिदण्डकाम्।
भूतेशो वा वृषो नानालङ्क्रियामण्डितो मतः ॥ 19 ॥

(अब शिबिका अथवा नरयान के लक्षण कहे जाते हैं) मानवों द्वारा उठाई जाने वाली शिबिका[२] को पेटिकाकार बनाया जाए। वह आजू-बाजू में आवरण-

---

यालीति नामान्तरभाक्प्रसिद्धः। तादृशयालीवाहनस्य स्वरूपन्तु सिंहवाहनवत्सटाश्रेण्युद्धृतलाङ्गूलादिकं योजयित्वाऽस्य यालीवाहनस्य मुखभागे शुण्डादण्डः कल्पनीयः। क्वचित्तादृशशुण्डादण्डस्याग्रभागे क्षुद्रप्रमाणस्यैकस्य गजस्य द्वयोर्वारणयोर्वा निर्माणं लम्बनरूपं मेलनीयम्। एवं शुण्डाकर्षितवारणस्यास्य यालीवाहनस्य नेत्रयुगं क्रुद्धस्वरूपं कृत्वा स्कन्धोपरि देवबेरस्थानार्हं स्थलं निर्मापणीयमिति तत्कल्पनक्रमः।

१. तथा च पालकाप्ये— उत्कृष्टं मध्यमं चैव ह्यवकृष्टमिति त्रिधा। गजानामासनं प्रोक्तं गजशास्त्रविशारदैः॥ मन्दादिजातौ युद्धे च प्रोक्तमुत्कृष्टमासनम्। समं दृढं च संलग्नं जानुसन्धिसमाहितम्॥ आसनत्रितयेऽप्येवं सौष्ठवं परिकल्पयेत्। गजस्य प्रेरणार्थाय पुरस्तादासनं जगुः॥ (गजशास्त्रम् 19, 1-3)

२. ईशानशिवगुरुदेवमिश्र ने शिबिका के तीन नाम पैठी, शैखरी एवं मौण्डी बताए हैं। इनमें से पैठी भित्तिकान्तक होती है; शैखरी शिखर वाली और मौण्डी स्तम्भ के उत्तरान्त पर आच्छादन

पर्दों से रहित या खुली हुई हो, उसे बाँसों के दण्डों सहित बनाए ताकि उठाया जा सके। इसको भूतेश या शिव अथवा वृष इत्यादि नाना अलंकारों से मण्डित किया जाना चाहिए, ऐसा मत है।

अथान्दोलिकालक्षणमाह —

आन्दोली प्रभया युक्ता सपक्षा वा विपक्षका।
नानोत्सवार्हा वाहादियोग्या देवासनोचिता॥ 20॥

(देवालयों में आन्दोलिका के लिए कहा जा रहा है) आन्दोली या झूलाने योग्य पालकी (रामरेवाड़ी, बेवाण जिसे चार या आठ व्यक्ति उठा सकें, इसे पक्षोत्सववाहन भी कहा जाता है) चतुरस्र, बाहर-भीतर प्रभायुक्त या जड़ाऊ हो। इसे सपक्षा आजू-बाजू के आवरण से युक्त अथवा बिना आवरण के बनाया जा सकता है। इसको नाना प्रकार के उत्सवों में देवता के आसनरूप वाहन के रूप में कल्पित किया जाना चाहिए।

अथ देवस्यन्दन वा रथलक्षणं तथा रथनिर्माणेन किं वा प्रयोजनमिति चेत्तत्फलं व्यनक्ति —

रथस्तु क्षेमदो भूमेः पुंसां स्त्रीणामनेकधा।
षट्चक्रो वा चतुश्चक्रस्त्वष्टचक्रयुतः क्वचित्॥ 21॥
दशभिर्वा द्वादशभिश्चक्रैर्युक्तः क्वचिन्मतः।

(अब देव यात्रा के लिए रथ के लक्षण कहे जाते हैं) रथ[१] को भूमि सहित अनेकानेक स्त्री-पुरुषों के लिए कल्याणप्रद कहा गया है। इसको छह पहियों वाला

सहित बनती है— शिबिकाद्यं रथाद्यं च यानं खट्वादिकं तु यत्॥ शयनासनसञ्ज्ञं स्यात् तल्लक्ष्म प्रथगुच्यते। पैठी च शैखरी मौण्डी त्रिविधा शिबिका भवेत्॥ पैठी तु भित्तिकान्ता स्याच्छैखरी शिखरान्विता। मौण्डी स्तम्भोत्तरान्ता तु शालाच्छादनसंयुता॥ (ईशान. उत्तरार्द्ध 48, 42-44)

मयमतम् में कहा गया है कि शिबिका के अन्तर्गत पैठी को केवल लम्बाई व चौड़ाई के अनुसार पहचाना जाता है। शेखरी को उसके छत के शिखर से और मौण्डी को उसके तीन स्तरों के अनुसार जाना जाता है— व्यासायामसमस्ता भेदाः सत्र्यंशशिखरिभित्तिवशात्। (मय. 31, 3)

१. हेमचन्द्र ने रथ विशेष के नामों का इस प्रकार उल्लेख किया है— युद्धार्थे चक्रवद्याने शताङ्गः स्यन्दनो रथः। संक्रीडार्थः पुष्यरथो देवार्थस्तु मरुद्रथ॥ योग्यो रथो वैनायिकोऽध्वरथः परिघातिकः। कर्णीरथः प्रवहणं डयनं रथगर्भकः॥ अनस्तु शकटोऽथ स्याद्गन्त्री कम्बलिकावाह्यकम्। अथ काम्बलवस्त्राद्यास्तैस्तैः परिवृते रथे॥ सपाण्डुकम्बली यः स्यात्

या चार पहियों अथवा आठ पहियों वाला बनाए। किसी-किसी का मत है कि रथ को दस या बारह चक्रों वाला भी बनाया जा सकता है।

दृढयुग्यकलोपेतस्साधिष्ठानं तदासनम्॥ 22॥
पद्मवाजनकम्पादिसंयुक्तं बहुचित्रकम्।
ततस्स्तम्भावलिर्योज्या प्रस्तरादिसमन्विता॥ 23॥

रथ को दृढ़तर जूड़े से युक्त करें। उसमें अधिष्ठान सहित आसन की रचना की जानी चाहिए। उस अधिष्ठान को पद्म, वाजन, कम्पादि से संयुक्त कर (विनायक, कार्तिकेय, वसु, ब्रह्मा, विष्णु, रामचन्द्र, कृष्ण, गन्धर्वादि देवताओं के) नाना प्रकार के चित्रों का कार्य किया जाना चाहिए। उसके लिए स्तम्भावलियों को योजित किया जाए और प्रस्तारादि की रचना भी की जानी चाहिए।

तन्मध्ये देवपीठस्तु चाधिष्ठानादिभिर्युतः।
चतुरश्राकारतलैरनेकैर्युतमस्तकम्॥ 24॥
तस्योपरि विमानादिकल्पनं शुभदं भवेत्।

इस रथ के मध्य में देवपीठ को अधिष्ठान युक्त बनाए। यह चौकोर तल वाला तथा अनेक मस्तकों वाला होगा। उसके ऊपर विमान जैसी गुम्मट की रचना करना शुभ होता है।[१]

संवीत् पाण्डुकम्बलैः। स तु द्वैपो वैयाघ्रश्च या वृतो द्वीपिचर्म्मणा॥ (शब्दकल्पद्रुम खण्ड 4 पृष्ठ 90 पर उद्धृत)

१. मयमतम् में देवालय में प्रयोजनार्थ रथ के लक्षण कहे गए हैं— वासद्वित्रिगुणायामं चक्रं तत्तत्समन्वितम्॥ सप्ततालं तु वा दैर्घ्यं त्रिचतुर्मात्रविस्तृतम्। स्वस्वपादवशात् तत्र पूर्वं चाधरतो दिशि॥ हारोपर्यन्तरोपेतं ह्रस्वपादोत्तरान्वितम्। चतुष्षष्टिकसङ्ख्याभिः स्तम्भयुक्तसमन्वितम्॥ षट्सार्धपञ्चपञ्चैव तालेन चरणोदयम्। सप्ततालं तुलादैर्घ्यं त्रिचतुर्मात्रविस्तरम्॥ स्वस्वपादवशात् तत्र पूर्ववच्चोत्तरादिकम्। एकद्वित्रितलोपेतमेकं वाऽथ चतुर्मुखम्॥ मण्डपाकारसंयुक्तं शालाकारशिरःक्रियम्। त्रिचतुष्पञ्चषट्सप्तहस्तं चक्रान्तमिष्यते॥ चक्रोत्सेधं चतुष्पञ्चषट्क(ादि)वेष्टतीव्रकम्। अक्षमक्षोत्तरं चैव वारो वा यानकं यथा॥ अष्टाष्ट (द्वि ?वि)पुलोत्तुङ्गैर्दारुकीलैर्दृढीकृतम्। एकद्वित्रितलोपेतैः प्रासादवदलङ्कृतम्॥ षोडशस्तम्भसंयुक्तं दिग्दिक्षु मुखभद्रकम्। सर्वालङ्कारसंयुक्तं रङ्गं तद्योजयेद् दृढम्॥ तथैव शिल्पिमानीय योजनीयं विचक्षणैः॥ (मयमतम् 31, 50-58)

विश्वकर्मीयरथलक्षणम् में तीन प्रकार के रथों का वर्णन हुआ है— पत्रकल्प, रत्नकल्प एवं चित्रकल्प। इनमें से पत्रकल्प देवताओं, रत्नकल्प ब्राह्मणों एवं चित्रकल्प राजाओं के लिए होता है — वक्ष्यते रथमानं च लक्षण विधिना सह। देवानां मानुषाणां च रथारोहणार्थिकम्॥

तत्तद्देवस्वरूपानुरूपं वाहनकल्पनम्।
नानारूपं वितानादियुक्तं सर्वत्र कारयेत॥ 25॥

जो-जो भी देवस्वरूप हैं, उसके लिए तदनुकूल वाहन की रचना की जानी चाहिए। उनको नाना रूपों के वितान, चाँदनियों आदि सहित बनाया जाना चाहिए।

इति विश्वकर्मप्रणीते विश्वकर्मवास्तुशास्त्रे कल्पवृक्षादि-वाहनलक्षणकथनं नाम चतुरशीतितमोऽध्यायः॥ 84॥

इस प्रकार विश्वकर्माप्रणीत विश्वकर्मवास्तुशास्त्र में कल्पवृक्षादि वाहन लक्षण कथन नामक चौरासीवाँ अध्याय पूर्ण हुआ।



अथोत्सवकालनिर्णयकथनं नाम

पञ्चाशीतितमोऽध्यायः॥ 85॥

पूर्वाध्यायप्रतिपादितरीत्या निर्मापणीयेषु कल्पवृक्षादिवाहनेषु देवबेरारोपणं कस्मिन्वा समये कार्यमित्याकांक्षायां तदर्थमुत्सवकालनिर्णयकथनात्मकमेतं पञ्चाशीतितमाध्याये विशिनष्टि —

शुभमासि सुनक्षत्रे दृष्टे च सुनिमित्तके।
प्रतिष्ठितानां यन्त्रज्ञैर्दीक्षितैश्च पुरोहितैः॥ 1॥
देवानामुत्सवः कार्यस्सर्वक्षेमकरो मतः।

पत्रकल्पं रत्नकल्पं चित्रकल्पमिति त्रिधा। पत्रकल्पं तु देवानां रत्नकल्पं तु भूसरे। भूपेन चित्रकल्पं स्यात् सर्वयोग्यं तु दैवतम्। पत्रकल्पे रजंकृत्य पत्रकल्पमिति स्मृतम्॥ रत्नाकारै रजंकृत्य रत्नकल्पमिति स्मृतम्॥ नानानाटकैर्युक्तं चित्रकल्पमिति स्मृतम्॥ रथानामस्ति सर्वेषां व्यालसिंहादिभूषितम्। उपपीठ-ह्यधिष्ठानं पादप्रस्तरमेव च॥ चक्रादि चोत्तरैर्युक्तं चोपधानं च पट्टिका। अन्तःपातोतरैर्युक्तं योजयेनैव दारुणम्। यथाबलं यथायुक्त्या योजयेत् शिल्पवित्तमः॥ (विश्वकर्मीयरथशास्त्रम्, भारतीय इतिहास समाशोधन मण्डल, पुणे में विद्यमान पाण्डुलिपि और मूल मातृका सरस्वती महल पुस्तकालय, तंजावुर की पाण्डुलिपि संख्या बी. 11072, अध्याय 14, 1-6) द्र

(अब पिचासीवें अध्याय में उत्सव काल निर्णय के सम्बन्ध में कहा जा रहा है) किसी शुभ महीने में, शुभ नक्षत्र में और शुभ निमित्त, शकुनादि देखकर प्रतिष्ठित, यन्त्रविज्ञ लोगों, दीक्षितों व पुरोहितों द्वारा देवताओं के उत्सवों का आयोजन करना चाहिए। ये उत्सव सभी के लिए कल्याणकारी होते हैं।

तस्मादत्र शास्त्रकारस्तादृशोत्सवकालं व्यनक्ति —

नित्यो नैमित्तिकश्चायं विभक्तश्शास्त्रपारगैः ॥ 2 ॥

शास्त्रविदों ने उत्सवों को दो प्रकार का बताया है— 1. नित्योत्सव एवं 2. नैमित्तिक उत्सव।

मेषादिसङ्क्रमे दर्शे पूर्णिमायां विशेषतः।
स्थापनर्क्षेऽथवा राज्ञो जन्मर्क्षे दीक्षितस्य वा ॥ 3 ॥
स्थानकल्पयितुर्वाऽपि मासर्क्षे सुखहेतवे।

प्रतिमाह मेषादि राशियों के संक्रांति पर, अमावस्या और विशेषकर पूर्णिमा पर, देवालय की स्थापना के नक्षत्र को अथवा राजा के जन्म नक्षत्र या फिर दीक्षा नक्षत्र को, स्थान की कल्पना के नक्षत्र में अथवा उस महीने के नक्षत्र को सुख के हेतु से उत्सव करने चाहिए। (ये नित्य उत्सव कहे जाते हैं)।

अथ नैमित्तिकोत्सवसमयक्रमं व्यनक्ति —

मेषादौ च महः कार्यो देवप्रीतिकरे दिवे ॥ 4 ॥
क्षेत्रमाहात्म्यनिर्दिष्टवासरे वा विशेषतः।

(नैमित्तिक उत्सव) मेषादि संक्रांतियों के अवसर पर देवताओं की प्रीति के लिए महत्कार्योत्सव करे। इसी प्रकार क्षेत्र की महिमा के लिए निर्दिष्ट वार को भी विशेषकर उत्सव हो सकता है।

विशेष : मेष व वृषभमास में वसन्तोत्सव होता है। मिथुन मास में ग्रीष्मोत्सव, सिंह मास में वार्षिकोत्सव, पवित्रारोपणोत्सव, कन्या मास में शमी वृक्ष पूजात्सव, नवरात्र मण्डपोत्सव, तुला मास में शरत्कालोत्सव, कार्तिक मास में कृतिका दीपोत्सव, धनुर्मास में तत्क्षेत्र देव माहात्म्य के लिए नक्षत्रोत्सव, मकर मास में प्लवोत्सव, कुम्भ मास में दमनिकोत्सव, मीन मास में देवी विवाहोत्सव आदि मनाए जाते हैं।

स्नानैर्होमैश्च दानैश्च नैवेद्यैर्विविधैरपि ॥ 5 ॥

वीथीचङ्क्रमणैश्चापि वाहनारोहणैरपि।
अनेकैरुपचारैश्च देवान्देवीश्च तोषयेत्॥ 6॥

इस उत्सव के उपलक्ष्य में देवी-देवताओं को स्नान करवाए। होम करे। दान करे। विविध प्रकार के नैवेद्य-प्रसाद चढ़ाए और फिर ग्राम-नगर की गलियों में उनको घूमाने के लिए वाहन पर आरूढ़ करे। इस तरह के अनेकों कृत्यों-उपचारों से देवी-देवताओं को सन्तुष्ट करना चाहिए।

भक्तान्गुरूंश्च विविधान्देववत्पूजयेद्बुधः।
वेदमाहात्म्यपठनैश्शान्तिभिस्स्वस्तिवाचनैः॥ 7॥

इस दौरान ज्ञानीजन वहाँ आए भक्तों, गुरुजनों का विभिन्न देवताओं के समान ही पूजन करे। वहाँ वेद के माहात्म्य का पारायण किया जाए। शान्तिपाठ हो और स्वस्तिवाचन किया जाना चाहिए।

सायंप्रातर्नृत्तगीतवाद्यताडनमण्डलैः।
प्रसादयेद्बुधो नित्यं देवप्रासादमुत्तमम्॥ 8॥

इन उत्सवावसरों पर सुबह और शाम को नृत्य, संगीत के आयोजन हो। मण्डलियाँ वाद्य-वादन करे। इस प्रकार के आयोजनों में ज्ञानियों को प्रसन्न करना चाहिए। यही सर्वोत्तम देवप्रसाद है।[१]

आगमोक्तविधानेन बलिदानैश्च तोषयेत्।
वीथीप्रसादनश्चापि मण्डपालङ्क्रियाऽपि च॥ 9॥
चित्रपुष्पाद्यलङ्कारो देवप्रीतिकरो मतः।

इस अवसर पर आगमोक्त विधान के अनुसार बलिदान आदि से देवताओं को सन्तुष्ट किया जाना चाहिए। देवताओं को वीथियों में घूमाए और सज्जित मण्डपों में विराजित करे। वहाँ चित्र-पुष्पादि अलंकरणों से देवताओं की प्रीति को बढ़ाना चाहिए।

तस्मात्सर्वेषु कालेषु देवानां प्रीतिवर्धनम्।
पूजादिकं प्रकर्तव्यमित्याहुश्शास्त्रपारगाः॥ 10॥

---

१. भागवत में कहा गया है— अर्चायामेव हरये पूजां यः श्रद्धयेहते। न तद्भक्तेषु चान्येषु स भक्तः प्राकृतः स्मृतः॥ (श्रीमद्भागवत. 11, 2, 47)

(जीवन में देवप्रीति आवश्यक है) इसलिए समस्त कालों में देवताओं की प्रीति की अभिवृद्धि करने का प्रयत्न करना चाहिए। इसके लिए पूजादि कर्तव्य करने चाहिए, ऐसा शास्त्रविदों का कथन है।

इति विश्वकर्मप्रणीते विश्वकर्मवास्तुशास्त्रे उत्सव-कालनिर्णयकथनं नाम पञ्चाशीतितमोऽध्यायः ॥ 85 ॥

इस प्रकार विश्वकर्माप्रणीत विश्वकर्मवास्तुशास्त्र में उत्सव काल निर्णय कथन नामक पचासीवाँ अध्याय पूर्ण हुआ।



अथ प्रतिमापूजनभजनादिफलकथनं नाम

षडशीतितमोऽध्यायः ॥ 86 ॥

पूर्वोक्तप्रकारेण देवालयगर्भगृहे सुमुहूर्ते प्रतिष्ठानां देवानामाराधनेन यत्फलं पुंसा प्रजायते तत्क्रममत्र षडशीतितमेऽध्याये शास्त्रकारः प्रतिपादयति —

हरेर्हरस्य धातुर्वा बेराणां चित्ररूपिणाम्।
सर्वेषामपि देवानां देवीनाञ्च विशेषतः ॥ 1 ॥
भक्तानामपि सर्वेषां सर्वज्ञस्य गुरोरपि।
प्रतिमां पूजयेन्नित्यं सर्वक्षेमाभिवृद्धये ॥ 2 ॥

(इस छियासीवें अध्याय में प्रतिमा पूजन, भजनादि के फलों का कथन किया जा रहा है) भगवान् विष्णु, भगवान् शिव तथा पितामह ब्रह्मा की प्रतिमाओं और चित्रों सहित समस्त देवताओं और देवियों की, दिव्य भक्तगणों और सभी सर्वज्ञ गुरुजनों की प्रतिमाओं की नित्य पूजा करने से सभी के कल्याण की अभिवृद्धि होती है।

तथा पूजनविषये कोऽपि नियमो यथा —

भट्टारकैर्दीक्षितैश्च काले काले विशेषतः।
अभिषेकैरलङ्कारैर्वीजनैरुत्सवैरपि ॥ 3 ॥

मण्डपारोहणाद्यैश्च वाहनारोपणैरपि।
नैवेद्यदर्शनैरेवं प्रतिमापूजनं मतम्॥ 4॥

भट्टारकों और दीक्षितों के द्वारा समय-समय पर अभिषेक, अंगरचना, अलंकरण, चामर-व्यजनादि सेवा, उत्सव आयोजन, मण्डपों में विराजन, रथादि वाहनों में आरोहण और नैवेद्य अर्पित कर दर्शन करने जैसे विधान प्रतिमा के पूजन के माने गए हैं।

सर्वपापविमुक्तात्मा सायुज्यं लभते नरः।
सुखमारोग्यमैश्वर्यमायुर्वृद्धिर्भवेद्ध्रुवम्॥ 5॥

इस प्रकार पूजन-अर्चन करने से व्यक्ति समस्त पापों से मुक्तात्मा होकर सायुज्य, मोक्ष प्राप्त करता है। उसके सुख की अभिवृद्धि होती है और आरोग्य, ऐश्वर्य एवं आयु की बढ़ोत्तरी होती है, ऐसा निश्चित है।

एवं देवालयतटाकादिनिर्माणप्रतिष्ठाफलमाह —

कीर्तिश्च महती तस्य येन देवालयः कृतः।
प्रतिष्ठाकारिणश्चैवं धनधान्यादिवृद्धयः॥ 6॥

जिस व्यक्ति ने देवालय निर्माण कराया हो उसकी तो महान् कीर्ति होती ही है और प्रतिष्ठापना करने वाले की भी धन-धान्यादि की वृद्धि होती है।

तटाककारी च देवविमानस्थापकोऽपि च।
दीपप्रदाता च पुमान् चिरञ्जीवी सुखी भवेत्॥ 7॥

तालाब बनाने वाले, देवता का विमान मन्दिर बनाने वाले और दीपदान करने वाले पुरुष चिरंजीवी होते हैं और सुखी रहते हैं।

पुत्रार्थी पुत्रमाप्नोति धनार्थी धनमाप्नुयात्।
राज्ये विजयते राजा रोगी रोगविमुक्तिभाक्॥ 8॥

इसी प्रकार पुत्रार्थी को पुत्र की प्राप्ति होती है। धनार्थी को धन मिलता है। राजा राज्यों पर विजय करते है और रोगी अपने रोग से मुक्त हो जाता है।

अथ दानादिफलम् —

अनन्यमानसैर्भक्तैर्दीयते यत्तु भूरिशः।
तेन प्रसीदन्ति देवास्ते सर्वे मङ्गलप्रदाः॥ 9॥

जो अनन्य मानस भाव से दान पूरा-पूरा देता है, उससे देवतागण प्रसन्न होते हैं और सभी विचार मंगलप्रद होते हैं।

अथ देवताभक्तिमाहात्म्यमाह —

देवताभक्तिमाहात्म्याद्विपदो यान्ति दूरतः।
सम्पच्च महती तेषां प्रदत्ता यैर्वसुन्धरा॥ 10॥

देवताओं की भक्ति का माहात्म्य यह है कि इससे विपत्ति दूर भाग जाती है और यह वसुन्धरा उस भक्त को महान सम्पत्ति प्रदान करती है।

अथ देवार्पितक्रियाफलमाह —

देवार्पितक्रियामारोग्यः करोति नरो भुवि।
भजनं पूजनं स्तोत्रं स मान्यो दिविषद्गणैः॥ 11॥

देवताओं को अर्पित की गई क्रियाओं से नर आरोग्य प्राप्त करता है। इस संसार में भजन-पूजन-स्तोत्रपाठ से वह बुद्धिमानों के समुदाय में बहुमान प्राप्त करता है।

अथ तुलसीपत्रबिल्वपत्रादिनिवेदनं फलमाह—

तुलसीबिल्वपत्रैश्च कुसुमैर्विविधैरपि।
पूजां करोति यो भक्त्या दिव्ये लोके महीयते॥ 12॥

जो लोग तुलसी दल, बिल्वपत्र और तरह-तरह के पुष्पों से (भगवान् विष्णु और शिव की) भक्तिपूर्वक पूजा करते हैं, उनको दिव्य लोकों की प्राप्ति होती है।

अथ शास्त्रकर्तारं विश्वकर्माध्यानदेवतायननिर्माणफलमाह —

ध्यात्वा तु शास्त्रकर्तारं विश्वकर्माणमादरात्।
करोति देवतागारं यस्स मान्यो मनीषिणाम्॥ 13॥

इस शास्त्र के प्रणयनकर्ता भगवान् विश्वकर्मा का आदरपूर्वक ध्यान करने वाला और एतदर्थ देवालय का निर्माण कराने वाला मनीषियों में सम्मान प्राप्त करता है।

अथ गोपुरादिनिर्माणफलमाह —

गोपुरस्थापनं भूमेरर्पणञ्चोत्सवक्रिया।
तटाकनिर्माणमपि श्रेयोवर्धनमीरितम्॥ 14॥

देवालयों में गोपुरों की स्थापना, तदर्थ भूमि का अनुदान, उत्सव आयोजन और तालाब बनवाना— ये समस्त कृत्य श्रेय की अभिवृद्धि करते हैं।

पूर्वपापनिरासाय नमनं देवतार्चनम्।

उत्तराघनिरासाय प्रतिष्ठादिरुदीरितः ॥ 15 ॥

पूर्वजन्म में किए गए पापों की समाप्ति के लिए देवता को दण्डवत् प्रमाण करना, अर्चन-पूजन करना और उत्तरवर्ती पापों के निवारण हेतु देव-प्रतिमा की प्रतिष्ठापना करनी चाहिए।

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन देवान्देवीश्च नित्यशः।

शुभवास्तुतले शुद्धद्रव्यैः पूजां च कारयेत् ॥ 16 ॥

इसलिए सभी प्रकार के प्रयत्न करके नित्य ही देवताओं और देवियों की शुभ वास्तुतल पर शुभ द्रव्यों से पूजा करनी चाहिए।

ब्राह्मणाः क्षत्रियाश्चान्ये स्वधर्मनिरताश्च ये।

देवार्पितमनोभावास्तत्कैङ्कर्यदृढव्रताः।

भक्त्या निर्धूतपापास्ते क्षेमभाजो न संशयः ॥ 17 ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय और अन्य जो भी लोग अपने-अपने धर्म-कर्म में लगे हुए हैं, वे अपने मनोभावों को देवताओं को अर्पित करके उनके कैंकर्य या उसकी सेवा को धारण करता है और दृढ़व्रती रहता है, वह पापों से छूटकर कल्याण को प्राप्त करता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

इति विश्वकर्मप्रणीते विश्वकर्मवास्तुशास्त्रे प्रतिमापूजनभजनादिफलकथनं नाम षडशीतितमोऽध्यायः ॥ 86 ॥

इस प्रकार विश्वकर्माप्रणीत विश्वकर्मवास्तुशास्त्र में प्रतिमा पूजन भजनादि फल कथन नामक छियासीवाँ अध्याय पूर्ण हुआ।



अथ मनुष्यजन्मफलकथनं नाम

सप्ताशीतितमोऽध्यायः ॥ 87 ॥

एतावता प्रबन्धेन प्रतिपादितानां नानाविधक्रियाजालानां निर्माणप्रमाणादिकं बोद्धुं कर्तुं कारयितुं वा मानव एव समर्थो भवति। तस्मादेवंविधकार्योपकृतिजनक-मानवजन्ममाहात्म्यप्रशंसापूर्वकमेतस्य वास्तुशास्त्रस्य निगमनप्रकरणं शास्त्रकारः प्रतिजानीते —

दुर्लभं मानवं जन्म कथितं शास्त्रपारगैः।
तदवाप्य बुधो लोके महत्सम्पादयेत्फलम्॥ 1 ॥

(अब मनुष्य जन्म का फल कहते हैं) शास्त्रों के ज्ञाताओं ने इस मनुष्य जीवन को दुर्लभतम कहा है। यही जानकर ज्ञानियों ने इस लोक में महानतम कार्यों का सम्पादन करने में इस जीवन का सार निश्चित किया है।

तस्माद्दुर्लभस्य तस्य मनुष्यजन्मनस्साफल्यसम्पादककार्याणि कानीत्याकांक्षायां क्रमेण तानि उपपादयति —

देवपादार्पितमनास्तद्भक्तेष्वपि भक्तिभाक्।
निर्ममो निरहङ्कारः पापभीतो दृढव्रतः॥ 2 ॥
सालग्रामशिलां दिव्यां लिङ्गबेरमथापि वा।
चित्रसान्निध्यभाजं वा देवमाराधयेत्क्रमात्॥ 3 ॥

इस सर्वज्ञात सत्य को जानकर भक्तों ने भी देवताओं के चरण-कमलों में अपने मन को लगाकर भक्ति की साधना की है। अतएव निर्ममत्व, निरहङ्कार भाव को धारण कर, पाप कर्मों से भयभीत होकर दृढ़व्रताश्रित होकर, सालग्राम शिला अथवा दिव्य लिंग-स्वरूप प्रतिमा या चित्र-स्वरूप के सान्निध्य में निरत रहकर यथाक्रम देवाराधना की जानी चाहिए।

देवमाहात्म्यकथनं देवानां नित्यपूजनम्।
देवालयस्थापनञ्च तद्रक्षाकरणञ्च यत्॥ 4 ॥
देवद्रव्यादिरक्षा च जनैः फलमुदीरितम्।

जहाँ देवताओं के माहात्म्य का कथन-श्रवण होता है, जहाँ देवताओं की नित्यप्रति नियमित पूजा होती है, जहाँ देवालयों की स्थापना होती है और जहाँ इन

देवताओं की रक्षा एवं देवों तथा देवालयों की सम्पदा की रक्षा का संकल्प होता है, वहाँ भी लोगों को उक्त भक्ति के फल की प्राप्ति होती है।

विश्वकर्मशास्त्रमाहात्म्यमाह —

विश्वकर्मक्रियाजालदर्शनं श्लाघनं च यत्॥ 5॥
तल्लक्षणयुतस्थानस्थापनं शास्त्रवाचनम्।
पठनं सुखसिद्ध्यर्थं बालानां पाठनञ्च यत्॥ 6॥
शुभदं कीर्तिदं जन्मफलदायि भवेद्ध्रुवम्।
कथितं तत्पुरा विश्वकर्मणा शिवसंसदि॥ 7॥

जहाँ विश्वकर्मा के क्रियाजालदर्शन (विश्वकर्मीय क्रिया-विद्या, वास्तुशास्त्र) की सराहना होती है और उक्त शास्त्र में प्रतिपादित लक्षणों से युक्त निर्मित-स्थानों की स्थापना होती है; जहाँ शास्त्रों का वाचन-व्याख्यान होता है, सुख की सिद्धि के प्रयोजन से जहाँ बालकों को इनका पाठनाभ्यास करवाया जाता है, वहाँ समस्त कार्य शुभप्रदायक होकर कीर्तिप्रदायक होते हैं और निश्चित ही यह जन्म सफल हो जाता है— ऐसा पुराकाल में भगवान् विश्वकर्मा ने स्वयं शिव-संसद में निश्चयकर कहा था।

वासवस्य सभायाञ्च वास्तुशास्त्रमिदं महत्।
कालेन भूतलं नीतं गाङ्गं वारीव पावनम्॥ 8॥

यह ज्ञातव्य है कि देवराज इन्द्र की सभा में भी यह वास्तुशास्त्र महान् माना गया है। वही शास्त्र कालान्तर में भूमितल पर लाया गया जो कि देवनदी गंगा के जल के समान पवित्रतम है।

निदानं सर्वमानानां शास्त्राणामुत्तमं मतम्।
श्रोतृणां पठतां पुंसां चतुर्वर्ग्गफलप्रदम्॥ 9॥

इस शास्त्र को सभी मानों, मपितविज्ञान विषयक शास्त्रों का निदान और नियामक है, इसे सभी शास्त्रों में उत्तम स्वीकारा गया है। इसको सुनने और पढ़ने से धर्म-अर्थ-काम और मोक्ष— इन चारों ही पुरुषार्थों का फल प्राप्त होता है।

सर्वदेवप्रीतिकरं स्थपत्यदेस्सुखप्रदम्।
लेखनाद्वाचनादस्य प्रसन्नास्सर्वदेवताः॥ 10॥

यह सभी देवताओं को प्रीतिकर है और स्थापत्यशास्त्रियों को अतीव सुख देने वाला है। इसको लिखने या वाचन करने से समस्त देवगण प्रसन्न होते हैं।

विश्वकर्मकृतं शास्त्रमेतत्सेव्यं मनीषिभिः ॥

ब्राह्मणैः क्षत्रियैर्वैश्यैः स्थपत्यादिभिरन्वहम् ॥ 11 ॥

यह भगवान् विश्वकर्मा द्वारा रचित शास्त्र है, इसकी मनीषियों ने बहुत सेवा की है। ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों और स्थपति आदि ने निरन्तर इसकी साधना की है।

विश्वकर्माभगवान्ध्याननिर्देशमाह —

सर्वक्षेमकरं प्रोक्तं मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ।

विश्वकर्मा च भगवान्ध्येयः प्रातस्सुखार्थिभिः ॥ 12 ॥

सभी मुनियों और तत्त्वदर्शियों ने इस शास्त्र को सभी का कल्याण करने वाला कहा है। अतएव सुखार्थियों को इस शास्त्र के प्रणेता भगवान् विश्वकर्मा का नित्यप्रातः ध्यान करना चाहिए।

सम्मान्यमेताद्विधिवत्सुरेन्द्रैः

शास्त्रोत्तमं यः प्रकटीकरोति ।

तस्यैव कीर्तिर्महती च सम्पत्

विजृम्भते शास्त्रकृतः प्रसादात् ॥ 13 ॥[1]

इस शास्त्र को सविधि सुरेन्द्र ने सम्मानित किया और लोकहित में प्रकटीभूत किया है। उसकी ही कीर्ति महानतम सम्पत्ति की सूचक है, जो कि इस शास्त्रमतानुसार कृत्य प्रसाद का उपभोग करते हैं।

इति दिव्येन विश्वकर्मणा प्रणीते विश्वकर्मवास्तुशास्त्रे मनुष्यजन्मफलकथनं नाम सप्ताशीतितमोऽध्यायः ॥ 87 ॥

समाप्तमिदं विश्वकर्मवास्तुशास्त्रम् । प्रीयतां भगवान् शेषशायी ।

इस प्रकार विश्वकर्माप्रणीत विश्वकर्मवास्तुशास्त्र में मनुष्य जन्म फल कथन नामक सत्तासीवाँ अध्याय पूर्ण हुआ। यहाँ विश्वकर्मवास्तुशास्त्र पूर्ण हुआ।

---

१. इत्यमनन्तर प्रमाणबोधिनीख्य टीकायाम् — किञ्च शास्त्रपारङ्गतैस्सर्वैरपि बुधैर्ब्राह्मणक्षत्रियादिभिरिदं वास्तुशास्त्रं देववत्सन्तं सम्मान्यम्। शास्त्रस्यास्य प्रणेता भगवानुत्तमगुणो दिव्यशक्त्यादिसम्पन्नो विश्वकर्मा देवोत्तमश्च तत्र तत्र क्रियारम्भसमयादिषु शुद्धेन मनसा सर्वैरपि ध्येय इत्युपदेशः। एवंप्रकारेण हरिहरादिदिव्यबेरेषु विश्वकर्मणि विश्वकर्मकृवास्तुशास्त्ररत्ने चादरं कृतवतां तत्प्रसादमहिम्ना दिव्यसम्पद्वृद्ध्याकमिति शास्त्रसेवनफलमप्युक्तं ज्ञेयम् ॥ विश्वकर्मकृतस्यास्य वास्तुशास्त्रस्य सङ्ग्रहात्। प्रमाणबोधिनीव्याख्या कलिता विदुषां मुदे। अनन्तकृष्णभट्टार्यैशिशल्प-व्याख्यानपण्डितैः। तक्षकादिहितायैषा क्रियाणामपि सिद्धये ॥

पारिभाषिक अंग्रेजी शब्दावली

(विविधशिल्पशास्त्रीयनिर्देशसम्मत, अकरादिक्रमानुसार)

GLOSSARY OF TERMS

Antaḥpura (अन्तःपुर) : Zenana house.

Antarbhavana (अन्तर्भवन) : Rooms.

Abdaśra (अब्दश्र) : Square.

Ācarya (आचार्य) : Learned preceptor; advisor to the owner and sthāpati on matters relating to vāstu-sthāpanā.

Adhiṣṭhāna (अधिष्ठान) : Basement of a building.

Adhama (अधम) : Least; minimum.

Adhomūla (अधोमूल) : Bottom down as opposed to ūrdhvamūlam bottom up.

Āgama (आगम) : Literature relating to the system of worshipping gods in iconic form; generally āgamas refer to Śaiva worship, saṁhitā to Vaiṣṇava and tantra to Śakti worships.

Agni (अग्नि) : Fire god; regent to south east direction; also manifested as śikhi in the north east direction.

Agra (अग्र) : Front; top.

Ajayuddhasandhi (अजयुद्धसन्धि): Goat fight joint, similar to the scarfed joint.

Alinda (अलिन्द): Terrace, Balcony, Corridor; Verandah; Passage; Gallery.

Alpakṣetra (अल्पक्षेत्र) : Small plot generally of width less than 32 hasta.

Term	Meaning
Aṅgula (अङ्गुल) :	A finger, a finger-breadth; Linear measurement equal to 1/64 of vyāma; also equal to 8 yava; standard aṅgula is 3 cm.
Āṅkana (आङ्कन/आङ्गन) :	Courtyard. Bāhyāṅkana: outer yard; Madhyāṅkana: central yard; Gartāṅkana: depressed yard.
Antarāla (अन्तराल) :	Cupola.
Apidhāna (अपिधान) :	Top plank of the roof placed above the ridge to blind the joints with the rafter; also known as avasānaphalaka.
Aramā (अरमा) :	Vertical piece of the door latch through the cut of which the horizontal pieces called argala slide.
Arddhādhika (अर्द्धाधिक) :	Ratios of length to width which are obtained by adding 1/2 to integers e.g. 1¾, 2¾ etc.
Arudhottara (अरुधोत्तर) :	Additional horizontal support for the rafters between wall plate and ridge; elevated uttara, similar to purlin.
Avalaṁbana (अवलम्बन) :	Pendant, Plinth of a railing.
Avanata (अवनत) :	A-shaped frame used for checking levels of ground or floors.
Avayava (अवयव) :	Limb; element.
Ācchādana (आच्छादन) :	Canopy.
Ayana (अयन) :	The apparent movement of the sun from tropic of Capricorn to tropic of Cancer and back over one year; The former is

	uttarāyaṇa (north ward movement) and the latter is dakṣiṇāyana (southerly movement).
Āya (आय) :	One of the six varga formula for ascertaining the right proportion of measurement; Income; The first of the six aenons known as ayādiṣadvarga; others being vyaya (expenditure), nakṣatra (star), tithi (phase of the moon) vara (week), vayas (age).
Āyāma (आयाम) :	Elongation; the frontal elongation is called mukhāyāma.
Āyudhaśālā (आयुधशाला) :	Arsenal.
Āvaraṇa lakṣaṇa (आवरण लक्षण):	Roofing.
Bahupāṁśu (बहुपांशु) :	Excess soil.
Brahmāṅśa (ब्रह्मांश / ब्रह्मस्थान) :	The central part of a building.
Bhinna (भिन्न) :	Separate.
Bhārak (भारक/भारतुला) :	Support; Beam.
Bhitti (भित्ति) :	Wall, a partition, a support.
Bhuja (भुज) :	Base of triangle. Loṭi is the altitude of a right-angled triangle. Karṇa is the hypotenuse.
Bhūmi (भूमि) :	Earth; land; one of the classifications of vāstu.
Bhūparīkṣā (भूपरीक्षा) :	Testing the site and soil where a building is constructed/selection of site.
Bindū (बिन्दू) :	Point; a maṇḍala of 0x0 grid; also referred as nābhi, the focus of maṇḍala.
Bhāramānaka (भारमानक) :	Pinion and socket hinge.
Bhojanaśālā (भोजनशाला) :	Banqueting Hall.

Caraṇa (चरण) : **Pillar.**

Caturasrīkaraṇa (चतुरस्त्रीकरण) : **Squaring the plot.**

Catuśśālā (चतुश्शाला) : **A combination of four ekśālās with or without the corner aslas; a structure with halls on four sides around a central courtyard.**

Citra (चित्र) : Painting; also used to denote all depictions including relief and sculpture.

Cūlī (चूली) : Bessemer, or beam supported on columns.

Daṇḍa (दण्ड) : Linear measurement equal to 4 jasta pr 96 aṅgula; also called puruṣadaṇḍa; the unit or module in the proportional system of measurement; literally daṇḍa means a rod, similar to the ranging rod used in modern survey.

Dhanālaya (धनालय) : Treasury, store for valuables.

Dhanurgraha (धनुर्ग्रह) : Hasta measure of length equal to 27 standard uttamāṅgula.

Dhanurmuṣṭhī (धनुर्मुष्ठी) : Hasta measure of length equal to 26 standard uttamāṅgula.

Dhānyagṛha (धान्यगृह) : Granaries.

Dhvajarekhā (ध्वजरेखा) : Pitch line; reference line on a rafter.

Dhyānaśloka(ध्यानश्लोक): Meditational chanting generally depicting the characteristic features of the deity; basis for painting and sculpture.

Diṅnirṇaya (दिङ्निर्णय) : Fixing the cardinal direction; see also śaṅkusthāpanā, dik (4

	cardinal directions), vidik (corner directions).
Dik (दिक्) :	Cardinal directions-4 in number; see vidik for other direction.
Dīpamālā (दीपमाला) :	Rows of oil lamps fixed on the exterior of temple walls of on special wooden framed structure (vilakkumatam) beyond the wall.
Dravya saṁgraha (द्रव्य संग्रह) :	Materials.
Druhiṇa (द्रुहिण) :	Brahmā; supreme creator.
Durg (दुर्ग, किला, गढ़) :	Forts (12 types).
Dvāraśākhā (द्वारशाखा) :	Doorlintel, Door frame, Jamb, Door post.
Dviśālā (द्विशाला) :	A combination of two ekaśālās - 6 possibilities exist.
Ekaśālā (एकशाला) :	Unitary building, put up in any one cardinal direction with reference to the central point Brahmanābhi of a vāstu; it gets its name depending on its position in relation to this point e.g. pūrvaśālā, dakṣiṇaśālā, paścimaśālā and uttaraśālā respectively located to the E, S, W and N of this focus.
Gala (गल/गला) :	Neck of recess in a basement; also refers to the recess above the prastara (entablature) of a building and śikhara (roof) portion.
Galamañcaka (गलमञ्चक) :	Specific pattern of moulding of basement with a neck (galā).
Gamana (गमन) :	Shift; offset.

Gaṇita (गणित) : Square maṇḍala of 19×19 grid; mathematics; computation.

Garbhagṛha (गर्भगृह) : The sanctum sanctorum; the womb chamber.

Garbhamañjūṣā (गर्भमंजूषा) : Vault.

Garbh Vinyāsa (गर्भविन्यास) : Impregnation of site.

Gavākṣa (गवाक्ष) : Windows.

Gopura (गोपुर) : Gate, tower; also Monumental Gateway of Draviḍian temple, Main entrance of Draviḍian temple, Towers.

Gośālā (गोशाला) : Cow sheds.

Grāma (ग्राम) : Village settlements; large grāmas are called mahāgrāmas; other types of rural settlements are kheṭaka, kharvataka; smaller villages are also of vidambaka, nigama, and agrahara categories.

Grāmapura dvāra (ग्राम पुर द्वार) : Entrances to villages and cities.

Gṛhamukha (गृहमुख) : Facade.

Gṛhapreveśa (गृहप्रवेश) : First entrance in the house.

Gṛhavinyāsa(गृहविन्यास/पदविन्यास): Location of various rooms in houses, temples, place, plan of a house.

Grīvā (ग्रीवा) : Neck of building.

Guṇāṁśa (गुणांश) : Fraction; the rule according to which the semiperimeter of a rectangle is divided by integers from 9 to 32 and 4 parts are taken for width and the rest for length.

Harmya (हर्म्य) : Building; harmyadivāstu means building for different activities.

Hasta (हस्त) : Anthropometric linear measurement equal to length of arm; the standard and most commonly used hasta is 24 aṅgula and is called kiṣku; 8 measurements of hastas varying from 24 aṅgula and is called kiṣ ku; 8 measurements of hastas varying from 24 aṅgula to 31 aṅgula with variations of 1 aṅgula are known by different names; the other words for hasta are kara, bhuja, aratni, dormana, kol (Mal.).

Iṣṭadīrgha (इष्टदीर्घ) : Desired length; selected length.

Iṣṭadevatā (इष्टदेवता) : Deity of one's choice.

Iṣṭikā (इष्टिका, ईंट) : Brick.

Jagatī (जगती) : The vertical part of basement above pādukā.

Jalāgāra (जलागार, जलाश्रय) : Tank. Sacred pool.

Janaka (जनक) : Creator or origin; that which is derived is janya.

Jayantī (जयन्ती) : Cross beams.

Kālasadma (कालसद्म) : Farm house.

Kalārī (कलारी) : Training place.

Kalyāṇaśālā, Bhaumayutśālā (कल्याणशाला, भौमायुतशाला) : Ornamented and storyed Halls.

Kanda (कन्द) : The shaft of the column; the portion between base and capital.

Kapota (कपोत) : The projecting portion of entablature with an S shape.

Karṇapramāṇa (कर्णप्रमाण) : Reference measurement, Pramāṇa

Karṇavedha (कर्णवेध) : The affliction of any reference line of part of the building with a diagonal in the maṇḍala.

Kavāṭa (कवाट/किंवाड़) : Leaf of the door.

Kālaparīkṣā (कालपरीक्षा) : Auspicious time.

Kīlikā (कीलिका, कील) : Nail.

Khaṇḍa (खण्ड) : Sector.

Kheṭa (खेट, खेटक) : Hamlets.(5 types),

Kiṣku (किष्कु) : Standard hasta equal to 24 uttamāṅgula; 72cm.

Koṭi (कोटि) : Diagonal (oblique line); also the hip rafter.

Kośasthāna (कोशस्थान) : Treasury.

Kṣetra (क्षेत्र) : Plot of land, alpakṣetra is small plot or small temple, Kṣetavāstu: architecture of temples.

Kuṁbha (कुम्भ) : Vase.

Kumuda (कुमुद) : The part of the basement above jagati with octagonal or circular section; Convex moulding or trans-moulding or Torus moulding; also water lily.

Kuladevālaya (कुलदेवालय) : Temple in palace.

Kūṭa (कूट): Pendant; solid wooden piece to which the top ends of all the rafters of a kostha type of roof or the top ends of slating rafters and the end of ridge piece of a sabha type of roof are connected.

Lakṣmī (लक्ष्मी) : Goddess of wealth and prosperity. According to Viṣṇudharmottara- Lakṣmī is described as the mother of the whole world and the wife of

Viṣṇu. Lakṣmī when depiced near Hari has two hands. She has celestial beauty. She carries lotus in her hand and she is adorned with all sorts of ornaments. Her colour is white (gaura) and wears a white garment. She is matchless in beauty.

Lupā (लुपा) : Ornamental appendage, Rafter; koṭilupū is hip rafter; rjulupa or prakṛtilupā is straight rafter, upakoṭilupā is the inclined rafter other than hip rafter, also known as vikṛtilupā; lupālamba is drop of the rafter, also known as vikṛtilupā; lupālamba is drop of the rafter from the wall plate.

Madhyapraruddha (मध्यप्ररुद्ध) : System of centre line measurement of uttara.

Mahāśālā, Viśeṣaśālā (महाशाला, विशेषशाला) : Halls for special purposes.

Mallikākuṭṭima (मल्लिकाकुट्टिम) : Platform for the jasmine plant.

Māna (मान) : Measurement; specifically the horizontal measurement; māna is divided into pramāṇa the measurement of width, diameter etc. and parimāṇa the measurement of circumference or perimeter.

Mānāṅgula (मानाङ्गुल) : The standardised measure of aṅgula, by equating it to the grain size- 6 7 or 8 in number denoting the minimum, median or maximum width, adhama,

	madhyama and uttama, aṅgulas are obtained.
Mañcaka (मञ्चक):	Specific pattern of horizontal moulding of basement.
Maṇḍala (मण्डल):	Demarcated area; generally of circular shape but also used to describe any area defined by a perimeter, regular or irregular.
Maṇḍapa (मण्डप) :	Pavilion.
Maṅgalaphalaka (मङ्गलफलक):	Ornamental decorative plank between the door head and wall plate.
Mantrī, Yuvarāja Bhavana (मन्त्री, युवराज भवन) :	Mansions for ministers & princes.
Manuṣyapramāṇa(मनुष्यप्रमाण) :	Anthropometric standard; measurement system based on the size and proportions of human body.
Marma (मर्म) :	Intersection of orthogonal and diagonal lines of a grid; vulnerable point; nodes.
Marmavedha (मर्मवेध):	Intersection with vulnerable points,
Masūra (मसूर) :	Synonym of adhiṣṭhāna.
Mṛgaśālā (मृगशाला) :	Park for the deer and other pets.
Mānakathana (मानकथन) :	Units of measurement.
Manuṣya janma phala (मनुष्य जन्म फल) :	Human goal.
Mārga (मार्ग) :	Roads.
Mārgviśrānti (मार्गविश्रान्ति):	Rest house.
Mārga Rakṣā (मार्गरक्षा) :	Armed outposts.

Mātrāṅgula (मात्राङ्गुल) : Measurement of aṅgula related to the body measure, varies with ethnic groups.

Mūrti (मूर्ति) : Statues.

Muṣṭi (मुष्टि) : Fist, a measure of 3 aṅgulam; also known as parva.

Nāṭaka saṁgīta śālā (नाटक संगीतशाला) : Theatres and Concert halls.

Nāḍī (नाडी) : Orthogonal line in a maṇḍala; also referred as śira.

Nāḍikā (नाडिका) : 1/60 of a day i.e. 24 minutes; also the distance that can be covered in 1 nāḍikī by walking which is 1000 daṇḍa.

Nagara (नगर): Town; cities, capital towns are called rājadhānī, commercial farms are pattnas, harbour town are droṇimukha. Forts are durgas.

Nakṣatra (नक्षत्र/र्क्ष): Star any one of the 27 constellations in the sky.

Nimitta (निमित्त) : Cause; omen.

Nigama (निगम) : Encampments (7 types)

Nīvra (नीव्र) : Eave; nīvraphalaka is eave-reaper.

Nyāyasabhā (न्यायसभा) : Courts of justice.

Oma (ओमा) : Base or padapīṭha of the column.

Pada (पद) : Square cell, also cell of any shape in a maṇḍala Padavineyaśa is analysis by dividing the area into cells by means of grids linear measurement equal to 8 aṅgula or 1/8 of vyāma.

Padadevatā (पददेवता) : The deities presiding over the cells of a maṇḍala; there are 45 padadevatās inside the maṇḍala and 8 outside.

Pādādhika (पादाधिक) : Ratios of length to width which are obtained by adding 1/4 to integers.

Padamāna (पदमान) : The height between the top of foundation to the bottom of wall plate.

Pādayoni (पादयोनि) : A rule for proportioning rectangle, or determining the right dimension of linear elements to satisfy the yoni rule.

Pādona (पादोन) : Ratios of length to width which are obtained by subtracting 1/4 from integers above 1.

pādukā (पादुका) : Ground course; the lowest course of the basement.

Pakṣa (पक्ष) : 15 days denoting the lunar phases of waxing and waning of moon; waxing phase is śuklapakṣa and waning phase is kṛṣṇapakṣa.

Pañcaprakāra (पञ्चप्रकार) : The five defined boundaries of temple.

Paramāṇu (परमाणु) : The smallest linear measurement equal to the diameter of the minute aerosol seen in a dark room when sun's rays creep into it through crevices; 8^{-6} of 1 aṅgula.

Paramaśāyimaṇḍala (परमशायिमण्डल) : Square maṇḍala of 9×9 grid divisions.

Parva (पर्व) : Linear measurement equal to 3 aṅgula; 1/8 part of Hasta, also known as muṣṭi.

Paryantasūtra (पर्यन्तसूत्र) : Bounding Perimeters.

Patramāna (पत्रमान) : The horizontal distance from outside of uttara to the outside of the basement; offset of plinth from the plane of uttara.

Patākā-Pāribhadra(पताका-पारिभद्र):Ornamental Additions.

Paṭṭa (पट्ट) : Belt; also paṭṭi.

Pīṭha (पीठ) : seat; elevated square seat; also a square maṇḍala of 3×3 grid.

Pīṭhikā (पीठिका) : Platforms, benches etc., Vedikā.

Paurvādeśya-sabhā(पौर्वादेश्य सभा):Assemblies for administration of justice.

Potikā (पोतिका) : Lamp-stand, Same as bodhikā, decorated bracket of pillar.

Prācya (प्राच्य) : Hasta measure of length equal to 28 standard uttamāṅgula.

Prājāpatya (प्राजापत्य) : Hasta measure of length equal to 25 standard uttamāṅgula.

Prākāra (प्राकार) : Boundary; boundary wall classically 5 in number viz.- antarmaṇḍala, antahara, madhyahara, bāhyahara and maryadā starting from the inner altar line to outer wall of temple; same as pañcaprākāra or pañcakoṣṭhi; in Vaiṣṇavism, the prākāras are 7 with madhyamaryadā and mahāmaryadā added.

Prakīrṇa (प्रकीर्ण) : Hasta measure of length equal to 31 standard uttamāṅgula.

Prāsāda (प्रासाद) :	That which is pleasing; large building like temple, palaces etc.; the word is also used to denote the vimāna of temple.
Prāsādavāstu(प्रासादवास्तु):	Temples, palaces or any symbolic building; literally means a vāstu (artefact) which pleases the mind of the on-looker or user.
Prati (प्रति) :	Stereobate, the topmost course of plinth.
Pratimā pūjā, Devālaya pratiṣṭhā phala (प्रतिमा पूजा, देवालय प्रतिष्ठा फल):	Temple building and image worship, their merit.
Puccha (पुच्छ) :	Tail, rear.
Puruṣāñjali (पुरुषाञ्जलि):	Reach of standard puruṣa; 10 pada; 80 aṅgula.
Pustakaśālā (पुस्तकशाला) :	Libraries.
Pūrva Bhavana (पूर्वभवन) :	Frontage of palaces etc.
Rajju (रज्जु) :	Rope; also diagonal in maṇḍala.
Randhra (रन्ध्र) :	Hole, mortise.
Rāśi (राशि) :	Stellar constellation; 12 numbers from Aries (meṣa), to Pisces (mīna).
Śālā (शाला) :	Rectangular hall with gable roof.
Samatāt (समतात्) :	A rectangle with length equal to an integer multiple of its width.
Saṁhitā (संहिता) :	Compilation (e.g. Bṛhatsaṁhitā, Harisaṁhitā); a generic name for Vaiṣṇava āgamas.
Samīkaraṇa (समीकरण) :	Levelling operation.
Sandhipāla (सन्धिपाल) :	Reaper placed to conceal the gaps between the door panels.

Sandhibandha (सन्धिबन्ध) : Joinery.

Saṅkīrṇa Bhavana (संकीर्णभवन): House for higher, middle classes.

Śaṅku (शङ्कु) : Gnomon; pole; Śaṅkusthāpanā; fixing gnomon for marking the centre of the vāstu and/or finding the cardinal directions.

Śāntikarma (शान्तिकर्म) : The traditional rites to propitiate the deities in maṇḍala; also referred to as vāstupūjā.

Sargprakriya (सर्गप्रक्रिया) : Job of creation.

Sāyana (सायन) : Literally means a couch or bed stead, but is used to denote all furniture.

Śayangṛha (शयनगृह) : Bedrooms.

Śilākarma (शिलाकर्म) : Masonry; the art of building in stone.

Śilāstambha (शिलास्तम्भ) : Stone column or Pillar.

Śilpaśāstra (शिल्पशास्त्र): Science of sculpture; iconography.

Śilpina (शिल्पिन) : Building craftsmen generally divided into 4 divisions; sthapati, sūtragrahi, vardhakī and takṣaka.

Siṁhāsana (सिंहासन) : Thrones.

Śliṣṭa (श्लिष्ट) : Combined.

Sopāna (सोपान) : Staircase.

Sthāpaka (स्थापक) : One who establishes or builds. Sthāpanā is the act of building.

Sthapati (स्थपति) : The architect-engineer of master builder occupying the highest position among the 4 division of śilpins; one who is empowered to design and build a vāstu (*sthāpanārah sthāpatiḥ*).

Sthāpatyaveda (स्थापत्यवेद) : Upaveda of Atharvaveda dealing with building science.

Sūtra (सूत्र) : Thread line; sūtravistāra is thickness of line; sūtra also means formula, theory etc.

Sūtragrāhī (सूत्रग्राही) : One of the four tiers of śilpins; supervisor of works; literally means 'one who holds the thread' (for measurement).

Takṣaka (तक्षक) : One of the four divisions of silpins; shapes the building components; literally takṣaka means 'one who reduces.

Tāla (ताल) : Palm of the hand; modular unit of dimension in iconography in terms of face length which is equal to length of palm; tālamāna is the proportionate system of measurement using tāla as a module.

Tantra (तन्त्र) : Ritualistic practice generally related to worship of śakti; applied knowledge.

Taṭāka (तटाक) : Big tanks.

Tejasa (तेजस) : Lustre; splendour, energy.

Tila (तिल) : The diameter of the sesame oil seed; 1/64 of aṅgula; 0.47mm.

Tiryak (तिर्यक्) : Cross wise (placing of members).

Triśālā (त्रिशाला) : A combination of 3 ekaśālās.

Toraṇa (तोरण) : Ornamental archways and panels.

Tulapāda (तुलपाद) : Projecting end of ekaśālā.

Ubharāṅkana (उभराङ्कन) : Engraving.

Upāna (उपान) :	Pedestal, Rectangular moulding, Fillet.
Upānaha (उपानह) :	Projecting end of joist.
Upapīṭha (उपपीठ):	Course or platform below the basement; Upper pedestal of a temple.
Ūrdhvapaṭṭī (ऊर्ध्वपट्टी) :	Lintel; plank kept above the door frame to support the masonry portion above it.
Utsava (उत्सव) :	Festivals
Uttama (उत्तम) :	Best maximum.
Uttamāṅga (उत्तमाङ्ग) :	Head.
Uttara (उत्तर) :	North; also wall plate, categorised as khaṇḍottara, pattrottara, rūpottara; kṣudrottara is purlin supporting the roof and bearing on the uttara; aṅkanottara is purlin at the eave.
Uttāna (उत्तान) :	Face up position.
Vaideha (वैदेह) :	Hasta measure of length equal to 29 standard uttamāṅgula.
Vaipulya (वैपुल्य) :	Hasta measurement of length equal to 30 standard uttamāṅgula.
Vājana (वाजन) :	Fillet; projection from the vertical plane; wing-like treatment on basement, walls or roof elements; derived from vaji, meaning horse.
Vajra (वज्र) :	Bent, Curved.
Vajralepa (वज्रलेप/चिक्कण) :	Plaster.
Valabhī (वलभी) :	Decorative moulding from beams, door frames etc.

Vaṁśa (वंश) :	Ridge to which all rafters join; literally mean clan; also called agradhāni.
Vapra (वप्र) :	Rampart; wall; Plinth; Moulding of the base.
Vardhakī (वर्धकी) :	One of the 4 divisions of silpins who assembles the different building components; literally vardhakī means 'one who increases or joins'.
Varṇa (वर्ण) :	Class of people, the four classes being Brāhmaṇa, Kṣatriya, Vaiśya and Śūdra; also colour.
Vasanta gṛha (वसन्तगृह) :	Spring Resort.
Vājī Hastīśālā(वाजी-हस्तीशाला):	Stables for horses & elephant.
Vāpī (वापी) :	Small tanks, stepwell.
Vāstu (वास्तु) :	Dwelling place; derived from the Sanskrit word as meaning "to dwell".
Vāstumaṇḍala (वास्तुमण्डल):	Specified region for the planning of building and other artefacts.
Vāstupuruṣa (वास्तुपुरुष) :	The mythological being which is believed to occupy all Vastumaṇḍala. The symbolic figure of a man overlaid or depicted on vāstu.
Vāstupuruṣamaṇḍala (वास्तुपुरुषमण्डल) :	The Vāstumaṇḍala with the figure of Vāstupuruṣa superimposed on it indicating the position of padadevatās.
Vāstuśāstra (वास्तुशास्त्र) :	The prescriptions for building; generally, the term is used to

	denote traditional Indian building technology.
Vāstuvidyā (वास्तुविद्या) :	The knowledge of building science; the term is used to denote traditional Indian architecture; a book.
Vāstusthāpanā (वास्तुस्थापना) :	Design and construction of vāstu.
Vāyu (वायु) :	God of wind; regent of north-west direction, also called anala.
Vāhana, Ratha (वाहन, रथ) :	Deities' carriers and chariots.
Vidyābhavana (विद्याभवन) :	Universities and colleges.
Vedha (वेध) :	Intersection; affliction.
Vedī (वेदी) :	Platform.
Vidhika (विधिक) :	Corner direction, generally inclined at 45^0 the cardinal directions: Analysis is taken up to 32 divisions of a circle.
Vimāna (विमान) :	Canopy, Structure of the sanctum; vehicle used for the procession of deities; literally means that which is measured proportionately.
Viṣkambha (विष्कम्भ):	Intermediate beam in a roof section; viṣkambhapada is the strut supporting viṣkambha.
Vitānarekhā (वितानरेखा):	Horizontal line, used to denote the sloping width of a rafter.
Vīthī (वीथी) :	Path; enveloping shell; vāstumaṇḍala is generally divided into 4 vīthīs but in an 18×18 grid, 9 vīthīs are given as in Manuṣyālayacandrikā.
Vṛkṣa (वृक्ष):	Tree; it include all plants; classified traditionally into

antassāra, (hard core inside), sarvasāra (hard wood throughout), bahissāra (hard wood outside) and nissāra (hard wood nowhere).

Vyāma (व्याम) : Anthropometric measure between the tips of the middle fingers with hands outstretched to two sides; 8 pada or 64 aṅgula.

Yajamāna (यजमान) : Owner of building; patron; one who leads yajña.

Yāli (यालि, याली) : Hippopotamus, dragon like creature in the ornamentation of temple.

Yāna (यान) : Vehicle used for travel.

Yava (यव) : Grain of barley; a linear measurement equal to 1/8 of aṅgula, approximately 3.75 mm; yavodara is width of yava.

Yojana (योजन) : Linear measurement equal to 1000 rajju or 8000 daṇḍa.

Yoni (योनि) : Architectural formula for orientation; literally yoni means 'origin'.